

आचार्य हरिभद्र के पंचाशकप्रकरण में प्रतिपादित जैन आचार
और विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

के

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग

में

पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

2012-2013

R/J-329/2010



शोध-निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

संस्थापक, निदेशक

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

शोधार्थी

साध्वी कनकप्रभाश्री

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं (राज.) 341 306

आचार्य हरिभद्र के पंचाशकप्रकरण में प्रतिपादित जैन आचार
और विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

के

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग

में

पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

2012-2013

R/J-329/2010

Compu
डॉ. सागरमल जैन
निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर



शोधार्थी

साध्वी कनकप्रभाश्री

डॉ. सागरमल जैन
संस्थापक, निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूं (राजस्थान) ३४१ ३०६

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि साध्वी कनकप्रभाश्रीजी द्वारा प्रस्तुत "आचार्य हरिभद्र के पंचाशक प्रकरण में प्रतिपादित जैन आचार और विधि-विधानों का तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन" नामक शोध प्रबन्ध मेरे निर्देशन में तैयार किया गया है। उन्होंने यह कार्य लगभग 2 वर्ष पूर्व मेरे सानिध्य में शाजापुर प्राच्य विद्यापीठ में रहकर पूर्ण किया है। यह शोध कार्य मौलिक है और इसे किसी अन्य विश्वविद्यालय में PH.D. की उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं इसे जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय लाडनूँ PH.D. की उपाधि हेतु परीक्षणार्थ अग्रसरित करता हूँ।

साध्वी कनकप्रभा

(Signature)
डॉ. सागरमल जैन
निदेशक
विद्यापीठ शाजापुर

प्रो० (डॉ०) सागरमल जैन
संस्थापक एवं निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड
शाजापुर (म०प्र०)
पिन-465001

स्वकथ्य

जैन साहित्य में आचार्य हरिभद्र की रचनायें एक प्रमुख स्थान रखती हैं। परम्परा से यह कहा जाता है कि उन्होंने 1444 ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में उनके नाम से लगभग 80 ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन 80 ग्रन्थों में भी कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो याकिनीसुनहरिभद्र की कृति हैं या किसी अन्य हरिभद्र की कृति हैं? इस सम्बन्ध में विवाद है। फिर भी अष्टक, षोडशक, विंशिका और पंचाशक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके कर्तृत्व को लेकर कोई विवाद नहीं है, वे याकिनीसुनुहरिभद्र की ही कृतियाँ मानी गई हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों में सामान्यतया उनका उपनाम 'भवविरह' उपलब्ध होता है। ज्ञातव्य है कि याकिनीसुनुहरिभद्र अपनी कृतियों के अन्त में प्रायः 'भवविरह' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं और इसी कारण वे 'भवविरहसूरि' के नाम से भी जाने जाते हैं। आचार्य हरिभद्र का कर्तृत्व व्यापक और बहुआयामी है और विशेष रूप से योगसाधना और आचार के परिप्रेक्ष्य में ही लिखा गया है, वैसे आचार्य हरिभद्र की कृतियों में आगमिक व्याख्याओं एवं दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों को छोड़ दें, तो उनके अधिकांश ग्रन्थ आचार-प्रधान और उपदेश-प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने योग-साधना की दृष्टि से भी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। उनके योग सम्बन्धी ग्रन्थों में निम्न चार ग्रन्थ प्रमुख हैं :- 1. योगविंशिका, 2. योगशतक, 3. योगबिन्दु और 4. योगदृष्टिसमुच्चय

हरिभद्र के दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकांतजयपताका, अनेकांतवादप्रवेश, न्यायाप्रवेशटीका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इतना स्पष्ट है कि उनके ग्रन्थों में उपदेश प्रधान और आचार प्रधान ग्रन्थ अधिक प्रमुख रहे हैं।

आचार्य हरिभद्र के योग एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य पर तो कुछ शोधकार्य हुए हैं, किन्तु उनके उपदेश प्रधान और आचार प्रधान ग्रन्थों पर शोध कार्य अल्प ही हुआ है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, आचार्य हरिभद्र के पंचवस्तु नामक ग्रन्थ को छोड़कर उनके आचार प्रधान ग्रन्थों पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ।

आचार्य हरिभद्र के उपदेश और साधना प्रधान ग्रन्थों में अष्टक, षोडशक और विंशिकाओ की अपेक्षा पंचाशकप्रकरण एक विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 19 विषयों को लेकर हर एक विषय पर लगभग पचास-पचास प्राकृत गाथायें निबद्ध की गई हैं।

आचार्य हरिभद्र के इस पंचाशकप्रकरण का हिन्दी अनुवाद भी पूर्व में उपलब्ध नहीं था, मात्र प्राकृत गाथायें और उन पर नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि की वृत्ति उपलब्ध होती थी, संयोग से अभी कुछ वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ डॉ. दीनानाथ शर्मा द्वारा अनुवादित एवं डॉ. सागरमल जैन द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी अनुवाद सहित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। जब मुझे डॉ. सागरमल जैन से यह ज्ञात हुआ कि पंचाशकप्रकरण पर अभी तक कोई भी शोध कार्य नहीं हुआ, तो मैंने यह निर्णय लिया कि पंचाशकप्रकरण पर शोध कार्य किया जावे। इस पंचाशक प्रकरण में मूलतः निम्न 19 विषयों की चर्चा है –

1. श्रावक धर्म विधि
2. जिन दीक्षा विधि
3. चैत्यवन्दन विधि
4. पूजा विधि
5. प्रत्याख्यान विधि
6. स्तवविधि
7. जिन भवन निर्माण विधि
8. जिन बिम्ब प्रतिष्ठा विधि
9. जिन यात्रा विधि
10. उपासक प्रतिमा विधि
11. साधु धर्म विधि
12. साधु समाचारी विधि
13. पिण्ड विधान विधि
14. शीलांगविधान विधि
15. आलोचना विधि
16. प्रायश्चित्त विधि
17. कल्प विधि
18. भिक्षु प्रतिमा कल्प विधि
19. तप विधि

इसकी विषयवस्तु को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित है।

इन 19 विषयों पर चिन्तन करने से यह ज्ञात होता है कि इसमें अनेक विषय गृहस्थ के आचार से सम्बन्धित है, तो कुछ विषय मुनि के आचार से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे हैं जो गृहस्थ और मुनि दोनों से सम्बन्धित हैं, यद्यपि जिनचैत्य निर्माण, जिनप्रतिमा प्रतिष्ठा, जिनपूजा, जिनयात्रा आदि—ऐसे विषय हैं, जो मुख्यतः तो गृहस्थ से सम्बन्धित हैं, किन्तु मुनियों का भी यह दायित्व माना गया है कि वे इनकी प्रेरणा दें। साथ ही साथ भाव-पूजा तो साधुओं का भी कर्तव्य है। मुख्यतः इन विषयों का सम्बन्ध जैन आचार एवं विधिविधानों से है और आचार एवं विधि विधान का दायित्व गृहस्थ और साधु दोनों का माना गया है और इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर यह शोधकार्य किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने इन 19 विषयों के आधार पर इस पंचाशक प्रकरण में श्रावक जीवन और मुनि जीवन के लगभग सभी पक्षों को समाहित करने का पुरुषार्थ किया है, किन्तु इसके अतिरिक्त चैत्वन्दन, पूजाविधि, जिनभवननिर्माणविधि, जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि, जिनयात्राविधि आदि ऐसे विषय भी हैं जिनके सम्बन्ध में आगमों और आगमिक व्याख्याओं में भी विशेष चर्चा नहीं मिलती, इन विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा करने वाला पंचाशकप्रकरण एक प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र की यह भी विशेषता रही है, कि उन्होंने श्रावक जीवन और साधु जीवन से सम्बन्धी जिन विषयों की चर्चा की है उन पर वे कहीं-कहीं एक नवीन दृष्टिकोण से भी अपनी बात रखते हैं और उस सम्बन्ध में उठने वाली समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि आचार्य हरिभद्र जिस भी विषय को प्रस्तुत करते हैं वह केवल विवरणात्मक नहीं होता, उसके पीछे उनका गहन चिन्तन भी होता है, जो परम्परा और परिस्थिति दोनों के साथ समन्वय करते हुए आगे बढ़ता है। यह स्पष्ट है कि आचार्य हरिभद्र का चिंतन मात्र रूढ़िवादी नहीं है। उन्होंने परम्परागत नियमों की भी तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर समीक्षात्मक विवेचना की है और इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गृहस्थ आचार एवं मुनि आचार के सम्बन्ध में भी आचार्य हरिभद्र ने विवरणात्मक विवेचन ही नहीं किया अपितु अनेक प्रसंगों में नवीन दृष्टि से सोचने का प्रयत्न भी किया है, तथा उन्हें अपने युग के साथ

तथा अन्य परम्पराओं में प्रचलित विधि-विधानों के साथ प्रासंगिक बनाने का प्रयत्न भी किया है, चाहे पंचाशकप्रकरण में आगमिक आधारों पर गृहस्थ आचार और मुनि आचार का प्रतिपादन किया गया हो किन्तु उस सम्बन्ध में उठने वाले अनेक प्रश्नों को लेकर गंभीर चर्चाएँ भी की गई हैं, जैसे – जैन विधि-विधानों के द्रव्यपक्ष और भावपक्ष को लेकर जो उन्होंने गंभीर चर्चा की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाशकप्रकरण का शोधदृष्टि से किया गया यह अध्ययन गृहस्थ आचार और मुनि आचार के सम्बन्ध में न केवल परम्परागत विचारों को प्रस्तुत करेगा, अपितु उस सम्बन्ध में हरिभद्र का क्या सोच रहा है और उन्होंने किस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन किया है, इसे भी प्रस्तुत करता है। साथ ही इस अध्ययन में, मैंने यह बताने का भी प्रयत्न किया है कि परम्परागत विवेचनाओं में हरिभद्र किस सीमा तक एक नवीन दृष्टि को लेकर प्रस्तुत होते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने मूर्तिपूजा और जिनमन्दिर निर्माण में होने वाली द्रव्य हिंसा की समस्या को लेकर भी गंभीर चर्चा की है। द्रव्य मूर्तिपूजा में जो सूक्ष्म हिंसा के तत्त्व सन्निहित हैं वे कहां तक आगम सम्मत हैं एवं कहां तक करणीय और अकरणीय हैं, इसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र विस्तार से करते हैं।

हरिभद्र उस संक्राति काल में हुए थे, जब जैन धर्म के तीनों ही सम्प्रदाय चैत्यवास के दलदल में फंसे हुए थे। श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवास का सबल विरोध करने वाले आचार्यों में हरिभद्र का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवतः ये पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने युग में मुनि आचार में आये शैथिल्य का खुले शब्दों में विरोध किया। इस बात का उन्होंने सम्बोधप्रकरण के कुगुर्वाभास में विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार जहां एक ओर हरिभद्र परम्परागत विचारों के प्रस्तोता हैं, वहीं दूसरी ओर वे मुनि आचार में आई हुई शैथिल्य की प्रक्रिया के प्रबल विरोधी भी हैं। इस शोध में मैंने यह पाया कि जिनशासन में आचार्य हरिभद्र भी एक ऐसा व्यक्तित्व है जो आचार में शैथिल्य का तो विरोधी रहा है, किन्तु दूसरी ओर विचार में उदारता का समर्थक भी है, प्रस्तुत अध्ययन में आचार्य हरिभद्र की इस विशेषता को यथा प्रसंग रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

चूंकि आचार्य हरिभद्र एक योग साधक भी थे, अतः न केवल उन्होंने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों में अपितु पंचाशक प्रकरण में भी योग और ध्यान की गंभीर चर्चा की

और इसी चर्चा में उन्होंने जैन धर्म में मान्य पांच मुद्राओं का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत अध्ययन में इसका समावेश भी तप के अन्तर्गत ही किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पंचाशक प्रकरण पर लिखा जाने वाला यह शोध प्रबन्ध न केवल जैन गृहस्थ आचार और मुनि आचार के पिष्टपेशन तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु जैन आचार और विधि-विधानों की अनेक समस्याओं का युगीन सन्दर्भ में निराकरण भी प्रस्तुत करता है। ये सभी विषय तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि कालान्तर में जैन आचार के व्यवहार पक्ष में कहीं-कहीं और किस रूप में परिवर्तन आया है, यद्यपि ये सभी विधि-विधान श्रावक एवं साधु के लिए करणीय माने गये हैं, किन्तु इसमें कुछ विधि विधान ऐसे भी हैं जो चाहे साधु के लिए द्रव्य रूप से करणीय नहीं माने गये हों किन्तु वे भी भाव रूप से तो साधु के लिये भी करणीय बताये गये हैं। ये सभी तथ्य प्रस्तुत अध्ययन के औचित्य को स्थापित करते हैं।

इस शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य जैन क्रियाकाण्ड के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र के दृष्टिकोण से विद्वानों और समाजजनों को अवगत कराना है यद्यपि आचार्य हरिभद्र मुख्यतः योगसाधना, आध्यात्मिक और दार्शनिक समस्याओं के सन्दर्भ में समन्वयात्मक दृष्टि के प्रस्तोता माने जाते हैं, किन्तु पंचाशकप्रकरण में उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने जैन क्रियाकाण्ड को युक्तिसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जैसे- मन्दिर निर्माण में भूमि कैसी और कहाँ हो, भूमि स्वामी और मन्दिर निर्माताओं का पारिश्रमिक आदि किस परिस्थिति में किस प्रकार से दिया जाये ? ताकि उनमें जिन शासन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो ? इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके व्यावहारिक समस्याओं को उठाकर उनके समाधान का भी प्रयत्न किया है। विद्वत्त्वर्ग और समाज उनकी इस उदारदृष्टि से परिचित हो और आचार्य हरिभद्र की बौद्धिक क्षमता का सम्यक् आकलन करे, यही इस शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य रहा है।

सामान्यतया शोधकार्यों में परिकल्पना (Hypothesis) की योजना वैज्ञानिक शोधकार्यों में आवश्यक होती है, किन्तु प्रस्तुत शोध मुख्यतः ग्रन्थ आधारित है अतः इस शोधकार्य में शोध परिकल्पना इतनी आवश्यक प्रतीत नहीं होती थी, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में शोध परिकल्पना यही रही है कि आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण में जिन

विषयों की विवेचना की है, उनका युक्तिपूर्वक और समकालीन सन्दर्भों में मूल्यांकन करके उनकी उपादेयता पर विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य प्रयोगात्मक न होकर ग्रन्थ आधारित है अतः इसमें तथ्यों का संकलन और विश्लेषण ही प्रमुख नहीं है। इस शोध की प्रविधि यही रही है कि प्रथमतया गवेषणीय इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का हरिभद्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कहाँ और कैसा स्थान रहा है ? हरिभद्र ने उसमें क्या जोड़ा है ? और परवर्ती साहित्य पर उसका क्या प्रभाव रहा है, इसकी ग्रन्थाधारित चर्चा और समीक्षा की गई है और समकालीन परिस्थितियों में उनकी क्या उपादेयता है, इसका सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन भी किया जाये।

प्रस्तुत अध्ययन को मैंने मुख्य रूप से सात अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रसंग में आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की भी चर्चा की गई है। कर्तृत्व के अन्तर्गत उनकी उपलब्ध रचनाओं की विषयवस्तु पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

इसके पश्चात् दूसरे अध्याय में हमने पंचाशक प्रकरण में उपलब्ध मोक्षमार्ग के चार अंगों की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशकप्रकरण में सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत श्रावक के कर्तव्यों की चर्चा की गई है। इसमें चैत्यवंदन जिनभवननिर्माण, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, जिनस्तव आदि की भी चर्चा है।

सम्यग्ज्ञान की चर्चा पंचाशक में नहीं है अतः हरिभद्र के अन्य ग्रन्थों के आधार पर इसका संक्षेप में ही निर्देश किया गया है। सम्यक्चारित्र के सामान्य स्वरूप की चर्चा के बाद उसके दो भेदों का उल्लेख किया गया है, जिनकी विशेष चर्चा इस शोधप्रबन्ध के द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में क्रमशः की गई है। जहाँ तक सम्यक्त्प का प्रश्न है, उस पर भी एक स्वतंत्र पंचम अध्याय की योजना की गई है। पुनः तृतीय अध्याय में श्रावक आचार के अन्तर्गत — (1) श्रावक धर्म—विधि, (2) उपासक प्रतिमाविधि, आदि की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों का भी उल्लेख किया गया है। इस चर्चा के प्रसंग में पंचाशकप्रकरण की टीका में अनेक प्रश्नों को उठाया गया है और उनका एक नवीन दृष्टि से समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि पंचाशक प्रकरण में

हरिभद्र ने जो विवरण और व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, वे मात्र परम्परागत आचार को लेकर नहीं हैं, अपितु वे अपने युग में उठने वाली तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करती हैं और आज भी प्रासंगिक है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय मुनि आचार से सम्बन्धित है। इसमें एक ओर जहां जैन मुनि आचार से सम्बन्धित नियमों की चर्चा है, वहीं दूसरी ओर जिन दीक्षा विधि के प्रसंग में मुनि के द्वारा करणीय कुछ विधि-विधानों की भी चर्चा की गई है। हम यह देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने श्रावक-आचार और मुनि-आचार से सम्बन्धित विषयों में आचार के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त उन विधि-विधानों की भी तार्किक समीक्षा भी की है, जो जैन-आचार का ही एक महत्वपूर्ण पक्ष है। वस्तुतः हरिभद्र सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के मध्य एक समन्वय करते हुए अपनी विवेचना प्रस्तुत करते हैं। मुनि आचार के सम्बन्ध में पंचाशकप्रकरण में उपलब्ध निम्न विषयों की चर्चा की गई है -

(1) जिनदीक्षाविधि, (2) साधुधर्मविधि, (3) साधु-समाचारी, (4) विधि-विधान विधि, (5) शीलांग विधान विधि, (6) आलोचना विधि, (7) प्रायश्चित् विधि, और (8) भिक्षु प्रतिमा विधि।

इसके पश्चात् प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में आचार्य हरिभद्र द्वारा वर्णित तप सम्बन्धी विधि-विधानों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रमुख रूप से तप के आगमिक एवं परवर्तीकालीन विभिन्न प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि इन तप सम्बन्धी विधि-विधानों में से अनेक विधि-विधान मुनिधर्म से और अनेक श्रावक धर्म से सम्बन्धित है, अतः हमने इनका एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में ही विवेचन करने का प्रयत्न किया है।

छठे अध्याय में जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित साहित्य का निरूपण किया है। इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा-दोनों के ग्रन्थों का समावेश किया गया है। इस शोधप्रबन्ध का अंतिम सप्तम अध्याय उपसंहार रूप है, इसमें जैनविधि विधानों की संक्षिप्त चर्चा के साथ उनका समीक्षात्मक मूल्यांकन भी है।

कृतज्ञता—ज्ञापन

इस शोध-प्रबन्ध का आधारग्रन्थ हरिभद्र का पंचाशक प्रकरण है जो अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी पर आधारित है। अतः मैं सर्वप्रथम भगवान महावीर, उनकी आचार्य परम्परा और विशेष रूप से आचार्य हरिभद्र के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, क्योंकि भगवान महावीर के वचनों से निसृत, आचार्य परम्परा से संरक्षित तथा आचार्य हरिभद्र के द्वारा ग्रंथित यह कृति मेरे शोध-विषय का आधार रही है।

मैं इसके संस्कृत टीकाकार अभयदेवसूरि, जिन्होंने इस गहन विषय को स्पष्ट किया है, के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि उनकी ही खरतरगच्छीय परम्परा में मुझे दीक्षित होने का अवसर मिला। मैं पूज्य गुरुवर्या शशिप्रभा श्रीजी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने मेरे जीवन में ज्ञानचेतना का विकास किया और मुझे ज्ञानोपासना के लिए प्रेरित किया। मैं अपनी गुरुभगिनियों विशेष रूप से सम्यग्दर्शनाश्रीजी, सम्यक्प्रभाश्रीजी के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर में अपने अध्ययनकाल में पूरी तरह से सहयोग प्रदान किया और मेरे अध्ययन में किसी भी प्रकार से व्यवधान उपस्थित नहीं होने दिया। मैं विशेष रूप से साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी एवं साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी की भी आभारी हूँ जिनकी कृतियाँ मेरे अध्ययन में विशेष रूप से सहयोगी रही हैं। विशेष रूप से मेरे षष्ठम अध्याय का आधार तो श्री सौम्यगुणा श्रीजी की कृति जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास रही है।

मैं विशेष आभारी हूँ डॉ. सागरमल जी जैन की, जिन्होंने न केवल इस शोधकार्य का मार्गदर्शन स्वीकार किया, अपितु अपनी इस वृद्धावस्था में भी मेरे शोध-प्रबन्ध के लेखन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संशोधन का कार्य भी करते रहे तथा अपने द्वारा स्थापित प्राच्य विद्यापीठ में मेरे एवं मेरी गुरु भगिनियों के लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ जुटाई। उनके सहयोग, संशोधन और मार्गदर्शन के बिना यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। इस शोध-प्रबन्ध के अथ से लेकर इति तक सभी कार्यों में वे मेरे मार्गदर्शक एवं सहयोगी रहे हैं।

मैं इस शोध-प्रबन्ध के टंकण के लिए राजा जी ग्राफिक्स के श्री शिरीष सोनी की भी आभारी हूँ। साथ ही प्रूफ संशोधन का कार्य श्री चैतन्य जी सोनी ने पूरी प्रामाणिकता से किया है। अतः उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना भी मेरा दायित्व है। इसके साथ ही मैं ज्ञात, किन्तु विस्मृत एवं अज्ञात उन सभी व्यक्तियों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिनका साहित्य एवं सहयोग मेरे इस शोधकार्य को पूर्ण करने में सहायक रहा है। इति

—साध्वी कनकप्रभाश्री

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में वर्णित विषयों की सूची

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश —

1-64

- (अ) जैन साहित्य में आचार्य हरिभद्र और उनके पंचाशक प्रकरण का स्थान और महत्त्व।
- (ब) आचार्य हरिभद्र की जीवनरेखा —
- (1) जन्म, कुल परम्परा, गृहस्थजीवन एवं जैन परम्परा में दीक्षा और उनका मुनिजीवन।
 - (2) आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व की विशेषताएँ।
- (स) आचार्य हरिभद्र का कृतित्व।
- (1) आचार्य हरिभद्र के कृतित्व की बहु आयामिता।
 - (2) आचार्य हरिभद्र की उपलब्ध कृतियाँ।
 - (3) आचार्य हरिभद्र की महत्वपूर्ण कृतियों का संक्षिप्त परिचय।
- (द) आचार्य हरिभद्र के पंचाशक प्रकरण का वैशिष्ट्य और उसकी विषय वस्तु।
- (इ) आचार्य हरिभद्र की समीक्षात्मक एवं समन्वयात्मक दृष्टि

द्वितीय अध्याय : आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में मोक्षमार्ग —

65-225

- (अ) पंचाशक प्रकरण में मोक्षमार्ग के चार अंग—
1. सम्यग्दर्शन
 2. सम्यग्ज्ञान
 3. सम्यक्-चारित्र
 4. सम्यक्-तप
- (ब) सम्यग्दर्शन का अन्तरंग एवं बाह्य स्वरूप —
1. सम्यग्दृष्टि श्रावक के कर्तव्य
 2. चैत्यवन्दनविधि
 3. पूजाविधि —द्रव्यपूजा और भावपूजा, द्रव्यपूजा क्यों करणीय है ?

4. प्रत्याख्यानविधि—प्रत्याख्यान की आवश्यकता
 5. स्तवनविधि
 6. जिनभवन निर्माणविधि—जिनभवन निर्माण में होने वाली हिंसा के पक्ष में हरिभद्र तर्क
 7. जिनबिम्ब प्रतिष्ठाविधि—प्रतिष्ठाविधि के आगमिक एवं लौकिक आधार
 8. जिनयात्रा—विधि — जिनयात्रा और जैनधर्म की प्रभावना का प्रश्न
- (स) सम्यग्ज्ञान का स्वरूप —
1. पंचज्ञान
 2. प्रमाण, नय निक्षेप
 3. भेद—विज्ञान
- (द) सम्यक्—चरित्र —
1. मुनिधर्म
 2. श्रावक धर्म
- (इ) तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय : पंचाशकप्रकरण में श्रावक धर्म

226—384

आचार्य हरिभद्र के अनुसार श्रावक का स्वरूप और उसके कर्त्तव्य —

(अ) श्रावक के द्वादश व्रत—

1. अहिंसाणुव्रत
2. सत्याणुव्रत
3. अचौर्याणुव्रत
4. स्वपति—संतोषव्रत
5. परिग्रह—परिमाणव्रत
6. दिशा—परिमाणव्रत
7. भोगोपभोगपरिमाणव्रत
8. अनर्थदण्डविरमव्रत
9. सामायिकव्रत

10. पौषधव्रत
 11. देशावगाशिक व्रत
 12. अतिथिसंविभागव्रत
 13. उपासक प्रतिमा विधि :-
 14. श्रावकाचार का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन
- (अ) ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप -
- (ब) प्रतिमाओं की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता -
- (स) व्रत-विवेचन में हरिभद्र का वैशिष्ट्य
- (द) व्रत-व्यवस्था की प्रासंगिकता

चतुर्थ अध्ययन : पंचाशक प्रकरण में मुनिधर्म :-

385-574

1. जिनदीक्षाविधि - जिनदीक्षा के अयोग्य और योग्य कौन ?
 2. साधुधर्मविधि
 3. साधुसमाचारीविधि
 4. पिण्डविधानविधि
 5. शीलांगविधानविधि
 6. आलोचनाविधि
 7. प्रायश्चित्तविधि
 8. रिथितारिथित कल्पविधि
 9. भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि
- तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन**

पंचम अध्ययन : पंचाशक प्रकरण में तप विधि -

575-610

- तप का अर्थ एवं स्वरूप
- (अ) तप के दो प्रकार - 1. बाह्य तप 2. आभ्यन्तर तप
1. बाह्य तप के 6 प्रकार 2. आभ्यन्तर तप के 6 प्रकार
- (ब) तप के विविध प्रकार

प्रकीर्ण तपों का स्वरूप और उनकी विधि –

- | | |
|-----------------------------|-------------------------|
| 1. तीर्थकर दीक्षा तप | 2. तीर्थकर पारणा तप |
| 3. केवलज्ञान की उत्पत्ति तप | 4. चान्द्रायण तप |
| 5. यव मध्य प्रतिमा तप | 6. वज्र मध्य प्रतिमा तप |
| 7. रोहिणी आदि तप | 8. परम भूषण तप |
| 9. सौभाग्य तप | 10. आयाति जय तप |
| 11. इन्द्रिय जय तप | |

(स) तप का प्रयोजन और लक्ष्य

(द) तप की प्रासंगिकता

तपविधि का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

षष्ठम अध्ययन : विधि-विधान सम्बन्धी प्रमुख जैन साहित्य **611-636**

सप्तम अध्याय : उपसंहार **637-653**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **654-658**

-----000-----

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश

- (अ) जैन साहित्य में आचार्य हरिभद्र और उनके पंचाशक प्रकरण का स्थान और महत्त्व।
- (ब) आचार्य हरिभद्र की जीवनरेखा –
- (1) जन्म, कुल परम्परा, गृहस्थजीवन एवं जैन परम्परा में दीक्षा और उनका मुनिजीवन।
 - (2) आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व की विशेषताएँ।
- (स) आचार्य हरिभद्र का कृतित्त्व।
- (1) आचार्य हरिभद्र के कृतित्त्व की बहु आयामिता।
 - (2) आचार्य हरिभद्र की उपलब्ध कृतियों।
 - (3) आचार्य हरिभद्र की महत्वपूर्ण कृतियों का संक्षिप्त परिचय।
- (द) आचार्य हरिभद्र के पंचाशक प्रकरण का वैशिष्ट्य और उसकी विषय वस्तु।
- (इ) आचार्य हरिभद्र की समीक्षात्मक एवं समन्वयात्मक दृष्टि

अध्याय-1

विषय प्रवेश

आचार्य हरिभद्र का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जैन-साहित्य विपुल और बहुआयामी है। इसमें आगम, आगमों की व्याख्याएँ एवं विविध विधाओं के आचार्यों के ग्रन्थ- सभी समाहित हैं। जैन-साहित्य में आगमों के उपदेष्टा के रूप में तीर्थंकर परमात्मा और उनके रचनाकार के रूप में गणधरों को माना गया है, किन्तु आगमों के पश्चात् की समस्त रचनाएँ, चाहे वे आगमिक-व्याख्याओं के रूप में, अथवा विविध विधाओं के स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में हों, उनके रचयिता जैन-आचार्य ही रहे हैं। इन जैन आचार्यों में कुछ जैन-आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जिनका साहित्यिक अवदान विपुल और बहुआयामी है। जैन-आगम बहुआयामी है, उनमें विविध विषय उपलब्ध होते हैं, अतः उनके व्याख्याकार आचार्यों ने भी अपनी व्याख्याओं में जैन विद्या के उन विविध पक्षों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, फिर भी जैन-विद्या के विविध आयामों पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की दृष्टि से यदि कोई आचार्य हमें परिलक्षित होता है, तो वे आचार्य हरिभद्र ही हैं।

यद्यपि हरिभद्र के पूर्व दिगम्बर-परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन-विद्या के कुछ पक्षों पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की है, फिर भी उनके ग्रन्थ मुख्यतः निश्चयनय प्रधान तथा जैन-तत्त्वज्ञान और आचार से ही सम्बन्धित हैं। यद्यपि उन्होंने अष्टपाहुड में विविध पक्षों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है, पर वे विविध पक्ष मूलतः जैन-तत्त्वज्ञान एवं आचार से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। आचार्य हरिभद्र ऐसे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने जैन-विद्या के विविध पक्षों को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने विविध विधाओं से युक्त अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने आगमिक व्याख्याएँ भी लिखी हैं। दशवैकालिक-वृत्ति, आवश्यक-वृत्ति, अनुयोगद्वार-वृत्ति, नन्दी-वृत्ति, जीवाधिगम-सूत्र लघुवृत्ति, चैत्यवन्दनसूत्र-वृत्ति (ललितविस्तरा) आदि उनके व्याख्या सम्बन्धी ग्रन्थ हैं।

इन व्याख्यात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त जो उनके ग्रन्थ हैं, उनमें दर्शन, आचार, विधि-विधान और योग सम्बन्धी ग्रन्थ आते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त उनके कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जो स्वयं अपने-आप में बहुआयामी हैं। ऐसे ग्रन्थों में अष्टक-षोडशक, विंशिका और पंचाशक प्रमुख हैं, जिनमें विविध विषयों को लेकर आचार्य हरिभद्र ने लेखन किया है। ये ग्रन्थ बहुआयामी तो हैं ही किन्तु साथ ही अपने विषयों को गहराई से प्रस्तुत भी करते हैं। इनमें आचार्य हरिभद्र की समीक्षात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है। अष्टक-

प्रकरण में बत्तीस विषयों को लेकर बत्तीस अष्टक लिखे गए हैं। षोडशक में सोलह विषयों को लेकर सोलह-सोलह गाथाओं में विवरण है। इसी प्रकार विंशतिविंशिका में बीस विषयों को लेकर उन पर बीस-बीस प्राकृत गाथाओं में विवेचन किया गया है। इसी प्रकार पंचाशक-प्रकरण में पचास-पचास गाथाओं में उन्नीस विषयों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इन बहुआयामी ग्रन्थों में पंचाशक-प्रकरण विषय और विवेचन-दोनों की दृष्टि से अधिक प्रभावक प्रतीत हुआ। यही कारण रहा कि हमने हरिभद्र के इस ग्रन्थ पर अपने शोध को केन्द्रित करने का निश्चय किया। यद्यपि इस ग्रन्थ में आचार और विधि-विधान सम्बन्धी पक्ष अधिक उभरकर आए हैं, साथ ही जैन-आचार पर और हरिभद्र के योग-साहित्य पर कार्य भी हुआ है, किन्तु जहाँ तक विधि-विधानों का प्रश्न है, उन पर अभी तक गम्भीर शोधकार्य नहीं हुआ, इसलिए हमने पंचाशक प्रकरण को अपने शोध का विषय बनाया है। इस शोध योजना में हम सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा करेंगे और उसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र के इस पंचाशक-प्रकरण के वैशिष्ट्य और उसकी विषय-वस्तु पर प्रकाश डालेंगे, साथ ही आचार्य हरिभद्र की समीक्षात्मक एवं समन्वयात्मक-दृष्टि की चर्चा करेंगे।

आचार्य हरिभद्र की जीवन-रेखा

हरिभद्र का जन्म स्थान, जन्म, कुल-परम्परा, गृहस्थ-जीवन एवं जैन-परम्परा में दीक्षा

आचार्य हरिभद्र के जीवन-वृत्त को उल्लेख करने वाला सबसे प्राचीन ग्रन्थ भद्रेश्वरसूरि द्वारा रचित 'कहावली' है। कहावली के उल्लेखानुसार हरिभद्र का जन्म-स्थान पिवंगुई बंधपुणी¹ ग्राम है, किन्तु अन्य ग्रन्थों में उनका जन्म-स्थान चित्तौड़ (चित्रकूट)² बताया गया है।

दोनों संकेतों को देखने पर यह समानता लगती है कि पिवंगुई के साथ बंधपुणी का जो उल्लेख है, वह ब्रह्मपुरी का ही विकृत रूप है। सम्भवतः, ब्रह्मपुरी ग्राम चित्तौड़ का एक उपनगर या समीपस्थ कोई ग्राम रहा होगा।

इसके अतिरिक्त कई ग्रन्थों में हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ नगरी के स्थापना के पहले उत्तर की ओर बसी हुई भग्नावशिष्ट माध्यमिका-नगरी बताया जाता है, जो बहुत ही प्राचीन है तथा विद्याप और धर्म का केन्द्र रही है।³ इस नगर में वैदिक, जैन एवं बौद्ध-परम्पराओं का अत्यधिक प्रभाव रहा है। यह नगरी शिवि

1 समदर्शी आचार्य हरिभद्र, सम्पादक-जिनविजय मुनि, पृ. 6

2 वहीं-पृ. 7

3 वहीं-पृ. 7

जनपद की राजधानी थी। इस नगरी पर आक्रमण बहुत हुए, इस कारण चित्रांगद नामक मौर्य शासक ने माध्यमिका के निकट चित्तौड़ को राजधानी बनाकर विकसित किया। चित्तौड़ चित्रपुर का ही अपभ्रंश रूप है।

पं. सुखलाल संघवी के अनुसार हरिभद्र का जन्म स्थान मूल रूप से चित्तौड़ न हो, तो भी चित्तौड़ अथवा माध्यमिका नगरी में से किसी एक स्थान के साथ हरिभद्र का निकट सम्बन्ध होना चाहिए।⁴ इस प्रकार विचार करने पर सिद्ध होता है कि हरिभद्र का जन्म-स्थान मालव राजस्थान एवं गुजरात का संधिस्थल रहा है।

हरिभद्र के माता-पिता

आचार्य भद्रेश्वर द्वारा रचित कहावली के अनुसार इनके पिता का नाम शंकरभट्ट और माता का नाम गंगा प्राप्त होता है।⁵ अन्य ग्रन्थों में कहीं भी मालव-पिता के नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

उनका ब्राह्मण होना 'भट्ट' शब्द से भी सिद्ध होता है। ब्रह्मपुरी का निवासी होने से भी उनके ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है।

गणधर साद्वंशतक की सुमतिगणिकृत कृति में हरिभद्र का ब्राह्मण के रूप में स्पष्ट निर्देश मिलता है।⁶ प्रभावक चरित्र में उन्हें राजा का पुरोहित बताया गया है।⁷ इससे यह निश्चित होता है कि वे ब्राह्मण थे, क्योंकि पुरोहित का कार्य ब्राह्मण ही करते थे। धर्म और दर्शन के सन्दर्भ में उनकी प्रज्ञा-प्रतिभा, ज्ञान-गाम्भीर्य से भी इस बात की पुष्टि हो रही है कि उनका जन्म ब्राह्मण-कुल में ही हुआ है। इन सभी प्रमाणों से हरिभद्र के ब्राह्मण होने की पुष्टि होती है।

अध्ययन-अध्यापन - आचार्य हरिभद्र ने बाल्यकाल में अध्ययन कब, कहाँ और किससे किया-इस विषय में कहीं भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है, परन्तु अनुमान है कि ब्राह्मण-कुल में जन्म होने के कारण ब्राह्मण-परम्परानुसार यज्ञोपवीत-संस्कार के पश्चात् ही उनका विद्याभ्यास प्रारम्भ हुआ होगा तथा प्राचीन परम्परानुसार गुरुकुल में रहकर ही किन्हीं कुलाचार्य के सान्निध्य में उन्होंने विद्याभ्यास किया होगा। ब्राह्मण परम्परानुसार उनका अध्ययन वेद, वेदांग तथा ज्योतिष एवं संस्कृत-भाषा का हुआ होगा।

4 समदर्शी आचार्य हरिभद्र, सम्पादक-जिनविजय मुनि, पृ. 6-7

5 समदर्शी आचार्य हरिभद्र, सम्पादक-जिनविजय मुनि, पृ. 7

6 समदर्शी आचार्य हरिभद्र, सम्पादक-जिनविजय मुनि, पृ. 7

7 समदर्शी आचार्य हरिभद्र, सम्पादक-जिनविजय मुनि, पृ. 7

उन्होंने प्राकृत भाषा एवं साहित्य का अध्ययन जैन-परम्परा में दीक्षित होने के बाद किया होगा। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् रहे हैं, परन्तु पूर्व में उनके गुरु कौन थे- इसकी चर्चा किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

हरिभद्र के लिए किंवदंती है कि इन्हें अपने विशद ज्ञान का अहंकार था और इसी विद्वत्ता के अहम् में आकर ही उन्होंने संकल्प लिया था कि जिसके द्वारा कथित विषय को मैं नहीं समझ पाऊँगा उसी का ही शिष्यत्व अंगीकार कर लूँगा।

जैन-अनुश्रुतियों में यह माना जाता है कि एक बार जब वे रात्रि में अपने घर की ओर लौट रहे थे, तब वयः स्थविर जैन-साध्वी के मुखारविन्द से निःसृत कुछ पंक्तियाँ उनके कानों में गूँजी, जो प्राकृत-भाषा में थीं, परन्तु वे उनका अर्थ नहीं समझ पाए। जिन पंक्तियों का अर्थ वे नहीं समझ पाए वे पंक्तियाँ निम्न थीं-

‘चक्की दुगं हरिपणगं पणगं चक्की के सवो चक्की।

केसव चक्की केसव दुचक्की केसी अ चक्की अ।।’⁸

उक्त गाथा के अर्थ को जानने की ललक लिए प्रातःकाल की वेला में वे जैन-उपाश्रय में साध्वीश्री के सम्मुख समुपस्थित हुए। अपने पूर्वकृत संकल्पानुसार साध्वीश्री के विरल व्यक्तित्व के समक्ष नतमस्तक हो उन्होंने पृच्छा की - “हे भगवती! रात्रि में बोले गए निम्न पद का अर्थ मेरी बुद्धि से बाहर था, कृपया बताने की कृपा करें।” साध्वीश्री ने उन्हें अपने धर्मगुरु श्री जिनभट्ट या जिनभद्रसूरिजी का परिचय देकर उनके पास जाकर समाधान पाने का संकेत किया।

साध्वीजी के निर्देशानुसार वे उनके धर्मगुरु के पास पहुँचे। ज्यों ही उनके दर्शन हुए, वे श्रद्धा से झुक गए और उपर्युक्त पद का अर्थ जानने की जिज्ञासा प्रकट की। गुरु ने ज्यों ही नया चेहरा देखा, तत्काल पढ़ लिया कि आगन्तुक की जिज्ञासा सर्वसाधारण से भिन्न है, अतः उन्होंने हरिभद्र को अपनी सुप्त प्रज्ञा उद्घाटित करने के लिए सम्यक् पथ पर अग्रसर कर दिया, अर्थात् उनकी अर्थ जानने की पिपासा तो शान्त की, लेकिन अपितु उनमें आत्म-साधना की पिपासा को जगा दिया।

उन्हें चिन्तन के सागर में डुबकी लगाकर सम्यक् रत्न पाने के लिए सूत्र दे दिया कि “निष्काम-निस्पृह” साधना ही ‘भवविरह’ का मार्ग है, यही मोक्ष को प्रदान करने में सक्षम है। साथ ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यदि जैन-शास्त्र व प्राकृत-शास्त्र का पूर्ण और प्रामाणिक अभ्यास करना हो, तो उसके लिए जैन-दीक्षा लेना आवश्यक है।

हरिभद्र ज्ञानपिपासु तो थे ही, अतः उन्होंने ज्ञान की गहराई को पाने के लिए अपने मन को नया मोड़ दे दिया एवं तत्काल जैन-दीक्षा ग्रहण करने हेतु कृत संकल्पित हो गए। जैन-प्रब्रज्या अंगीकार कर उन्होंने जैन-अध्यात्म का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया और अपनी प्रतिज्ञानुसार स्वयं को 'धर्मतोयाकिनीसूनु' के रूप में उद्घोषित किया।

जैन प्रब्रज्या स्वीकार कर वे जिन-शासन के इतिहास में शाश्वत प्रकाश-स्तम्भ बन गए। जन्म से ब्राह्मण होने के कारण ही उन्हें संस्कृत, व्याकरण, वेद, उपनिषद्, छन्दशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष आदि का तलस्पर्शी ज्ञान तो था ही, परन्तु जैन-धर्म के अभिमुख होने पर उन्होंने जैन-दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया।

हरिभद्र के अध्ययन की यह विशेषता रही कि उन्होंने अपने जैन-दर्शन के अध्ययन से पूर्व में किए गए दर्शनों के अध्ययन को परिपुष्ट एवं समन्वित भी किया। विभिन्न दर्शनों को जैन-दर्शन के साथ समन्वित करने का उनका प्रयास इनके निम्न ग्रन्थों से प्राप्त होता है-

योगदृष्टिसमुच्चय, शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय, षड्दर्शन-समुच्चय आदि

आचार्य हरिभद्र का समय - हरिभद्र के ग्रन्थों में हरिभद्र के समय की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनके ग्रन्थों में ग्रन्थ के रचना काल का भी निर्देश उपलब्ध नहीं होता है, जिससे उनके सत्ताकाल की कोई जानकारी मिल सके।

डॉ. सागरमल जैन ने अपने 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' लेख में हरिभद्रसूरि के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखा है कि हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में अनेक अवधारणाएँ प्रचलित हैं, फिर भी उन्होंने इस सम्बन्ध में विशेष अन्वेषण के आधार पर मुनि जिनविजयजी द्वारा मान्य उस अवधारणा को ही पुष्ट किया है, जिससे हरिभद्र का सत्ताकाल वि.स. 700 से वि.स. 770 माना गया है।

हरिभद्र के समय-निर्धारण के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रयास किया है। वह इस प्रकार है-

आचार्य मेरुतुंग (विक्रम की 14 वीं शताब्दी) की कृति 'विचार-श्रेणी' में हरिभद्र का समय वि.सं. 595 बताया है।⁹ प्रद्युम्नसूरि रचित 'विचारसार-प्रकरण' में व समयसुन्दरगणि द्वारा रचित 'गाथा सहस्री' (1686) में तथा कुलमंडनसूरि (15 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने 'विचार अमृत संग्रह' में और धर्मसागर उपाध्याय (16 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने 'तपागच्छ गुर्वावलि' में हरिभद्रसूरि का समय वीर-निर्वाण संवत् 1055 निरूपित किया है।¹⁰

9 'मेरुतुंग'

10 पंचाशक भूमिका, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 11

“पणपत्र दस सएहिं हरिभद्र आसि तत्थ पुव्व कई।”

वीर-निर्वाण के 470 वर्ष बाद वि.सं. प्रारम्भ होता है। उसके अनुसार (470+585=1055) हरिभद्र का समय होता है।

इसका समर्थन निम्न दो प्रमाण भी करते हैं-

1. मुनि सुन्दरसूरि ने तपागच्छ गुर्वावली में हरिभद्र को 'मानदेवसूरि' द्वितीय का मित्र बताकर हरिभद्रसूरि का समय विक्रम की छठवीं शती का उत्तरार्द्ध बताया है। चूंकि मानदेवसूरि (द्वितीय) का समय छठवीं शताब्दी है, अतः यह समय उक्त परम्परागत अवधारणा से संगति रखता है।¹¹

2. इस समय के पक्ष में दूसरा महत्वपूर्ण प्रमाण डॉ. सागरमल जैन ने 'हरिभद्रसूरि का धूर्ताख्यान' के आधार पर प्रस्तुत किया है। मुनि जिनविजयजी ने धूर्ताख्यान का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, परन्तु इस तथ्य के शोध में डॉ. सागरमल जैन का सराहनीय श्रम रहा।¹² धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रो. ए.एन. उपाध्याय ने अज्ञात मरुगुर्जर में निबद्ध धूर्ताख्यान व संघ-तिलक के संस्कृत धूर्ताख्यान पर हरिभद्र के प्राकृत धूर्ताख्यान के प्रभाव की चर्चा की है। उन्होंने प्राकृत धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक कृति माना है। यदि यह ग्रन्थ हरिभद्र का माना जाए तो यह भी निश्चित है कि- निशीथभाष्य एवं निशीथचूर्णि की रचना से पूर्व की यह रचना है, क्योंकि यह कथानक इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध है। निशीथभाष्य में निम्न रूप से यह कथा प्राप्त है-

सस-एलासाढ-मूलदेव, खण्डा य जुण्ण उज्जाणे।
सामव्यणे को भत्तं, अक्खात जो ण सहहति।।
चोर भया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि।
तिलअइरूढ कुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा।।
वणगयपाटण कुंडिय, छम्माय हत्थिलगणं पुच्छे।
राय रयग मो वादे, जहि पेच्छइ ते इमे वत्था।।

भाष्य की उपर्युक्त गाथा से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार को सम्पूर्ण कथानक ज्ञात है। वे इसे मृषावाद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, अतः यह सत्य है कि उक्त आख्यान मूल ग्रन्थ का उत्स नहीं हो सकता। यह आख्यान भाष्य से पूर्ववर्ती है, चूर्णिभाष्य पर टीका है, अतः वह भी आख्यान के अन्त में लिखा है।

निशीथभाष्य और चूर्णि से पूर्व रचित किन्हीं भी ग्रन्थों में यह आख्यान आया हो - ऐसी जानकारी किसी भी विद्वान् की दृष्टि में नहीं है, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धूर्ताख्यान को हरिभद्र की कृति

11 डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, ले. समदर्शी आचार्य हरिभद्र (डॉ. सागरमल जैन), पृ. 665

12 डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, ले. समदर्शी आचार्य हरिभद्र (डॉ. सागरमल जैन), पृ. 665

क्यों नहीं माना जाए, लेकिन ऐसा परन्तु मानने पर हरिभद्र को भाष्यकार व चूर्णिकार से पूर्ववर्ती मानना होगा, इससे विद्वानों की जो मान्यता है, वह मान्यता खण्डित हो जाएगी।

यद्यपि प्रायः सभी पट्टावलियों में एवं लघु क्षेत्र समासवृत्ति में हरिभद्र का काल वीर-निर्वाण सं. 1055 माना जाता है, पट्टावलियों में चूर्णिकार जिनदास को भाष्यकार जिनभद्र का पूर्ववर्ती माना गया है, जो उचित नहीं है।¹³

ऐसी स्थिति में दो ही विकल्प रह जाते हैं। पहला विकल्प, पट्टावलियों में कहे अनुसार हरिभद्र को जिनभद्र व जिनदास से पूर्व मानकर उनकी रचनाओं पर हरिभद्र के प्रभाव को सिद्ध करें, अथवा धूर्ताख्यान में आदि स्रोत को अन्य किसी पूर्ववर्ती की रचना होना सिद्ध करें। परन्तु यह तो निश्चित है कि धूर्ताख्यान पौराणिक-युग के पूर्व की कृति नहीं है। निशीथभाष्य व चूर्णि में उल्लेख होने से धूर्ताख्यान के मूल स्रोत की अन्तिम सीमा सातवीं शती के पश्चात् नहीं हो सकती है।

धूर्ताख्यान का काल ईसा की 5 वीं से 7 वीं शती के बीच ही हो सकता है। निश्चित तो नहीं कह सकते, पर अनुमान है कि हरिभद्र की गुरु-परम्परा जिनभद्र की हो, क्योंकि मुख-सुख के कारण या भ्रातिवश जिनभद्र का जिनभद्र या जिनदास का जिनदत्त हो गया हो, क्योंकि हस्तप्रतों में 'द' और 'ट' के लिखने में तथा 'स' और 'त' के लिखने में समानता ही दिखाई देती है। विद्वानों का यह भी मानना है कि प्रतिभाशाली शिष्य का गुरु भी प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए, जबकि हरिभद्र के पूर्व जिनभद्र अथवा जिनदत्त के होने के अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं, अतः हो सकता है कि धूर्ताख्यान हरिभद्र की प्रारम्भ की रचना हो और उसका उपयोग हरिभद्र के गुरुभ्राता सिद्धसेनगणि (छठवींशती) ने अपने निशीथभाष्य में एवं हरिभद्र के गुरु जिनदास महत्तर ने निशीथचूर्णि में किया हो।

डॉ. सागरमल जैन ने अपने लेख में स्पष्ट रूप से कहा है कि हरिभद्र के गुरु जिनभद्र हों -यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है। डॉ. हर्मन जैकोबी आदि अन्य कई विद्वानों ने भी हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र माना है। जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल कुछ विद्वानों ने जैसलमेर भण्डार में उपलब्ध प्रतिलिपि के आधार पर शक्-संवत् 531 के आस-पास माना है। यदि हम जिनभद्र का सत्ताकाल शक्-संवत् 531 मानें, तो वि.सं. की दृष्टि से उनका सत्ताकाल वि.सं. 531+136=667 आता है, किन्तु हरिभद्र उसके 25-30 वर्षों में भी हो सकते हैं, जो विद्वानों की मान्यता के निकट है, किन्तु लगभग उससे 50-60 वर्ष पूर्व है।

दूसरे, यदि हेमचन्द्र के अनुसार वीर-निर्वाण सं. विक्रम-संवत् के 410 वर्ष पूर्व मानें, तो हरिभद्र का काल 1055-410=645 आएगा। यह भी वर्तमान में विद्वत्-वर्ग की मान्यता के अति निकट तो है,

13 डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, ले. समदर्शी आचार्य हरिभद्र (डॉ. सागरमल जैन), पृ. 666

फिर भी यह 50-60 वर्ष पूर्व ही आता है। मुनि जयसुन्दरविजयजी शास्त्रवार्तासमुच्चय की भूमिका में पूर्वोक्त परम्परागत मान्य समय को पुष्ट करते हुए लिखते हैं- प्राचीन अनेक ग्रन्थकारों ने हरिभद्रसूरि को वि.सं. 585 में होना बताया है। इतना ही नहीं, किन्तु हरिभद्रसूरि ने स्वयं भी अपने समय का उल्लेख संवत् तिथि, वार, मास और नक्षत्र के साथ लघुक्षेत्र समास की वृत्ति में किया है। उस वृत्ति के ताडपत्रीय जैसलमेर की प्रति का परिचय मुनिश्री पुण्यविजय द्वारा सम्पादित जैसलमेर कलेक्शन, पृष्ठ 68 में इस प्रकार प्राप्त है। 'क्रमांक-196 जम्बूद्वीपक्षेत्र-समासवृत्ति, पत्र 26, भाषा-प्राकृत-संस्कृत, कर्ता हरिभद्र आचार्य, प्रतिलिपिकाल सं. अनुमानत 14 वीं शताब्दी। इस प्रति के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है-

इति क्षेत्रसमास वृत्तिः समाप्त।
 विरचिता श्री हरिभद्राचार्ये ॥छ॥
 लघुक्षेत्रे समासस्य वृत्तिरेषा समासतः।
 रचिता बुध बोधार्थं श्री हरिभद्रसूरिभिः ॥१॥
 पंचाशतिकवर्षे विक्रमतो ब्रजति शुक्लपंचम्याम्।
 शुक्रस्य शुक्रवारे शस्ये पुष्ये च नक्षत्रे ॥२॥

ऐसा ही उल्लेख संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भण्डार में अनुमानतः 15 वीं शताब्दी में लिखी हुई क्षेत्रसमास की कागज की एक प्रति में उपलब्ध होता है, किन्तु मुनि जयसुन्दरविजयजी की निम्न सूचनानुसार जम्बूद्वीपक्षेत्र-समासवृत्ति का रचनाकाल 85 है, 558 नहीं। इत्सिंग आदि का काल निश्चित है, अतः धर्मकीर्ति के समय की ही समस्या नहीं है, अपितु सुनिश्चित समय वाले जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जिनदासगणि महत्तर, सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण की भी है, क्योंकि इनमें से एक भी वि.सं. 585 के पूर्ववर्ती नहीं हैं, जबकि इनके नामोल्लेख सहित ग्रन्थावतरण हरिभद्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। जिनभद्र का सत्र-समय 530, अर्थात् वि.सं. 665 प्राप्त होता है। यदि हरिभद्र उनके शिष्य हों, तो 30-40 वर्ष बाद, अर्थात् वि.सं. 700 के आस-पास होगा, अतः हरिभद्रसूरि का समय वि.सं. 585 किसी भी स्थिति में तर्कसंगत नहीं है। इसे शक्-संवत् मानें, तो हरिभद्र का काल वि.सं. 721 होगा, जो पूर्णतः विद्वानों द्वारा मान्य हैं। इस प्रकार हरिभद्र को जिनभद्र आदि के समकालीन मानने के लिए वि.सं. 585 को शक्-संवत् मानना होगा, तभी हरिभद्र का समय 8 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रामाणिक सिद्ध होगा। हरिभद्र की कृति दशवैकालिकवृत्ति में विशेषावश्यक की अनेक गाथाओं का समावेश होने के कारण यह भी स्पष्ट होता है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विशेषावश्यकभाष्य के पश्चात् ही होगा। भाष्य का रचनाकाल शक्-संवत् 531 या उसके कुछ पहले का है, अतः 585 को भी शक्-संवत् मान लिया जाए तो दोनों में एकरूपता हो सकती है।

नन्दीचूर्णि से भी कुछ पाठ हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में उद्धृत किए हैं। नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदासगणि महत्तर ने नन्दीचूर्णि का रचना का समय शक्-संवत् 598 निरूपित किया है, अतः हरिभद्र का समय तदनुसार वि.सं. 734 या ई. सन् 676 के बाद ही हो सकता है, अतः हरिभद्र के समय-सम्बन्धी पूर्वोक्त गाथा के संवत् को शक्-संवत् मानकर हरिभद्र का काल ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार करें, तो नन्दीचूर्णि के साथ संगति होने में मात्र 20-25 वर्ष का ही अन्तर रहता है, अतः यह तो निश्चित है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विक्रम की 7 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 8 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

पुनः, यदि हम मान लेते हैं कि निशीथचूर्णि में प्राकृत धूर्ताख्यान का उल्लेख किसी पूर्वाचार्य की कृति थी, तो उसी को आधार मानकर वे निशीथचूर्णि के रचनाकाल को वि.सं. 732 से आगे हरिभद्र के समय ले जा सकते हैं।

मुनिश्री जिनविजयजी ने गहन खोज कर 'हरिभद्रसूरि समय निर्णय' पुस्तिका में हरिभद्र के समय को ई. सन् 700-770 निरूपित किया है।

यदि पूर्वोक्त गाथा के अनुसार हरिभद्रसूरि का समय वि.सं. 585 स्वीकृत करते हैं, तो जिनविजयजी द्वारा उल्लिखित समय में लगभग 150-200 वर्ष का अन्तर दिखाई देता है, अतः इसे शक्-संवत् माना जाए, तभी यह समय सिद्ध होगा। मुनि धनविजयजी ने 'चतुर्थ स्तुति निर्णय शंकोद्धार' में 'रत्नसंचय प्रकरण' की निम्न गाथा का विवरण दिया है-

“पणपणण बारससए हरिभद्रोसूरि आसि पुव्वकाए।”¹⁴

इस गाथा से यह ज्ञात होता है कि हरिभद्र का समय वीर-निर्वाण सं. 1255, अर्थात् वि.सं. 785, ई. सन् 728 है। हालांकि इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह समय जन्म का है या स्वर्गवास का? अतः यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह सत्ता का समय होगा। यद्यपि इस गाथा के अनुसार समय को पुष्ट करने के लिए अन्य कोई प्रामाणिक सन्दर्भता भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह विद्वत्मान्य समय से पूर्ण संगति रखता है। डॉ. सागरमल जैन का कथन है कि वीर-निर्वाण संवत् में हो रही 60 वर्ष की भूल का हमें संशोधन करना चाहिए। डॉ. सागरमल जैन 'सागर जैन विद्याभारती' में इस भूल का संशोधन कर वीर-निर्वाण के वि.पू. 410, अथवा ई.पू. 467 मानते हैं, तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र का समय 1255 सिद्ध हो जाता है, जिससे ई. सन् 788 युक्तिसंगत है, अर्थात् जिनविजयजी द्वारा शोधित समय के अधिक निकट है।¹⁵

14 पंचाशक प्रकरण (भूमिका), डॉ. सागरमल जैन, पृ. XVI

15 पंचाशक प्रकरण (भूमिका), डॉ. सागरमल जैन, पृ. XVII

हरिभद्र के समय-निर्णय में एक और महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न होती है, सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंच-कथा के उस उल्लेख से, जिसमें सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना धर्म-बोध गुरु कहा है। सिद्धर्षि ने उपर्युक्त कथा का समापन (वि.सं. 962) ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, गुरुवार को किया था।¹⁶ सिद्धर्षि द्वारा लिखे संवत् के अनुसार वह समय ई.सं. 906 सिद्ध होता है तथा वार, नक्षत्र, तिथि आदि की गणना भी सिद्ध होती है। सिद्धर्षि ने उपमितिभवप्रपंचकथा में लिखा है कि हरिभद्र ने भविष्य में होने वाले मुझे जानकर ही मेरे चैत्यवन्दन-सूत्र का आलम्बन लेकर ललितविस्तरावृत्ति की रचना की, साथ ही उन्होंने हरिभद्र को अपना धर्म-बोध करो गुरु भी बताया है -

“आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरु :।”

हालांकि कई विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि सिद्धर्षि हरिभद्र के वरदहस्तों से दीक्षित शिष्य थे, परन्तु जिनविजयजी ने “अनागत” व “मानो मेरे लिए” - इन शब्दों से निष्कर्ष निकाला कि हरिभद्र एवं सिद्धर्षि में समय का अन्तराल है। जिनविजयजी ने सिद्धर्षि को गर्ग ऋषि का शिष्य बताया है व हरिभद्र को धर्मबोध गुरु कहा है। ऐसी स्थिति में कई विद्वानों ने हरिभद्र व सिद्धर्षि को समकालीन भी बताया पर ‘प्रभावक-चरित्र’ में प्रभाचन्द्रसूरि ने हरिभद्र व सिद्धर्षि को समकालीन नहीं माना है।¹⁷

जिनविजयजी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को मान्य नहीं करते हुए डॉ. जेकोबी ने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय में लिखे सूत्र- “प्रत्ययंकल्पना पौढमभान्त”¹⁸ को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि यह व्याख्या न्यायबिन्दु में प्रथम परिच्छेद में धर्मकीर्त्ति की दी हुई व्याख्या से शब्दशः मिलती है।

इस प्रकार हरिभद्र धर्मकीर्त्ति के बाद अवतीर्ण हुए हैं, अतः धर्मकीर्त्ति का समय वि.सं. 600 से 650 है। डॉ. जेकोबी ने हरिभद्र व सिद्धर्षि को समकालीन माना है, किन्तु वे सिद्धर्षि के कुछ पूर्ववर्ती भी हो सकते हैं।

प्रो. ल्यूमन की भी यही अवधारणा है। प्रो. के.वी. अभ्यंकर ने आचार्य हरिभद्र पर आचार्य शंकराचार्य के प्रभाव को बताकर शंकराचार्य के बाद होना माना है,¹⁹ अर्थात् वि.सं. 770 से 820 तक का समय निर्धारित किया है।

मुनि जिनविजयजी के अनुसार शंकराचार्य ने “सप्तमैत्रीनय” तथा “स्याद्वाद-सिद्धान्त” का खण्डन किया है, परन्तु शंकराचार्य का खण्डन हरिभद्र ने कहीं नहीं किया, अतः उनका मानना है कि यदि हरिभद्र

16 हरिभद्रसूरि समय निर्णय, ले. मुनि जिनविजयजी, पृ. 15

17 हरिभद्रसूरिस्य समय निर्णय, ले. मुनि जिनविजयजी, पृ. 18

18 षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्रकृति), श्लोक नं. 10

19 हरिभद्र के प्राकृतकथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, शास्त्री नेमिचन्द्र, पृ. 15

शंकर से परवर्ती होते, तो शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किए बिना नहीं रहते, इसलिए हरिभद्र शंकराचार्य के पूर्व हुए हैं, पश्चात् नहीं।

मुनि जिनविजयजी के मत से अनेकान्त जयपताका आदि ग्रन्थों में परवर्ती अनेक दार्शनिकों के मत ही नहीं लिए हैं, अपितु उन दार्शनिकों के नामोल्लेख भी किए हैं, पर इन दार्शनिकों का कालक्रम हरिभद्र के कालक्रम से काफी अन्तर से है, जैसे- धर्मकीर्त्ति (ई. सन् 600 से 650) कुमारिल (650 से 720 ई.)²⁰ चीन के दार्शनिक "इत्सिन" ने अपनी पुस्तक में भर्तृहरि की मृत्यु का समय वि.सं. 650 लिखा है।²¹ कुमारिल ने अपनी रचना 'वाक्यपदीय' और 'तन्त्रवार्त्तिक' में भर्तृहरि की आलोचना की है।²²

कुमारिल ने दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति के विचारों की समालोचना भी की है।²³ अतः कुमारिल का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रो. के.वी. पाठक ने अपने निबन्ध "भर्तृहरि व कुमारिल" में कुमारिल को 8 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को होने की पुष्टि की है।²⁴

हरिभद्र ने 'शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय' में एक श्लोक की स्वोपज्ञ व्याख्या में "आह च कुमारिलादिः"- इस प्रकार स्वयं ने प्रत्यक्ष कुमारिल का नामोल्लेख किया है। ज्ञातव्य हो कि जैसे हरिभद्र ने भर्तृहरि की आलोचना की है, वैसे ही भर्तृहरि के आलोचक कुमारिल की भी आलोचना की है, प्रो. के.वी. पाठक के मतानुसार कुमारिल का समय 8 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मान लिया जाए तो हरिभद्र का समय भी यही मान लेना चाहिए।

हरिभद्र का नाम-स्मरण उद्योतनसूरि द्वारा रचित कुवलयमाला में "भवविरह" के रूप में किया गया है। उद्योतनसूरि का समय ई. सन् 8 वीं शताब्दी का तीसरा भाग निश्चित है, अर्थात् (विक्रम की 8 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) तब हरिभद्र का समय उसके प्रथमार्द्ध या मध्यभाग में मानना पड़ेगा। इस बात को डॉ. सागरमल जैन ने भी पंचाशक-प्रकरण की भूमिका में हरिभद्र के समय के विषय में स्वीकार किया है।²⁵

डॉ. सागरमल जैन ने अनेकशः विद्वानों के मतों का अन्वेषण कर अन्ततः मुनि जिनविजयजी के मत का ही अनुमोदन करते हुए अपनी सहमति प्रकट की कि हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में विद्वानों को मुनि जिनविजयजी के निर्णय को मान्य करना होगा।²⁶

20 हरिभद्र के प्राकृतकथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, शास्त्री नेमिचन्द्र, पृ. 43

21 मुनि जिनविजयजी-हरिभद्रस्य समय निर्णय, पृ. 49

22 मुनि जिनविजयजी-हरिभद्रस्य समय निर्णय, पृ. 50

23 मुनि जिनविजयजी-हरिभद्रस्य समय निर्णय, पृ. 51

24 मुनि जिनविजयजी-हरिभद्रस्य समय निर्णय, पृ. 51

25 पंचाशक प्रकरण (भूमिका), डॉ. सागरमल जैन, पृ. XVI

26 पंचाशक प्रकरण (भूमिका), डॉ. सागरमल जैन, पृ. XVI

आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व की विशेषताएँ

हरिभद्र का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने अनेक जैन-जैनेतर विद्ववर्ग को प्रभावित किया। अनेक विद्वानों ने उन पर कलम चलायी।

हरिभद्र के व्यक्तित्व को निखारने में उनका समभाव, सत्यनिष्ठा तथा समन्वयशीलता और उदारता के गुण ही प्रमुख रहे हैं।

किसी भी विद्वान् की विद्वता की सफलता तब है, जब वह विषम परिस्थितियों में सहिष्णु एवं सत्यनिष्ठ बना रहे। उनके साहित्य से ज्ञात होता है कि हरिभद्र उस समय के उदार विचारक हैं, जिस समय दर्शन-जगत् में वाक्, छल और खण्डन-मण्डन का बोल-बाला था तथा प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष का मण्डन एवं पर पक्ष का खण्डन करने में अपने को अत्यन्त चतुर व बहुमान मान रहा था।

धर्म-जगत् में भी पारस्परिक विद्वेष के कारण घृणा, कटाक्ष, आक्षेप, प्रत्याक्षेप की प्रवृत्ति प्रमुख बन गई थी। इसी विषम परिस्थिति में आचार्य हरिभद्रसूरि को भी अपने होनहार दो शिष्यों को गंवाना पड़ा। ऐसे विषम समय में भी समभाव को बनाए रखना यही सिद्ध करता है कि हरिभद्र की उदारता व समन्वयशीलता अद्वितीय थी।

हरिभद्र के इन असाधारण गुणों का मूल्यांकन इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, जिसमें हरिभद्र पूर्णतः खरे उतरते हैं।

आचार्य हरिभद्र का कर्तित्व

एक जैन-आचार्य के रूप में हरिभद्र की विद्वत्ता लैंक-प्रसिद्ध है। वे भारतीयदर्शन एवं साहित्य-क्षेत्र की महान् विभूति थे। हरिभद्र की भूमिका भारतीय-चिंतन, धर्म-दर्शन, योग तथा जैन आगमिद्ध -व्याख्या-साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय रही। परम्परागत मान्यता यह है कि आचार्य हरिभद्र ने 1444 ग्रन्थों की रचना की थी। इतने अधिक ग्रन्थों की रचना जैन-धर्म के क्षेत्र में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के धर्मों के साहित्य क्षेत्र में भी एक कीर्त्तिमान है। संयोग की बात है कि आज हरिभद्र के सम्पूर्ण ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं हैं। उनमें से मात्र 175 ग्रन्थों की ही सूचनाएँ उपलब्ध हैं। उसमें भी पं. सुखलालजी ने मात्र 45 ग्रन्थ ही निर्विवाद रूप से याकिनीसुनूहरिभद्र के स्वीकार किए हैं। डॉ. सागरमल जैन ने पंचाशक की भूमिका में अष्टक, षोडशक, पंचाशक आदि ग्रन्थों में प्रत्येक अष्टक, षोडशक, विंशिका, पंचाशक को एक स्वतंत्र मानकर हरिभद्र के ग्रन्थों की संख्या 200 तक पहुँचायी है।²⁷ जो भी हो, हम यह कह सकते हैं कि हरिभद्र ने इतनी विपुल संख्या में ग्रन्थों की रचना कर केवल जैन-साहित्य के गौरव को ही नहीं बढ़ाया है, अपितु भारतीय-साहित्य के गौरव को भी अभिवर्द्धित किया है।

27 पंचाशक प्रकरण, डॉ. सागरमल जैन, पृ. VII

हरिभद्र ने विपुल ग्रन्थों का सृजन मात्र प्रसिद्धि पाने के लिए नहीं किया, अपितु लौक-कल्याण की भावना को लेकर ही किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया है। परिचय नहीं होना भी विद्वानों के लिए एक समस्या का कारण बना कि वे हरिभद्र के जन्म व मृत्यु के सही समय को नहीं बता पा रहे हैं, लेकिन उनके समकालीन अथवा परवर्ती आचार्यों ने जो उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, उसी के आधार पर आचार्य हरिभद्र का समय निर्धारण करने का प्रयत्न किया गया है। हरिभद्र का समय तभी मान्य होगा, जब सभी विद्वानों के बताए साक्ष्यों में एकमत्य हो।

आचार्य हरिभद्र के विषय में दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं-

1. ऐसे प्रमाण, जिनका ग्रन्थकार ने अपनी कृतियों में स्वयं उल्लेख किया है।
2. ऐसे प्रमाण, जिनका अन्य ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों में उल्लेख किया है।

हरिभद्र सम्बन्धी उल्लेख निम्न ग्रन्थों में प्राप्त हुए हैं।

1. ललितविस्तरा²⁸
2. पंचसूत्रटीका²⁹
3. उपदेशपद की प्रशस्ति³⁰
4. दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका³¹
5. अनेकान्तजयपताका का अन्तिम भाग³²
6. आवश्यकसूत्रटीका प्रशस्ति³³

ग्रन्थ-प्रशस्ति से इतना ही ज्ञात हो पाता है कि ये जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधर कुल से सम्बन्धित थे तथा जैन-धर्म के प्रति इनका झुकाव जैन साध्वी महत्तरा याकिनी के कारण हुआ था। यही कारण है कि वे अपने नाम के पूर्व याकिनीसूनु शब्द का प्रयोग करते थे। ग्रन्थों में उन्होंने अपना उपनाम 'भवविरह' भी उपस्थापित किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने इनका स्मरण 'भवविरह' शब्द द्वारा ही किया है।

हरिभद्र के जीवन कृत की जानकारी निम्न रचनाओं में भी थोड़ी बहुत प्राप्त होती है-
भद्रेश्वरसूरि द्वारा रचित कहावली³⁴ (12 वीं शताब्दी)

28 'कृति धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोराचार्य हरिभद्रस्या'- हरिभद्रसूरि चरितम, लो.पं. हरिगोविन्ददास, पृ. 6

29 विकृतं च याकिनी महत्तरा, वही, पृ. 7

30 वही, पृ. 6

31 हरिभद्रसूरि चरितम, ले. पं. हरिगोविन्द दास, पृ. 6

32 वही, पृ. 7

33 वही, पृ. 7

34 समदर्शी आचार्य हरिभद्र-ले. सुखलाल संधवी-पृ. 5

बृहद्गच्छीय मुनिचन्द्रसूरि द्वारा रचित उपदेशपदटीका की प्रशस्ति (वि.सं. 1174)

सुमतिगणि द्वारा रचित गणधर सार्धशतकवृत्ति (वि.सं. 1295)

राजगच्छीय आचार्य प्रभवचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक चरित (वि.सं. 1334)

राजशेखरसूरि द्वारा प्रबन्ध-कोश (वि.सं. 1405)

मध्यकाल में लिखित कुछ पट्टावलियाँ

आचार्य हरिभद्र की प्रमुख कृतियाँ

आचार्य हरिभद्र की महत्वपूर्ण कृतियों का संक्षिप्त परिचय

जैन-साहित्याकाश के दिवाकर आचार्य हरिभद्र का नाम लोकविश्रुत है, क्योंकि आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में आचार व दर्शन के जो मन्तव्य प्राप्त होते हैं, वे अन्य ग्रन्थों में दुर्लभ हैं। आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ किसी एक धर्म, एक समुदाय तक सीमित नहीं, अपितु सभी भारतीय-धर्म एवं सभी भारतीय-दर्शन तथा सभी भारतीय-दार्शनिकों के लिए अध्ययन व श्रद्धा का केन्द्र रहे है, अतः यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ जैन-साहित्य-क्षेत्र में सूर्य की तरह अपना प्रकाश फैला रहे हैं।

आचार्य हरिभद्र जैन-साहित्य के कई क्षेत्रों में आद्य ग्रन्थकार के रूप में माने जाते हैं। उनके पूर्व किसी जैन आचार्य ने इतनी विपुल संख्या में ग्रन्थों की रचना नहीं की थी। इस दृष्टि से वे प्रथम हैं। जैन-आगमों पर संस्कृत में टीका लिखने वालों में भी वे प्रथम हैं। जैन-दर्शन के साथ अन्य दर्शनों का निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन करने की अपेक्षा से भी वे प्रथम हैं। योग सम्बन्धी जैन-साहित्य के रचयिताओं में भी वे प्रथम हैं। अतः, हम यह निश्चित कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्र बहुश्रुत थे, बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे, महान प्रवक्ता एवं दूरदर्शी थे।

आचार्य हरिभद्र की अप्रभत सैंधक-दशा की अनुभूतियों के प्रतीक उनके आध्यात्मिक ग्रन्थों ने जो सर्वत्र स्थान पाया, उसमें मूल हेतु उनके अन्तःकरण की शुद्धता एवं चारित्र की निर्मलता है।

आचार्य हरिभद्र ने स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ आगमिक-टीकाएं भी लिखी हैं। जिन आगमों पर उन्होंने टीकाएं लिखी हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्न है- दशवैकालिकवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, नन्दीवृत्ति, अनुयोगद्वारवृत्ति, जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति, ललितविस्तरासूत्रवृत्ति और प्रज्ञापना-प्रवेश-व्याख्या।

दशवैकालिकवृत्ति- यह वृत्ति शिष्यबोधिनी या बृहद्वृत्ति के नाम से भी विख्यात है। वस्तुतः, यह वृत्ति दशवैकालिकसूत्र की अपेक्षा भद्रबाहुविरचित निर्युक्ति पर है।

इस सूत्र के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ शब्द का अर्थ, मंगल की आवश्यकता एवं व्युत्पत्ति आदि के साथ यह भी बताया गया है कि दशवैकालिक की रचना क्यों और किसलिए हुई। इस अध्याय में मनक का आख्यान भी दिया है, जिसके लिए दशवैकालिक का सर्जन हुआ है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रथम अध्याय की टीका में ध्यान, तप के भेदों का विस्तृत व्याख्या के साथ प्रतिपादन किया है, साथ ही उदाहरण आदि अनुमान-प्रमाण के विभिन्न अवयवों की चर्चा भी की है एवं निक्षेप से सिद्धान्तों को भी सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

दूसरे अध्याय की वृत्ति में तीन करण, तीन योग, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच स्थावरकाय, दसयतिधर्म, 18 हजार शीलांगों का विवेचन प्राप्त होता है, साथ ही राजीमती और रथनेमि के कथा-प्रसंग

का भी चित्रण है। तीसरे अध्याय की वृत्ति में क्षुल्लक और महत् शब्द के अर्थ को प्रस्तुत किया है, साथ ही पाँच आचारों का मार्मिक विवेचन भी है। चतुर्थ अध्याय की वृत्ति में पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन-विरमण के विषय में विशद वर्णन है। उसके पश्चात्, जीव के स्वरूप पर दार्शनिक दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत की है। पंचम अध्याय की वृत्ति में व्रतषट्क, कायषट्क और अठारह स्थाणु का उल्लेख है।³⁵ षष्ठ अध्याय में क्षुल्लकाचार का प्रतिपादन किया है। सप्तम अध्याय की वृत्ति में भाषा के विवेक का विवरण है। अष्टम अध्याय की वृत्ति में आचार सम्बन्धी प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन किया है। नवम् अध्याय की वृत्ति में विनय के प्रकार, फल तथा अविनय द्वारा होने वाली हानियों का विवरण है। दशम अध्याय की वृत्ति में भिक्षु के स्वरूप को दर्शाया है तथा दशवैकालिक की वृत्ति की समाप्ति में आचार्य हरिभद्र ने अपना परिचय महत्तरा याकिनी के धर्मपुत्र के रूप में दिया है।

आवश्यकवृत्ति- आवश्यकवृत्ति निर्युक्ति पर आधारित है। वृत्तिकार ने इस टीका का नाम शिष्यहित दिया है। यह वृत्ति 22.000 श्लोक-परिमाण है। इसमें आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्रों का विवरण न देकर निर्युक्ति गाथाओं की ही व्याख्या की है। निर्युक्ति की प्रारम्भ की गाथा का प्रतिपादन करते हुए उसमें सर्वप्रथम पाँच ज्ञान का विवेचन है तथा पाँच ज्ञान के भेद-प्रभेदों को स्पष्ट किया गया है।

सामायिक-निर्युक्ति का प्रतिपादन करते समय प्रवचन के प्रसंग पर प्रकाश डालते हुए स्वभाव का परिचय दिया गया है कि इस जगत् में कुछ पुरुष ऐसे होते हैं, जिन्हें जिनवाणी अरुचिकर लगती है, लेकिन इसमें प्रवचन का क्या दोष? दोष तो प्रवचन श्रवण करने वालों का है। साथ ही, इसमें सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि तेईस द्वारों का वर्णन है। सामायिक के निर्गम-द्वार के प्रसंग में कलकरों की उत्पत्ति, पूर्वभव आयु का विवरण दिया है तथा नाभिकुलकर के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म एवं तीर्थकर नाम-गोत्रकर्मबंधन के हेतुओं को प्रकाशित किया है। इसमें धनसार्थवाह का परिचय प्राकृत भाषा में दिया गया है। भगवान् ऋषभदेव के पारणे का उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन जानने के लिए वसुदेव हिंडी का भी नामोल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के शासन में आविर्भूत चार अनुयोगों का विभाजन करने वाले आर्यरक्षित से सम्बन्धित गाथाओं का भी विवेचन किया गया है।

द्वितीय एवं तृतीय आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार विश्लेषण कर चतुर्थ आवश्यक के विवेचन में ध्यान पर विशेष जोर दिया गया है, साथ ही सात प्रकार के भय-स्थानों के अतिचार की आलोचना की गाथाएं उद्धृत की गई हैं। पंचम आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का परिचय देकर षष्ठ प्रत्याख्यान के स्वरूप का उल्लेख करते हुए आवश्यकवृत्ति का समापन किया है।

35 18 स्थाणु-व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्य भोजनवर्जन, गृहभाजनवर्जन, पर्यकवर्जन, निषिध्यावर्जन, स्नानवर्जन और शोभावर्जन

नन्दीवृत्ति- यह वृत्ति नन्दीचूर्ण का मूल रूपान्तर है। इस वृत्ति में उन्हीं विषयों का प्रायः विवेचन किया गया है, जो नन्दीचूर्ण में हैं। इसके शुभारम्भ में ही 'नन्दी' शब्द के अर्थ की व्याख्या है, उसके पश्चात् जिन, महावीर और संघ की स्तुति की प्रभावकता का विवेचन करते हुए तीर्थकरावलिका, गणधरावलिका और स्थरावलिका का निरूपण किया है। नन्दीवृत्ति में ज्ञान की महिमा प्रकट करने के साथ-साथ उसके अध्ययन हेतु अपेक्षित योग्यता-अयोग्यता पर भी विचार किया गया है। इसके पश्चात् तीन प्रकार की पर्षद् का विवेचन, ज्ञान के भेद-प्रभेद स्वरूप आदि का निरूपण किया है।

केवलज्ञान- केवलदर्शन के क्रमिक उपयोग का विवेचन करते हुए युगपदवाद के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के पोषक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेदवाद के प्रवर्तक आचार्य वृद्धा का उल्लेख है। मेरी दृष्टि में इसमें वर्णित "सिद्धसेन" सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न होना चाहिए, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तीसरे मत अभेदवाद के प्रवर्तक हैं। द्वितीयभव क्रमिकत्व के पोषक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है। अन्त में, श्रुत के श्रवण की विधि और व्याख्या की विधि बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने नन्दी अध्ययन सम्पन्न किया है।

अनुयोगद्वारवृत्ति- यह टीका अनुयोगद्वार की चूर्ण की शैली पर लिखी गई है। यह टीका नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। इस वृत्ति में श्रुतनिक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है। नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव के स्वरूप का सूक्ष्मतम प्रतिपादन किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि का विवरणात्मक स्वरूप स्पष्ट करते हुए आनुपूर्वी का विस्तृत विवेचन किया है। इसके पश्चात् द्विनाम, त्रिनाम से लेकर दशनाम तक का व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण का विवेचन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का विवरण तथा समय के प्रतिपादन में पल्योपम का विस्तृत वर्णन किया है। शरीर पंचम के पश्चात् भाव-प्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, औपम्य, दर्शन-चारित्र, संख्या और नय का उल्लेख किया है। नय का पुनः जिक्र करते हुए ज्ञाननय और क्रियानय के स्वरूप का निरूपण किया गया है, साथ ही ज्ञान और क्रिया की उपयोगिता को भी सिद्ध किया है।

जिवाभिगम- जिवाभिगमसूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत एकमात्र वृत्ति उपलब्ध है, जिसमें अनेक ऋथ-रचयिता के नाम हैं। उसमें हरिभद्रकृत तत्त्वार्थटीका का भी उल्लेख किया है। हालांकि जिवाभिगम पर सम्पूर्ण वृत्ति का विवरण नहीं है, पर लघु रूप में 1192 गाथाएँ हैं।³⁶ इसके अपरनाम के रूप में प्रवेशवृत्ति का उल्लेख उपलब्ध है।

36 जिनरत्नकोश, हरिदासोदर वेलंकर भंडारकर औरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, पृ. 144

चैत्यवन्दनसूत्र-ललितविस्तरावृत्ति

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनसूत्र के आधार पर ललितविस्तरा नामक ग्रन्थ का विस्तार से विवेचन किया है। यह कृति बौद्ध-परम्परा के ललितविस्तरा ग्रन्थ की शैली में प्राकृत मिश्रित संस्कृत में लिखी गई है।

यह ग्रन्थ चैत्यवन्दन की प्रक्रिया में उपयोग में आने वाले शक्रस्तव (णमुत्थुणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्ससूत्र), श्रुतस्तव (पुक्खरवरं), सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं), प्रणिधानसूत्र (जय वीयराय), चैत्यस्तव (अरिहंत चेइआण) आदि का विवेचन विशद रूप से करता है। मुख्यतः, यह ग्रन्थ अरिहंत परमात्मा की स्तुतिपरक ही है, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने इसमें अरिहंत परमात्मा के प्रति भाव-विभोर होकर उनके गुणों का विशद रूप में वर्णन किया है तथा अन्य दार्शनिकों की अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में तर्कपूर्ण युक्ति-संगत समीक्षा भी की है। इसी प्रसंग पर इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम यापनीय-मान्यता के आधार पर स्त्री-मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

प्रज्ञापना-प्रदेश-

इस सूत्र पर टीका प्रारम्भ करने के पूर्व आप्त वचनों की महिमा को प्रदर्शित किया है। पश्चात्, मंगलाचरण की महिमा का विशेष विश्लेषण करते हुए टीका का नामोल्लेख किया है। भव्य और अभव्य शब्दों की व्याख्या करते हुए प्रथम पद के प्रतिपादन में प्रज्ञापना के विषय, उसके कर्तृत्व आदि का विवेचन है। तत्पश्चात् जीव-प्रज्ञापना, अजीव-प्रज्ञापना का प्रासंगिक निरूपण करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों के स्वरूप का विशद वर्णन किया है। द्वितीय पद की व्याख्या में पुनः पृथ्वीकाय, अल्पकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों का वर्णन किया गया है, साथ ही द्वीन्द्रिय आदि के स्थानों का वर्णन भी है। तृतीय पद की व्याख्या में काय आदि अल्प-बहुत्व लेश्या, वेद, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीव का विचार करके लोक सम्बन्धी अल्प-बहुत्व, आयुबन्ध का अल्प-बहुत्व, पुद्गल का अल्प-बहुत्व, द्रव्य का अल्प-बहुत्व अवगाढ़ का अल्प-बहुत्व आदि विषयों पर गहन विचार प्रतिपादित किए गए हैं। चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति का विवेचन है तथा पंचम पद में नारक पर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विवेचन किया है। षष्ठ और सप्तम पद में नारकों के विरहकाल का वर्णन है। अष्टम पद में संज्ञा के स्वरूप को बताया है। नवम पद में विविध योनियों के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। दशम पद में रत्नप्रभा आदि पृथिवियों का चरम और अचरम की अपेक्षा से विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। ग्यारहवें पद में भाषा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, साथ ही पुरुष, स्त्री और नपुंसक के संकेतों का वर्णन है। बारहवें पद में औदारिक आदि शरीर के सामान्य स्वरूप का वर्णन है

तथा तेरहवें पद की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का निरूपण किया गया है। आगे के पदों के विवेचन में कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, अन्तक्रिया, अवगाहना, संस्थान आदि क्रिया, कर्मप्रकृति, कर्मबन्ध, आहार-परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचार, वेदना और समुत्थान का विशेष एवं विस्तार से वर्णन किया गया है। तीसवें पद में उपयोग और पश्यता की भेद-रेखा स्पष्ट करते हुए साकार उपयोग के आठ भेद व साकार पश्यता के छः भेद दर्शाए हैं।

इन सात आगमिक-व्याख्याओं के अतिरिक्त पाक्षितसूत्र की वृत्ति, पंचसूत्रवृत्ति, आवश्यक बृहत् वृत्ति तथा पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति के लेखक भी आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं, परन्तु प्रथम तीन वृत्तियाँ उपलब्ध नहीं हैं। पिण्डनिर्युक्तिटीका से स्पष्ट होता है कि टीका का प्रारम्भ हरिभद्र ने किया था, किन्तु वे इसे पूर्ण नहीं कर पाए, अतः यह मानना ही उचित है कि शेष टीका किसी वीराचार्य द्वारा लिखित है।

आचार्य हरिभद्र ने आगमिक-व्याख्या-ग्रन्थों के अतिरिक्त विपुल संख्या में अनेक विषयों पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचनाएं की हैं, जो इस प्रकार हैं -

स्वतंत्र ग्रन्थ

(क) प्रकरण ग्रन्थ

हरिभद्रसूरि के चार प्रकरण ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं -

1. अष्टक-प्रकरण
2. षोडशक-प्रकरण
3. विंशति-विंशिका
4. पंचाशक-प्रकरण

1. अष्टक-प्रकरण :

इस ग्रंथ में आठ-आठ श्लोकों के 32 प्रकरण हैं, जो निम्नलिखित हैं-

- (1) महादेवाष्टक
- (2) स्नानाष्टक
- (3) पूजाष्टक
- (4) अग्निकारिकाष्टक
- (5) त्रिविध भिक्षाष्टक
- (6) सर्वसम्पत्करिभिक्षाष्टक
- (7) प्रच्छन्नभोजाष्टक
- (8) प्रत्याख्यानाष्टक
- (9) ज्ञानाष्टक
- (10) वैराग्याष्टक
- (11) तपाष्टक

- (12) वादाष्टक
- (13) धर्मवादाष्टक
- (14) एकान्तानित्यवादखण्डनाष्टक
- (15) एकान्तक्षणिकवादाष्टक
- (16) नित्यानित्यवादपक्षमण्डनाष्टक
- (17) मासमक्षणाष्टक
- (18) मांसभक्षणमतदूषणाष्टक
- (19) मद्यपानदूषणाष्टक
- (20) मैथुनदूषणाष्टक
- (21) सूक्ष्मबुद्धिपरीक्षाष्टक
- (22) भावशुद्धि विचाराष्टक
- (23) जिनमतमालिन्यनिषेधाष्टक
- (24) पुण्यानुबन्धिपुण्यफलाष्टक
- (25) तीर्थकरदानाष्टक
- (26) पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टक
- (27) दानशंकापरिहाराष्टक
- (28) राज्यादिदानदोषाष्टक
- (29) सामायिकाष्टक
- (30) केवलज्ञानाष्टक
- (31) तीर्थकरदेशनाष्टक
- (32) मोक्षस्वरूपाष्टक

2. षोडशक प्रकरण

आचार्य हरिभद्र ने इस कृति में एक-एक विषय को लेकर सोलह-सोलह पद्यों की व्याख्या की है। इसमें कुल 16 विषयों का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयत्न किया गया है।

ये षोडशक इस प्रकार हैं-

1. धर्मपरीक्षा-षोडशक
2. सधर्मदेशना-षोडशक
3. धर्मलक्षण-षोडशक
4. धर्मलिङ्ग-षोडशक
5. लोकोत्तर- तत्वप्राप्ति-षोडशक
6. जिनमन्दिर-निर्माण-षोडशक
7. जिनबिम्ब-षोडशक
8. प्रतिष्ठा-षोडशक

9. पूजास्वरूप-षोडशक
10. पूजाफल-षोडशक
11. श्रुतज्ञानलिंग- षोडशक
12. दीक्षाधिकारी-षोडशक
13. गुरुविनय-षोडशक
14. योगभेद-षोडशक
15. ध्येयस्वरूप-षोडशक
16. समस्त-षोडशक

विंशतिविंशिका-

प्रस्तुत बीस विंशिकाएँ 20-20 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध हैं। प्रथम अधिकार-विंशिका में 20 ही विंशिकाओं के विषयों का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय विंशिका में लोक के स्वरूप का निर्देश प्राप्त होता है। तृतीय विंशिका में कुल, नीति और लोक-धर्म का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ विंशिका में चरम परिवर्त के विषय में विचार किया गया है। पंचम विंशिका में शुद्ध धर्म प्राप्त करने की विधि का विवरण है। षष्ठ विंशिका में सद्धर्म का विस्तार से वर्णन है। सप्तम विंशिका में दान-धर्म का विवरण प्राप्त होता है। अष्टम विंशिका में पूजा-विधान का विवेचन है। नवम विंशिका में श्रावक-धर्म की चर्चा है। दशम विंशिका में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख है। ग्यारहवीं विंशिका में मुनि-धर्म की चर्चा की गई है। बारहवीं विंशिका शिक्षा-विंशिका है जिसमें आध्यात्मिक-जीवन के लिए उपयोगी शिक्षाएँ दी गई हैं। तेरहवीं विंशिका में भिक्षा के विषय में विशिष्ट चर्चा है। चौदहवीं विंशिका में अंतराय-शुद्धि पर विचार किया गया है, साथ ही इसमें भिक्षा में आने वाले अन्तरायों का भी वर्णन पन्द्रहवीं विंशिका में आलोचना की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया गया है। सोलहवीं विंशिका में प्रायश्चित्त की चर्चा करते हुए विभिन्न प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सत्तरहवीं विंशिका में योग के स्वरूप को बताया गया है। अठारहवीं विंशिका में केवल-ज्ञान के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। उन्नीसवीं विंशिका में सिद्धों के स्वरूप का विश्लेषण है। बीसवीं विंशिका में सिद्धों के सुखों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार सभी विंशिकाओं में जिन धर्म के स्वरूप का एवं आत्म साधना के विविध विषयों का विश्लेषण किया गया है।

योगविंशिका-

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित योगविंशिका प्राकृत में है। यह कृति 20 गाथाओं की एक लघु रचना है। यह रचना वसुबन्धु के विंशिका ग्रन्थ से मिलती-जुलती है। इस ग्रन्थ पर उपाध्याय श्री यशोविजयजी

द्वारा टीका उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में योग-साधना की विधि का संक्षेप में वर्णन कर आध्यात्मिक-विकास की उत्तरवर्ती अवस्था का निरूपण किया गया है। इसमें चारित्रशील साधक को ही योग का अधिकारी कहा गया है, मोक्ष से जोड़ने वाली धर्म-साधना को योग कहा गया है तथा योग की पाँच भूमिकाएँ बताई गई हैं- 1. स्थान 2. उर्ण 3. अर्थ 4. आलम्बन और 5. अनालम्बन। योग के इन पाँच भेदों का वर्णन इससे पूर्व किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है, अतः यह आचार्य हरिभद्र की अपनी मौलिक रचना है। कृति के अन्त में इच्छा, प्रकृति, स्थिरता और सिद्धि- इन चार योगांगों एवं कृति, भक्ति, वचन और असंग- इन चार अनुष्ठानों का वर्णन है। तत्पश्चात्, चैत्यवन्दन की क्रिया का भी उल्लेख है।

योगशतक-

आचार्य हरिभद्र की यह योग सम्बन्धी रचना है, जिसमें 101 गाथाएँ हैं। यह कृति प्राकृत में है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में व्यवहार एवं निश्चय-दृष्टि से योग के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। तत्पश्चात्, आध्यात्मिक-उत्थान के उपायों को बताया गया है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में चित्त को एकाग्र करने के लिए, अपने विकल्पों के प्रति सचेत रहने के लिए निर्देश दिया गया है तथा चित्त की चंचल वृत्तियों के विलोकन करने की बात कही गई है। ग्रन्थ के अन्त में योग से उपलब्ध लब्धियों की चर्चा की गई है।

योगदृष्टि-समुच्चय-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति जैन योग की एक महत्वपूर्ण रचना है। यह रचना संस्कृत में है। इसमें 227 पद्य हैं। इस कृति में सर्वप्रथम योग की तीन भूमिकाओं का उल्लेख है-

1. दृष्टियोग 2. इच्छायोग और 3. सामर्थ्ययोग।

दृष्टियोग में आठ योगदृष्टियों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आठ दृष्टियाँ निम्न हैं- मित्रा, तारा, बला, द्वीपा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अचरमावर्तकाल एवं चरमावर्तकाल का वर्णन करते हुए अचरमावर्तकाल को ओघदृष्टि एवं चरमावर्तकाल को योग-दृष्टि कहा गया है। इसमें योग के अधिकारी जीव को तीन विभागों में विभक्त किया है।

प्रथम विभाग में आठ दृष्टियों के विषय में विस्तृत व्याख्या है। दूसरे विभाग में जैन-परम्परानुसार चौदह गुणस्थानों के क्रम का वर्णन है। इसके अतिरिक्त योग के तीन निम्न विभाग कर उनका विस्तृत वर्णन किया गया है-

1. इच्छायोग 2. शास्त्रयोग और 3. सामर्थ्ययोग। तृतीय विभाग के योगी को चार भागों में बांटा है- 1. गोत्रीयोगी 2. कुलयोगी 3. प्रवृत्तचकयोगी और 4. सिद्धयोगी

आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ पर एक कृति भी 100 पद्य-प्रमाण रचि है, जो 1175 श्लोक-परिमाण है।

शास्त्रवार्ता-समुच्चय-

आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन-समुच्चय में छः दर्शनों का निरूपण किया है, जबकि शास्त्रवार्ता-समुच्चय में विविध भारतीय-दर्शनों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। षड्दर्शन-समुच्चय की अपेक्षा यह रचना विस्तृत है। इसमें 702 श्लोक हैं तथा यह संस्कृत भाषा में रचित है। यह कृति आठ स्तवकों में विभक्त है। षट्दर्शनों में से प्रसिद्ध दर्शन चार्वाक-दर्शन के भौतिकवाद की प्रथम स्तवक में समीक्षा की गई है। द्वितीय स्तवक में एकान्त स्वभाववाद का विवेचन किया गया है। तृतीय स्तवक में ईश्वरवाद एवं सृष्टि-कर्तृत्ववाद की समीक्षा है। चतुर्थ स्तवक में विशेष रूप से सांख्य अभिमत प्रकृति एवं पुरुष की अवधारणाओं की समीक्षा है, साथ ही बौद्धों के क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानाद्वैत की समीक्षा की गई है।

पंचम स्तवक में बौद्धों के ही विज्ञानवाद की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की गई है। षष्ठ स्तवक में बौद्धों के क्षणिकवाद की ही चर्चा है। सप्तम स्तवक में आचार्य हरिभद्र ने जैनों के नित्यानित्यवाद की स्थापना की है तथा अद्वैतवाद (वेदान्त) की समीक्षा की है। अष्टम स्तवक में मोक्ष-मार्ग व मोक्ष के विषय में विवेचन किया गया है और मीमांसकों के सर्वज्ञता-प्रतिषेधवाद की तथा शब्द का स्वरूप बताते हुए बौद्ध-शब्दार्थ सम्बन्धी प्रतिषेधवाद की समीक्षा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें बौद्ध, चार्वाक, न्याय आदि दर्शनों की समीक्षा होते हुए भी उनके प्रवर्तकों के प्रति विशेष आदरभाव प्रकट किया गया है और प्रतिपादित सिद्धान्तों का जैन-दृष्टि के साथ अति सुन्दर समन्वय भी किया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना तत्त्व-संग्रह को समक्ष रखकर हुई है। इसमें जिन-दर्शनों का निराकरण किया गया है, उनका क्रम दर्शनों के विभाग के आधार पर नहीं है, अपितु दार्शनिक-विषयों के विभागों के आधार पर है।

अनेकान्तवादप्रवेश-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति अनेकान्तवाद-जयपताका ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्य बुद्धि-वर्ग हेतु लिखा गया है, जबकि अनेकान्त जयपताका प्रबुद्ध वर्ग के लिए है। यह ग्रन्थ जयपताका के समान ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना संस्कृत में है।

अनेकान्तजयपताका-

जैन-दर्शन का मूल सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। प्रस्तुत ग्रन्थ अनेकान्तवाद के विषय को समझाने के लिए समीक्षात्मक शैली में लिखा गया एक विशिष्ट ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को अन्य

दार्शनिक-सिद्धान्तों पर विजयश्री का वरण करते हुए दिखाया गया है। विषय के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम भी सार्थक हो रहा है। शायद आचार्य हरिभद्र ने विषयानुरूप ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम अनेकान्त जयपताका रखा होगा? इस ग्रन्थ में छः अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में वस्तु के सद्-असद् स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे अधिकार में वस्तु के नित्यत्व-अनित्यत्व का विवेचन किया है। तृतीय अधिकार में वस्तु को सामान्य अथवा विशेष मानने वाले दार्शनिक-मतों की समीक्षा की गई है तथा अन्त में वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को सिद्ध करके अनेकान्तदृष्टि की उपस्थापना की गई है। चतुर्थ अधिकार में वस्तु के अभिलाष्य-अनाभिलाष्य मतों का वर्णन करते हुए उसे सापेक्षिक रूप से वाच्य एवं अवाच्य- दोनों निरूपित किया है। पंचम एवं षष्ठ अधिकार में बौद्धों के योगाचार दर्शन (विज्ञानवाद) की समीक्षा एवं मोक्ष सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को सर्वश्रेष्ठ दर्शाते हुए उसकी अन्य दार्शनिक-सिद्धान्तों पर विजय को प्रकट किया है।

न्यायप्रवेशटीका-

आचार्य हरिभद्र के इस ग्रन्थ के प्रणयन में उनकी उदारता व उनका वैदुष्य स्पष्ट झलकता है। उन्होंने स्वतंत्र दार्शनिक-ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ अन्य दार्शनिक-ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखीं, जिनमें दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर उनकी टीका बहुत ही विख्यात है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में न्याय सम्बन्धी बौद्ध के मतों का ही प्रतिपादन किया है। जैन-परम्परा में बौद्धों के न्याय के अध्ययन के प्रति जो जिज्ञासा उद्भूत हुई, उसमें मूल हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ ही है।

धर्मसंग्रहणी-

आचार्य हरिभद्र के दार्शनिक-ग्रन्थों की शृंखला में इस कृति का भी अपना विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 1296 गाथाएं संकलित हैं। इस ग्रन्थ पर आचार्य मलयगिरि ने टीका भी लिखी है, जो संस्कृत में है। प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप को समझाते हुए आत्मा के अनादिनिघनत्व, अमूर्तत्व, ज्ञायक-स्वरूप, सर्वज्ञता सिद्धि, आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि विषयों का विश्लेषण किया गया है।

लोकतत्त्वनिर्णय-

आचार्य हरिभद्र की उदार व्यापक दृष्टि लोकतत्त्वनिर्णय ग्रन्थ में हमें फिर देखने को मिलती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जगत् के सर्जन-संचालक के रूप में स्वीकृत किए गए विभिन्न मतों की असम्यकता का तथा लोक के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने धर्म के पथ पर चलने वाले योग्य एवं अयोग्य का विचार करते हुए यह निर्देश दिया है कि योग्य को ही धर्म का उपदेश देना चाहिए।

दर्शनसप्ततिका-

आचार्य हरिभद्र की इस कृति में 120 गाथाओं में उपदेश-पद संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ पर मानदेवसूरि ने टीका लिखी है। प्रस्तुत प्रकरण में सम्यक्त्व एवं श्रावक-धर्म के रूप में व्रतों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्मसिद्धि-समुच्चय-

यह भी आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 423 पद्य हैं। यह कृति संस्कृत में है। इस ग्रन्थ में सर्वधर्म-समन्वय की चर्चा की गई है एवं प्रथम पद में भगवान् महावीर को नमन करके ब्रह्मादि के स्वरूप को बताने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं है।

सम्बोध-प्रकरण-

प्रस्तुत कृति आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित है। यह रचना प्राकृत में है। इस कृति में 1580 पद्य हैं, जिन्हें बारह अधिकारों में बाँटा गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य हरिभद्र ने अपने युग के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में रहे हुए मतभेदों को उजागर करते हुए स्पष्ट किया है कि परमात्मा के मार्ग में चलते हुए परम तत्त्व को जानने का और अपनाने का प्रयत्न नहीं हुआ, तो वह धर्म-मार्ग नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने धर्म को स्पष्ट करते हुए कहा कि जहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ- इन कषायों की आत्मा से निवृत्ति हो, विषय-वासनाओं का त्याग हो, वही धर्म-मार्ग है। हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म अथवा धर्म-मार्ग नहीं है, जिसमें हिंसा, घृणा, राग, द्वेष, मोह, अहंकार, मत्सर आदि रहे हुए हों।

आचार्य हरिभद्र ने यह भी स्पष्ट किया कि मोक्ष हमारे धर्म में ही है- ऐसा एकान्तवाद नहीं है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में वे श्रमण श्रमण नहीं, जो शिथिलाचारी हैं। उन्होंने चारित्रिक-पतन को उजागर कर उन श्रमणों को लताड़ा भी है।

आचार्य हरिभद्र ने मध्य अधिकार में आत्मशुद्धि हेतु जिनपूजा और जिनपूजा में लगने वाली आशातनाओं को भी प्रस्तुत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अधिकार में कुगुरु, गुरु सम्यक्त्व, देव का स्वरूप, श्रावक-धर्म, व्रत- प्रतिमाएँ, आलोचना तथा मिथ्यात्व आदि का विशद वर्णन किया है।

प्रस्तुत कृति को रचने का तात्पर्य यही था कि संघ-समाज में फैल रही विकृतियों को दूर किया जाए।

धर्मबिन्दु प्रकरण-

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ 542 सूत्रों में आबद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रमण एवं श्रावक-धर्म की चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने

श्रावक-जीवन की भूमिका में आने के पूर्व की भूमिका की चारित्रिक-निर्मलता लाने के लिए मार्गानुसारी के 35 गुणों का विशद वर्णन किया है।

आचार्य हरिभद्र की इस कृति का उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रावक नैतिक-जीवन व प्रामाणिक-जीवन जीता हुआ आध्यात्मिक-जीवन में प्रवेश करे। प्रस्तुत कृति पर मुनिचन्द्र की टीका भी है।

योगबिन्दु-

प्रस्तुत रचना आचार्य हरिभद्र की है। यह कृति अनुष्टुप-छन्द में है। इसकी भाषा संस्कृत तथा श्लोकों की संख्या 527 है। प्रस्तुत ग्रन्थ योग से सम्बन्धित है। ग्रन्थकार ने इसमें जैन-योग के विस्तृत विश्लेषण के साथ अन्य परम्परासम्मत योगों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक वर्णन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने योग के अधिकारियों के दो प्रकारों की चर्चा की है। वे दो प्रकार हैं-1. चरमावृत्तवृत्ति 2. अचरमावृत्तवृत्ति, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष का अधिकारी चरमावृत्तवृत्ति वाले जीव को ही बताया है तथा अचर चरमावृत्तवृत्ति वाले जीव के लिए निर्देश किया है कि ऐसे जीव चरमावृत्त में आए बिना मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि अचरमावृत्त में स्थित जीव मोहभाव की प्रबलता के कारण संसार के पदार्थों से आसक्त बने रहते हैं। पदार्थों में आसक्त होने के कारण आचार्य हरिभद्र ने इनको 'भवाभिनन्दी' के नाम से भी सम्बोधित किया है।

आचार्य हरिभद्र ने योग के अधिकारियों को भी चार विभागों में विभक्त किया है-1. अपुनर्बन्धक 2. सम्यग्दृष्टि 3. देशविरत, 4. सर्वविरत।

इस ग्रन्थ में इन चारों का प्रतिपादन विस्तृत रूप से किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कई विषयों पर विस्तार से चर्चा की है, जैसे- योग का प्रभाव, योग की पूर्व भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, पाँच प्रकार के अनुष्ठान, सम्यक्त्व, विरति, मोक्ष, समभाव, आत्मा का स्वरूप आदि।

व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास का उल्लेख करते हुए आचार्य हरिभद्र ने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता एवं वृत्तिसंश्लेष। इन पाँच भूमिकाओं की पातंजलि वर्णित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि से तुलना की है। योगाधिकार प्राप्त के सन्दर्भ में पूर्वसेवा के रूप में विविध आचार-व्यवस्था का विवरण दिया है। इसमें विविध प्रकार के यौगिक-अनुष्ठानों का निरूपण भी किया गया है, जो निम्न है-

1. विषानुष्ठान 2. गरलानुष्ठान 3. अनानुष्ठान 4. तद्हेतु-अनुष्ठान 5. अमृतानुष्ठान।

इसमें प्रथम तीन असद् अनुष्ठान हैं व शेष दो सद् अनुष्ठान हैं।

षट्दर्शन-समुच्चय-

यह आचार्य हरिभद्र की लोक-प्रसिद्ध दार्शनिक कृति है। यह रचना केवल 87 श्लोकों में आवद्ध है। प्रस्तुत कृति संस्कृत में है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बौद्धदर्शन, मीमांसा-दर्शन, चार्वाक-दर्शन, न्याय-वैशेषिक-दर्शन, सांख्यदर्शन और जैन-दर्शन इन षट्दर्शन के सिद्धान्तों का अपने-अपने मतानुसार संक्षिप्त में विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस कृति की विशेषता यह है कि भिन्न-भिन्न दर्शनों को खण्डन-मण्डन से परे होकर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है।

पंचवस्तुक-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति पद्य में है। इसमें 1714 पद्य हैं। यह रचना प्राकृत भाषा में है। यह ग्रन्थ पाँच विभागों में विभक्त है।

1. प्रथम अधिकार में दीक्षा से सम्बन्धित विवेचन है। इसमें दीक्षा के प्रसंग पर होने वाली सारी विधियों का विस्तार से वर्णन किया गया है, अतः इस अधिकार का नाम 'प्रव्रज्या-विधि' है। इस अधिकार में 228 पद्य हैं।
2. द्वितीय अधिकार में 381 पद्य हैं। इस अधिकार का नाम 'नित्यक्रिया-विधि' है। प्रस्तुत अधिकार में श्रमण-जीवन की नित्य करने की चर्चा का विधि-विधान है।
3. तृतीय अधिकार 'महाव्रतारोपण' की संज्ञा से अभिहित है। इसमें 321 पद्य हैं। प्रस्तुत अधिकार में बड़ी दीक्षा, अर्थात् पाँच महाव्रतों का आरोपण करने की विधि का निरूपण है, साथ ही इस अधिकार में स्थविर कल्प, जिनकल्प और उनसे सम्बन्धित उपाधि आदि की भी चर्चा की है।
4. चतुर्थ अधिकार का नाम 'अनुयोगगणानुज्ञा' है। इस अधिकार में 434 गाथाएँ हैं। इस अधिकार में आचार्य-पदस्थापना, गण, अनुज्ञा, शिष्यों के पठन-पाठन से सम्बन्धित विधि-विधानों का विवरण है। इसमें पूजा-स्तवन आदि से सम्बन्धित क्रियाओं की चर्चा की गई है।
5. पंचम अधिकार में 350 गाथाएँ हैं। इस अधिकार का नाम 'संलेखना' है। प्रस्तुत अधिकार में संलेखना से सम्बन्धित विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस कृति की 550 श्लोक-परिमाण शिष्यहिता नामक स्वोपज्ञटीका भी उपलब्ध है। वस्तुतः, यह ग्रन्थ श्रमण-जीवन की चर्चा से सम्बन्धित है। प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच अधिकारों में विभक्त होने के कारण इसका पंचवस्तुक (पंचवस्तु) नाम सार्थक है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णति)-

आचार्य हरिभद्र की यह एक अनुपम कृति है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने श्रावकाचार के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत में है और 405 गाथाओं में संकलित है। ग्रन्थकार

व टीकाकार के नाम न तो मूल ग्रन्थ में उपलब्ध हैं और न टीका में ही प्राप्त हैं, फिर भी कुछ परवर्ती उल्लेखों के आधार पर श्रावकप्रज्ञप्ति को आचार्य उमास्वाति की कृति के रूप में भी स्वीकृत किया जाता है, परन्तु आज तक इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। पंचाशक की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति में और लावण्यसूरिकृत द्रव्यसप्तति में इसे हरिभद्र की कृति माना गया है। श्रावकप्रज्ञप्ति पर हरिभद्रसूरि ने एक संक्षिप्त टीका 'दिग्प्रदा' भी लिखी है, जिसमें अहिंसाणुव्रत और सामायिक-व्रत आदि का विवरण है तथा तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समाधान भी किया है और जीव की नित्यता-अनित्यता आदि दार्शनिक विषयों पर गम्भीर चिन्तन भी प्रस्तुत किया है।

धूर्ताख्यान-

आचार्य हरिभद्र जहां अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक-परम्पराओं के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं, वहीं अतर्कसंगत बातों एवं अंधविश्वास के प्रति विरोध भी प्रकट करते हैं। इस अपेक्षा से धूर्ताख्यान महत्वपूर्ण रचना है। आचार्य हरिभद्र की यह कृति व्यंग्यप्रधान है। इस ग्रन्थ में पौराणिक-परम्परा में विकसित हो रहे अंधविश्वासों का भरपूर खण्डन किया गया है। पुराणों में पाई जाने वाली कथाओं की अप्राकृतिक एवं अवैज्ञानिक मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों का इस कथा के सहारे निराकरण किया गया है। इसमें व्यंग्य के माध्यम से मनगढ़ंत व असम्भव बातों को समझकर उनके त्याग की बात कही गई है, इसमें मध्यकालीन नारी के चरित्र एवं बौद्धिक-विकास को भी उद्घाटित किया गया है।

उपदेश पद-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति 1040 गाथाओं से युक्त है। धर्म कथानुयोग के माध्यम से आचार्य हरिभद्र ने अल्पबुद्धि वालों के बोध के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में जैनत्व के उपदेश को सरल सुगम भाषा में लौकिक कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कथाओं के माध्यम से मानव पर्याय की दुर्लभता का अंकन किया गया है एवं मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को कई उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस ग्रन्थ पर मुनि चन्द्रसूरि ने सुखबोधिनी टीका भी लिखी है।

ध्यानशतकवृत्ति-

आचार्य हरिभद्र की यह वृत्ति आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रणीत ध्यानशतक नामक ग्रन्थ पर लिखी गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान के चार भेदों (आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान) के विषय में विशद वर्णन किया गया है। जैन समाज के लिए ध्यान का यह अद्वितीय ग्रन्थ है।

यतिदिन-कृत्य-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति अनुपम है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रमणाचार की चर्चा की गई है। आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ में बताया है कि श्रमणों की दैनिक-चर्या व व्यवहार कैसा होना चाहिए। साथ

ही श्रमणों के लिए षडावश्यक की आवश्यकता क्यों है और किन-किन नियमों के साथ दैनिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है। यह ग्रन्थ साध्वाचार एवं उनकी आवश्यक क्रियाओं का उल्लेख करता है।

द्विजवदन-चपेटिका-

आचार्य हरिभद्र की यह कृति धूर्ताख्यान के समान ही व्यंग्यात्मक शैली में है, जिसमें उन्होंने ब्राह्मण-परंपरा में फैली हुई मिथ्या धारणाओं एवं वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी मिथ्या मान्यताओं को नकारा है। कृति की शैली व्यंग्यात्मक है, परन्तु शिष्टाचारपूर्ण है।

श्रावकविधि-प्रकरण-

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में रचित है। इसमें कुल 120 गाथाएँ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ की गाथाओं में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया है तथा श्रावक के लिए आवश्यक योग्यताओं पर दृष्टि डाली है एवं श्रावक के योग्य-अयोग्य लक्षणों की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने इस कृति में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का वर्णन करते हुए श्रावक-धर्म की मूल नींव सम्यक्त्व का विश्लेषण किया है, साथ ही दर्शनाचार के आठ भेदों का विवरण भी दिया है। ग्रन्थ के अन्त में भी श्रावक के विशिष्ट कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

आचार्य हरिभद्र के पंचाशक प्रकरण का वैशिष्ट्य और उसकी विषयवस्तु

पंचाशक प्रकरण

पंचाशक प्रकरण आचार्य हरिभद्र की अनुपम कृति है। यह कृति जैन-महाराष्ट्री प्राकृत में रची हुई है। इस कृति के अन्तर्गत उन्नीस प्रकरण हैं। दूसरे एवं सत्तरहवें अध्याय अतिरिक्त शेष सभी प्रकरणों में 50-50 गाथाएँ हैं। दूसरे अध्याय में 44 एवं सत्तरहवें में 52 गाथाएँ हैं। पंचाशक-प्रकरण प्राकृत पद्यों में रचित है।

वीरगणि के प्रशिष्य श्री चन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने प्रथम पंचाशक पर जैन-महाराष्ट्री में वि.सं. 1172 में चूर्ण लिखी, जिसमें प्रारम्भ के तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना गद्य में है। इस चूर्ण में सम्यक्त्व के प्रकार, उसकी यतना, अभियोग और उदाहरण के साथ-साथ मानव जीवन की दुर्लभता आदि अन्य कई विषयों पर विश्लेषण किया गया है। आवश्यक-चूर्ण के अन्तर्गत देशविरति की चर्चा के प्रसंग में जिस प्रकार 'नवपयपयरण' में नौ द्वारों का विवरण है, उसी प्रकार पंचाशक-चूर्ण में भी नौ द्वारों का समुल्लेख किया गया है। आगे हम पंचाशक-प्रकरण के प्रत्येक पंचाशक का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम पंचाशक-

'श्रावकधर्म-विधि' नामक प्रथम पंचाशक प्रकरण में सर्वप्रथम श्रावक के आचार की चर्चा की गई है। श्रावक अनन्तानुबन्धी-कषाय का उच्छेद कर जिनवाणी को श्रवण करता है तथा गुरु-सेवा, परमात्मा की पूजा में प्रवृत्त रहता है। ये उत्तम श्रावक के लक्षण हैं। सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि आगमानुसार सम्यक्त्व के साथ-साथ श्रावक के व्रतों का पालन करना श्रावक का परम कर्तव्य है। श्रावक-व्रतों के अन्तर्गत अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत नामक तीन विभाग किए गए हैं, जिनका अतिचार सहित विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

साधुओं के महाव्रतों की अपेक्षा श्रावकों के व्रत आंशिक होते हैं। हालांकि, मुनियों के महाव्रत भी पाँच हैं एवं श्रावकों के अणुव्रत भी, परन्तु श्रावकों के व्रत में स्थूल शब्द का प्रयोग करने के कारण साधु के महाव्रत और श्रावक के अणुव्रतों में अन्तर है, अतः इन अणुव्रतों की रक्षा के लिए गुणव्रतों का एवं शिक्षाव्रतों का विधान है। गुणव्रतों की संख्या तीन हैं एवं शिक्षाव्रत चार हैं। इस प्रकार श्रावक के कुल बारह व्रत हैं, जो श्रावक के लिए पालनीय हैं। आचार्य हरिभद्र ने इनकी अनिवार्यता को प्रधानता देते हुए सम्यक्त्वादि के साथ ही बारह व्रतों के साथ उनके अतिचारों का भी विस्तृत वर्णन किया है। इसी श्रृंखला में आचार्य हरिभद्र ने श्रावक के लिए आवश्यक आचार व कुछ नियमों पर भी दृष्टि डाली है, जैसे- जहाँ मुनियों का आगमन हो, निकट में जिनालय हो तथा इर्द-गिर्द जिनोपासकों के घर हों, ऐसे स्थान का ही

श्रावक अपने निवास हेतु चयन करें। इसके अतिरिक्त श्रावक के प्रातः करणीय कार्य इस प्रकार हैं- प्रातःकाल विवेकपूर्वक जाग्रत होते ही नमस्कार-मंत्र का ध्यान करे। मैं अणुव्रती हूँ- ऐसा चिन्तन करे, तत्पश्चात् शारीरिक-क्रियाओं से निवृत्त हो जिन-पूजा शुभभावों के साथ करे। पश्चात्, परमात्मा के सम्मुख चैत्यवन्दन, स्तुति आदि कार्य सम्पन्न कर गुरु-चरणों में पहुँचे। गुरुवन्दन कर गुरु के मुखारविन्द से श्रुतशास्त्रों को श्रमण कर परमात्मा की आज्ञा को आत्मसात् करे। पश्चात्, गुरु के स्वास्थ्य के विषय में पृच्छा करते हुए गुरु की आवश्यकता को समझकर औषध आदि का लाभ ले। प्रत्याख्यान करे। जैनाचार के अनुरूप यथासमय भोजन करे। न्याय-नीति से व्यापार करे। व्यवसाय में अपरिग्रह की बुद्धि रहे। शाम को चैत्यवन्दन करे, प्रत्याख्यान करे, प्रतिक्रमण करे। पूरे दिन की चर्या का चिन्तन करे कि स्वयं के द्वारा कहाँ और कब गलती या भूल हुई है। रात्रि में सर्व जीवों से क्षमायाचना करते हुए स्वयं को आसक्ति से दूर रखकर, मोह से विरक्त होकर, शुभचिन्तन करते हुए शयन करे।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि निम्न विधि से श्रावक-धर्म का अनुष्ठान करने वाले श्रावकों को संयम लेने के भाव जाग्रत होते हैं।

द्वितीय पंचाशक-

द्वितीय पंचाशक के अन्तर्गत 'जिनदीक्षाविधि' का प्रसंग है। जिनदीक्षाविधि के माध्यम से मुमुक्षुओं के लिए प्रव्रज्या (दीक्षा)-विधान का उल्लेख प्राप्त होता है। इस पंचाशक में जैन दीक्षा की महिमा एवं गरिमा का व्याख्यान किया गया है एवं यह बताया गया है कि दीक्षार्थी को दीक्षा लेने के पूर्व किस प्रकार से अपने परिजन से दीक्षा की आज्ञा लेना चाहिए। दीक्षार्थी अतीत में हुई भूलों के लिए क्षमायाचना कर, भीतर के शल्यों को बाहर फेंककर, गुरु-चरणों में समभाव की साधना के लिए समर्पित हो जाए, साथ ही यह भी बताया गया है कि दीक्षा के योग्य व अयोग्य कौन है, इसकी परीक्षा सम्पूर्ण रूप से गुरु संघ के समक्ष कर ले। दीक्षा के योग्य अधिकारी उसे समझे, जिसे समत्व की साधना के प्रति अनुराग हो, वीतराग के प्रति श्रद्धा हो, जो गुरु के प्रति समर्पित हो, बाह्य से ही मुण्डित नहीं हो, अन्तर से भी मुण्डित हो, सिर को ही मुण्डित नहीं करे, मन को भी मुण्डित करे। दीक्षा-अधिकारी में यह भी गुण होना चाहिए कि वह लोक-विरुद्ध कोई कार्य न करे, जिससे जिन-शासन (जैन-धर्म) की निन्दा हो। दीक्षा का अधिकारी परनिन्दा, महासत्त्वशाली पुरुषों का तिरस्कार एवं धार्मिक विधानों का उपहास आदि का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दे।

आचार्य हरिभद्र ने दीक्षा लेने वाले के लिए दीक्षा-स्थल आदि की शुद्धि पर जोर दिया है। उनका यह मानना हो सकता है कि जिस समय तीर्थंकर भी दीक्षा लेते हैं, तो देवगण भूमि की शुद्धि कर सुगन्धित पदार्थों से स्थल को सुगन्धित करते हैं तथा समवशरण की रचना के पूर्व शुद्ध जल-सिंचन, पुष्पों

की वर्षा आदि अष्ट प्रातिहार्य की रचना करते हैं, अतः दीक्षार्थी के स्थल को भी शुद्ध करना चाहिए, क्योंकि बाह्य-शुद्धि का भी प्रभाव अन्तर में व अन्य लोगों पर पड़ता है। आचार्य हरिभद्र बाह्य-कर्मकाण्ड के विरोधी थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे बाह्य-क्रिया या एकांत-विरोधी थे। पहली बात, भूमिशुद्धि आदि का बाह्यविधान है, किन्तु यह आवश्यक है, क्योंकि यह न तो कोई सामाजिक बुराई है, न समाज को भ्रान्त बनाने की विधि है। यह गृहस्थ-जीवन की चर्या में बाह्य-शुद्धि की एक व्यवस्था है।

दीक्षार्थी दीक्षा के पश्चात् लिए हुए व्रतों का सुदृढ़ता से पालन करता हुआ अपने आपको उत्तर आचरण, तत्त्वज्ञान के अध्ययन तथा गुरु के प्रति भक्ति में निरन्तर वृद्धि करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर करता है। इस अध्याय के अंत में यही निर्दिष्ट किया गया है कि दीक्षार्थी समभाव की साधना से अंत में सभी कर्मों का अन्त करके सादि-अनन्त सुख प्राप्त करता है।

तृतीय पंचाशक-

इस अध्याय में चैत्यवन्दन-विधि पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही वन्दन की विस्तृत व्याख्या करते हुए वन्दन के तीन विभाग किए हैं- जघन्य वन्दन, मध्यम वन्दन और उत्कृष्ट वन्दन। चैत्यवन्दन के अधिकारी के विषय में बताते हुए इसमें कहा गया है कि चार प्रकार के जीव ही चैत्यवन्दन कर सकते हैं- अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति। इन चार के अतिरिक्त अन्य कोई चैत्यवन्दन का अधिकारी नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र ने यहाँ तक कह दिया कि इन चार के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्यवन्दन का भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि द्रव्यवन्दन भी भाववन्दन की योग्यता वाला ही कर सकता है। हालाँकि, अभव्य जीव के लिए संयम ग्रहण करने की चर्चा आती है और अभव्य जीव भी वन्दन की प्रकृति तो करता है, किन्तु भावशून्य होने से ऐसा वास्तविक नहीं है। दूसरे, मात्र बाह्य-क्रिया करने से कोई उसका अधिकारी नहीं हो जाता? यदि अधिकारी नहीं है, तो अभव्य जीव वन्दन की प्रवृत्ति कैसे करता है? इसके लिए समाधान दिया गया है कि द्रव्यवन्दन के भी दो प्रकार हैं- प्रधान और अप्रधान। अप्रधान द्रव्यवन्दन करने वाले का उपयोग चैत्यवन्दन में नहीं जुड़ता है तथा प्रधान द्रव्यवन्दन चैत्यवन्दन के साथ तारतम्य लिए हुए होता है, इस कारण अप्रधान द्रव्य वन्दन करके भी द्रव्यवन्दन का कोई लाभ नहीं होता है। ऐसे द्रव्यवन्दन को महत्व भी नहीं दिया गया है।

चैत्यवन्दन के महत्व को प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि इससे परमपद की प्राप्ति होती है, क्योंकि वन्दना मोक्ष-प्राप्ति में निमित्तभूत है।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दन करते समय पाँच स्थानों में सजगता बतायी है। चैत्यवन्दन करते समय की क्रियाएं, सूत्रों के पद, अकारादि वर्ण, सूत्रों के अर्थ और जिन प्रतिमा- इन पाँचों के प्रति सजगता आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र ने भव्य व अभव्य की अपेक्षा से दो प्रकार के जीवों के साथ ही यह भी निर्देशन दिया कि भव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण का अधिकारी है और अभव्य जीव केवल यथाप्रवृत्तिकरण का अधिकारी है।

आचार्य हरिभद्र ने यह भी स्पष्ट किया कि कौन-सी वन्दना मोक्ष का निमित्त है। चैत्यवन्दन करने से ही मोक्ष नहीं मिल जाता, अपितु शुद्धतापूर्वक किया गया चैत्यवन्दन ही मोक्ष का द्योतक है। उन्होंने मुद्रा (रूपए) के उदाहरण से वन्दना की तुलना कर वास्तविक वन्दना का विवरण दिया है तथा किसे वन्दना कैसे करनी है- इसका भी मार्गदर्शन दिया है।

चतुर्थ पंचाशक-

चतुर्थ पंचाशक में पूजाविधि बतलाई गई है। इस पंचाशक के अन्तर्गत पूजा का समय, शरीर शुद्धि, पूजा सामग्री, पूजा विधि, पूजा सम्बन्धी स्तुति स्तोत्र तथा प्रणिधानपूजा की निर्दोषता का क्रमशः प्रतिपादन किया गया है।

इसमें पूजा का समय प्रातः, मध्याह्न और संध्या का बताया है, फिर भी गृहस्थ-जीवन की आजीविका का ध्यान रखते हुए अपवादमार्ग में सुविधानुसार पूजा करने के समय का भी विवरण दिया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने अपवाद से समय की जो छूट दी है, उसमें मूल हेतु यह है कि गृहस्थ परमात्मा की पूजा से वंचित न रह जाए, या समय के प्रतिबन्ध के कारण कहीं आजीविका से दूर न हो जाए। आजीविका के बिना वह दान आदि धर्म-कार्य नहीं कर सकेगा, क्योंकि अर्थ की भी धर्म में आवश्यकता तो रहती ही है। उन्होंने द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि- दोनों पर बल दिया तथा यह भी स्पष्ट किया कि पूजा की सामग्री उत्तम-से-उत्तम हो, अर्थात् परमात्मा की पूजा उत्तम द्रव्यों से करें। पूजा की सामग्री इस प्रकार चढ़ाई जाए कि आने वाला दर्शक भावविभोर हो जाए। पूजा करते समय कोई भी शारीरिक-क्रिया न करें, अर्थात् शरीर खुजलाना, नाक-कान साफ करना, नाखून का मैल निकालना आदि क्रियाओं का उन्होंने पूजा के समय निषेध किया है।

आचार्य हरिभद्र ने इस प्रसंग पर बताया कि पूजा करते समय पढ़े जाने वाले स्तुति-स्तोत्र आदि का भावार्थ ज्ञात होना चाहिए, इससे भाव शुद्ध होते हैं। भावार्थ नहीं जानने वालों के लिए भी रत्नज्ञानन्याय से भाव शुद्ध होने की चर्चा की है।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दन के उपरान्त प्रणिधान (संकल्प) करने की विधि बताई है, जिससे धर्म-कार्य में विघ्न नहीं आए व विजय प्राप्त हो। आचार्य ने संकल्प करने की बात बताई, पर इसका

समाधान भी दे दिया कि यह संकल्प है, नियाणा (निदान) नहीं। इस संकल्प द्वारा भावशुद्धि का लक्ष्य है, भव-परम्परा समाप्ति का ही उद्देश्य है, न कि सांसारिक-सुख पाने की लालसा है।

आचार्य ने, पूजा में हिंसा होती है- ऐसी शंका करने वालों के लिए समाधान दे दिया कि गृहस्थ के लिए जिनपूजा निर्दोष है, क्योंकि गृहस्थ कृषि आदि कई आरम्भ करता है, पूजा के समय वह उस आरम्भ से मुक्त होता है। पूजा निवृत्तिरूप फल है, अतः मोक्षाभिलाषी को प्रमादरहित होकर आगम सम्मत विधि द्वारा परमात्मा की अर्चना करना चाहिए। परमात्मा की पूजा करने से परमात्मा को क्या लाभ है? इस शंका का समाधान करते हुए वर्णन किया गया है कि परमात्मा की पूजा से परमात्मा को लाभ हो या न हो, परन्तु पूजा करने वालों को अवश्य लाभ प्राप्त होता है, अर्थात् तीर्थकर, गणधर चक्रवर्ती आदि उत्तम पदों की प्राप्ति होती है, अतः परमात्मा की पूजा अवश्य करना चाहिए।

पंचम पंचाशक-

पंचम पंचाशक में प्रत्याख्यान के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। चूंकि प्रत्याख्यान, नियम एवं चारित्र्यधर्म समानार्थक हैं, फिर भी प्रस्तुत पंचाशक में प्रत्याख्यान का अर्थ कुछ विशिष्ट रूप में किया गया है। यहाँ आत्महित की दृष्टि से प्रतिकूल प्रवृत्ति के परित्याग की मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करने को प्रत्याख्यान कहा गया है। प्रत्याख्यान के मूलगुण एवं उत्तरगुण- इस प्रकार दो भेद किए गए हैं। इसमें श्रमणवर्ग के महाव्रत एवं श्रावकवर्ग के अणुव्रतों को मूलगुण के अन्तर्गत लिया गया है एवं श्रमणवर्ग के पिण्डविशुद्धि आदि गुण एवं श्रावकवर्ग के दिग्विरति आदि व्रत को उत्तरगुण के अन्तर्गत लिया गया है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित दस और प्रत्याख्यान हैं, जिन्हें कालिक-प्रत्याख्यान के अन्तर्गत लिया गया है। वे दस प्रत्याख्यान इस प्रकार हैं- नवकारसी, पोरसी, पुरिमड्ड, एकासन, एकलठाणा, आचाम्ल (आयम्बिल), उपवास, अचित्तपानी आगार-चरित्र, अभिग्रह एवं विकृति (विगय)- त्याग। इन प्रत्याख्यानों को काल-मर्यादापूर्वक किया जाता है, इसलिए इनका कालिक-प्रत्याख्यान में समावेश किया गया है। कालिक-प्रत्याख्यान की विधि सात द्वारों के आधार पर बताई जाती है। ये द्वार हैं-

ग्रहणद्वार, आगारद्वार, सामायिकद्वार, भेदद्वार, भोगद्वार, स्वयंपालनद्वार और अनुबंधद्वार।

प्रत्याख्यान किसके लिए सफल होता है, इस विषय में यह बताया है कि मोक्षाभिलाषी जीव के उपलब्ध और अनुपलब्ध सारे पदार्थों के प्रत्याख्यान सफल होते हैं, क्योंकि वह मोक्ष की इच्छा से प्रत्याख्यान करता है।

षष्ठ पंचाशक-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने स्तुति (स्तवन) के महत्व पर प्रकाश डालते हुए इस पंचाशक का नामकरण स्तवन विधि किया है। इस प्रकरण में द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार के स्तवन

बताए गए हैं। द्रव्य-स्तवन में उन्होंने शास्त्रोक्त जिनमन्दिर- निर्माण, जिनपूजा, जिनप्रतिमा-प्रतिष्ठा और तीर्थों की यात्रा को रखा है तथा भावस्तव में मन, वचन और काया से विरक्त हो वीतराग की स्तुति आदि को लिया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि द्रव्य-स्तवना के बिना भाव-स्तवना भी असम्भव है, अतः द्रव्य से भाव की विशुद्धि है तथा भावस्तव के निमित्त के साथ आप्त पुरुषों के प्रति आदर-भाव की जो अभिव्यक्ति है, वह भावस्तव का प्रतीक है।

आचार्य हरिभद्र ने द्रव्यस्तव के भी दो भेद कहे हैं- प्रधान द्रव्यस्तव व अप्रधान द्रव्यस्तव। प्रधान द्रव्यस्तव भावस्तव का मूल है तथा अप्रधान द्रव्यस्तव का भावस्तव से कोई संबंध नहीं है। गृहस्थ व साधु के द्रव्य-कार्यों के आधार पर शंका होने से द्रव्यस्तव व भावस्तव के स्तर को आंकते हुए कहा है कि साधु के सेवा आदि कार्य को द्रव्यस्तव में नहीं मानने का कारण यह है कि वे निर्दोष-निरवद्य हैं, लेकिन जिन-भवन आदि में आंशिक आरम्भ है, अतः इन्हें द्रव्यस्तव में लिया गया है। द्रव्यस्तव भावस्तव में परम उपयोगी है, पर अल्प-बहुत्व का अन्तर है। द्रव्यस्तव औषध लेकर पथ्य-परहेज करने जैसा है तथा भावस्तव केवल पथ्य-परहेज का पालन करने जैसा है, जिसमें औषध की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अन्तर होने पर भी दोनों का एक-दूसरे से सम्बन्ध है, क्योंकि द्रव्यस्तव का अधिकारी गृहस्थ व भावस्तव का अधिकारी साधु है, परन्तु गौण रूप से गृहस्थ भी भावस्तव करता है व साधु भी गौण रूप से द्रव्यस्तव करता है।

इस प्रकार द्रव्यस्तव और भावस्तव भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, इस कारण साधुओं और श्रावकों को द्रव्यस्तव व भावस्तव- दोनों करने का विधान आगमों में बताया गया है। इसे ही आचार्य ने इस प्रकरण में विस्तृत व्याख्या करते हुए द्रव्यस्तव व भावस्तव का विश्लेषण किया है।

सप्तम पंचाशक-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने 'जिनभवन-निर्माण' की चर्चा की है। उन्होंने इस प्रकरण में बताया कि जिन-निर्माण के लिए निर्माता में कौन-कौनसी योग्यतायें अवश्य होना चाहिए।

जिनभवन-निर्माता की योग्यताओं को अंकित करते हुए कहा गया है कि जिनभवन-निर्माण करने का अधिकार उसी को है, जिसमें निम्न योग्यताएँ हैं-

गृहस्थ हो, शुभ-परिणाम हो, जिन-धर्म पर विश्वास हो, सम्पन्न हो, कुलीन हो, धैर्यवान् हो, उदार हो, बुद्धिमान् हो, धर्मानुरागी हो, देव-गुरु धर्मोपासक हो, शुश्रूषा आदि आठ गुणों से युक्त हो तथा शास्त्रोक्त जिनभवन-निर्माण-विधि का ज्ञाता हो। निर्माता की योग्यता को यहाँ प्रतिपादित करने का तात्पर्य है कि यदि उक्त योग्यता वाला व्यक्ति जिनभवन का निर्माण करवाता है, तो जिनाज्ञा का भंग नहीं होता है तथा निर्माण-कार्य को देखकर कई गुणानुरागी मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। ये शुभभाव भी

सम्यग्दर्शन के बीज हैं, अतः यह ध्यान रहे कि जिनभवन-निर्माण में कम-से-कम दोष लगे। प्रयत्न तो ऐसा ही होना चाहिए कि दोष लगे ही नहीं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस सम्बन्ध में पाँच द्वारों का निर्देश किया है- (1) भूमिशुद्धि-द्वार (2) दलविशुद्धि-द्वार (3) मृतकानतिसन्धान-द्वार (4) स्वाशयवृद्धि-द्वार और (5) यतना-द्वार।

इन शुद्धियों का विवेक रखने पर इस निर्माण कार्य में हिंसा होने पर भी वह पापरूप नहीं होती, क्योंकि परमार्थ से वह अहिंसा ही है। परमार्थ से इसे अहिंसा मानने में महत्वपूर्ण बात यह बताई गई है कि जिन भवन आदि बनाने में जो अल्प हिंसा है, वह अल्प हिंसा अधिक हिंसा से बचाने में सहयोगी बनती है, इस कारण इसे परमार्थ अहिंसा का रूप दिया है, अतः श्रावकगण को मोक्ष न पाने तक सद्गति में कल्याण की परम्परा को सतत बनाए रखने के लिए जिन-मन्दिर का निर्माण करवाते रहना चाहिए।

अष्टम पंचाशक-

जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा-विधि

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने जिनप्रतिष्ठा-विधि का विवरण किया है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत विधि को दो भागों में विभक्त किया है-

1. जिनबिम्ब-निर्माण-विधि
2. जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा-विधि

साधक, गुरु के द्वारा यह जानता है कि तीर्थंकर परमात्मा अतिशय गुणसम्पन्न हैं और उनके दर्शन कल्याणकारी हैं, अतः जिनबिम्ब बनवाना श्रावकों का कर्तव्य है और यही मनुष्य-जीवन की सफलता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिनबिम्ब का निर्माण चारित्रशील शिल्पी से ही करवाना चाहिए तथा उसे पर्याप्त पारिश्रमिक देना चाहिए। उन्होंने विकल्प में यह भी निर्देश दिया कि यदि सुशील शिल्पी नहीं मिले और दुःशील शिल्पी से जिनबिम्ब-निर्माण का कार्य करवाना पड़े, तो उसके लिए पारिश्रमिक पूर्व में ही निश्चित कर लेना चाहिए, साथ ही यह भी निश्चित कर लेना चाहिए कि राशि का भुगतान अंशतः दिया जाएगा, जिससे वह शिल्पी केवल जीवनयोपयोगी वस्तु ही खरीद सकेगा, दुर्व्यसन में उसका उपयोग नहीं करेगा, अथवा यह निश्चित कर लिया जाए कि उसे पारिश्रमिक-राशि खाद्य-सामग्री या वस्त्रादि के रूप में ही मिलेगी। यदि मूल्य निश्चित नहीं करते हैं, या एक साथ दे देते हैं, तो देवद्रव्य के भक्षण का दोष होगा और परिणाम में अनेक दारुण दुःखों को भोगना पड़ेगा, अतः इस परिणाम को जानकर, जो कार्य परिणामस्वरूप सबके लिए दुःख का कारण हो, उसे नहीं करना चाहिए। जिनाज्ञा के अनुसार कार्य करने पर भी विपरीत घटित हो जाए, तो फिर वह श्रावक दोषी नहीं है, क्योंकि वह आज्ञा का आराधक

है, उसके परिणाम शुद्ध हैं, किन्तु यदि साधु या श्रावक सम्बन्धी प्रवृत्ति यदि अपनी मति के अनुसार करने की है तो वहाँ आज्ञा-भंग का दोष है।

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो जिनेश्वर परमात्मा की पूजा तो करते हैं, पर वे परमात्मा की आज्ञा नहीं मानते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि एक तरफ तो वे भगवान् के आज्ञा पालक भक्त बनकर जिनेश्वर को अपना आराध्य मानते हैं और दूसरी तरफ उनकी आज्ञा का अतिक्रमण करके अपने आराध्य की आज्ञा का ही उल्लंघन करते हैं। ऐसा करना उचित नहीं है।

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि शुद्धतापूर्वक जिनबिंब-निर्माण के पश्चात् निर्मित प्रतिमा की शुभ मुहूर्त्त में स्थापना करना चाहिए। परमात्मा का प्रवेश जिनालय में करवाना चाहिए और समुचित स्थान पर स्थापना करना चाहिए। जिनालय के चारों ओर की परिधि में शुद्धि बनाए रखना चाहिए तथा परमात्मा की अष्टद्रव्यों से पूजा करना चाहिए। जिनपूजा के पश्चात् इन्द्रादि देवों की, लोकपाल देवों की, सोमयज्ञ आदि दिक्पाल देवों की भी पूजा करना चाहिए।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि देवताओं आदि की भी पूजा क्यों करना चाहिए? चूंकि इन्द्रादि कल्याणकारी कार्यों में निमित्त बनते हैं तथा दिक्पाल आदि देवाधिदेव के भक्त होने के कारण हमारे सार्धमिक बन्धु हैं, अतः प्रतिष्ठा के समय उनकी पूजा की जाती है। फिर, शुभ मुहूर्त्त में चन्दन आदि का विलेपन करके पूर्व निर्धारित स्थान पर मंगल गीतों के साथ जिनबिंब की प्रतिष्ठा (स्थापना) करना चाहिए।

जिनबिंब की पूजा-प्रतिष्ठा के बाद संघ-पूजा का विधान बताया है। संघ-पूजा की गरिमा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि तीर्थंकर भी संघ को 'नमो तित्थस्स' कहकर नमस्कार करते हैं, अतः बिना भेद की बुद्धि से संघपूजा करना चाहिए। संघ-पूजा को सभी दानों में महादान माना है। संघ-पूजा का मुख्य फल मोक्ष ही है।

इस प्रकार जिनबिंब-निर्माण, स्थापना, संघपूजा के पश्चात् स्वजनों एवं सार्धमिक के प्रति उत्तम वात्सल्यभाव रखने की चर्चा की है और यह भी कहा गया है कि प्रतिष्ठा के प्रसंग पर आठ दिन उत्सव-महोत्सव के साथ प्रभु, संघ आदि की भक्ति करना चाहिए, तदुपरान्त नित्य चैत्यवन्दन आदि की विधि करना चाहिए, क्योंकि यह भक्ति पूजा ही संसार से मुक्ति दिलाती है।

नवम पंचाशक-

यात्रा-विधि

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक में यात्रा विधि का वर्णन किया है। यहाँ यात्रा से तात्पर्य मोक्षफलप्रदायक जिन-प्रतिमा की शोभायात्रा से है। हरिभद्र ने इसमें सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन किया है, क्योंकि ये जिनशासन-प्रभावना के हेतु हैं। जिनयात्रा को शासन-प्रभावना में मुख्य मानते हुए इस

विधि का विस्तार से विवरण किया है। जिनयात्रा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिन के निमित्त (लक्ष्य) करके जो महोत्सव किया जाता है, वह जिनयात्रा है। आचार्य हरिभद्र ने, महोत्सव में यथाशक्ति दान, तप, शरीर-शोभा, उचित व मधुर गीत-वाद्य, स्तुति, नृत्य आदि करना चाहिए- ऐसा निर्देश दिया है, साथ ही यह भी बताया है कि जिनयात्रा के महोत्सव में वहाँ राजा या जो भी अधिकारी हो, उसकी आज्ञा लें- यह आगमसम्मत है। इस प्रकार आज्ञा लेकर कार्य करने पर उस देश में विचरण करने वाले साधुओं को तीसरे महाव्रत का निरतिचार पालन होता है, शुभ कार्य में शत्रुओं की ओर से कोई उपद्रव की सम्भावना नहीं रहती है। राजा द्वारा सम्मान प्राप्त होने के कारण उन साधुओं का सभी जन आदर-सम्मान के साथ दर्शन-श्रवण करते हैं। साधु भी राजा के पास जाकर उनकी इस प्रकार प्रशंसा करे — ‘आपने जिन-महोत्सव में सहयोगी बनकर अपने मनुष्य-भव को सफल किया है। मनुष्य तो बहुत हैं, पर आपको पुण्य की बदौलत राजा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसका कारण धर्म ही है। धर्म से ही आपको सारी सम्पदाएँ उपलब्ध हुई हैं, अतः आप सदैव धर्म-कार्य में सहयोगी बनते रहें।’ साधु के मुख से इस प्रकार प्रशंसा सुनकर राजा महोत्सव आदि में आगे के लिए सदा जीव-हिंसा आदि बन्द करवा सकता है। जिनयात्रा के प्रसंग पर संघ को धन आदि देकर भी हिंसा आदि अनर्थ कार्यों को छुड़वाना चाहिए। यहाँ आचार्य हरिभद्र ने यह भी संकेत किया है कि जो आचार्य या श्रावक राजा आदि से निवेदन करके हिंसादि कार्य छुड़वाकर जिन-शासन की प्रभावना का कार्य करवाते हैं, उनका भी उचित सम्मान करना चाहिए, ताकि शुभकार्य की अनुमोदना से कर्मों की निर्जरा हो।

आचार्य हरिभद्र ने कल्याणक दिनों के विषय में विशेष चर्चा करते हुए कहा है कि परमात्मा के पाँच कल्याण होते हैं, अतः इन कल्याणकों के दिन जिन-शोभायात्रा निकालने से अपना भी ‘कल्याण’ होता है व लोक में तीर्थंकर का सम्मान होता है, पूर्वजों की परम्परा का पालन होता है, जिनमहोत्सव की लोक में प्रसिद्धि फैलती है, जिनशासन की महिमा बढ़ती है, जिनयात्रा में भाग लेने वालों के परिणाम शुद्ध होते हैं, इसलिए जिनयात्रा नगर में निकाली जाना चाहिए।

इसे हरिभद्र ने उत्कृष्ट क्रिया बताया और कहा कि यह महोत्सव तो इन्द्रादि भी करते हैं। यदि शास्त्र-वचन एवं पूर्वजों की परम्परा का पालन नहीं करते हैं, तो उनका अपमान होता है, अतः महापुरुषों से जिनयात्रा-विधि समझकर जिनयात्रा का महोत्सव अवश्य करना चाहिए।

दशम पंचाशक (उपासक-प्रतिमा-विधि)-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने उपासक प्रतिमा विधि का प्रतिपादन किया है। आचार्य भद्रबाहु द्वारा उद्धृत दशाश्रुतस्कंध के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने निम्न ग्यारह प्रतिमाओं पर विवेचन किया है-

1. दर्शन-प्रतिमा 2. व्रत-प्रतिमा 3. सामायिक-प्रतिमा 4. पौषध-प्रतिमा 5. नियम-प्रतिमा 6. अब्रह्म वर्जन-प्रतिमा 7. सचित्तवर्जन-प्रतिमा 8. आरम्भवर्जन-प्रतिमा, 9. प्रेष्यवर्जन-प्रतिमा 10. उद्दिष्ट-वर्जन प्रतिमा और 11. श्रमणभूत-प्रतिमा।

श्रावक इन प्रतिमाओं के आचरण से अपने मन को उपशान्त-शान्त कर लेता है। इनके आचरण से श्रावक को दीक्षा की प्रेरणा प्राप्त होती है। आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट किया है कि यदि श्रावक इन प्रतिमाओं का वास्तविक रूप से पालन करता है, तो वह वास्तव में प्रव्रज्या के योग्य बन जाता है और योग्य बनकर ली गई दीक्षा ही प्रव्रज्या कहलाती है।

आचार्य हरिभद्र के कथनानुसार श्रमण वही है, जिसका मन प्रशस्त हो गया है, अनुकूल-प्रतिकूल में समभाव में स्थिर रहता है। कोई व्यक्ति ऐसे शुद्ध परिणाम से ही श्रमणत्व प्राप्त कर सकता है। आचार्य हरिभद्र ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि यदि अल्पवय में भी दीक्षा के योग्य बन जाते हैं, तो भी दीक्षा उन्हें उसी तरह ही दी जाती है, जिस तरह प्रतिमा पालन करने वालों को दी जाती है। फिर भी, आचार्य हरिभद्र के अनुसार भवविरह, अर्थात् मुक्ति को चाहने वाले को इन प्रतिमाओं का पूर्णरूपेण पालन करने के बाद ही दीक्षा लेना चाहिए।

एकादश पंचाशक (साधुधर्म-विधि)

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक में साधुधर्म-विधि का निरूपण किया है। चारित्रसम्पन्न ही श्रमण है। उन्होंने चारित्र को दो भेदों में विभक्त करके देशचारित्र व सर्वचारित्र के लिए अलग-अलग अनिवार्य नियमों का प्रतिपादन किया है।

देशचारित्र का धारक गृहस्थ-श्रावक होता है व सर्वचारित्र का धारक साधु होता है। आचार्य हरिभद्र ने सर्वचारित्र के पाँच भेदों को स्पष्ट करते हुए यह निर्देश दिया कि श्रमण सामायिक व गुरु-सान्निध्य का विशेष ख्याल रखे, क्योंकि सामायिक-भाव से ही, अर्थात् समभाव से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति है। समभाव से ही चारित्र में श्रद्धा स्थित रहती है, श्रद्धा से ही गुरु के प्रति समर्पण भाव रहता है और समर्पण ही ज्ञान दर्शन का आधार है। जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि साधुओं को गुरु-आश्रय में ही रहना चाहिए, क्योंकि गुरुकुल में वास ही मोक्ष का साधन है। गुरुवास का त्याग नहीं करने वाले साधु ही श्रुतज्ञान व मुक्ति के योग्य बनते हैं, चारित्र में दृढ़ बनते हैं और गुरु उन्हें अपने पट्ट पर आसीन कर देते हैं।

दशयति-धर्म, जो साधु की पूँजी है, वह गुरुकुल-वास से ही सम्भव है। आचार्य हरिभद्र ने यह भी बताया कि गुरु कौन है? सम्यग्ज्ञान सद् अनुष्ठान युक्त ही सच्चा गुरु है अतः सच्चे गुरु की निश्रा में ही रहना चाहिए।

स्वयं से अधिक या समान गुणों वाला न मिले, तो ऐसी परिस्थिति में एकाकी विहार करने का निर्देश है, परन्तु सामान्य मुनि के लिए ऐसी आज्ञा नहीं है, क्योंकि एकाकी विचरण करने वालों को संयम में दोष लगने की सम्भावना अधिक रहती है, जैसे- स्त्री सम्बन्धी दोष, कुत्तों आदि के द्वारा काटने का भय, साधु के प्रति द्वेष रखने वालों के द्वारा उपसर्ग, अशुद्ध भिक्षा आदि की प्राप्ति, अतः साधु को एकाकी विहार करना ही नहीं चाहिए। गीतार्थ को भी एकाकी विचरण की आज्ञा तब ही है, जब उसे कोई योग्य गीतार्थ न मिले, तो फिर अगीतार्थ को तो इसकी कैसे आज्ञा कैसे दी जा सकती है? आचार्य हरिभद्र का कथन है कि कृतज्ञ शिष्य सदा ही गुरु का सम्मान करता है, वह गुरु-सान्निध्य का त्याग नहीं करता है। जो ऐसा करता है, वह साधु नहीं है। वैसे साधुओं का सम्मान करना भी हितकर नहीं है।

तीर्थकर की आज्ञा में रहने वाला, पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करते हुए वसति, विहार, भाषा शुद्धि लक्षण से युक्त साधु ही अपने अच्छे आचार और विचार से अन्य भव्य जीवों में वैराग्य का बीज वपन कर सकता है और स्वयं शीघ्र शाश्वत सुख वाले सिद्ध-पद को, अर्थात् भवविरह को प्राप्त कर सकता है।

द्वादश पंचाशक (साधु-सामाचारी-विधि)

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने साधु-सामाचारी-विधि का विवरण किया है।

साधु-सामाचारी से तात्पर्य है- साधु-साध्वी के करने योग्य आचार-संहिता। साधु-साध्वियों को करने योग्य नियमों को दस विभागों में विभक्त किया गया है, जिसे दशविध सामाचारी अथवा दस यति-धर्म कहते हैं। दस सामाचारी निम्न हैं- 1. इच्छाकार-सामाचारी, 2. मिथ्याकार -सामाचारी 3. तथाकार-सामाचारी 4. आवश्यकी-सामाचारी 5. निषीधिका-सामाचारी 6. आपृच्छना-सामाचारी 7. प्रतिपृच्छना-सामाचारी 8. छन्दना-सामाचारी 9. निमंत्रणा-सामाचारी और 10. उपसम्पदा-सामाचारी।

1. **इच्छाकार-सामाचारी** - दूसरे साधुओं से अपना कार्य करवाने पर उनकी इच्छा को जानना तथा उनकी इच्छा होने पर उनका कार्य करना।
2. **मिथ्याकार-सामाचारी** - आचार-पालन में कहीं भी भूल हो गई हो, तो भूल को स्वीकार कर तुरन्त पश्चाताप करना।
3. **तथाकार-सामाचारी** - संयम से सम्पन्न- ऐसे सद्गुरु के वचन को यह कहते हुए स्वीकार करना कि 'आपने जो कहा, वह वैसा ही है।'
4. **आवश्यकी-सामाचारी** - अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यकी है। संयम-रक्षा व पालन के लिए बाहर जाना अनिवार्य है, अतः उपाश्रय से बाहर जाते समय आवस्सही शब्द का प्रयोग करना।
5. **निषीधिका-सामाचारी** - आवश्यक कार्य पूर्ण कर उपाश्रय में प्रवेश करते समय निसिंहि कहना।

6. **आपृच्छना-सामाचारी** - किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व गुरु को पूछना —“हे भगवन्! यह कार्य मैं करूँ।”
7. **प्रतिपृच्छना-सामाचारी** - गुरु ने पूर्व में आदेश दिया था कि यह कार्य अमुक समय में करना, समय आने पर पुनः पूछें- “भगवन्! यह कार्य मैं करूँ।”
8. **छन्दना-सामाचारी** - आहार लाने के पश्चात् गुरु की आज्ञा से बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी आदि को विनती करे कि उनके योग्य हो, तो वे अवश्य आहार ग्रहण करें।
9. **निमन्त्रण-सामाचारी** - गुरु की आज्ञा से गोचरी जाने से पूर्व यह निमन्त्रण देना —“मैं आपके योग्य आहार आदि ले आऊँगा।”
10. **उपसम्पदा-सामाचारी** - ज्ञानादि की वृद्धि के लिए अपने गुरु को छोड़कर अन्य गुरु की निश्रा ग्रहण करना।

इस प्रकार साधु मूल गुण और उत्तर गुण की परिपूर्ण रक्षा के लिए उपर्युक्त सामाचारी का श्रेष्ठ प्रकार से पालन करे, जिससे भव-परम्परा का अन्त कर भवविरह हो सके।

त्रयोदश पंचाशक (पिण्डविधान-विधि)-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधान-विधि का विवरण प्रस्तुत किया है। आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविशुद्धि के विधान का प्रतिपादन करते हुए निर्देश दिया है कि संयम-रक्षा एवं शरीर-रक्षा के लिए पिण्ड-ग्रहण-विधि से विशुद्ध बाहर की गवेषणा करे। पिण्ड का अर्थ है- आहार। श्रमण-गण को आहार की शुद्धि का ध्यान रखना परम आवश्यक है। इस हेतु, उद्गम आदि दोषों से रहित जो शुद्ध आहार है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए। आहार सम्बन्धी दोषों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है।

1. उद्गम-दोष 2. उत्पादना-दोष और 3. एषणा-दोष।

1. उद्गम-दोष- यह दोष आहार बनाते समय गृहस्थ की ओर से लगने वाले दोषों से सम्बन्धित है, जैसे-साधु के निमित्त भोजन बनाना।

उद्गम दोषों की संख्या सोलह है-

1. आधाकर्म-दोष- साधु को याद करके भोजन बनाना।
2. औद्देशिक-दोष- साधु को देने के लक्ष्य से भोजन बनाना।
3. पूतिकर्म-दोष- शुद्ध आहार को अशुद्ध कर देना।
4. मिश्रजात-दोष- गृहस्थ व साधु- दोनों के निमित्त से भोजन बनाना।

5. स्थापना-दोष- साधु के निमित्त अलग निकालकर भोजन रख देना।
6. प्राभृतिका-दोष- निश्चित समय से पूर्व भोज का आयोजन करके साधु को आहार देना।
7. प्रादुष्करण-दोष- साधु को आहार देने के लिए आहार को खुला रख देना।
8. क्रीत-दोष- साधु के लिए खरीदकर लाना।
9. अपभित्य-दोष- उधार लेकर साधु को भिक्षा देना।
10. परावर्तित-दोष- खाद्य पदार्थों का अदल-बदल कर आहार देना।
11. अभिहत-दोष- साधु को देने के लिए अपने स्थान से दूसरे स्थान पर आहार ले जाना।
12. उद्भिन्न-दोष- अलमारी आदि खोलकर आहार देना।
13. मालापहत-दोष- ऊपर से या छींके से उतारकर आहार देना।
14. आच्छेद्य-दोष- पुत्र आदि को दी हुई खाद्य वस्तु को पुनः लेकर साधु को देना।
15. अनिसृष्ट-दोष- दूसरों के हिस्से की वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना साधु को देना।
16. अध्यवपूरक-दोष- अपने लिए बन रहे भोजन में साधु के लिए मिला देना।

2. उत्पादना-दोष- आहार लेते समय साधु की ओर से लगने वाले दोषों को उत्पादना-दोष कहते हैं। यह दोष मूलतः शुद्ध आहार को अशुद्ध आहार करता है। इसके भी सोलह प्रकार हैं, जो निम्न हैं-

1. धात्री-दोष- धात्रीपन करने के लिए माता-पिता को खुश करके भिक्षा लेना।
2. दूती-दोष- गृहस्थों को परस्पर समाचार पहुँचाकर भिक्षा लेना।
3. निमित्त-दोष- भूत, भावी, वर्तमान विषयक बातें बताकर आहार लेना।
4. आजीवक-दोष- अपनी जाति-कुल आदि बताकर आहार लेना।
5. वनीपक-दोष- गृहस्थ की प्रशंसा करके आहार लेना।
6. चिकित्सा-दोष- गृहस्थ को चिकित्सा आदि बताकर आहार लेना।
7. क्रोधपिण्ड-दोष- श्राप का भय बताकर आहार लेना।
8. मानपिण्ड-दोष- स्वाभिमानपूर्वक आहार लेना।
9. मायापिण्ड-दोष- वेश परिवर्तन करके कपटपूर्वक आहार लेना।
10. लोभपिण्ड-दोष- लालच से आहार लेना।
11. पूर्वपश्चात्संस्तव-दोष- आहार लेने के पूर्व या पश्चात् गृहस्थ की प्रशंसा करना।
12. विद्या-दोष- विद्या प्रयोग से आहार ग्रहण करना।
13. मंत्र-दोष- मंत्र आदि बताकर आहार ग्रहण करना।
14. चूर्ण-दोष- अंजन आदि के प्रयोग से अदृश्य होकर आहार ग्रहण करना।

15. योगप्रयोग-दोष- पादलेपादि द्वारा रूप बनाकर आहार लेना।

16. मूलकर्म-दोष- ब्रह्मचर्य भंग करके या गर्भपात आदि करवाकर भिक्षा लेना।

3. एषणा-दोष- साधु व गृहस्थ- दोनों की तरफ से लगने वाले दोषों को एषणा-दोष कहते हैं। इनके 10 प्रकार हैं-

1. शंक्ति-दोष- आधाकर्म आदि दोषों की सम्भावना होने पर आहार लेना।
2. प्रक्षित-दोष- सचित्त से युक्त आहार को लेना।
3. निक्षिप्त-दोष- सचित्त वस्तु पर रखी हुई भिक्षा को लेना।
4. पिहित-दोष- सचित्त आदि पदार्थों से ढंकी हुई भिक्षा लेना।
5. संह्वत-दोष- जिसमें सचित्त वस्तु रखी हुई है, उस पात्र को खाली करके उसी पात्र से आहार लेना।
6. दायक-दोष- अयोग्य व्यक्तियों द्वारा भिक्षा लेना।
7. उन्मिश्र-दोष- सचित्त आहार से मिश्रण आहार को लेना।
8. अपरिणत-दोष- सचित्त आहार लेना।
9. लिप्त-दोष- अखाद्य वस्तु से लिप्त भिक्षा लेना।
10. छर्दित-दोष- देते समय आहार निःसृत हो रहा हो, ऐसा आहार लेना।

उद्गम- 16 उत्पादना -16 एषणा-10 =42

उक्त 42 दोषों से रहित आहार ही शुद्ध आहार है, जो साधुओं के लेने योग्य है।

आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि जो श्रमण इन दोषों को जानकर और आप्त पुरुषों की आज्ञा मानकर सम्पूर्ण दोषों से मुक्त होता है, वही श्रमण संयम-यात्रा से मुक्ति प्राप्त करता है।

चतुर्दश पंचाशक (शीलांग-विधान-विधि)-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने शीलांग-विधान-विधि की चर्चा की है। श्रमणों के शील सम्बन्धी प्रसंगों को शीलांग कहा गया है। शीलांग की संख्या अठारह हजार है। भावचारित्र वाले श्रमण अठारह हजार शीलांग रथ के सारथी होते हैं। शीलांगयुक्त श्रमण में ये गुण गुणफल के रूप में पाए जाते हैं।

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, दस काय और दस श्रमण धर्म।

$3 \times 3 \times 4 \times 5 \times 10 \times 10 = 18000$

भावचारित्र वाले में 18000 में से एक भी शीलांग कम नहीं होता है। यदि एक भी शीलांग कम हो, तो सर्व-विरति चारित्र नहीं होता। सर्वविरति-चारित्र नहीं है, तो वह मुनि नहीं है। मुनि नहीं है, तो वह

वन्दनीय नहीं है। अतः, मुनि को इस बात का पूर्णरूपेण ध्यान रखकर अन्तःकरण के परिणामों की शुद्धि रखना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण शीलांगों से परिपूर्ण श्रमण ही संसार के जन्म-मरण के चक्र को मिटा सकता है, अर्थात् भवविरह को प्राप्त हो सकता है।

पंचदश पंचाशक (आलोचना-विधि-पंचाशक)-

प्रस्तुत पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने आलोचना विधि के विधान का विवरण प्रस्तुत किया है। यदि किसी कारणवश शीलांगों का अतिक्रमण हो जाए तो आलोचना द्वारा शुद्ध होना पड़ता है। इस पंचाशक में हरिभद्र ने यह बताया है कि आलोचना किसे कहते हैं।

अपने द्वारा हुई भूलों को गुरु के समक्ष बिना छिपाए सहजता से बताना आलोचना है। आलोचना विधिपूर्वक करना चाहिए, अन्यथा विधि के अभाव में की गई आलोचना जिनाज्ञा के भंग का कारण बनती है। आलोचना का समय दिवस, पक्ष, चातुर्मास, संवत्सर कहा गया है। आलोचना के पाँच द्वारा बताए हैं- 1. आलोचना के योग्य 2. आलोचना देने के लिए योग्य गुरु 3. आलोचना का क्रम 4. मनोभाव का प्रकाशन और 5. द्रव्यादि की शुद्धि।

आलोचना के योग्य शिष्य के लक्षण ये हैं- कि संविग्न मायारहित, अनाशंसी, आज्ञाकारी, विद्वत्ता, सम्यक् श्रद्धा, आचार स्थित, दृष्टकृतपापी, आलोचना के प्रति उत्सुक आदि। इसी प्रकार आचारवान्, व्यवहारकुशल, सम्यक् संयमी, कुशल मतिवान् आदि लक्षण आलोचना देने वाले में होना चाहिए। आलोचना के क्रम में पहले छोटे-छोटे दोष फिर बड़े-बड़े दोषों को कहना चाहिए।

गीतार्थ के समक्ष अपने दुष्कृत्यों को भावपूर्वक प्रकट करना चाहिए, यदि भावपूर्वक प्रकट नहीं किए जाते हैं, तो वह भावशल्य है। यदि आलोचना के योग्य अपने पापों की आलोचना लज्जा या भय के कारण गुरु को न बताकर स्वयं ही करता है, तो उसे भावशल्यसहित आलोचना कहा गया है।

जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति असाध्य रोग जानने पर भी वैद्य के सम्मुख उस रोग को छिपाता है, तो वह असाध्य रोग उसकी मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारी होता है, उसी प्रकार जिसने भावशल्य के कारण अपने दोषों को गुरु के समक्ष नहीं बताया, उसके लिए चारित्ररूपी शरीर में स्थित अविचार-रूपी असाध्य रोग अनन्त भवों में श्रमण का कारण होने से आत्मा के लिए अनिष्टकारी ही है। भावशल्य वाला संसार-अटवी में दीर्घकाल तक भटकता है। तीन लोक के कल्याणमित्र भगवान् ने आलोचना को भाव आरोग्य रूपफल प्रदान करने वाली बताया है, अतः गुरु के समक्ष सरल बनकर अपने दोषों को कह देना चाहिए। जैसे बालक अपनी माँ से अपने कार्य-अकार्य सरलता से बिना छिपाए सब कुछ कह देता है, वैसे ही गुरु के समक्ष, जैसा पाप किया, वैसा ही कह देना चाहिए और गुरु जो आलोचना दे, उसे निःशल्य होकर यथावत् स्वीकार कर लेना चाहिए व जिन दोषों को किया है, फिर से उन दोषों को न करना- यह

संकल्प करना चाहिए, यही सम्यक् आलोचना है। अतः, हमेशा भावशुद्धि का प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि भवविरह का, शाश्वत् सुख का यही एक उपाय है।

षोडश पंचाशक (प्रायश्चित्त-विधि)-

प्रस्तुत पंचाशक में प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन किया गया है।

चित्त-शुद्धि के लिए जिन प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, अर्थात् जिस उपक्रम से चित्त की शुद्धि होती है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त को प्राकृत में पायच्छित्त कहते हैं। पायश्चित्त शब्द का अर्थ बनता है- जो पाप को छील देता है, पाप को छेद देता है, वही प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त के दस भेद बताए हैं-

1. आलोचन 2. प्रतिक्रमण 3. मिश्र 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य और 10. पारांचिक ।

निर्मल चित्त से किया गया प्रायश्चित्त ही वास्तव में प्रायश्चित्त है। श्रद्धावान के प्रायश्चित्त को ही भाव-प्रायश्चित्त कहा गया है। भावरहित प्रायश्चित्त ही द्रव्य-प्रायश्चित्त है, क्योंकि इससे चित्त की शुद्धि नहीं होती है। भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग-निर्युक्ति में द्रव्य-घाव के दृष्टान्त से चारित्राचार रूप भाव-घाव की चिकित्सा का हेतु बताकर एक रूपक प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्रायश्चित्त भाव-घाव चिकित्सा-विधि है, उसे सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

प्रायश्चित्त के दस भेदों में से प्रारम्भ के सात भेदों को व्रण (घाव) के दृष्टान्त से समझाया है और यह कहा है कि पश्चात् के मूल आदि तीनों प्रायश्चित्तों के योग्य अपराध सम्यक्चारित्र के अभाव में ही होते हैं। प्राणवध आदि संकल्पपूर्वक किए गए अपराधों में चारित्र का अभाव हो जाने से उस साधु को महाव्रतों में पुनः स्थापना करना मूल प्रायश्चित्त है। चारित्र के अभाव में किए गए अपराधों का जब तक तप आदि के द्वारा शुद्धि न हो जाए, तब तक महाव्रतों को नहीं देना उपस्थापना-प्रायश्चित्त है। पारांचिक-प्रायश्चित्त को लेकर आचार्यों में मतभेद हैं।

एक मत के अनुसार- जो साधु प्रमत्त अवस्था के कारण तीर्थंकर आदि किसी की आशातना करने के कारण तीव्र संक्लेश उत्पन्न होने पर जघन्य से छः महीना और उत्कृष्ट से बारह वर्ष तक शास्त्रविधि के अनुसार उपवास आदि तप से अतिचारों की पूर्ण शुद्धि कर लेता है फिर संयम स्वीकार करता है तो वह पारांचिक कहलाता है। अन्यमत के अनुसार जो श्रमण स्वर्लिंग, चैत्यभेद, जिन प्रवचन का उपघात आदि करने से इह भव और पर भव चारित्र के अयोग्य होते हैं उन्हें पारांचिक कहते हैं। अतः यह मान्यता भी युक्तिसंगत होने से मान्य करने योग्य है।

आगम में प्रायश्चित्त देने की विधि पाँच प्रकार की बताई है- 1. आगम 2. श्रुत 3. आज्ञा 4. धारणा और 5. जीत।

इन पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त से अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान बन जाता है।

निर्दोष भिक्षाचर्या वालों को प्रतिदिन प्रायश्चित्त देने के विधान पर शंका की गई कि प्रायश्चित्त सदोष वालों के लिए है, फिर निर्दोष भिक्षाचर्या वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान क्यों? इसका समाधान यह किया है कि आगमानुसार अनुष्ठान का प्रायश्चित्त नहीं है, अपितु उस क्रिया को करते समय जो सूक्ष्म विराधना हो रही है, उसका प्रायश्चित्त है।

सामान्यतः, सभी जीवों का (आयुर्कर्म को छोड़कर) सात कर्मों का बंध निरन्तर होता रहता है। आयुर्कर्म का बंध एक भव में एक ही बार होता है। यहाँ तक कि दसवें गुण-स्थान में भी जीव मोह और आयु को छोड़कर छः कर्मों का ही बन्ध करते हैं। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी-केवली में भी सातावेदनीय-कर्म का बंध होता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तसंयमी को उत्कृष्ट से आठ मुहूर्त और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की स्थिति का बन्ध होता है। वस्तुतः, छद्मस्थ को कर्मबन्ध होता है। चूंकि छद्मस्थ वीतरागी को भी मनोयोग आदि होते हैं, इसलिए विराधना की शुद्धि परम अनिवार्य है, अतः आगमोक्त अनुष्ठान कर कर्मबन्ध का छेदन करने वाले निर्दोष ही होते हैं।

जिस दोष का प्रायश्चित्त कर लिया गया हो, वह दोष पुनः न किया जाए, तो यह अच्छी प्रकार से किए गए प्रायश्चित्त का लक्षण है।

सप्तदश पंचाशक (कल्पविधि)-

सत्रहवें पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने कल्पविधि का विवेचन किया है।

कल्प के दो प्रकार बताए हैं- 1. स्थित कल्प 2. अस्थित कल्प।

जिन आचारों का पालन सदैव करना होता है, वे स्थित कल्प कहलाते हैं और जिन आचारों का पालन किसी काल-विशेष में होता है और किसी काल में नहीं भी होता है, वे अस्थित कल्प कहलाते हैं।

सामान्यतः, आचेलक, औद्देशिक आदि भेद से 10 प्रकार के कल्प होते हैं। ऋषभदेव व महावीर के शासनवर्ती साधु-साध्वियों के लिए ये कल्प अनिवार्य होते हैं। बाईस तीर्थकरों के शासनवर्ती साधुओं के लिए छः कल्प अस्थित हैं और चार कल्प स्थित हैं। अस्थित कल्प के पालन में विकल्प होता है और स्थित कल्प का पालन अनिवार्य होता है। कल्पों के ये दो भेद काल के प्रभाव के कारण ही किए गए हैं, इसका अन्य कोई कारण नहीं है।

इस पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने उन्हें ही श्रमण बताया है, जो पापभीरू हैं, विनीत हैं, जिन्होंने कषायों को कृश कर दिया है, इन्द्रियों का निग्रह कर लिया है, जो संसार से मुक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

अष्टादश पंचाशक (भिक्षुप्रतिमाकल्प-विधि)

अठारहवें पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमाकल्प-विधि का विवेचन किया है।

प्रस्तुत पंचाशक में अरिहंत परमात्मा द्वारा कथित बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का विवरण किया है। यह दर्शाया गया है कि साधुओं के विशिष्ट परिणाम ही प्रतिमा हैं। प्रतिमाधारी के लक्षण बताते हुए कहा है संहननयुक्त, धैर्यशाली, उत्कृष्टतः कुछ कम दस पूर्व और जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञान अर्जित किया हुआ, जिनकल्पी की तरह अभिगृहपूर्वक एषणा ग्रहण करने वाला, आदि गुणों से युक्त साधु ही गुरु की आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं की साधना कर सकता है। शरद-ऋतु में शुभ वेला में सभी साधुओं से क्षमा-याचना कर गच्छ से पृथक् होकर श्रमण प्रतिमाओं की साधना करता है। प्रतिमाधारी साधु को सदा स्वाध्याय व आत्म चिंतन में निरत रहना चाहिए, क्योंकि आत्म चिंतन में रहने वाला ही राग द्वेष और मोह से विरक्त हो, भवविरह को प्राप्त होता है।

एकोनविंश पंचाशक (तपविधि)

प्रस्तुत पंचाशक में तपविधि का विवरण किया है। जिस तप के द्वारा कषाय कृश हों, विषय-विकार का वर्जन हो, ब्रह्मचर्य की शक्ति विकसित हो, परमात्मा की पूजा हो, तब ये तप वास्तविक तप होते हैं। तप के दो विभाग किए गए हैं -1. बाह्य तप व 2. आभ्यंतर तप।

बाह्य व आंतरिक भेद से तप के बारह प्रकार हैं। बाह्य तप के छः प्रकार हैं एवं आन्तरिक तप के भी छः प्रकार हैं।

बाह्य तप- जो तप काया से सम्बन्धित हैं तथा बाहरी रूप से भी तपरूप दिखाई देने वाले हैं, वे बाह्य तप कहलाते हैं। छः बाह्यतप हैं- अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलिनता।

आभ्यन्तर तप- जो तप मुख्यतः मन से सम्बन्धित हैं, उन तपों को आन्तरिक तप कहा गया है। आन्तरिक तप के छः भेद निम्न हैं-

1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

प्रस्तुत पंचाशक में इन बारह प्रकार के तपों के अतिरिक्त अन्य तपों की विधि का भी विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मनोयोगपूर्वक श्रद्धा के साथ किया गया तप बोधि-बीज को प्राप्त करवाकर संसार-सागर से पार कराने वाला, अर्थात् भवविरह को प्राप्त कराने वाला होता है।

वैशिष्ट्य-

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित पंचाशक मुख्यतः आचारपरक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ न अति लघु है, न ही अति दीर्घ, अपितु मध्यम आकार का है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने अनेक विषयों का चयन किया है। एक ही ग्रन्थ में श्रमण एवं श्रावक-धर्म के अनेक पहलुओं का स्पर्श किया है।

इस ग्रन्थ में श्रमण व श्रावक-वर्ग की लगभग सभी दैनिक आवश्यक क्रियाओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

इस प्रकार के ग्रन्थ देखने को कम ही मिलते हैं। आचार्य हरिभद्र ने बिखरे मोतियों को माला का आकार दिया, जो अभिवन्दनीय है, प्रशंसनीय है।

वास्तव में, आचार्य हरिभद्रसूरि बहुआयामी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व के धनी हैं।

आचार्य हरिभद्र की समीक्षात्मक एवं समन्वयात्मक-दृष्टि

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर धर्म और दर्शन-जगत् में उनके द्वारा किए गए बहुमुखी योगदान का बोध होता है। उनके महत्वपूर्ण योगदान को निम्न पहलुओं में विभक्त कर सकते हैं-

1. धार्मिक-परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण।
2. दर्शन-जगत् में हरिभद्र का स्थान।
3. सभी धर्मों के विद्वानों के प्रति आदरभाव एवं आदरसूचक शब्दों का व्यवहार।
4. इतर दर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन एवं निष्पक्ष व्याख्या।
5. पौराणिक मिथ्या धारणाओं का निर्भीक रूप से खण्डन।
6. दर्शन व धर्म-जगत् में तर्क व बुद्धिवाद को स्थान।
7. कर्मकाण्डों की तार्किक समीक्षा।
8. मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण।
9. साधना के क्षेत्र में आराध्य का नाम-भेद महत्वपूर्ण नहीं।
10. अनेकता में एकता का सूत्र।

1. धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण- दर्शनयुग में दार्शनिकों में सर्वप्रथम विरोधी मतों का निराकरण करने की परम्परा प्रारम्भ हुई, पर यही परम्परा आगे चलकर पर-मत को अपमानित व स्वमत को श्रेष्ठ घोषित करने लगी तथा इस प्रकार की प्रवृत्ति ने जैनेतर दार्शनिक ही नहीं, अपितु जैन- दार्शनिक भी पीछे नहीं रहे।

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार जैन-परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतिकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसी भासियाई, लगभग ई.पू. 3 री शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रन्थ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों, यथा- नारद, असित, देवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही, वैचारिक-उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादरभाव का अति प्राचीन- काल का यह अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादरभाव वैदिक और बौद्ध-परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, स्वयं जैन-परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी।³⁷

सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रन्थों में अन्य दर्शनों का विवरण तो प्राप्त है, परन्तु उनमें अन्य दर्शनों के प्रति वैसी उदारता के दर्शन नहीं होते हैं जो ऋषिभाषित में है।

जहाँ भगवती में गौशालक के लिए अशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है, वहीं ऋषिभाषित में गौशालक के लिए अर्हत् ऋषि का सम्बोधन दिया है। ऋषिभाषित के बाद ऐसी उदार दृष्टि हरिभद्र में ही दिखाई देती है। हरिभद्र की उदार दृष्टि से यह परिलक्षित होता है कि जैन-दर्शन में ही नहीं अपितु समग्र भारतीय-दर्शन में उनका योगदान कितना महान् है।

जैन-दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक-मान्यताओं का विवरण दिया है। सिद्धसेन दिवाकर ने कई कृतियों की रचना मात्र अन्य दर्शनों का निरूपण करने के लिए ही रची, परन्तु ये कृतियां पाठ की अशुद्धि एवं व्याख्या के अभाव में स्पष्ट अर्थबोध कराने में असमर्थ रहीं। पं. सुखलाल संघवी ने इन्हें अप्रामाणिक माना। हालांकि दिवाकर ने अनेकान्तदृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं उदारता के दर्शन भी करवाए हैं, परन्तु समन्वयशीलता व उदारता की महत्वपूर्ण भूमिका, जो हरिभद्र ने अदा की, वह सिद्धसेन दिवाकर तो क्या, उनके पूर्ववर्ती किसी भी दार्शनिकों की कृतियों में परिलक्षित नहीं होती है। हरिभद्र के परवर्ती दार्शनिकों ने यदि अपने ग्रन्थों में उदारता का खुलकर परिचय दिया भी है, तो यह उदारता हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है।

सिद्धसेन दिवाकर ने 32 द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें 9 वीं में वेदवाद, 10 वीं में योगविद्या, 12 वीं में न्यायदर्शन, 13 वीं में सांख्यदर्शन, 14 वीं में वैशेषिक-दर्शन, 15 वीं में बौद्धदर्शन और 16 वीं में नियतिवाद की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, फिर भी वे अनेक प्रसंगों पर व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते नहीं चूके, जबकि हरिभद्र ने बिल्कुल सीधे-सादे ढंग से समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हालांकि उन्होंने भी धर्म व दर्शन के क्षेत्र में बढ़ते अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन किया है, परन्तु संयत एवं शिष्ट

37 डॉ. सागरमल जैन, पंचाशक प्रकरण (भूमिका), पृ. XIX

शब्दों के द्वारा निष्पक्ष दृष्टिकोण को अपनाते हुए, यही कारण है कि वे धर्म एवं दर्शन-जगत् में अधिक लोकप्रिय बने।

2. दर्शनजगत् में हरिभद्र का स्थान- दार्शनिक-विद्वानों की प्राचीन परम्परा में हरिभद्रसूरि का स्थान अद्वितीय है। भारतीय-दार्शनिकों की प्राचीन परम्परा में समन्वयवादी दार्शनिक के रूप में प्रथम स्थान हरिभद्र का आता है। इन्होंने जिस ढंग से अन्य दार्शनिक-परम्पराओं को समादरपूर्वक प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है, अप्रतिम है।

भारतीय-दर्शन के इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों की मान्यताओं को यदि एक ही ग्रन्थ में प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के प्रयास में किसी दार्शनिक को सफलता पाते हुए देखते हैं, तो हमारे सामने हरिभद्रसूरि का ही नाम उभरकर आता है, जिन्होंने सभी मुख्य भारतीय-दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में पिरो दिया और हरिभद्र का वह ग्रन्थ है- 'षड्दर्शन-समुच्चय'। इस ग्रन्थ की कोटि में अन्य कोई ग्रन्थ प्राचीन भारतीय-इतिहास में प्राप्य नहीं है।

हरिभद्र के पूर्व जैन, वैदिक, बौद्ध- इन तीनों की परम्परा से जुड़े हुए आचार्यों में से किसी ने भी सर्वदर्शनों की निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करने की अपेक्षा से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी।

सभी ने अपने ग्रन्थों में केवल सभी दर्शनों का खण्डन करने के लिए ही अपनी लेखनी चलाई। इनमें कुछ जैनाचार्य भी हैं, जैसे- आचार्य समंतभद्र, सिद्धसेन दिवाकर³⁸। मल्लवाडी का नयचक्र भारतीय-दर्शन का अद्वितीय ग्रन्थ कहलाता है, किन्तु इसका भी मुख्य लक्ष्य सर्वदर्शनों को अपूर्ण बताकर अनेकांतवाद की स्थापना करना ही है।³⁹

पं. दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में 'नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना तार्किक दलीलों से हो सकती है, उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी तर्कों के द्वारा हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है, अतएव जब अनेकान्तवाद में ये दर्शन आदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है, अन्यथा नहीं।'⁴⁰

नयचक्र का मूल हेतु यही है- स्वपक्ष का मंडन एवं परपक्ष का खण्डन, अतः हरिभद्र के पूर्व तक सभी दर्शनों के मन्तव्यों को लेकर समन्वय-भाव से लिखा हुआ कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

38 डॉ. सागरमल जैन, पंचाशक प्रकरण (भूमिका), पृ. XXII

39 डॉ. सागरमल जैन, पंचाशक प्रकरण (भूमिका), पृ. XXII

40 डॉ. सागरमल जैन, पंचाशक प्रकरण (भूमिका), पृ. XXII

वैदिक-परम्परा में भी 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' ग्रन्थ का उल्लेख है, जिसे शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित कहा जाता है, किन्तु कई विद्वानों द्वारा इसे प्रथम शंकराचार्य द्वारा रचित मानने में सन्देह प्रकट किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली नयचक्र से मिलती-जुलती है, लेकिन जहाँ नयचक्र अन्तिम मत का भी प्रथम मत से विरोध कर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहीं सर्वसिद्धान्त-संग्रह वेदान्त को एकमात्र अन्तिम सत्य स्वीकार करता है।

हरिभद्र के 'षड्दर्शन-समुच्चय' में निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण की जो विशेषता है, वह निष्पक्ष भाव 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' के प्रतिपादन में नहीं देखा जाता है।

बौद्धिक-परम्परा में दूसरी मान्यता प्राप्त माधवाचार्य (ई. 1350) के 'सर्वदर्शन-संग्रह' का नाम आता है। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सत्य है।

'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' व सर्वदर्शन-संग्रह षड्दर्शन-समुच्चय से पूर्णतः भिन्न है, क्योंकि हरिभद्र ने 'षड्दर्शन-समुच्चय' में सर्व मतों को समानता देते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध दर्शनों का प्रस्तुतिकरण किया है, जबकि वेदान्त के इन दोनों ग्रन्थों ने स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के खण्डन की ही शैली अपनाई है।

वैदिक-परम्परा में तीसरी प्रमुख कृति 'मधुसूदन सरस्वती' द्वारा रचित 'सर्वदर्शन-कौमुदी' है। इस ग्रन्थ का विषय-क्रम एवं शैली अन्य ग्रन्थों से भिन्न है, यद्यपि ग्रन्थ में भी वैदिक व अवैदिक-दर्शनों का समावेश किया है।

इसमें अवैदिक-दर्शनों में बौद्ध, जैन एवं चार्वाक-दर्शन की चर्चा की है तथा वैदिक-दर्शन में न्याय, वैशेषिक और सांख्य-दर्शनों को समाविष्ट किया है, परन्तु इस ग्रन्थ की शैली खण्डनात्मक है।⁴¹ अतः इन सभी ग्रन्थों में हरिभद्र के 'षड्दर्शन-समुच्चय' जैसी निष्पक्षता एवं उदारता नहीं मिलती है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार वैदिक-परम्परा के वाचस्पति मिश्र एकमात्र अपवाद-स्वरूप लेखक रहे हैं, जिन्होंने वैशेषिक-दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों पर निष्पक्ष ग्रन्थ लिखें। इनसे पहले किसी वैदिक लेखक ने यह कार्य नहीं किया। वाचस्पति मिश्र ने नया मार्ग अपनाते हुए स्वतंत्र रूप से प्रत्येक दर्शन का समर्थन किया, किन्तु वह भी हरिभद्र के समान उदारता प्रकट नहीं कर पाए।

41 डॉ. सागरमल जैन, पंचाशक प्रकरण (भूमिका), पृ. XXIII

इनके ग्रन्थों में न तो चार्वाक-दर्शन को स्थान मिला, न ही जैन और बौद्ध-दर्शन को, जबकि हरिभद्र ने वैदिक, अवैदिक- सभी दर्शनों का समावेश अपने ग्रन्थ में परिचय के लिए कर दिया, अतः वाचस्पति मिश्र भी हरिभद्रसूरि की तुलना में समकक्ष नहीं रह पाए।⁴²

जैन-परम्परा में लिखे गए दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में हरिभद्रसूरि के पश्चात् सर्वप्रथम 'सर्वसिद्धान्त-प्रवेशक' प्राप्त होती है, परन्तु इसका रचनाकार कौन है, यह आज तक भी अज्ञात है, फिर भी यह तथ्य है कि यह कृति किसी जैनाचार्य की है, क्योंकि मंगलाचरण में "सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं"- ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।⁴³ पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली हरिभद्र के 'षड्दर्शन-समुच्चय' का ही अनुसरण करती है। अन्तर मात्र इतना है कि हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में एवं विस्तृत है, जबकि सर्वसिद्धान्त प्रवेशक गद्य में तथा संक्षिप्त है।

इसके अतिरिक्त जैन-दार्शनिकों के ग्रन्थों में दूसरा स्थान जिनदेवसूरि के शिष्य आचार्य 'जिनदत्त सूरि' (वि. सं. 1265) के 'विवेक विलास' नामक ग्रन्थ का आता है।⁴⁴ इस ग्रन्थ के आठवें उल्लास में 'षड्दर्शन विचार' नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य, शैव और नास्तिक दर्शन का परिचयात्मक विवरण हरिभद्र के 'षड्दर्शन-समुच्चय' के समान है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय, वैशेषिकों का समावेश किया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय का अनुकरण करना ही है, क्योंकि जिनदत्तसूरि ने भी न्यायदर्शन के देव के रूप में शिव की ही स्तुति की है-

“अक्षपादमते देवः सृष्टि संहार कृच्छिव” ॥13॥

यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की तरह परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रतिपादित करता है।

इसके अतिरिक्त जैन दार्शनिक-ग्रन्थों की परम्परा में राजशेखर (वि. 1265) कृत 'षड्दर्शन-समुच्चय' का विवरण प्राप्त होता है। राजशेखर व हरिभद्र द्वारा कुछ अन्तर से एक ही विषय में, एक नाम से, एक समान ग्रन्थ की रचना की गई, परन्तु दोनों ग्रन्थों की जब तुलना करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दर्शनों के प्रस्तुतिकरण में हरिभद्र ने षड्दर्शन-समुच्चय में जैन-दर्शन को चौथा स्थान दिया है, जबकि राजशेखर जैन-दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। वे दर्शनों के क्रम में निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं अपना सके।

42 षड्दर्शन-समुच्चय की प्रस्तावना, पृ. 7

43 समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ. 43

44 षड्दर्शन-समुच्चय की प्रस्तावना, पृ. 13

पं. दलसुख मालवणिया के अनुसार राजशेखर के समय का ही एक अन्य दर्शन-ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंग कृत 'षड्दर्शन-निर्णय' है। इसमें छः ही दर्शनों का निरूपण किया है, पर हरिभद्र जैसी उदारता का उसमें अभाव ही है। इसके अतिरिक्त सोमतिलकसूरि कृत 'षड्दर्शन-समुच्चय की वृत्ति के अन्त में' अज्ञात कृति अंकित है।⁴⁵ इसमें भी षड्दर्शनों का विवरण दिया है, किन्तु अन्य में अन्य दर्शनों को निम्न कोटि में तथा जैन-दर्शन को प्रथम श्रेणी में रखा गया है।

इस प्रकार जैन व जैनेतर परम्परा में दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे गए, जिन सभी का उल्लेख करना असम्भव है। यद्यपि कुछ प्रमुख दार्शनिकों के ग्रन्थों से हरिभद्र के ग्रन्थ की तुलना करने पर यही सिद्ध हुआ कि आचार्य हरिभद्र एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से व प्रामाणिकता के साथ दर्शन-क्षितिज पर अपना स्थान अद्वितीय बनाकर सभी को विस्मित रखा है।

3. सभी धर्मों के विद्वानों के प्रति आदर-भाव एवं आदरसूचक शब्दों का व्यवहार-
 प्रायः सर्व धर्म के विद्वानों की यह प्रवृत्ति रही कि स्वपद का मण्डन करना व परपक्ष का खण्डन करना और यह परम्परा अर्वाचीन ही नहीं, अपितु प्राचीनकाल से ही चली आ रही है, अतः हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं रहे फिर भी हरिभद्र इन सबसे भिन्न हैं। क्योंकि हरिभद्र की यह विशेषता रही कि उन्होंने किसी भी दर्शन की समीक्षा करते हुए यह गलती नहीं की कि अन्य दर्शनों पर व्यंग्यात्मक शब्दों की बौछार की हो, या अशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया हो, या उनके विद्वानों का उपहास किया हो। हालांकि, हरिभद्र ने धूर्त्ताख्यान में व्यंग्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है, पर परवर्ती ग्रन्थों में ऐसा प्रतीत नहीं होता है। लगता है कि उनकी बढ़ती विद्वत्ता के साथ-साथ उनकी प्रज्ञा व विवेक भी निखरता रहा और यही कारण है कि पक्षपात की बुद्धि उनके ग्रन्थों में स्थान नहीं ले पाई।

अन्य विद्वानों के प्रति हरिभद्र के हृदय में जो आदरभाव था, और उन भावों की अभिव्यक्ति हमें स्पष्ट रूप से 'शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय' में देखने को मिलती है। हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखाते हैं-

यं श्रुत्वा सर्व शास्त्रेषु प्रायस्तव विनिश्चयः ।

जायते द्वेषशमनः स्वर्ग सिद्धि सुखावहः ॥

अर्थात्, शास्त्र को सुनकर अथवा पढ़कर अन्य सभी दर्शनों के प्रति द्वेष का शमन कर, निश्चय से तत्त्वबोध को प्राप्त कर स्वर्ग- अपवर्ग के सुख को प्राप्त करेंगे।

इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य पुरुष एवं महामुनि के रूप में सम्बोधित करते हैं-

“कपिलो दिव्योहि स महामुनिः”, शास्त्रवार्त्ता-समुच्चय- 237

45 षड्दर्शन-समुच्चय की प्रस्तावना, संपा-प्रो. महेन्द्र कुमार, पृ. 19

इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत् महामुनि, सुवैध आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं-

“यतो बुद्धो महामुनिः सुवैधात्, शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 465, 466

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का स्पष्ट परिहास करते हैं, न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा और बैल या महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर, हरिभद्र अपने विपक्षियों के लिए अर्हत्, महामुनि जैसे आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं।

‘शास्त्रवार्ता-समुच्चय’ में आचार्य हरिभद्र ने दार्शनिकों की समालोचना की है, पर पूरे ग्रन्थ में कहीं भी यह देखने को नहीं मिलता है कि हरिभद्र ने अपने भाषा-संयम की सीमा का कहीं उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्परा के दार्शनिकों के साथ जो समादरभाव का व्यवहार किया है, वह जैन-जैनेतर परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों का अध्ययन कर उनमें समाहित सत्य व तथ्य को समझने का जो अभ्यास किया, वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा उनके उदारचेता व्यक्तित्व का उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक-दर्शन की समालोचना करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खंडन करते हैं, साथ ही जैन-सिद्धान्त में कर्म के जो रूप हैं- द्रव्यकर्म व भावकर्म, इनमें एक ओर भावकर्म को स्वीकार न करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समालोचना करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।⁴⁶

पं. सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों, अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन-कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।⁴⁷

इस प्रकार शास्त्रवार्ता-समुच्चय में आचार्य हरिभद्र व्यापक वैशेषिक-दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत्-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, परन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन-आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन किया है, वहीं हरिभद्र इसके महत्व को भी स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने अपनी प्रज्ञा से ईश्वरवाद की अवधारणा में भी सापेक्षिक सत्यता की खोज की। प्रथम तो यह

46 कर्मणो भौतिकत्वेन यद्देतदपि साम्प्रतम्।

आत्मनो व्यतिरिक्त तत् चित्र भावयतो मतम्॥

शाक्ति रूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।

अन्य तु वासनारूपं विधिफलं मतम्॥- शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 95-96

47 समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ. 53, 54

कि मानव-मन में पीड़ा के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी दिव्य शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके कारण अपने भीतर आत्मविश्वास को उत्पन्न कर सके।

पं. सुखलाल के शब्दों में- 'मानव-मन की प्रपत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए हरिभद्र ने ईश्वर-कर्तृत्ववाद की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।'⁴⁸

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि जिस व्यक्ति ने विचारों की निर्मलता के फलस्वरूप आध्यात्मिक-विकास की सर्वोच्च भूमिका को प्राप्त कर लिया हो, वह असाधारण आत्मा है और वही सिद्ध ईश्वर या पुरुषोत्तम है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है।⁴⁹ साथ ही, हरिभद्र यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक आत्मा मूलतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा है व अपने भविष्य का स्रष्टा भी है। इस अपेक्षा से वह ईश्वर भी है और कर्ता भी है।

इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी सही है।⁵⁰

हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, परन्तु वे प्रकृति को जैन-दर्शन में स्वीकृत कर्मप्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं -

“सत्य न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है, क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य पुरुष एवं महामुनि हैं।”⁵¹

“शास्त्रवार्ता-समुच्चय” में आचार्य हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, परन्तु उनकी दृष्टि इनमें निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करती है। वे इस विषय पर कथन करते हैं कि महामुनि और अहंत् बुद्ध लक्ष्यविहीन होकर किसी भी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते हैं। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश हमारे भीतर पनप रही पदार्थों के प्रति आसक्ति के निवारण के

48 समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ. 55

49 ततश्चेश्वर कर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम्।

सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्ध बुद्धतः॥

ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रत सेवनाम्।

यतो मुक्तिस्तवस्तस्याः कर्ता स्याद्गुणभावतः॥

तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः।

तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यान् न दुष्यति॥-शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 203-205

50 परमेश्वर्य युक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः।

स च कर्तृत्वं निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः॥-शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 207

51 प्रकृति चापि सन्यायात्कर्म प्रकृति मेव हि।

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।

कपिलोक्त त्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः॥-शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 232, 237

लिए ही दिया है, क्योंकि जब पदार्थों का क्षणभंगुर स्वरूप समझ में आ जाए, तब हमारी आसक्ति पदार्थों के प्रति गहरी नहीं हो सकती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य-पदार्थों के प्रति लालसा, तृष्णा की भूख को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सारे ही पदार्थ मन के विकल्परूप हैं और उनका बाह्य-स्वरूप प्रतिभास है, तो उनके प्रति तृष्णा पैदा ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की क्षणिकता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया।⁵²

हरिभद्र की दृष्टि में बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद के सिद्धान्त का मूल ध्येय यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति जो तृष्णा है, उसका प्रहण हो।

हरिभद्र अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की विचारणा भी सत्य है तथा विषमता के निवारण के लिए एवं समभाव की साधना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।⁵³

अद्वैत विरोधी भावनाओं का निषेध करता है, अर्थात् द्वेषभाव का उपशमन करता है, अतः इसे भी असत्य नहीं कह सकते। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र अद्वैत-वेदान्त के ज्ञान के मार्ग को भी समीचीन ही स्वीकार करते हैं।⁵⁴

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक विचारधाराओं की समीक्षा समालोचना के लिए न होकर उन दार्शनिक-परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए है। उनकी भावना, किसी की भी धारणाओं को ठेस न पहुँचे, वही हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट किया है कि उपर्युक्त ग्रन्थ का ध्येय अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना व सत्य का बोध कराना है।⁵⁵ जैनतर परम्पराओं का जैन-दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन ईमानदारी से करते हुए वे आलोचक के रूप में नहीं, अपितु सत्यान्वेषी के रूप में ही परिलक्षित होते हैं।

4. इतर दर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन एवं निष्पक्ष व्याख्या- प्रारम्भ में भारतीय साहित्यकारों में तार्किक-दर्शन के क्षेत्र में अध्ययन की प्रवृत्ति अल्प ही थी। उनकी दृष्टि में दर्शन

52 अन्ये त्वभिद घत्वेवमेतदास्थानि वृत्तये।

क्षणिकं सर्वमेवोति बुद्धनोक्तं न तत्त्वतः।।

विज्ञानमात्रमध्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये। -

विनेयान् काश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः- शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 464, 465

53 अन्य व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।

अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः।।- शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 550

54 ज्ञानयोगादतो भुक्ति रिति सम्यग् व्यवस्थितम्।

तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत्।।-शास्त्रवार्ता-समुच्चय- 579

55 यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धि सुखावहः- शास्त्रवार्ता-समुच्चय-2

अनुभूतिविषयक रहा, विवाद का विषय नहीं। जब बादरायण, जैमिनी आदि दिग्गज दार्शनिकों ने सूत्र-ग्रन्थों की रचना की, तो दर्शन में समीक्षा एवं तर्क को स्थान मिला। अपने दर्शन के मत को प्रबल तर्कों से पुष्ट कर अन्य दर्शनों के मतों का खण्डन करने की ही प्रवृत्ति विकसित हुई, परिणाम यह भी हुआ कि खण्डन हेतु अनेकों बार अन्य दर्शनों की मान्यताओं को भ्रान्त रूप से भी प्रस्तुत किया गया, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने ऐसे पक्षपात से परे होकर समन्वयात्मक-दृष्टि अपनाते हुए, अन्य दर्शनों का गहन अध्ययन कर उनमें निहित तथ्य को ग्रहण करने का प्रयास किया। किसी भी दर्शन के सत्य को सभी के सामने वही परोस सकता है, जिसकी दृष्टि ईमानदार हो, निष्पक्ष हो, समन्वय की हो। हमें ये सारी विशेषताएँ हरिभद्र में दृष्टिगत होती हैं और यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र ने केवल जैन-ग्रन्थों की ही टीकाएँ नहीं लिखी, अपितु जैन-ग्रन्थों पर भी टीकाएँ रचीं। यह उनकी समन्वयात्मक-दृष्टि का ही परिचय है।

उन्होंने अन्य दर्शनों के जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं, उनमें दो प्रसिद्ध हैं- 'दिङ्नाग का न्याय-प्रवेश' और 'पतंजलि का योगसूत्र'। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने पर उनकी तटस्थ मानसिकता का ज्ञान हो जाता है।

यह उनके गम्भीर अध्ययन का ही परिणाम था, क्योंकि गम्भीर अध्ययन के बिना एवं तटस्थता के बिना न तो वे समीक्षा कर सकते, न किसी को समझा सकते और न ही दोनों दर्शनों में समन्वय स्थापित कर सकते। अपने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही उन्होंने नवीन दृष्टिकोण से योगबिन्दु, योगशतक, योगविंशिका, योगदृष्टि-समुच्चय आदि ग्रन्थों की रचना की।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र जैन एवं जैन-दर्शनों के गम्भीर अध्येता एवं व्याख्याता थे। आचार्य हरिभद्र ने अपने समय के सभी दर्शनों का गम्भीर अध्ययन कर, निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाते हुए, उन सभी दार्शनिकों के विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की।

5. पौराणिक मिथ्या धारणाओं का निर्भीक रूप से खण्डन- आचार्य हरिभद्र उदारशील, समन्वय-साधक दीर्घदृष्टा हैं। यह हमें उनके जीवन के अध्ययन से, उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के अध्ययन से एवं उनके द्वारा किए गए अन्य दर्शनों के समीक्षात्मक अध्ययन से ज्ञात हो गया, लेकिन उनकी उदारदृष्टि आदि का अर्थ यह नहीं है कि वे गलत धारणाओं का भी पोषण करें, अन्धविश्वासों को प्रश्रय दें, अथवा मिथ्या मान्यताओं को भी पुष्ट करें। उन्होंने अपनी प्रज्ञा से अन्य परम्पराओं में निहित धार्मिक सत्त्यों को स्वीकार किया, पर अन्धविश्वासों को कहीं भी आश्रय नहीं दिया। उन्होंने उसका खुलकर खण्डन किया।

मिथ्या धारणाओं के खण्डन की दृष्टि से इनकी दो रचनाएँ अन्यन्त महत्वपूर्ण हैं- 'धुर्ताख्यान' एवं 'द्विजवदन-चपेटिका'।

धुर्ताख्यान में उन्होंने पौराणिक-परम्परा में पल रही मिथ्या धारणाओं का, अंधविश्वासों का सचोट खण्डन किया है। पौराणिक-परम्परा में गलत विकसित जिन अवधारणाओं का उन्होंने खण्डन किया, वे निम्न हैं-

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण का उत्पन्न होना, उनकी बाहु से क्षत्रिय का, पेट से वैश्य का तथा पैर से शूद्र (क्षुद्र) का उत्पन्न होना। इसी प्रकार, कुछ पौराणिक मान्यताएं शंकर द्वारा अपनी जटाओं में गंगा को समा लेना, वायु द्वारा हनुमान का आविर्भाव, सूर्य द्वारा कुन्ती से कर्ण का प्रादुर्भाव, हनुमान द्वारा पूरे पर्वत को उठा लेना, वानरों द्वारा पुल बाँधना, श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को एक अंगुली पर उठाना, पार्वती का जन्म हिमालय से होना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या से इन्द्र द्वारा अनैतिक रूप से यौन-संबंध स्थापित करना, हनुमान का अपनी पूँछ से लंका को घेर लेना, अण्डे से जगत् की उत्पत्ति, बलराम का माया द्वारा गर्भ-परिवर्तन, अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्रपान आदि। ऐसी अनेक पौराणिक अविश्वसनीय घटनाएं हैं, जिन पर हर समय संदेह बना ही रहता है कि ये कैसे सम्भव हैं।

उन्होंने धुर्ताख्यान ध्यान में दो धूर्तों के माध्यम से इन कपोल कल्पनाओं की समीक्षा की, संवाद और व्यंग्यात्मक रूप से उन पर कटाक्ष किया कि यदि पुराणों में कथित ये घटनाएं सत्य हो सकती हैं, तो फिर अन्य क्यों नहीं?

इस प्रकार 'द्विजवदन-चपेटिका' में भी उन्होंने ब्राह्मण-परम्परा में मान्य मिथ्या विश्वासों का एवं वर्ण-व्यवस्था का निर्भीक होकर शिष्ट शैली में सचोट खण्डन किया है। यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य हरिभद्र ने अन्य दर्शनों का अध्ययन करके विभिन्न दार्शनिकों की धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकृति देकर उन्हें धार्मिक-क्षेत्र में स्थान दिया, फिर भी उनमें निहित अंधविश्वासों का अध्ययन करके स्वयं अंधविश्वासी नहीं बने, अपितु निर्भीक होकर सत्य को सामने रखा। अतः, हम यह कह सकते हैं कि हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं और मिथ्या धारणाओं के प्रबल समीक्षक भी हैं।

6. दर्शन व धर्म-जगत् में तर्क व बुद्धिमान को स्थान- हरिभद्र में धार्मिक श्रद्धा है, परन्तु वे श्रद्धा को तर्क-विरोधी स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि तर्क के बिना श्रद्धा का कोई मूल्य नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'लोकतत्त्वनिर्णय' में यह स्पष्ट किया है कि न तो उन्हें महावीर से राग है और न उन्हें कपिल से द्वेष है-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्ति मद्भवन् यस्य-तस्य कार्यः परिग्रहः।⁵⁶

56 लोकतत्त्वनिर्णय 38, हरिभद्रसूरि

हरिभद्र का मानना है कि सत्यान्वेषी एवं साधना के राही को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सभी दर्शनों की समीक्षा करना चाहिए और उसमें जो तर्कसंगत लगे, उसे अपना लेना चाहिए।

हरिभद्र बुद्धिवाद से उत्पन्न होने वाली बुराइयों के प्रति भी सजग रहे हैं। वे निर्भीक होकर अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं को महत्व देने के लिए ही नहीं करना चाहिए, अपितु सत्य के अन्वेषण के लिए ही करना चाहिए।

“आग्रहीवत निनीषती युक्ति तत्र यत्र मतिर्निविष्टा।

निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मति रिति निवेशम्।।”

दुराग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति का उपयोग वही करता है, जहाँ अपनी बात सिद्ध करना चाहता हो, अथवा किसी के मत को खण्डित करना चाहता हो, जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति की यह सोच होती है कि जो युक्तिसंगत है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा तर्कसंगत से उसकी व्याख्या कर देना चाहिए, परन्तु तर्क व युक्ति का प्रयोग किसी के पृथक्करण के लिए नहीं करना चाहिए। आचार्य हरिभद्र इस सम्बन्ध में सिद्धहस्त थे। उन्होंने युक्ति का प्रयोग किसी को खण्डित करने में नहीं किया, किसी को पृथक्-भूत करने के लिए नहीं किया, अपितु सत्य के अन्वेषण के लिए ही किया, अतः हम उनके लिए यह बात निश्चित रूप से कह सकते हैं। डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में- “हरिभद्र शुष्क तार्किक न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक है।”

7. कर्मकाण्डों की तार्किक समीक्षा- आचार्य हरिभद्र ने कपोल कल्पित विचारों को कभी महत्व नहीं दिया। वे इसे एक बुराई ही मानते थे। उस युग में धर्म के अन्दर कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। उन्होंने इन कर्मकाण्डों को निषेध करने के लिए किसी भी प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं की है, अपितु धर्म साधना में स्थान लिए हुए इन कर्मकाण्डों को सदाचार, चारित्रिक-निर्मलता, आध्यात्मिक-पवित्रता के साथ जोड़ने का अवश्य प्रयास किया है।

आचार्य हरिभद्र सदैव अन्धश्रद्धा से मुक्त होने का आग्रह रखते थे। उनके समस्त साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वे साध्वाचार एवं व्यवहार में भी सदाचार पर बल देते थे।

जैन-परम्परा में साधना के क्षेत्र में साध्य को प्राप्त करने के लिए साधना के तीन अंगों को स्वीकार किया जाता है- दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान (प्रज्ञा), चारित्र (शील)।

आचार्य हरिभद्र ने भी धर्म-साधना में इन तीन सूत्रों को स्वीकार किया है, परन्तु उनका यह मानना है कि श्रद्धा को अंधश्रद्धा नहीं बनाना चाहिए और ज्ञान को कुतर्क का दर्जा नहीं देना चाहिए न चारित्र को बाह्य कर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं- “जिनेश्वर पर मेरी श्रद्धा का कारण राग-भाव नहीं है, अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है।” इस प्रकार वे श्रद्धा के साथ बुद्धि को जोड़ते हैं, पर उन्हें निरातर्क इष्ट नहीं है। आचार्य हरिभद्र तर्क के विषय में स्पष्ट कहते हैं कि तर्क वाक्जाल है, जो वस्तुतः एक विकृति है और यह विकृति हमारी श्रद्धा को धूमिल करती है, हमारी मानसिक शान्ति भंग करती है।

ज्ञान के अभिमान का जो आविर्भाव होता है, वह भाव-शत्रु है, इसलिए मुक्ति के इच्छुक को तर्क के वाक्जाल से अपने को मुक्त रखना चाहिए।⁵⁷ आचार्य हरिभद्र सम्यक्ज्ञान व तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अतः हरिभद्र की दृष्टि में केवल तार्किकता अध्यात्म के विकास में बाधक ही है।

शास्त्रवार्ता- समुच्चय में उन्होंने धर्म के दो विभाग किए हैं- 1. संज्ञानयोग 2. पुण्य लक्षण।⁵⁸

ज्ञानयोग, वस्तुतः शाश्वत सत्यों की अपरोक्ष अनुभूति है, इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है।

हरिभद्र अन्धश्रद्धा से मुक्त होने के लिए तर्क एवं युक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं, पर उनकी दृष्टि में तर्क एवं युक्ति को सत्य का अन्वेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनपरक, क्योंकि खण्डन-मण्डनात्मक तर्क व युक्ति साधना के क्षेत्र में बाधक है। इस सत्य की विस्तार से चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में की है।⁵⁹

इसी प्रकार वे धार्मिक आचार को भी कर्मकाण्ड से पृथक् रखना चाहते हैं। यद्यपि हरिभद्र ने कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ ‘प्रतिष्ठाकल्प’ लिखा है, परन्तु पं. सुखलाल संघवी इस कृति को आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित मानने में संदेह प्रकट करते हैं।

श्रावक एवं मुनि-जीवन से सम्बन्धित आचार्य हरिभद्र के साहित्य को देखने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे धार्मिक-जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देते हैं तथा आचार सम्बन्धी जिन बातों का उन्होंने उल्लेख किया है, वह भी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक-निर्मलता व कषायों के उपशमन के ही उद्देश्य से है।

उनका निर्देश है कि साधना के क्षेत्र में कषाय का उपशमन व समभाव की प्राप्ति का होना ही साधना का लक्ष्य होना चाहिए। उन्होंने धर्म के नाम पर बढ़ते थोथे कर्मकाण्डों एवं छद्म की आलोचना की है। उनकी दृष्टि में साधना का अर्थ है-

“अध्यात्मं भावना ध्यानं समतावृत्ति संक्षयः।

57 योगदृष्टिसमुच्चय, पृ. 87 एवं 88

58 योगदृष्टिसमुच्चय, पृ. 20

59 योगदृष्टिसमुच्चय, पृ. 86-101

मोक्षेण योजनाद्योग एव श्रेष्ठो यथोत्तरम्।।⁶⁰

9. **मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण-** आचार्य हरिभद्र न केवल जैन-धर्म से जुड़े, न कोई अन्य धर्म से, अपितु वे तो शुद्ध धर्म से जुड़े थे। जो व्यक्ति धर्म से जुड़ता है, तो उसकी दृष्टि सीमित नहीं होती है, सीमातीत होती है। एकपक्षीय नहीं होती है, सार्वभौम होती है। सत्य-असत्य में भेद करने में जिनकी दृष्टि निष्पक्ष होती है, उनके लिए सत्य जिस किसी धर्म में है, वही स्वीकार होता है। उनके लिए 'मेरा है, वही सच है'- ऐसा नहीं है। ऐसी ही प्रज्ञा आचार्य हरिभद्र में थी और यही कारण था कि उन्होंने निष्पक्ष होकर यह स्वीकार किया और स्पष्ट रूप से कहा कि मोक्ष सर्व धर्मों में सम्भव है, शर्त यही है कि समत्व की साधना हो। मोक्ष हमारे ही धर्म में है तथा हमारे धर्म की साधना से ही मुक्ति होगी, मुक्ति के लिए तुम्हें हमारा ही धर्म स्वीकार करना होगा, अन्य धर्म का पालन करते हुए तुम कदापि मोक्ष नहीं पाओगे, ऐसे संकीर्ण विचारों को वह कभी स्थान नहीं देते थे। मेरे ही धर्म में मुक्ति है- ऐसी अवधारणा को वे भ्रान्त ही मानते थे। उन्होंने कहा है -

ना साम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्कवादे च तत्त्ववादे।

न पक्षसेवा श्रयेन मुक्ति कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।।

अर्थात् मोक्ष न श्वेत परिधान में है, न परिधान के त्याग में, अर्थात् मोक्ष न श्वेताम्बरत्व में है न दिगम्बर में, न तर्कवाद में मोक्ष है, न तत्त्वचर्चा में, न किसी शास्त्र-विशेष पर विश्वास रखने से मोक्ष है, न किसी व्यक्ति-विशेष की परिचर्चा करने से मोक्ष तो वास्तव में कषायों के उपशमन से है, अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करने में ही मोक्ष है। अपने पराए के भेद को समाप्त करने में मोक्ष है।

वे सत्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि मोक्ष का हेतु कोई धर्म विशेष या सम्प्रदाय-विशेष नहीं है। मोक्ष का आधार तो समन्वययोग की साधना है, कषायों को शान्त करना है, रोग-द्वेष से उपरत होना है। यही मोक्ष पाने की विधि है।

जो उसी वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है, फिर वह किसी भी धर्म से जुड़ा हो, फिर चाहे वह श्वेताम्बर-धर्म का हो, चाहे दिगम्बर-धर्म का, चाहे वो बौद्ध हो, या वैष्णव, उनके शब्दों में -

सेयंबरो या आसंबरो या बुद्धो वा अहव अण्णो वा।

समभाव भावि अप्पा लहइ-मुखं न संदेहो।।

वास्तव में, यह सब आचार्य हरिभद्र की उदारदृष्टि का ही परिचय देता है। वे सत्य को कहने में कहीं नहीं चूके, उनके लिए सत्य सत्य है, फिर वह किसी धर्म में हो और वही स्वीकार्य है। ऐसी उदार-दृष्टि विरलों में ही मिल पाती है।

10. साधना के क्षेत्र में आराध्य का नाम-भेद महत्वपूर्ण नहीं- आचार्य हरिभद्र के विचारों के अनुसार धर्म कोई भी हो, धर्म के प्रवर्तक कोई भी हों, धर्म के शास्त्र कोई भी हों, धर्म-उपासना की विधि कुछ भी हो, पर धर्मांराध्य को लेकर किसी भी प्रकार से भेद-भाव न हो, किसी भी प्रकार का विवाद न हो, किसी भी प्रकार से तनाव न हो और न मनमुटाव हो। उनका मानना है कि धर्म की ओट में हम किसी भी प्रकार से बखेड़ा खड़ा न करे। अपने ही आराध्य को सर्वोत्कृष्ट मानकर शेष धर्मों के आराध्यों में दोष देखना या द्वेष रखना गलत है। 'लोकतत्त्वनिर्णय' में वे कहते हैं -

यस्य अनिखिलाश्च वोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

वास्तव में, जिनके राग-द्वेष समाप्त हो गए, जिन्होंने मोह के पाश को तोड़ दिया है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना जिनके हृदय में समा गई है, जगत् के सर्व प्राणी उनके मित्र हैं, अंशमात्र भी जिनके मन में भेद नहीं है, जिनमें सर्व गुण विद्यमान हैं, फिर वे ब्रह्मा हो कि विष्णु या जिन हो, चाहे किसी भी धर्म के इष्ट हों, उनमें कोई भेद नहीं है। सभी धर्म व दर्शनों में परमतत्त्व, परमसत्ता परमात्मा को राग-द्वेष से उपरत मोह से मुक्त, आसक्ति से रहित, विषय-वासनाओं से विरत, परम कारुणिक माना है, परन्तु हमारी बुद्धि परम आत्मस्वरूप में न लगकर नाम के भेद में लग गई और यही नाम-भेद सभी के बीच विवादास्पद स्थिति पैदा करता है। नाम-भेद मुक्ति के लिए कोई महत्व नहीं रखता। जहाँ भेद-विकल्प है, वहाँ मोक्ष नहीं है, अतः नाम-भेद की वास्तविकता समझ में आना चाहिए नाम से ही यदि मोक्ष मिल जाता, तो जीवन में सद्गुणों को लाने के लिए प्रयास करने की जरूरत ही नहीं होती, अतः नाम का कोई महत्व नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय में लिखा है-

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।

शब्देस्तद् उच्चतेड्न्वर्वाद् एक एवैवभादिभिः।

अर्थात्, सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द-भेद है, उनका अर्थ अथवा उनका तात्पर्य तो एक ही है।

यह वास्तविकता है कि नाम-भेद तब तक ही रहता है, जब तक हम उस आध्यात्मिक-शक्ति की अनुभूति नहीं कर पाते। जब व्यक्ति वीतराग, वीतद्वेष, वीततृष्णा की भूमिका को स्पर्श करता है, तब उसकी दृष्टि में, उसके विचारों में, उसके अन्तर-भावों में नाम-भेदरूपी विवाद ही तिरोहित हो जाता है, अर्थात् उसकी दृष्टि में यह सारा भेद निरर्थक हो जाता है। वास्तव में, भिन्न-भिन्न आराध्यों में जो नामगत

भिन्नता है, वह भाषागत है, वह स्वरूपगत भिन्नता नहीं है। जो नामों में उलझते हैं, वे सत्य की अनुभूति से एवं मुक्ति से दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार, इतना अधिक उदारवादी व्यक्तित्व का धनी आचार्य हरिभद्र के अतिरिक्त अन्य कोई मिले, यह असम्भव है। अपनी इन विशेषताओं की वजह से भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र अनुपम हैं, अद्वितीय हैं।

अनेकता में एकता का सूत्र

धर्म के क्षेत्र में विभिन्न धार्मिक-ग्रन्थों में, धार्मिक-क्रियाओं में विभिन्नता के पाठ पढ़ने को मिलते हैं, फिर भी उनमें अनेकता के साथ एकता के सूत्र भी होते हैं, पर विरले ही लोग होते हैं, जो अनेकता में एकता को खोज लेते हैं। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि सम्यग्दृष्टि थी, इसी कारण वे विविधता में भी एकता के दर्शन कर सके। उन्होंने इन विविधताओं में भी सम्यक् समाधान पा लिया। वास्तव में, समस्याएं उन्हें घेरती हैं जिनकी दृष्टि ही सम्यक् नहीं है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि सम्यक् थी, अतः समस्या उनके लिए समस्या नहीं बनी, अपितु समाधान बनी, शाप नहीं बनी, अपितु वरदान बनी और यही कारण था कि हरिभद्र साधना के क्षेत्र में विविधता के स्थान पर समन्वय स्थापित करने में ही लगे रहे। वे यह समझते थे कि विचार-वैभिन्य हो सकता है, क्रियाएं भिन्न हो सकती हैं, व्याख्या करने की शैली में भिन्नता हो सकती है, मोक्ष-मार्ग के रास्ते अनेक हो सकते हैं पर मंजिल तो एक है, मोक्ष तो एक है, लक्ष्य तो एक है।

वे लिखते हैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार पद्धतियाँ बाह्यतः भिन्न-भिन्न होकर तत्त्वतः एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वतः भेद नहीं होता है।⁶¹

आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जो भिन्नताएँ हैं, वे मुख्य रूप से दो आधारों पर टिकी हैं। एक, साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी, नामों की भिन्नता के आधार पर। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेशों में जो भिन्नता है, वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है।

जिस प्रकार वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों के आधार पर भिन्न-भिन्न औषध प्रदान करता है, उसी प्रकार ऋषिगण भी भवरूपी रोग का हरण करने के लिए साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की अलग-अलग विधियाँ बताते हैं।⁶²

61 योगदृष्टि समुच्चय- 107-109

62 चित्रा तू देश नै तेषां स्याद् विनेयान् गुण्यतः

यस्तादेते महात्मानो भवव्याधि मिषगवराः ॥-योगदृष्टि समुच्चय, 134

वे पुनः कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होती है, तत्त्वतः वह एक ही होती है।⁶³

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार वस्तुतः, विषय-वासनाओं से आक्रान्त लोगों द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म-साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्न-चिह्न लगाना अनुचित ही है।⁶⁴

आचार्य हरिभद्र के विचारों से यह स्पष्ट है कि धर्म-साधना के क्षेत्र में बाह्य-आचारगत की विविधता अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

63 यद्वा तत्तत्रयापेक्षा तत्कालादि नियोगतः।

ऋषिभ्यो देशनाचिन्ना तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः-योगदृष्टि समुच्चय, 130

64 पंचाशक प्रकरण भूमिता- पृ. XXXIV

द्वितीय अध्याय : आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में मोक्षमार्ग

(अ) पंचाशक प्रकरण में मोक्षमार्ग के चार अंग—

1. सम्यग्दर्शन
2. सम्यग्ज्ञान
3. सम्यक्-चारित्र
4. सम्यक्-तप

(ब) सम्यग्दर्शन का अन्तरंग एवं बाह्य स्वरूप —

1. सम्यग्दृष्टि श्रावक के कर्त्तव्य
2. चैत्यवन्दनविधि
3. पूजाविधि —द्रव्यपूजा और भावपूजा, द्रव्यपूजा क्यों करणीय है ?
4. प्रत्याख्यानविधि—प्रत्याख्यान की आवश्यकता
5. स्तवनविधि
6. जिनभवन निर्माणविधि—जिनभवन निर्माण में होने वाली हिंसा के पक्ष में हरिभद्र तर्क
7. जिनबिम्ब प्रतिष्ठाविधि—प्रतिष्ठाविधि के आगमिक एवं लौकिक आधार
8. जिनयात्रा—विधि — जिनयात्रा और जैनधर्म की प्रभावना का प्रश्न

(स) सम्यग्ज्ञान का स्वरूप —

1. पंचज्ञान
2. प्रमाण, नय निक्षेप
3. भेद—विज्ञान

(द) सम्यक्-चारित्र —

1. मुनिधर्म
2. श्रावक धर्म

(इ) तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय— 2

खण्ड (अ)

मोक्ष—मार्ग और सम्यग्दृष्टि श्रावक के कर्त्तव्य

(अ) मोक्षमार्ग —

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध के इस द्वितीय अध्याय को हमने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम विभाग में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की विवेचना की गई है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य हरिभद्र मूलतः आगम परम्परा के अनुसरणकर्त्ता हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में मोक्षमार्ग के इन चार अंगों की चर्चा की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य उमास्वाति के पश्चात् मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही चर्चा की जाती रही और सम्यक्तप का अन्तर्भाव सम्यक्चारित्र में ही मान लिया जाता रहा। यही कारण है कि परवर्तीकाल के ग्रन्थों में त्रिविध मोक्षमार्ग का त्रिरत्नों के रूप में उल्लेख मिलता है, किन्तु आगमिक—परम्परा इससे भिन्न रही है। वैसे तो आगमों में द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध और पंचविध — ऐसे चार प्रकार से मोक्षमार्ग की विवेचना मिलती है। द्विविध मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का अन्तर्भाव सम्यग्ज्ञान में और सम्यक्तप का अन्तर्भाव सम्यक्चारित्र में करके ज्ञान और क्रिया— ऐसे द्विविध मोक्षमार्गों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैन—दर्शन में चाहे द्विविध मोक्षमार्ग हो, चाहे त्रिविध, चतुर्विध और पंचविध, किन्तु उनमें अंगों को एक—दूसरे से निरपेक्ष नहीं माना गया है। उनके समन्वय में ही मोक्षमार्ग कहा गया है, इसलिए द्विविध मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए यही कहा गया है कि 'क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया मोक्षमार्ग नहीं हैं, अपितु सम्यग्ज्ञान से युक्त क्रिया ही मोक्षमार्ग है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में इसकी विशेष चर्चा नहीं की है। उन्होंने आवयकनिर्युक्ति की टीका में इस बात की विस्तार से चर्चा करते हुए यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान से युक्त क्रिया ही मोक्षमार्ग है।

जहाँ तक त्रिविध मोक्षमार्ग का प्रश्न है, मुख्य रूप से इसकी चर्चा उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ही प्रारम्भ होती है, यद्यपि आगमों में स्थानांग,समयावांग आदि कुछ ग्रन्थों में त्रिविध मार्ग का उल्लेख मिल जाता है।

विद्वानों की मान्यता है कि स्थानांग, समयावांग आदि ग्रन्थ तत्त्वार्थ से परवर्ती हैं और उससे प्रभावित भी हैं। इस सन्दर्भ में भी हमें यह जान लेना चाहिए कि अकेला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं हैं— ये तीनों समवेत रूप से ही मोक्षमार्ग हैं, इसलिए तत्त्वार्थ—सूत्र के प्रथम सूत्र में यह कहा गया है कि ये तीनों अलग—अलग मोक्षमार्ग नहीं हैं,अपितु इन तीनों से मिलकर ही मोक्षमार्ग बनता है। जहाँ तक आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों का प्रश्न है, उन्होंने उत्तराध्ययन की आगमिक—परम्परा का अनुसरण करते हुए मोक्षमार्ग के इन चार अंगों का विवेचन किया है। पंचाशक—प्रकरण में हमें सम्यक्चारित्र के साथ—साथ सम्यक्तप की भी विस्तृत विवेचना मिलती है। 'तपविधि' नामक एक स्वतन्त्र पंचाशक उन्होंने लिखा है। जहाँ तक पंचविध मोक्षमार्ग का प्रश्न है, तो उसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार —ऐसे पांच अंग माने जाते हैं। जो लोग चतुर्विध मोक्षमार्ग की चर्चा करते हैं, वे वीर्याचार का अन्तर्भाव सम्यक्तप में कर लेते हैं। आचार्य हरिभद्र ने अपने इस पंचाशक—प्रकरण में वीर्याचार की कोई चर्चा नहीं की है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र अपने इस ग्रन्थ में चतुर्विध मोक्षमार्ग की ही चर्चा करते हैं।

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि के स्वरूप और सम्यग्दृष्टि के तथ्यों की विस्तार से विवेचना की है। वहाँ सम्यग्ज्ञान की विस्तृत चर्चा नहीं मिलती है, यद्यपि उनके दर्शन और न्याय—सम्बन्धी ग्रन्थों में पंचज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप और भेदविज्ञान की भी चर्चा मिलती है।

मोक्षमार्ग के समग्र विवेचन के लिए हमने यहाँ हरिभद्र के ग्रन्थों के आधार पर ही पंचज्ञान प्रमाण, नय, निक्षेप और भेदविज्ञान की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। जहाँ तक सम्यक्चारित्र का प्रश्न है, तो वह मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त होता है—

(1)श्रावकधर्म (2)मुनिधर्म।

श्रावकधर्म की चर्चा पंचाशक-प्रकरण में स्वतन्त्र रूप से मिलती है और उसमें यह भी बताया गया है कि श्रावकधर्म भी अपेक्षाभेद से दो प्रकार का है—

- (1) सम्यग्दृष्टि श्रावक के कर्तव्य रूप।
- (2) देशविरति श्रावक में कर्तव्य रूप।

देशविरति श्रावक के कर्तव्यरूप श्रावकधर्म का विवेचन हमने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में तृतीय अध्याय में और मुनिधर्म का विवेचन प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया है। इस अध्याय में सामान्य रूप से मोक्षमार्ग की चर्चा करने के उपरान्त इसके द्वितीय खण्ड में सम्यग्दृष्टि श्रावक के कर्तव्य की भी विस्तार से चर्चा की गई है। यहाँ सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की जा रही है। चूंकि पूर्व में ही पंचाशक-प्रकरण में सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्प की स्वतन्त्र पंचाशक में चर्चा की गई है, किन्तु सम्यग्ज्ञान की विशेष चर्चा इस शोधग्रन्थ के पंचाशक-प्रकरण में नहीं है, अतः उसकी चर्चा के हेतु हमें आचार्य हरिभद्र के अन्य ग्रन्थों एवं अन्य आचार्यों के ग्रन्थों को ही आधार बनाना पड़ता है। अग्रिम पृष्ठों में हम सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र के अनुसार 'सम्यग्दर्शन' की चर्चा करेंगे।

सम्यग्दर्शन

हरिभद्रसूरि विरचित ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन की विशद व्याख्या मिलती है। सावयपण्णति व श्रावकधर्मविधि-प्रकरण- इन दो ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन का विशेष वर्णन है, किन्तु पंचाशक-प्रकरण में सम्यग्दर्शन का संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध होता है।

आचार्य हरिभद्र के विचारों में बारह व्रत धारण करने वाले श्रावक का मूल धर्म सम्यक्त्व है। जीव जब तक सम्यक्त्व से रहित नहीं होता, तब तक वह प्रगाढ़ कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो पाता है।¹

हरिभद्र के अनुसार मिथ्यात्व का अभाव ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अधिकारी कौन है ? इस विषय में वे लिखते हैं कि वह श्रावक जो न स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करता है, न ही करवाता है और न ही करने वाले का अनुमोदन करता है, वही सम्यक्त्व

¹ सावयपण्णति - आचार्य हरिभद्रसूरि - पृ - 20

का अधिकारी होता है।¹ मोक्ष की अभिलाषा से किसी सरागी देव की आराधना करना, उसकी पूजा करना, उसे पुष्प-मालाएँ आदि चढ़ाना, उसका सत्कार करना, उसे मान-सम्मान देना इत्यादि मिथ्यात्व के लक्षण हैं।² वीतराग में लौकिक-देवों का आरोपण करना भी मिथ्यात्व है।³ इसी प्रकार अन्य तैर्थिकों यथा- तापस, शाक्य आदि वेशधारियों के साथ अति परिचय रखना, उनके वचनानुसार कार्य करना आदि भी मिथ्यात्व के ही रूप हैं।⁴ यथाछन्दकों की उत्सूत्रमयी धर्मकथा का प्रतिघात करने में असमर्थ होने पर दोनों कानों को बन्द कर लें, क्योंकि जब सामान्य साधु भी उनकी देशना को सुनकर जब मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर जीवादि तत्त्वों के स्वरूप से अनभिज्ञ एवं आगम-ज्ञान से रहित श्रद्धावान् श्रावक के लिए क्या कहना, अर्थात् वह तो निश्चय से मिथ्यात्व को प्राप्त होता ही जाता है।⁵ मिथ्यादृष्टि और स्वेच्छाचारी की आगमों की व्याख्या विसंवादी होने के कारण प्रकटतः संशय/संदेह उत्पन्न करती है, अतः उनके चैत्य, उपाश्रय आदि स्थान भी अनायतन, अर्थात् निवास के अयोग्य हैं, क्योंकि वे सम्यक्त्व की अशुद्धि या मिथ्यात्व के हेतु हैं।⁶

सावयपण्णति में आचार्य हरिभद्र ने सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'सम्यक्' शब्द के आगे भावार्थ में 'त्व' प्रत्यय होकर सम्यक्त्व शब्द निष्पन्न होता है। सम्यक् शब्द का अर्थ- प्रशस्त अथवा अविरोधी आत्मधर्म को सम्यक्त्व समझना चाहिए। वह सम्यक्त्व कर्मरूप उपाधि के भेद से तीन प्रकार का है⁷— (1) क्षायोपामिक (2) औपशमिक तथा (3) क्षायिक।

(1) क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व — आचार्य हरिभद्र के अनुसार जो मोहनीय-कर्म उदय को प्राप्त था, वह क्षीण हो चुका और जो उदय को प्राप्त नहीं है, वह उपशान्त है। इस प्रकार, क्षायोपशमिक-भाव में मोहनीय-कर्म के दलिक आंशिक रूप से क्षय को एवं

¹ धर्मविधि-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 15

² धर्मविधि प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 17

³ धर्मविधि प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 18

⁴ धर्मविधि प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 19

⁵ धर्मविधि प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 29

⁶ श्रावक विधि प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 30 पृ — 13

⁷ सावय पण्णति — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 43 पृ — 31

आंशिक रूप से उपशम अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसका नाम क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व है।¹

(2) औपशमिक-सम्यक्त्व— जो जीव उपशम-श्रेणी पर आरूढ़ होता है, उसे औपशमिक-सम्यक्त्व होता है। जिसने मिथ्यात्व के दलिकों के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यक्त्व-मिथ्यात्वरूप से तीन पुंज नहीं किए हैं, तथा मिथ्यात्व का क्षय नहीं किया है, तो वह औपशमिक-सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।²

(3) क्षायिक-सम्यक्त्व— दलिकों के क्षय हो जाने पर क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।³

मिथ्यात्व के तीन प्रकार के भेदों का प्रतिपादन करके आचार्य हरिभद्र ने अन्य दृष्टिकोण से भी सम्यक्त्व के भेद कहे हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) कारक, (2) रोचक, (3) दीपक आदि।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जैन मनीषियों ने सम्यग्दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में गहन चिन्तनपूर्वक विशद विवेचन किया है, साथ ही दर्शन को सम्यक् बनाने के लिए अधिक बल दिया है, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का प्रदायक एवं मूल है। कहा गया है कि 'धर्मदर्शनमूलक है।'⁴ चारित्रभ्रष्ट व्यक्ति कालक्रम में पुनः साधना करके मुक्ति को प्राप्त कर लेगा, परन्तु दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति किसी भी अवस्था में मुक्ति का वरण नहीं कर सकता है, क्योंकि चरित्र से भ्रष्ट व्यक्ति सम्यग्दर्शन के आधार पर पुनः सम्यक्चारित्र में स्थित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, परन्तु दर्शनभ्रष्ट व्यक्ति किस आधार पर पुनः सम्यक्दर्शन को प्राप्त करेगा? अतः दर्शनभ्रष्ट होने पर पुनः धर्ममार्ग में आने की संभावनाएँ धूमिल हो जाती हैं।⁵ सम्यग्दर्शन के अभाव में व्यक्ति की क्या स्थिति होती है, इसका सटीक वर्णन करते हुए

¹ सावयपण्णति — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 44 पृ 32

² सावयपण्णति — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 45 पृ 33

³ सावयपण्णति — आचार्य हरिभद्रसूरि — श्लोक — 48 पृ 35

⁴ कुन्दकुन्दाचार्य — दंसण मुलओ धम्मो — दर्शनपाहुड — श्लोक 2 पृ 3

⁵ कुन्दकुन्दाचार्य — दंसण भट्टो-भट्टो — दर्शनपाहुड — श्लोक 3 पृ 7

⁶ कुन्दकुन्दाचार्य — दंसण मुक्को या होह चल सवओ — भाव पाहुड

कहा गया है कि 'सम्यग्दर्शन के बिना व्यक्ति चलता-फिरता भाव है।'⁶ उत्तराध्ययन सूत्र में इसके महत्व को बतलाते हुए महावीर ने कहा है कि 'दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्रगुण नहीं होता, चारित्र के बिना निर्वाण नहीं होता।'¹

तत्त्वार्थसूत्र का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन शब्द से ही होता है—
"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्गः।"²

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र— ये तीनों मिलकर ही मोक्ष के साधन हैं, फिर भी तीनों में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्थान है, अतः यह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म में दर्शन का कितना अधिक महत्व है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न सम्यग्ज्ञान होता है, न सम्यक्चारित्र ही। जैनदर्शन में आत्मिक-विकास के चौदह गुणस्थानों या सोपानों का विवरण है, जिसमें प्रथम सोपान मिथ्यात्व है, परन्तु मोक्ष-महल का प्रथम सोपान तो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए मिथ्यात्व को ही नष्ट करना होगा, क्योंकि मिथ्यात्व सम्यक्त्व में बाधक है। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक सम्यक्त्व नहीं होता और जब तक सम्यक्त्व नहीं होता, तब तक सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं होता, सन्मार्ग-कुमार्ग की पहचान नहीं होती, जीव-अजीव का मान नहीं होता है, अतः सर्वप्रथम मिथ्यात्व रूपी रोग का ही उन्मूलन करना होता है, मिथ्यात्व को ही जड़-मूल से उखाड़ फेंकना होता है। मिथ्यात्व के जाते ही जीव अनादिकालीन मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर सत्य के यथार्थ धरातल पर स्थित होता है और मोक्षरूपी साध्य तक पहुँचने के लिए अपनी यात्रा का प्रारम्भ कर लेता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्षमार्ग की यात्रा का प्रारम्भ ही नहीं होता है।

मोक्षमार्ग में प्रवेश की प्रथम शर्त यह है कि मिथ्यात्व और उसके सहकारी कारणों का जड़ से उन्मूलन हो, साथ ही मिथ्यात्व और उसके सहयोगी कारणों से सुरक्षा के उपायों की भी आवश्यकता होगी, जैसे — विमान की यात्रा के प्रारम्भ में प्रवेश हेतु यह जाँच करते हैं कि यात्री के पास किसी प्रकार का कोई शस्त्र तो नहीं है, सामान अधिक तो नहीं है, चोरी का माल तो नहीं है, अवैध सामान तो नहीं है। यदि नहीं है, तो विमान

¹ उत्तराध्ययन — म. महावीर स्वामी जी — 28/30

² तत्त्वार्थसूत्र — आ. उमास्वाति — 1/1

में प्रवेश की स्वीकृति है। यदि कानून के विरुद्ध कुछ है, तो धरपकड़ होती है, दण्ड होता है, वैसे ही यदि मोक्षमार्ग के यात्री के समीप मिथ्याभिनिवेश रूपी शस्त्र है, तीव्र कषायों की संहारक अग्नि है, मायारूपी शल्य है, निर्दयता की वृत्ति है और संसार के प्रति तीव्र आसक्ति आदि अवैध सामग्री है, तो मोक्षमार्ग की यात्रा में प्रवेश सम्भव नहीं है। ऐसा व्यक्ति संसार में ही परिभ्रमण करता रहेगा, अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जिनप्रणीत धर्मानुसार आचरण करना होगा, साथ ही मिथ्यात्व दलिकों का उपशम अथवा क्षय करना होगा, ताकि उनका उदय या वेदन ना रहे। सम्यग्दर्शन प्रकट होने के दो हेतु हैं—

(1) निसर्ग (2) अधिगम— “तन्निसर्गादधिगमाद्वा।”¹

(1) निसर्ग—सम्यक्त्व — जो स्वतः उत्पन्न होता है।

(2) अधिगम—सम्यक्त्व — जो बाह्य निमित्तों (प्रवचन, परम्परा, दर्शनादि) से होता है।

सम्यग्दर्शन अन्तर का अध्यवसाय (परिणाम) है, फिर भी उसके लक्षणों से प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है, जैसे— पर्वत पर धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। सम्यक्त्व की पहचान भी उसके निम्नलिखित लक्षण द्वारा होती है—

‘उवसम संवेगो चि अनिव्वेओ तहय होई अणुकंपा।

अत्थिक्कंचिय पंच य हवति सम्मत लिंगाइं ।।²

1. उपशम — अनन्तानुबन्धी क्रोधादि का उपशमन तथा मिथ्याभिनेवेश (हठाग्रह) आदि का न होना।
2. संवेग — मोक्ष की तीव्रतम अभिलाषा का होना तथा सांसारिक—राजससत्ता, सम्पत्ति, विषयसुखादि सभी अनित्य हैं। इनके परिणाम अतिशय दुःखद हैं। मात्र मुक्तावस्था ही अनन्त सुखमय है, ऐसे विचारों का होना ही संवेग है।
3. निर्वेद — पापभीरुता तथा संसार के भोगादि विषयों के प्रति आसक्ति का अभाव ही निर्वेद है।

¹ तत्त्वार्थसूत्र — आचार्य उमास्वाति — 1/3

² जिनकुशलसूरि विरचित श्री चैत्यवन्दन कुलकवृत्ति अनु. प्र. सज्जन श्री पृ. 26

4. अनुकम्पा — मन में अनुकम्पा होना। अनुकम्पा के स्व-पर भेद से दो प्रकार हैं— स्वानुकम्पा (स्वदया) एवं परानुकम्पा (परदया)। भोगोपभोग, स्वागत-सत्कार, यश, कीर्ति आदि की लिप्सा छोड़कर यह आत्मा किस प्रकार स्व-स्वभाव में स्थित रहे और नरक तिर्यच आदि संसार-भ्रमण से मुक्त बने— यह स्वानुकम्पा है। अन्य प्राणियों को दुःखों से मुक्त कर सुखी कैसे बनाऊँ, ऐसी आन्तरिक कारुण्य-भावना का नाम परानुकम्पा है।

5. आस्तिक्य — सर्वज्ञप्रणीत जीवाजीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष— इन नवतत्त्वों में श्रद्धा करना आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व के उपर्युक्त पाँच लिंगों (लक्षणों) की ओर क्रम से बढ़ता हुआ जीव पूर्णता को प्राप्त करता है। सर्व-प्रथम क्रोधादि से विरत होता है, फिर पापों से भयभीत रहता है, बाद में स्व-पर अनुकम्पा में रत होता है। तत्पश्चात् जिन-प्रणीत आत्मधर्म में स्थित होता है। यही मोक्ष है, यही भव-यात्रा का विराम है, यही विश्राम है, अर्थात्— उपशम प्रारम्भ है, आस्तिक्य पूर्ण है।

उपशम साधना है एवं आस्तिक्य साध्य है। वास्तव में सम्यग्दर्शन आत्मा की अनुपम निधि है। जगत् की ऋद्धि-सिद्धि को पाना सुलभ है, पर अतिचाररहित सम्यक्त्वरूपी निधि को पाना दुर्लभ है और सम्यक्त्व को प्राप्त करने के बाद सम्यक्त्व में स्थिर रहना तो अत्यधिक दुर्लभ है, इसलिए सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए उपाय बताए गए हैं। जो सम्यक्त्व करते हैं, वे पाँच कारण हैं — (1) स्थिरता (2) कुशलता (3) प्रभावना 4) भक्ति और (5) तीर्थ-सेवा।

1. स्थिरता — सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म पर दृढ़ विश्वास रखना तथा दृढ़ता के साथ उसका पालन करना।

2. कुशलता — सम्यग्दृष्टि साधक को धर्मशास्त्रों की पूर्ण रूप से जानकारी रखना चाहिए, जिससे धर्म-पतित को बोध देकर पुनः धर्म में स्थिर किया जा सके तथा धर्म पर कोई आक्षेप करे, तो उसका सम्यक् रूप से निवारण कर सके।

3. प्रभावना — सम्यग्दृष्टि साधक को हमेशा जिनशासन की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। कभी भी कोई यदि जिनधर्म के प्रति शंका करे, तो उसका सम्यक् समाधान करना चाहिए।

4. भक्ति -- सम्यग्दृष्टि साधक को हमेशा देव, गुरु, धर्म की भक्ति में तल्लीन होना चाहिए।

5. तीर्थ—सेवा — सम्यग्दृष्टि साधक को हमेशा साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविक, चतुर्विध—संघरूप तीर्थ की सेवा करना चाहिए, जिससे किसी को जिनशासन के प्रति ग्लानि के भाव न आए।

जो सम्यक्त्वी जीवमृत्यु सम्मुख दिखने पर भी सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है, वह इन्द्र आदि के द्वारा भी वन्दनीय है—

‘ इंदो वित्ताण पणमइ ही लंतो मियय इडि वित्थाइं ।

मरणंते हु पते सम्मत जे न छडडति ।।’¹

सम्यक्त्व मलिन न हो, वह निर्मल बना रहे, इसलिए सम्यक्त्व के चार अंग बताए गए हैं—

(1) परमार्थ (2) सुदृष्ट परमार्थ—सेवना (3) व्यापन्न—वर्जना (4) कुदर्शन—वर्जना।

1. परमार्थ—संस्तव — जीवन के परम लक्ष्य को पहचानना।

2. सुदृष्ट परमार्थ—सेवना — जिनधर्म—प्ररूपक तीर्थकर एवं धर्म—प्रसारक श्रमण—वर्ग के प्रति भक्ति—भाव का होना।

3. व्यापन्न—वर्जना — मिथ्यादृष्टि वालों के सम्पर्क का त्याग करना।

4. कुदर्शन—वर्जना — मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्तियों का अनुसरण नहीं करना। सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए ये चारों अंग अखण्ड रहें। इन चारों में से एक अंग का भी भंग सम्यग्दर्शन के अंग—अंग के समान है।²

¹ जिनकुशलसूरि विरचित श्री चैत्यवन्दन कुलकवृत्ति अनु. प्र. सज्जनश्री पृ. — 27

² वसतिमार्ग प्रकाशक जिनेश्वरसूरि प्रणीत पंचलिंडी प्रकरणम् — अनुवाद—डॉ हेमलता बोलिया, डॉ डी.एस. बया —
आमुख पृष्ठ — XXXI

³ आचारांगसूत्र — सम्मतदंसीण करोतिपाव — 1/3/2

सम्यग्दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह सम्यग्दृष्टि साधक को पाप से मुक्त रखता है। भगवान् महावीर के द्वादशशांती के प्रथम अंग आचारांग में यही कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाप नहीं करता है।³

व्यक्ति के व्यवहार से यह अनुभव हो जाता है कि यह सम्यग्दृष्टि है, या नहीं ? जो जगत् के सर्वजीवों को अपनी आत्मा की तरह मानता है। जो कार्य स्वयं पसन्द नहीं है, वह कार्य दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहता, उसकी दृष्टि यथार्थ होती है, उसमें पक्षपात की प्रवृत्ति नहीं होती है, वह संसार में रहता तो है, परन्तु उसके भीतर संसार नहीं रहता है, अर्थात् वह संसार के भौतिक साधनों के प्रति आसक्त नहीं होता है, भोगों से निर्लिप्त होता है, संसार के सुखों-दुःखों के बीच रहते हुए भी उनसे उदासीन रहता है, तीव्र कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है, आवेश के प्रसंग में अपने पर नियन्त्रण रखता है, संसार के सुख-दुःखों को ज्ञाता दृष्टाभाव से देखता है, उनसे प्रभावित भी नहीं होता है और उनके कारण सुखी-दुःखी भी नहीं होता है, प्रतिपल अपने विवेक को जागरूक रखता है। जड़-चेतन के भेद को भली-भांति समझता है, अपमान और सन्यास में सम होता है। संसार की क्षणिक को जानकर आत्म-चिंतन में रत रहता है, सदा सदाचारी रहता है।

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति –

‘जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्।’¹

अर्थात् जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है, या जानना मात्र— यह ज्ञान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है।

गणि समयसुन्दर के अनुसार “यस्ततत्त्वागम स ज्ञानम्।”² अर्थात् जिससे तत्त्व का अवगमन हो, वही ज्ञान है।

¹ सवार्थसिद्धि – आ. पूज्यपाद – 1/1/8 पृ. – 5

² विशेषशतकम् – समयसुन्दर का विचारपक्ष – मुनिचन्द्रप्रभासागर – पृ. – 461

णाति णाणं – अवबोहमेत्तं ।

खओवसमियखाइएण वा भावेण जीवादिपदत्था

णज्जति इति णाणं ।

णज्जति एतम्हि त्ति णाणं , णाणभावे जीवोत्ति ।³

जानना ज्ञान है। क्षायोपशमिक, अथवा क्षायिकभाव से जीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं। जिसके होने पर जानना सम्भव होता है, वह ज्ञान है। ज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का बोध है। उसकी सहायता से ही हम अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर सकते हैं।¹ ज्ञान के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है, कि –

“ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञान परिसमाप्यते ॥”

विश्व में ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। हे पार्थ ! विश्व में जितने भी अच्छे कर्म हैं, वे सभी कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञान पाने के बाद सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं।²

जैनदर्शन में ज्ञान का अच्छा महत्व आंका गया है। ज्ञान—गुण के कारण ही आत्मा को अन्य द्रव्यों से अलग बताया गया है। ज्ञान—गुण के उपयोग के बिना वीर्य (शक्ति) का स्फुरण नहीं होता है, अतः वीर्य—गुण को भी ज्ञान की आवश्यकता है।³

‘णाणं पयासओ’, अर्थात् ज्ञान द्रव्यस्वरूप का प्रकाशक है।⁴ वास्तव में ज्ञान कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणिरत्न से भी बढ़कर है। इसकी समानता करने वाला जगत् में अन्य कोई नहीं है।

समयसुन्दरजी के अनुसार – ज्ञान संसार में उत्कृष्ट वस्तु है, ज्ञान मुक्ति का दाता है, ज्ञान दीपक है, ज्ञान लोचनों का सुविलास है, ज्ञान लोक और अलोक का प्रकाशक है।⁵

³ नन्दीचूर्णि – जिनदासगणिकृत – पृ. – 13

¹ जैनदर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान – संयमज्योति – ज्ञान का महत्व – पृ. – 60

² श्रीमद् भागवद्गीता – श्रीकृष्ण

³ देवचन्द्र चौबीसी सानुवाद – प्र. सज्जनश्री – 7/4 पृ. – 74

⁴ मूलाचार – आचार्य वट्टेकर – 10/8

⁵ सज्जनजिनवन्दनविधि – ज्ञानपंचमी वृहत्स्तवन – गाथा 3–41 पूर्वाद्ध

सम्यग्ज्ञान — ज्ञान के बिना सम्पूर्ण विश्व शून्य है, ज्ञानियों के ज्ञान के अभाव में जीवन को पशुवत् बताया है। "ज्ञान बिना पशु ए नर जाने किशुं ए।" ⁶ इन पंक्तियों से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान के अभाव में व्यक्ति पशुतुल्य माना गया है, अर्थात् वह उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं कर पाता। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि 'पढमंनाणं तवो दया'— अर्थात् प्रथम ज्ञान के पश्चात् दया।⁷ ऐसे ज्ञान को सभी दर्शन स्वीकार करते हैं, ज्ञान को आत्मा अस्तित्व के आधार के रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि ज्ञान सभी में है। व्यक्ति ज्ञान के द्वारा ही अपना भला-बुरा, हित-अहित जान सकता है। ज्ञान से ही ज्ञात कर सकता है कि त्याग करने योग्य क्या है ? जानने योग्य क्या है ? और ग्रहण करने योग्य क्या है ?

जैनदर्शन ज्ञान को महत्व देता है, परन्तु कौन से ज्ञान को स्थान देता है ? जो शाश्वत का बोध कराता हो, वह ज्ञान है। ज्ञान तो सत्य का बोध करवाता है, जैसे पुत्र को पुत्र ही कहता है, माँ को माँ ही कहता है, पर आत्मा को आत्मा कहना, जो स्वप्रकाशक हो, ज्ञानावरणीय-कर्म का क्षयोपशम — क्षय करने वाला हो, वही 'सम्यग्ज्ञान' है।

सम्यग्ज्ञान एक ऐसा प्रकाश है जिसके आने पर कोई भी शक्ति उसके प्रकाश का प्रतिघात नहीं कर सकती है। सूर्य का प्रकाश अन्य समय एवं अल्पक्षेत्र तक सीमित है, किन्तु सम्यग्ज्ञान का प्रकाश दीर्घसमय एवं सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

ज्ञान दो प्रकार का है — (1) सम्यग्ज्ञान और (2) मिथ्याज्ञान। इन्हें यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान भी कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान के मुख्यतः पाँच भेद प्रसिद्ध हैं — 1 मतिज्ञान 2 श्रुतज्ञान 3 अवधिज्ञान 4 मनः पर्यवज्ञान और 5 केवलज्ञान।

1. मतिज्ञान — पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

2. श्रुतज्ञान — पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

⁶ सज्जनजिनवन्दनविधि — समयसुन्दरजी — ज्ञानपंचमीस्तवनगाथा — 4

⁷ दशवैकालिक — गाथा 9 — अध्याय — 4

3. अवधिज्ञान — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लेकर जो ज्ञान—रूपी पदार्थों को जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।
4. मनःपर्यवज्ञान — जो ज्ञान ढाई द्वीप के संजी जीवों के मनोगत भावों को जान लेता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।
5. केवलज्ञान — जो ज्ञान समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक साथ जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

जैनदर्शन में पाँच ज्ञानों के मुख्यतः इक्यावन भेद होते हैं —

मतिज्ञान के अठाईस भेद ।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद ।

अवधिज्ञान के छः भेद ।

मनःपर्यवज्ञान के दो भेद ।

केवलज्ञान का एक भेद — इस प्रकार कुल इक्यावन भेद हुए।

उपर्युक्त पाँच ज्ञानों और उनके भेद—प्रभेदों की विस्तृत चर्चा आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुयोगद्वारवृत्ति और नन्दीवृत्ति में मिलती है। ज्ञातव्य है कि आचार्य हरिभद्र ने पंचज्ञानों का विस्तृत विवेचन नन्दीवृत्ति में ही किया है, चूँकि नन्दीसूत्र का मुख्य विषय पंचज्ञान है, अतः यह स्वाभाविक था कि नन्दीसूत्रवृत्ति में आचार्य हरिभद्र पंचज्ञानों का ही विवेचन करते। चूँकि हमारा शोध—विषय पंचाशक—प्रकरण है, अतः यहाँ उस सन्दर्भ में विशेष विवेचन आवश्यक नहीं है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के संक्षिप्त सामान्य स्वरूप का विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त पाँच ज्ञानों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान — ये तीन ज्ञान सम्यग्ज्ञान भी हो सकते हैं और मिथ्याज्ञान भी हो सकते हैं। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में सम्यग्दृष्टि जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सम्यक् होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान नियम से ही मिथ्या हैं। इस आधार पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान का सम्यक्त्व और

मिथ्यात्वदृष्टि में सम्यक् या मिथ्या होने पर निर्भर है। श्रुतज्ञान के विषय में आचार्य हरिभद्र ने आगमिक—परम्परा का अनुसरण करते हुए नन्दीवृत्ति में स्पष्ट रूप से कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत हो जाता है और मिथ्यादृष्टि जीव के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत बन जाता है। इस प्रकार आगमिक—परम्परा का अनुसरण करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि श्रुतज्ञान का सम्यक्त्व और मिथ्यात्व सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन पर आधारित है। जहाँ तक अवधिज्ञान का प्रश्न है, तो आगमों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव में यह अवधिज्ञान विभंगज्ञान के रूप में होता है और इसे मिथ्याज्ञान भी माना जाता है। आचार्य हरिभद्र नन्दीवृत्ति में इसी मत के पक्षधर हैं। जहाँ तक मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का प्रश्न है, तो ये दोनों ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है। ये ज्ञान स्वरूप से ही सम्यग्ज्ञान होते हैं।

प्रमाण —

जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से इस मत का प्रतिपादन किया है। यद्यपि इसके पूर्व जैन—आचार्य प्रमाण की परिभाषा इस रूप में देते हैं— जो ज्ञान स्व और पर का प्रकाशक है तथा अविस्वादी है— वादविवर्जित वह ज्ञान प्रमाण है। जैनदर्शन में प्रमाण और सम्यग्ज्ञान एक—दूसरे के पर्यायवाची ही रहे हैं और इसलिए लगभग 12वीं शताब्दी से जैन—आचार्यों ने प्रमाण की परिभाषा सम्यग्ज्ञान के रूप में ही दी है। संक्षेप में कहें, तो जो ज्ञान अपना और अपने विषय का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करता है, वह ज्ञान ही प्रमाण है और उसे ही सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी अनुयोगद्वारवृत्ति में प्रमाण की चर्चा की है। यद्यपि यह ज्ञातव्य है कि प्रमाण की इस चर्चा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र विविध अंगुल के स्वरूपों का विवेचन तथा पव्योपम आदि समय में विभागों का विवेचन करते हैं, किन्तु इसके पश्चात् उन्होंने भावप्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि की भी चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र के प्रमाण की इस चर्चा में भी हम आगमिक—परम्परा का ही अनुसरण पाते हैं, क्योंकि जहाँ परवर्ती जैन आचार्यों ने प्रत्यक्ष,

अनुमान और आगम तथा प्रकान्तरण से प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम— ऐसे छः प्रमाणों की चर्चा की है। सम्भवतः हरिभद्र के मत तक जैनदर्शन में इन छः प्रमाणों की चर्चा नहीं आती। इन छः प्रमाणों की चर्चा सर्वप्रथम न्यायावतार सिद्धर्षि टीका में ही मिलती है जो हरिभद्र के परवर्ती हैं।

न्यायावतार मूल में केवल तीन प्रमाणों की ही चर्चा है— प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, किन्तु आचार्य हरिभद्र अनुयोग द्वारा वृत्ति में — प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान — ऐसे चार प्रमाणों की चर्चा करते हैं।

ज्ञातव्य है कि सामयिक—परम्परा में न्याय—दर्शन का अनुसरण करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान की ही चर्चा मिलती है।

आचार्य हरिभद्र ने इस सन्दर्भ में आगमिक—परम्परा का ही अनुसरण किया है।

नय और निक्षेप — सम्यग्ज्ञान के क्षेत्र में जैनदर्शन में नय और निक्षेप की अवधारणा का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

वाक्य के अभिप्राय को सम्यक् रूप से समझाने की विधि नय कहलाती है और शब्द में अर्थ का आरोपण किस रूप में है— इसे समझाने की विधि निक्षेप कहलाती है। संक्षेप में कहें, तो शब्द का सम्यक् अर्थ निक्षेप—पद्धति से और वाक्य का सम्यक् अर्थ नय—पद्धति से जाना जाता है। आचार्य हरिभद्र ने नय और निक्षेप की चर्चा भी अपनी नन्दीवृत्ति और अपनी अनुयोगद्वारवृत्ति में की है।

यह ज्ञातव्य है कि आचार्य हरिभद्र ने नय की इस चर्चा में परम्परागत पाँच और सात नयों के अतिरिक्त ज्ञाननय और क्रियानय के स्वरूप का वर्णन भी स्पष्ट किया है और हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं, यह चर्चा ज्ञान और नय की उपयोगिता को सिद्ध करती है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य हरिभद्र ने नय और निक्षेप—पद्धति का उपयोग अपने शास्त्रवार्त्ता—समुच्चय में भी किया है और उसमें उन्होंने यह भी बताया है कि कौनसा दर्शन किस नय से सम्बन्धित है।

सात नयों को किस दर्शन में किस रूप से घटित किया जा सकता है, इसकी विस्तृत चर्चा हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ शास्त्रवार्ता—समुच्चय में मिल जाती है। दूसरी यह बात भी महत्वपूर्ण है कि आचार्य हरिभद्र ने विभिन्न दर्शनों का समावेश जैनदर्शन में किस—किस नय की अपेक्षा से किया है ? यह भी बताने का प्रयास किया है। इसी प्रकार नयों की यह चर्चा उनके न्याय—सम्बन्धी ग्रन्थों में, विशेष रूप से अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्तजयपताका आदि में भी मिलती है। चूंकि मेरा शोध—प्रबन्ध पंचाशक—प्रकरण पर आधारित है और पंचाशक—प्रकरण में प्रमाण, नय और निक्षेप की चर्चा विशेष रूप से नहीं मिलती है, अतः मैं इस विवेचन को यहीं विराम देती हूँ।

सम्यक्चारित्र

‘चारित्र’ शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है —

‘ चरतिचर्यतेदनेन चरण मात्रं वा चारित्रम्।’

अर्थात्, जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है, या आचरण करना मात्र, चारित्र है।

आत्मा से परमात्मा बनने के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही सम्यक्चारित्र आवश्यक है। उत्तराध्ययन के अनुसार ‘चररित्तकरं चारितं’, अर्थात् जिससे कर्म का चय होता है, अर्थात् कर्म रिक्त होते हैं, वह चारित्र है।¹

समयसुन्दर के अनुसार — ‘न केवल ज्ञानमेव दर्शनसहितं मोक्षकरं किन्तु चारित्रमपि दर्शन सहितं एवं मोक्षसाधकं भवति’,² अर्थात्, न केवल ज्ञानसहित दर्शन मोक्षसाधक होता है, अपितु सम्यक्त्व उपलब्ध होने पर भी क्रिया—रूप चारित्र की प्रवृत्ति ही सफल होती है।³ चारित्र सम्यक्त्व (दर्शन) और ज्ञान—दोनों का अनुगामी हुआ करता है।⁴

¹ उत्तराध्ययन — 28/33

² सप्तस्मरणवृत्ति — म. समयसुन्दर जी — चतुर्थ स्मरण — पृ. 31

³ सप्तस्मरणवृत्ति — म. समयसुन्दर जी — चतुर्थ स्मरण — पृ. 31

⁴ सप्तस्मरणवृत्ति — म. समयसुन्दर जी — चतुर्थ स्मरण — पृ. 32

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जो ज्ञानी पुरुष संसार के निमित्तों को दूर करने के लिए श्रमित है, उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के उपशम होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।⁵

मूलाचार के अनुसार अकषाय भाव चारित्र है।⁶ डॉ. सागरमल जैन के अनुसार चित्त अथवा आत्मा की वासनाओं की मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना सम्यक्चारित्र है।⁷

आचार्य हरिभद्र दीक्षाविधि-पंचाशक में कहते हैं कि मिथ्यात्व, क्रोध आदि को त्याग किए बिना चारित्र का अधिकारी नहीं होता⁸ और चारित्र के बिना मोक्ष भी नहीं होता। मोक्ष का अन्यतम कारण तो चारित्र ही है।

सम्यक्चारित्र— चारित्र आने पर ही रत्नत्रय की पूर्णता होती है और यह पूर्णता ही मोक्ष है। चारित्र का महत्व सभी धर्मों में मान्य है। यदि ज्ञान है, चारित्र नहीं है, तो उसका कोई महत्व नहीं, क्योंकि क्रिया को भी ज्ञान के साथ महत्व दिया गया है— “ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्ष।” ज्ञान के साथ क्रिया हो, तो ही मोक्ष है— यह क्रिया ही तो चारित्र है। ज्ञान है, पर चारित्र नहीं है, तो समझना कि जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्वका नाश हो गया। किसी ने कहा है— ‘धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया और चरित्र गया तो सबकुछ गया, अतः चारित्र ऐसा रत्न है कि यदि वह खो गया, तो जीवनपर्यन्त कुत्तों से भी गई बीती जिन्दगी है। यदि चारित्र रत्न है, तो वह संसार की ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ वस्तु है, जिसे व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता ? यहाँ तक कि वह मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। भगवान् महावीर से प्रश्न किया गया— ‘हे भगवन् ! चारित्रसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त कर सकता है ?’ तब भगवान् महावीर कहते हैं कि— चारित्रसम्पन्नता से जीव शैलेशी-भाव को प्राप्त करता है। शैलेशी-अवस्था को प्राप्त

⁵ सर्वार्थसिद्धि - आ. पूज्यपाद - 1/1/5-6 - पृ. 4 तथा 5

⁶ मूलाचार - आ. वट्टेकर - 10/9

⁷ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन - पृ. 84

⁸ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्र - 2/अध्याय

करने वाला अणुगार चार-केवली कर्म (अघाती-कर्म) का क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध-बुद्ध, मुक्त और परिनिवृत्त होता है और सर्वदुःखों का अन्त करता है।¹

ऐसा चारित्रवान् जगत् की सर्वोच्च सम्पदा को प्राप्त करता है, जिसे प्राप्त करने के बाद उसे कोई भी छीन नहीं सकता है, अतः सम्यक्चारित्र की साधना ही साध्य की उपलब्धि है।

सम्यक्चारित्र की इस सामान्य विवेचना के पश्चात् हम यह पाते हैं कि जैन-परम्परा में सम्यक्चारित्र को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। सम्यक्चारित्र के दो भेद विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं - (1) देशविरति चारित्र या श्रावकधर्म और (2) सर्वविरति-चारित्र, अर्थात् मुनिधर्म।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में इन दोनों ही धर्मों का स्वतन्त्र रूप से विभिन्न पंचाशकों में उल्लेख किया है।

श्रावक-धर्म के अन्तर्गत उन्होंने पुनः दो भेद किए हैं- (1)

सम्यग्दृष्टि-श्रावक और (2) देशविरत-श्रावक। सम्यग्दृष्टि-श्रावक के कर्तव्यों से सम्बन्धित मुख्य रूप से हमें निम्न पाँच पंचाशक मिलते हैं- 1

चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक 2. पूजाविधि-पंचाशक 3. जिनभवन-निर्माणविधि- पंचाशक 4. जिनबिम्ब-प्रतिष्ठीविधि-पंचाशक 5. जिनयात्राविधि-पंचाशक। इसके अतिरिक्त स्तवविधि-पंचाशक को भी इससे सम्बन्धित माना है।

यद्यपि इस पंचाशक का सम्बन्ध देशविरत-श्रावक और मुनिधर्म से भी है, इसलिए सम्यग्दृष्टि-श्रावक के कर्तव्य के रूप में हमने मुख्य रूप से इन पाँच पंचाशकों को ही आधार बनाया है और इस द्वितीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में हम इसकी चर्चा करेंगे।

जहाँ तक देशविरति-श्रावक-धर्म का सवाल है, आचार्य हरिभद्र ने श्रावकधर्मविधि-पंचाशक और उपासकविधि-पंचाशक में इसका विस्तृत विवेचन किया है। हमने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का तृतीय अध्याय इन्हीं दो पंचाशकों के आधार पर लिखा है।

¹ उत्तराध्ययन - 29 / 62

जहाँ तक मुनिधर्म का प्रश्न है, आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में पाँच प्रकार के चारित्र का उल्लेख किया है— 1. सामायिकचारित्र 2. छेदोपस्थापनीयचारित्र 3. परिहारविशुद्धिचारित्र 4. सूक्ष्मसंपरायचारित्र और 5. यथाख्यातचारित्र। आचार्य हरिभद्र ने ग्यारहवें साधुविधि-पंचाशक में इसकी विस्तृत विवेचना की है। प्रस्तुत पंचाशक-प्रकरण में जिनदीक्षाविधि, साधुधर्मविधि, साधुसामाचारीविधि, पिण्डविधानविधि, शीलांगविधानविधि, आलोचनाविधि, प्रायश्चित्तविधि, कल्पविधि, भिक्षुप्रतिभाकल्पविधि— ऐसे नौ पंचाशक मुनिधर्म से सम्बन्धित हैं। जिनका विस्तृत विवेचन हमने इसी शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया है। इस प्रकार, सम्यक्चारित्र के विस्तृत विवेचन के लिए हमने स्वतन्त्र अध्यायों की योजना की है।

सम्यक्तप — जैन-दर्शन के ग्रन्थों में अधिकांशतः त्रिविध मोक्षमार्ग का स्वरूप प्राप्त होता है, परन्तु जैन आगम साहित्य में चतुर्विध मोक्षमार्ग का प्रतिपादन प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन में चतुर्विध मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है— सम्मदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप।

सम्यक्तप से तात्पर्य है कि तप सम्यक् हो। सही प्रकार का तप ही सम्यक्तप है।

पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने तप का विशद वर्णन किया है, जिसका वर्णन आगे के अध्याय में यथाक्रम करेंगे, अतः यहाँ हम तप का वर्णन विशेष रूप से नहीं कर रहे हैं, संक्षिप्त में ही चर्चा करते हुए इसे विराम देंगे।

सम्यक्तप का आचरण ही मुक्ति का कारण बनता है। सम्यक्तप करना, करवाना और अनुमोदन करना— इन तीनों का परिणाम एक समान जानना चाहिए। मौलिक उपलब्धियों के हेतु किए गए तप का आचरण व्यर्थ हो सकता है, परन्तु सम्यक्तप का आचरण कभी भी व्यर्थ नहीं होता है। ज्ञातव्य है कि जिस तप में स्वार्थ होता है, हिंसा होती है, वह अज्ञान तप है, परन्तु सम्यक्तप इन सभी से परे होता है। पार्श्वनाथ के समय कमठ तप ही कर रहा था, अष्टापद तीर्थ पर तापस लोग तप ही कर

रहे थे, परन्तु यह तप मोक्षार्थ नहीं था, अपितु स्वार्थबुद्धि से युक्त था, प्रसिद्धि के लिए था, हिंसायुक्त था, अतः ऐसे तप को सम्यक्तप नहीं कहा जा सकता।

तप सम्यक् होना चाहिए। सम्यक्तप के लिए भी लोगों के प्रश्न रहते हैं कि तपस्या करके वरघोड़ा निकलवाना, अभिनन्दन करवाना, भेंट लेना— यह भी हिंसा ही है तथा इसमें धन का व्यर्थ व्यय होता है, किन्तु मेरी दृष्टि में इसे हिंसा-युक्त नहीं कह सकते हैं और न यह धन का व्यर्थ व्यय है। अभिनन्दन, वरघोड़ा— यह तो तप के अनुमोदन का, जिनशासन की प्रभावना का प्रसंग है। जैनधर्म की तपस्या की अनुमोदना से भी जीव कर्म की निर्जरा कर लेता है। यह धन शुभकार्य में सद्व्यय हुआ। यह उसका पुण्य समझो कि उसकी अर्जन की गई सम्पत्ति संसार के कचरे में नहीं लगी और रत्न-प्राप्ति में लग गई। धन का व्यर्थ व्यय वहाँ है, जहाँ हिंसा भी है और व्यर्थ व्यय भी, अतः सम्यक्तप की अनुमोदना के लिए ये सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। यह तो व्यक्ति के विवेक पर निर्भर है कि उसे तप करके स्वयं में प्रसन्न नहीं होना है, प्रशंसा के लिए तप नहीं करना है, अतः सम्यक्तप की आचरणा ही करनी चाहिए, क्योंकि सम्यक्तप ही आत्मविशुद्धि और मुक्ति का हेतु है।

आचार्य हरिभद्र ने सम्यक्तप के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ पंचाशक-प्रकरण में सम्यक्तपविधि नाम के पंचाशक की योजना की है। हमने इस शोध-प्रबन्ध में तपविधि नामक पंचम अध्याय की योजना की है और उसी में आचार्य हरिभद्र द्वारा वर्णित तपविधि का विस्तृत विवेचन किया है, अतः इस संक्षिप्त निर्देश के बाद हम आचार्य हरिभद्र के चतुर्विध मोक्षमार्ग की चर्चा को विराम देते हैं। इसी अध्याय के अग्रिम खण्ड में हम सम्यग्दृष्टि-श्रावक के कर्तव्यों की चर्चा करेंगे।

-----000-----

अध्याय— 2

खण्ड (ब)

सम्यग्दृष्टि—श्रावक के कर्त्तव्य

पंचाशक—प्रकरण के प्रथम प्रकरण का नाम 'श्रावकधर्मविधि' है। यूं तो श्रावक का अर्थ है— सुनने वाला, परन्तु जैन-ग्रन्थों में श्रावक के अनेक पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं, देश—विरत, संयमासंयमी, देशचारित्री, उपासक, श्रमणोपासक, देश—संयमी, आगारी, अणुव्रती, गृहस्थ, सागार, गोही, गृही, गृहमेधी आदि।¹

श्रावक शब्द के अर्थ को प्रकट करते हुए पं. आशाधर ने कहा है कि जो सम्यग्दृष्टि अष्ट मूलगुणों और बारह व्रतों का परिपूर्ण रूप से पालन करता है। पंच परमेष्ठियों के चरणों को शरण समझता है, प्रधान रूप से चार प्रकार की पूजाओं को करता है तथा भेद—विज्ञान रूपी अमृत को पीने की इच्छा रखता है, उसे श्रावक कहते हैं।²

रत्नशेखरसूरि के अनुसार जो दान, शील, तप और भाव की आराधना करता हुआ शुभयोगों से आठ कर्मों की निर्जरा करता है, श्रावकों के सान्निध्य में (श्रावक) सामाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार का आचरण करता है, वह श्रावक है।³

अभिधान राजेन्द्रकोश में श्रावक शब्द के तीन पद हैं—

'श्रा' शब्द श्रद्धान की सूचना करता है।

'व' शब्द सात धर्म—क्षेत्रों में बीज वपन की प्रेरणा देता है।

'क' शब्द क्लिष्ट कर्म को दूर करने का संकेत करता है।⁴

श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं”

श्रमण का उपदेश सुन लेने से वह श्रोता तो होता है, पर श्रावक नहीं हो जाता। उपदेश उसे श्रावक संज्ञा तभी प्राप्त होती है, जब वह व्रत अंगीकार करता है।¹

¹ उपासकदशांग — श्रावकाचार संग्रह — भाग — 4 — प्रस्तावना पृ. सं. 50

² सागारधर्मामृत — पं. आशाधर — 1/15 — श्रावकाचार संग्रह — भाग—2 पृ. सं.— 4

³ श्राद्धविधि प्रकरण — रत्नशेखर सूरि — 15 वीं शती

⁴ अभिधान राजेन्द्रकोश — 'सावय' शब्द — भाग—7 — पृ. सं. 779

¹ युवाचार्य मधुकरमुनि — उपासकदशांग, प्रस्तावना — डॉ. छगनलाल शास्त्री — पृ. सं. 21

श्रावक को परिभाषित करते हुए एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी लिखते हैं—
श्रावक, अर्थात् गुरुमुख से उपदेश सुनकर विचारपूर्वक आचार करने वाला श्रावक कहलाता है।² आचार्य आनन्दऋषिजी कहते हैं कि पाँच अपुत्रों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों— इन बारह व्रतों का जो निष्ठापूर्वक पालन करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है।³

नरेन्द्र प्रवचन—विधि में मुनि नरेन्द्रविजयजी (नवल) ने श्रावक शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है—

‘श्रा’, जो तत्त्व—चिन्तन द्वारा अपनी श्रद्धालुता को दृढ़ करता है, ‘व’, जो निरन्तर सत्पात्रों में धनरूपी बीज का वपन करता है, ‘क’, जो शुद्ध साधु सत्गुरुदेव की सेवादि क्रिया करके कर्म—धूलि को दूर फेंकता है, उसे उत्तम श्रावक कहते हैं।⁴ आचार्य हरिभद्र ने श्रावकधर्मविधि—प्रकरण में कहा है कि परलोक—हितकारी जिन—वाणी को जो सजगता से, सम्यक् प्रकार से श्रवण करता है, उसके अति तीव्र ज्ञानावरणीय घातीकर्मों का विनाश होने से उत्कृष्ट श्रावक कहा गया है।⁵

शाब्दिक—विवेचना करने पर श्रावक शब्द के कई अर्थ अभिव्यक्त होते हैं, परन्तु वास्तव में गृहस्थ—वर्ग में हर पुरुष को श्रावक शब्द से सम्बोधित किया जाता है, यहाँ तक कि जन्मते बच्चे के लिए भी श्रावक शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि आज एक श्रावक का जन्म हुआ, परन्तु जन्म लेने मात्र से ही कोई श्रावक नहीं होता। आप्तपुरुषों के द्वारा बताए गए मार्ग का जो आचरण करता है, वास्तव में वही श्रावक है, अतः श्रावक की योग्यता को प्राप्त कर उसे आचरण में लाने बिना श्रावक का सम्बोधन लगा लेना, यह भी मिथ्यात्व का ही परिचायक है।

श्रमण के लिए भी कहा जा सकता है कि वास्तव में वही श्रमण है, जो सर्वविरति का सम्पूर्ण रूप से जिनाज्ञानुसार पालन करता है। उसी प्रकार, श्रावक भी वही है, जो जिनाज्ञानुसार नैतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन जीता है। ये गुण जीवन में आत्मसात् होने पर ही अपने नाम के पूर्व श्रावक शब्द का विशेषण प्रयुक्त करना चाहिए।

² तीर्थकर 1985, श्रावकाचार विशेषांक(मार्च—अप्रैल) — पृ. सं. 33

³ तीर्थकर 1985, श्रावकाचार विशेषांक(मार्च—अप्रैल) — पृ. सं. 53

⁴ नरेन्द्र प्रवचनविधि — मुनि नरेन्द्रविजय ‘नवल’ — पृ. सं. 5

⁵ धर्मविधि—प्रकरण — हरिभद्रसूरि — गाथा—2

एक परिवार में चार डॉक्टर हैं। वहाँ पांचवां अनपढ़ है, अथवा बी.ए., एम. ए. किया हुआ है, पर उसे कोई भी डॉक्टर नहीं कहेगा, क्योंकि डॉक्टर बनने के लिए उसे भी डॉक्टर की पढ़ाई व परीक्षा उत्तीर्ण करना होगी। ठीक इसी प्रकार, श्रावक के घर में जन्म होने के कारण ही वह श्रावक की गिनती में आ जाए, ऐसा नहीं है। श्रावक के लिए श्रावक की भूमिका को आत्मसात् करना अपेक्षित है, अर्थात् उसे व्रतों को अपने आचरण में लाना होगा, क्योंकि ये गुण जन्मजात से नहीं मिलते हैं। इनके लिए पुरुषार्थ करना होता है। श्रावक होना या तो पूर्वसाधना का या वर्तमान के प्रबल पुरुषार्थ का परिणाम है। जैसे— कल्पसूत्र में संवत्सरी के प्रसंग पर अट्टमतप की महिमा बताते हुए नागकेतु का दृष्टांत दिया गया है। उनसे जन्म होते ही जातिस्मरण—ज्ञान से जानकर संवत्सरी—पर्व पर अट्टमतप की आराधना प्रारम्भ कर दी थी।¹

पंचाशक—प्रकरण में चैत्यवन्दनविधि

गृहस्थ—जीवन को व्यतीत करने वाले श्रावक एवं श्राविका—वर्ग के लिए चैत्यवन्दन आवश्यक है। श्रमण—दीक्षा अंगीकार करने पर भी श्रमण—श्रमणी—वर्ग के लिए भी जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा के सम्मुख चैत्यवन्दन करने का विधान है। चैत्यवन्दन की भी एक विधि है, जिसमें यह बताया गया है कि चैत्यवन्दन की क्रिया परमात्मा के प्रति करना चाहिए। विधि को समझने के पूर्व एक प्रश्न उपस्थित होता है कि चैत्य किसे कहते हैं ? चैत्य वह स्थान है, जिसमें —

‘चै’ चतुर्विध—संघ की स्थापना करने वाले

‘त्’ तीर्थकर

‘य’ यथार्थ रूप में विराजमान हैं, वह चैत्य है।

चैत्यवन्दनकुलक में चैत्य का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

“रात्रौ न नन्दिर्नबलिप्रतिष्ठे, नमज्जननभ्रमणं स्थस्य ।

नस्त्री प्रवेशो न च लास्य लीला, साधुप्रवेशो न तदत्र चैत्ये ॥”¹

¹ श्रीकल्पसूत्र — श्रीभद्रबाहुस्वामी अनुवादिका. प्र. सज्जन्श्री — पृ. सं. 14

¹ चैत्यवन्दनकुलकवृत्ति — श्रीजिनकुलसूरि — पृ. सं. 74

जहाँ जिस चैत्य में रात्रि के समय न नन्दी होती है, न पूजा-बलि आदि होती है, न स्नात्र-पूजा और स्थ-भ्रमण होता है, न स्त्रियाँ जाती हो, न नृत्य होता हो और न साधु जाते हों- ऐसे चैत्य को विधिचैत्य कहते हैं।

वर्तमान में रात्रि में स्त्रियों का जाना व नृत्य होना- इन दो कार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं होते हैं, अतः इन चैत्यों को अविधि चैत्य नहीं कह सकते हैं, क्योंकि काल के प्रभाव से लोगों के पास दिन में समय कम होने के कारण रात्रि में दर्शन व भक्ति का कार्यक्रम श्रद्धालुओं की सुविधा के लिए रखा जाता है, जिसका लक्ष्य तो लोगों को धर्म से जोड़ना है, अन्यथा वे अपने आराध्य से अपरिचित हो जाएंगे। इस कारण, रात्रि-भक्ति होते हुए भी ये चैत्यविधि- चैत्य ही कहलाते हैं।

प्रश्न है कि परमात्मा की प्रतिमा का ही चैत्यवन्दन क्यों किया जाता है ?

इसका उत्तर है कि क्योंकि परमात्मा चैत्यवन्दन के योग्य है। अर्हत् शब्द योग्यतासूचक है, अतः उस शब्द से ही उनकी योग्यता का ज्ञान हो जाता है कि वे वन्दन के योग्य हैं।

चैत्य में विराजमान प्रतिमा तीर्थकर या वीतराग परमात्मा की प्रतिमा है और तीर्थकर परमात्मा निर्यामक और दयानिधि हैं।

वीतराग - बीत गया राग जिसका, वह वीतराग है, अर्थात् जो अठारह दोषों से रहित है, उसके लिए न कोई अनुकूल है, न प्रतिकूल, न प्रिय है, न अप्रिय, न राग है, न द्वेषद्व, न किसी पर रोष है, न किसी पर दोषारोपण हैं, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में जो तटस्थ है, वह वीतराग है।

निर्यामक -- संसार-समुद्र से पार उतारने वाली चारित्ररूप नाव को चलाने वाले होने के कारण परमात्मा भव्य जीवों के लिए निर्यामकरूप है।¹

¹ देवचन्द चौवीसी - श्रीमद्देवचन्द - पृ. 20 , 140 , 240

² देवचन्द चौवीसी - श्रीमद्देवचन्द - पृ. 20 , 140 , 240

दयानिधि — वे करुणा के निधान होते हैं। दुःख देने वालों पर भी उनकी दया की दृष्टि होती है, अतः परमात्मा को दयानिधि का सम्बोधन दिया गया है।²

नित्यता — वे गुण और पर्याय के परिणमन में रमने वाले हैं, अर्थात् परभाव-पौद्गालिक शरीर आदि से निवृत्त होकर स्व-स्वभाव में नित्य रमण करने वाले होने के कारण वे प्रभु नित्यतायुक्त हैं।³

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि —

“तद्भावाव्ययत्वं नित्यत्वम्”, अर्थात् उक्त द्रव्य के भाव से दूर न होना ही नित्यत्व है।⁴

चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक को प्रारम्भ करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि पंचाशक की प्रथम गाथा में वीतराग परमात्मा महावीर को नमस्कार करके कहते हैं— “मैं उस चैत्यवन्दन-विधि का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करूंगा, जो उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य की अपेक्षा से तीन प्रकार की है और मुद्रा-विन्यास की अपेक्षा से भी सर्वथा शुद्ध है, अतः यह निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो।⁵

चैत्यवन्दन के तीन प्रकार — आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक के अन्तर्गत दूसरी गाथा में चैत्यवन्दन-विधि के तीन विभाग किए हैं, जो निम्न हैं—

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।⁶

जघन्य चैत्यवन्दन — केवल नवकार-मंत्र द्वारा वन्दन करना जघन्य वन्दना है।

³ देवचन्द चौवीसी — श्रीमद्देवचन्द — पृ. 20 , 140 , 240

⁴ तत्त्वार्थसूत्र — आचार्य उमास्वाति— 5/31

⁵ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 3/1 — पृ. 36

⁶ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 3/2 — पृ. 36

⁶⁰ पंचाशक प्रकरण — आचार्य हरिभद्र सूरि — 3/3 — पृ.सं. 36

मध्यम चैत्यवन्दन – पांच दण्डकसूत्रों और तीन स्तुतियों द्वारा वन्दन करना मध्यम वन्दना है।

उत्कृष्ट चैत्यवन्दन –सम्पूर्ण विधिपूर्वक, अर्थात् पांच दण्डकसूत्रों, तीन स्तुतियों और प्रणिधानपाठ से जो वन्दना की जाती है, वह उत्कृष्ट वन्दना है।

प्रवचन-सारोद्धार के अनुसार भी चैत्यवन्दन की विधि तीन प्रकार की है—
जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।¹

जघन्य चैत्यवन्दन – नमो अरिहंताणं— ऐसा बोलना जघन्य चैत्यवन्दन है।

मध्यम चैत्यवन्दन – चैत्यवन्दन दण्डक तथा स्तुतियुगल बोलना मध्यम चैत्यवन्दन है, अर्थात् पांच णमुत्थुणं, चार थुई के द्वारा जो वन्दना की जाती है, वह मध्यम चैत्यवन्दन है।

उत्कृष्ट चैत्यवन्दन – विधिपूर्वक पांच शक्रस्तवरूप उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है, अर्थात् पांच णमुत्थुणं, आठ थुई (स्तवन) एवं जयवीयरायसूत्रपूर्वक वन्दना करना उत्कृष्ट चैत्यवन्दन है।

चैत्यवन्दन भाष्य में भी प्रवचन-सारोद्धार के अनुरूप ही चैत्यवन्दन की विधि तीन प्रकार की बताई है।²

चैत्यवन्दन-कुलक में भी इसी प्रकार की विधि है,³ किन्तु वह हरिभद्र के पंचाशक से क्वचित् भिन्न है। हरिभद्र ने तीन स्तुतियों का ही उल्लेख किया है। हालांकि उस समय में त्रिस्तुतिक गच्छ प्रचलित नहीं था, पर परमात्मा के समक्ष देव-देवी स्तुति बोलने या न बोलने के सम्बन्ध में वाद-विवाद अवश्य प्रारम्भ हो गया था। अतः, कई आचार्य चार स्तुति का कथन करते थे एवं कई आचार्य तीन स्तुति का। फिर भी यह सिद्ध है कि तीन स्तुति बोलने पर भी उन्हें तीन स्तुति वाले अथवा त्रिस्तुतिगच्छ का सम्बोधन नहीं दिया गया था। इसी प्रकार, चार स्तुति करने वाले को

¹ प्रवचन-सारोद्धार – आचार्य नेमिचन्द्र- द्वार- 1/92 – पृ. 24

² चैत्यवन्दनभाष्य – देवेन्द्रसूरि – गाथा – 23

³ चैत्यवन्दनकुलक – श्री जिनकुशलसूरि – पृ. 96

चार स्तुति वाले नहीं कहा जाता था। उनकी जिस नाम से परम्परा चली आ रही थी, उसी नाम से कथन किया जाता था।

दूसरी तरह से वन्दना के तीन प्रकार – आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ अन्य प्रकार से भी चैत्यवन्दन की तीन प्रकार की विधि का प्रतिपादन किया है, अर्थात् अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणाम के भेद से वन्दना के तीन प्रकार हैं।

जघन्य चैत्यवन्दन- अपुनर्बन्धक का चैत्यवन्दन करना जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में से कोई हो, जघन्य ही होता है। अपुनर्बन्धक जघन्य वन्दन करे, तो वह वन्दन जघन्य तो है ही, यदि वह मध्यम और उत्कृष्ट वन्दन करें, तो भी वह जघन्य ही होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से उसके परिणामों की विशुद्धि कम होती है।

मध्यम चैत्यवन्दन- अविरतसम्यग्दृष्टि का जघन्यादि तीन प्रकार का वन्दन मध्यम ही होता है, क्योंकि उसके परिणामों की विशुद्धि अपुनर्बन्धक से अधिक और देशविरति आदि से कम- इस प्रकार मध्यम होती है। अतः, उसके चैत्यवन्दन मध्यम है।

उत्कृष्ट चैत्यवन्दन- देशविरत और सर्वविरत के जघन्यादि तीनों प्रकार के वन्दन उत्कृष्ट ही होते हैं, क्योंकि अपुनर्बन्धक और अविरतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इन दोनों के परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं।

पुनः, अपुनर्बन्धक आदि प्रत्येक के आधार पर भी वन्दना तीन प्रकार की हो सकती है। अपुनर्बन्धक जघन्यादि तीन प्रकार के वन्दन में से कोई भी वन्दन यदि मन्द उल्लास से करें, तो मध्यम वन्दन और यदि उत्कृष्ट उल्लास से करें, तो उत्कृष्ट वन्दन होता है। इसी प्रकार, अविरत-सम्यग्दृष्टि और देशविरत तथा सर्वविरत के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

प्रश्न – अपुनर्बन्धक आदि में भी परिणामों का उतार-चढ़ाव होता ही होगा ?

उत्तर – अपुनर्बन्धक आदि में भी परिणामों का उतार-चढ़ाव होता है।

पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उतार-चढ़ाव है, तो क्या वन्दन जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भी हो सकता है ?

उत्तर — इस प्रश्न का समाधान स्वयं हरिभद्र निम्न गाथा में ही दे रहे हैं—

अपुनर्बन्धक का लक्षण — आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक के अन्तर्गत चौथी गाथा में² अपुनर्बन्धक के लक्षण बताए हैं कि अपुनर्बन्धक जीव के परिणाम किस प्रकार के हो सकते हैं, क्योंकि किसी भी जीवों के परिणामों के विषय में कहने के लिए उसका आचरण अर्थात् व्यवहार ही है। व्यवहार के स्तर पर ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जीव किस परिणाम की अवस्था में है ?

जो जीव तीव्र संक्लेश-भाव से कोई पाप नहीं करता है और न इस वीभत्स संसार को अधिक मान्यता देता है तथा देशकाल और अवस्था की अपेक्षा से देव, अतिथि, माता-पिता आदि के साथ यथोचित व्यवहार करता है, वह अपुनर्बन्धक जीव कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण — सम्यग्दृष्टि के लक्षण इस प्रकार हैं — सम्यग्दृष्टि संसार में रहकर संसार से अलग रहता है, अर्थात् तन से संसार में एवं मन से संयम में रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार के कार्यों को करते हुए केवल अपने कर्त्तव्य का निर्वाह ही करता है, किसी भी कार्य को करते हुए उसमें अभिभूत नहीं होता है।

वह सुदेव, सुगुरु व सुधर्म के प्रति समर्पित रहता है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की पाँचवीं गाथा में³ सम्यग्दृष्टि के निम्न लक्षण बताए हैं—

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति की पहचान यह है कि वह धर्मशास्त्र-विषयक प्रवचनों को सुनने का इच्छुक होता है, धर्म के प्रति अनुरक्त रहता है। सम्यग्दृष्टि गुरुओं एवं अन्य आराध्य पुरुषों को जैसे समाधि हो, वैसे उनकी सेवा में कर्त्तव्य-परायण होकर तत्पर रहता है।

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — ३/४ — पृ. ३७

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — ३/५ — पृ. ३७

देशविरत एवं सर्वविरत का लक्षण — आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि की छठवीं गाथा में¹ देशविरत एवं सर्वविरत के लक्षण का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

देशविरत अथवा सर्वविरत व्यक्ति तत्त्वमार्ग का अनुसर्ता एवं उसके प्रति श्रद्धावान् होता है। सम्यक्मार्ग से विचलित होने पर ही उसको उपदेश दिया जा सकता है। वह मोक्षमार्ग की साधना करता है। वह अपने तथा दूसरों के सद्गुणों के प्रति अनुराग रखता है, यथासम्भव धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता है तथा चारित्रवान् होता है।

अन्य जीवों में चैत्यवन्दन की अयोग्यता— चैत्यवन्दन की योग्यता भी हर जीवों में नहीं होती है। यह योग्यता एवं अयोग्यता परिणामों के आधार पर ही कही जाती है। जब परिणाम शुभ एवं शुद्ध होते हैं, तो वन्दना की योग्यता है और यह योग्यता अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरत औश्र सर्वविरत जीवों को प्राप्त है, पर मिथ्यादृष्टि आदि जीवों को नहीं। इसी कारण, चैत्यवन्दन में जीवों की अयोग्यता का भी कथन किया गया। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की सातवीं गाथा में² अन्य जीवों की अयोग्यता का प्रतिपादन करते हुए द्रव्य एवं भाववन्दना की भी चर्चा की है।

अपुनर्बन्धक, अविरत—सम्यग्दृष्टि, देशविरत एवं सर्वविरत ही इस चैत्यवन्दन के अधिकारी होते हैं। भोश जो मार्गाभिमुख, मिथ्यादृष्टि इत्यादि हैं, वे इसके अधिकारी नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव तो द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं होते, क्योंकि द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी वे ही होते हैं, जो भाव—वन्दना के लिए अपेक्षित योग्यता रखते हैं।

द्रव्यवन्दना दो प्रकार की होती है— 1. प्रधान द्रव्यवन्दना और 2. अप्रधान द्रव्यवन्दना। जो द्रव्य—वन्दना, भाव—वन्दना का कारण बने, वह प्रधान द्रव्यवन्दना है एवं जो द्रव्यवन्दना, भाव—वन्दना का कारण न बने, वह अप्रधान द्रव्यवन्दना है। इसमें से प्रधान द्रव्य—वन्दना वाले जीव वन्दना के अधिकारी हैं, क्योंकि वे जीव द्रव्यवन्दना

¹ पंचा एक प्रकरण — आ. हरिभद्र सूरि — 3/6 — पृ. सं. 38

² पंचा एक प्रकरण — आ. हरिभद्र सूरि — 3/7 — पृ. सं. 38

⁶⁵ पंचा एक प्रकरण — आ. हरिभद्र सूरि — 3/8 — पृ. सं. 39

करते-करते भाववन्दना करने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार, अपुनर्बन्धक जीवों की वन्दना द्रव्यवन्दना होने के बावजूद भी प्रधान द्रव्यवन्दना होने से वे चैत्यवन्दन के अधिकारी हैं, जबकि मार्गाभिमुख इत्यादि जीवों की वन्दना अप्रधान है, क्योंकि वे द्रव्यवन्दना करते-करते भी भाववन्दना वाले नहीं होते हैं। उनके अशुभ कर्मों की अपेक्षित हानि भी नहीं होती है, इसलिए वे जीव भाववन्दना तो दूर द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं हैं, अर्थात् चैत्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं हैं।

सकृद्बन्धक आदि जीवों में अप्रधान द्रव्यवन्दना का समर्थन - सकृद्बन्धक, अर्थात् सन्मार्गाभिमुख। इन जीवों में शुभ परिणाम न होने के कारण भाववन्दन के परिणाम तो नहीं होते हैं, पर प्रधान द्रव्यवन्दन की भी योग्यता नहीं होती है। वास्तव में, वन्दन करते समय भी परिणामों की शुद्धि आवश्यक है, क्योंकि शुभ एवं शुद्ध परिणामों के बिना वन्दना फलदायी नहीं होती है। वह वन्दन केवल संख्या का द्योतक होगा, पर सफलता का नहीं। सफलता के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है। मन की एकाग्रता ही शुद्धि है। मन एकाग्र हो गया, तो परिणाम शुद्ध हो गए, अतः मन को एकाग्र करने का ही पुरुषार्थ करना चाहिए। मन की एकाग्रता के अभाव में द्रव्यप्रधान वन्दना कभी भी भाववन्दना नहीं बनती है, अतः इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दन-विधि पंचाशक की आठवीं गाथा में¹ कहते हैं -

अपुनर्बन्धक से भिन्न सकृद्बन्धक भाववन्दना के योग्य नहीं समझे जाते हैं, अर्थात् सकृद्बन्धकादि जीवों में साक्षात् भाववन्दना की मनोभूमिका तो नहीं ही है, भाववन्दना की योग्यता भी नहीं है, क्योंकि उनका संसार बहुत होता है। शास्त्रों में सकृद्बन्धकादि जीवों के लिए द्रव्यवन्दना कही गई है। इनके अतिरिक्त अभव्यों के लिए भी द्रव्यवन्दना कही गई है, क्योंकि अभव्य जीव भी दीक्षा लेकर अनन्त बार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए हैं।

शास्त्र में एक तरफ सकृद्बन्धक इत्यादि जीव द्रव्यवन्दना के भी अधिकारी नहीं हैं-ऐसा कहा गया है, जबकि दूसरी तरफ, उनको द्रव्यवन्दना होती है-ऐसा भी कहा

गया है। उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि उनमें प्रधान द्रव्यवन्दना की योग्यता नहीं होती, अपितु अप्रधान द्रव्यवन्दना की योग्यता होती है। यह अप्रधान द्रव्यवन्दना अभव्यों में भी होती है।

द्रव्य-भाववन्दना के लक्षण — द्रव्यवन्दन उसे कहा गया है जो चैत्यवन्दन तो कर रहा है, पर मनोयोगपूर्वक नहीं, अर्थात् मन कहीं और है, शब्द कुछ और हैं, चिन्तन कुछ और है, आंखें कहीं और हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मन दसों दिशाओं में घूम रहा है। ऐसी स्थिति में चैत्यवन्दन करने वाला द्रव्य चैत्यवन्दन कर रहा होता है। द्रव्य-चैत्यवन्दन तब ही होता है, जब परमात्मा के प्रति समर्पण-भाव का अभाव है। परमात्मा के प्रति जिसका अहोभाव है, वह चैत्यवन्दन करते समय अपनी आंखों को, अपने चिन्तन को, अपने मन को, अपने भावों को अपने आराध्य के सम्मुख ही रखता है। ऐसी स्थिति में किया गया वन्दन भाव-चैत्यवन्दन कहलाता है।

इसी बात की अभिव्यक्ति आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की नौवीं गाथा में¹ की है—

द्रव्यवन्दना करने वाले व्यक्ति का चैत्यवन्दन में उपयोग (मनोभाव) नहीं होता है, वह चैत्यवन्दन के सूत्रगत अर्थों पर भी विचार नहीं करता है, न वन्दनीय अर्हन्तों के प्रति उसको बहुमान होता है, न वह यह सोचकर आनन्दित होता है कि इस अनादि संसार में अर्हन्तों की वन्दना करने का अवसर प्राप्त हुआ है तथा न ही उसे मार्ग से अथवा वन्दना-विधि के स्खलन से भय होता है, लेकिन भाववन्दना करने वाला व्यक्ति द्रव्यवन्दना और भाववन्दना— इन दोनों में ही उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न लक्षणों वाला होता है। उसकी चैत्यवन्दना सजगतापूर्वक होती है। वह वन्दना-सूत्रों का मनन करता है तथा यह जानकर प्रफुल्लित होता है कि उसे इस अनादि संसार में अर्हन्तों के चरण कमलों की वन्दना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है और वह इस संसार से या वन्दना-विधि के स्खलन से भयभीत भी होता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 3/9 — पृ. 39

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि की दसवीं गाथा में² द्रव्य एवं भाववन्दन के अन्य लक्षण भी बताए हैं—

काल,विधि और तद्गतचित्र आदि से तथा चैत्यवन्दनवृद्धि के भाव और अभाव से द्रव्यवन्दना और भाववन्दना में भेद हैं। सूत्रोक्त नियत समय में चैत्यवन्दन करना, निसीहितिक आदि से विधिपूर्वक चैत्यवन्दन करना, चैत्यवन्दन करते समय उसी में चित्त को लगाए रखना, चैत्यवन्दन में मनोभाव की वृद्धि के लिए सूत्रों को शुद्ध और शान्तिपूर्वक बोलना आदि भाववन्दना के लक्षण हैं। नियत समय पर चैत्यवन्दन नहीं करना, चैत्यवन्दन में चित्त नहीं लगाना, सूत्रों को शीघ्रता से बोलकर पूरा कर देना आदि द्रव्यवन्दना के लक्षण हैं।

जैनदर्शन में भावों की प्रधानता है। द्रव्य—क्रिया इसलिए बताई है कि द्रव्य करते—करते जीव भावों की ओर अग्रसर होगा। जब द्रव्य भी भावरूप बनेगा, तब ही क्रिया सार्थक होगी। द्रव्य की प्रधानता भाव के लिए ही है, अतः भाव के लिए द्रव्य व भाव—दोनों आवश्यक हैं। कृष्ण महाराजा ने द्रव्य व भाव से वन्दन किया था, जिसका ही परिणाम था कि चार नारकी के बन्धन टूट गए। भाववन्दना की प्रधानता का वर्णन आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की ग्याहरवीं गाथा में¹ किया है—

एक बार समुत्पन्न शुभभाव प्रायः नए शुभभावों को उत्पन्न करता है, इसलिए यहां भाववृद्धिरूप चैत्यवन्दन के लक्षणों में सर्वदा 'भाव' प्रधान लक्षण है।

भाव—चैत्यवन्दन के महत्व को कोई गलत सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि जिन—प्रवचन में स्पष्ट है कि जब द्रव्य में भाव जुड़ते हैं, तब ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। मरुदेवी माता अपने पुत्र के मोह में व्यथित हो चिन्तन कर रही थी, पर वह चिन्तन जब आत्मभावों में परिवर्तित हो गया, तब कैवल्य की प्राप्ति एवं मुक्ति हो गई। प्रसन्नचन्द्रराजर्षि जब भावों से द्रव्यलड़ाई लड़ रहे थे और लड़ते—लड़ते जब भाव से कर्म से लड़ने लगे, तब उनको भी कैवल्य हो गया एवं अन्ततः मुक्ति हो गई। इलायचीकुमार

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 3/10 — पृ. 40

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 3/11 — पृ. 40

(नृत्य) नाटक कर रहा था। नाटक करते-करते जब भावशुद्धि हुई, तो उसे वहीं कैवल्य की प्राप्ति हो गई और उसने अन्ततः मुक्ति को प्राप्त किया। जब तक द्रव्य में शुभभाव में शुद्धभाव नहीं जुड़ेंगे, तब तक सिद्धि नहीं है, सिद्धिभाव-चैत्यवन्दन से ही है। इसी भाव-चैत्यवन्दन की सिद्धि को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की बारहवीं एवं तेरहवीं गाथाओं में¹ उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए कहते हैं

जैसे अमृत के शरीर में रस आदि धातु के रूप में परिणमित होने के पहले ही उसके प्रभाव से शरीर में पुष्टि, कान्ति आदि सुन्दर भाव दिखते हैं, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक आदि जीवों में मोक्ष का हेतु शुभभावरूप अमृत एक बार उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से भक्ति की वृद्धिरूप नए-नए शुभभाव उत्पन्न होते हैं। पतंजलि आदि ने भी अपने योगशास्त्र में कहा है-

जिस प्रकार मन्त्रविद्या आदि विधि-विधान में जिसका अभ्युदय अवश्य होना है, वही जीव प्रयत्न करता है, उसी प्रकार चैत्यवन्दन आदि विधि में भी जिन जीवों का अभ्युदय अवश्य होना है, वैसे अपुनर्बन्धकादि भव्यजीव ही प्रयत्न करते हैं, लेकिन इन दोनों में इतना भेद होता है कि मन्त्रादि के साधक को मन्त्रादि की विधि में जितना प्रयत्न करना पड़ता है, अपुनर्बन्धक आदि जीवों को चैत्यवन्दन की विधि में उससे कहीं अधिक प्रयत्न करना पड़ता है।

प्र न उपस्थित किया गया कि चैत्यवन्दन मंत्र आदि से उत्तम क्यों है ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की चौदहवीं गाथा में² किया है-

चैत्यवन्दन से परम सिद्धि होती है, क्योंकि जहां मन्त्रादि से केवल इस लोक में भौतिक सिद्धि उपलब्ध होती है, वहीं चैत्यवन्दन से परमपद अर्थात् मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है, इसलिए चैत्यवन्दन करना आवश्यक है। यही कारण है कि अपुनर्बन्धक जीवों, अर्थात् भव्य जीवों को चैत्यवन्दन-विधि में अत्यधिक पुरुषार्थ करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 3/12,13 - पृ. 41

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 3/14 - पृ. 41

चैत्यवन्दन से इहलौकिक लाभ – परमात्मा के चैत्यवन्दन से इस लोक में अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। परमात्मा के दर्शन से धन-धान्य, रिद्धि-सिद्धि, सौभाग्य, यश, मान-सम्मान की प्राप्ति होती है। प्रभुदर्शन से इहलोक में प्राप्त होने वाले लाभों का विवरण आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की पन्द्रहवीं गाथा में¹ किया है—

चैत्यवन्दन-विधि में सावधानी रखने से प्रायः इस लोक में भी धन-धान्य आदि की हानि नहीं होती है और यदि निरूपक्रम कर्म के उदय से इस लोक में हानि हो, तो भी वह सद्भावों की नाशक नहीं होती है, अर्थात् निरूपक्रम के उदय से हानि हो, तो भी उस हानि में दीनता, द्वेष, चिन्ता, व्याकुलता और भय आदि का अभाव होता है। इस प्रकार कर्मों की कमी तथा आध्यात्मिक-प्रसन्नता होने से परलोक की वैसी हानि नहीं होती है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होता है।

चैत्यवन्दनकुलक की टीका के अनुसार श्रावक-श्राविका गृहकार्य आदि के कारण यथोक्त विधि से सम्पूर्ण चैत्यवन्दन न कर सकता हो, तो वह जघन्य चैत्यवन्दना करे, इससे वह भी निर्धन भावसार धनद के समान इस लोक में धन-धान्यादि, लक्ष्मी और परलोक में स्वर्गलक्ष्मी क्रमशः मुक्ति स्थान को प्राप्त करता है।²

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार निसीहि आदि दशत्रिकों सहित उपयोगपूर्वक जो व्यक्ति जिनेवरदेव की त्रिकाल स्तुति चैत्यवन्दनादि क्रियाएँ करता है, वह विपुल निर्जरा का भागी बनता है और अन्त में शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।³

अन्य दर्शनों में भी प्रचलित प्रभुभक्ति को चैत्यवन्दनरूप स्वीकार करते हुए आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की सोलहवीं गाथा में⁴ हृदय की विशालता का परिचय दिया है, जो निम्न प्रकार से है—

अन्य धर्मों में भी मोक्षमार्ग में दुर्ग की प्राप्ति के समान, अर्थात् मार्ग में चोर आदि से रक्षण के लिए किला आदि का आश्रय लेने के समान जो प्रभुभक्ति प्रसिद्ध है,

¹ पंचाशक-प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि – 3/15 – पृ. 42

² चैत्यवन्दनकुलकटीका- श्री जिनकुशलसूरि – हि.अनु.प्र. सज्जनश्री – पृ. 101

³ प्रवचनसारोद्धार – श्री नेमिचंद- हि.अनु.प्र. हेमप्रभाश्री – गाथा 68- पृ. 26 द्वार

⁴ पंचाशक-प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि – 3/16 – पृ. 42

वह भाव—चैत्यवन्दन अर्थात् प्रभुभक्ति है, क्योंकि भाव चैत्यवन्दन ही कर्मरूपी शत्रुओं से रक्षा करने में समर्थ है, इस पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। अन्य धर्मावलम्बियों ने कहा है, इसलिए गलत है— ऐसा मानकर उपेक्षा नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्य धर्मावलम्बी भी हर विषय में असत्य नहीं होते। इस प्रकार, पंचाशक—प्रकरण में भाव—चैत्यवन्दन के लक्षण सम्बन्धी विचारणा सम्यग्रूपेण की गई है।

सूत्र बोलने की मुद्रा का निर्देश — आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की सतरहवीं से इक्कीसवीं गाथाओं तक में मुद्राओं का विवरण दिया है, अर्थात् यह बताया है कि किन सूत्रों को किन मुद्राओं से बोलना चाहिए—

प्रणिपात—मुद्रा को पंचांगी—मुद्रा से बोलना चाहिए।

स्तवपाठ (नमोत्थुणं) को योगमुद्रा से बोलना चाहिए।

अरिहंत चेइआणं सूत्र जिनमुद्रा से बोलना चाहिए।

प्रणिधानसूत्र मुक्ताशुक्ति मुद्रा से बोलना चाहिए।

प्रणिपातसूत्र को इच्छामि खमासमणो—सूत्र भी कहते हैं।

स्तवपाठ को णमुत्थुणं—सूत्र भी कहते हैं।

अरिहंत चेइआणं को सिद्धस्तव भी कहते हैं।

प्रणिधानसूत्र को जयवीयराय भी कहते हैं।

पंचांगी—मुद्रा को प्रणिपात मुद्रा भी कहते हैं।

पंचांगी मुद्रा का स्वरूप — दोनों घुटनों, दोनों हाथों एवं मस्तक— इन पांच अंगों को सम्यक् प्रकार से झुकाना पंचांगी—मुद्रा (प्रणिपात—मुद्रा) है।

योगमुद्रा का स्वरूप — दोनों हाथों की अंगुलियों को एक—दूसरे से मिलाकर हथेली को कोशाकार (कमल की कली) के समान बनाकर पेट के ऊपर दोनों हाथों के कूर्पर (कुहनी) को स्थित करना योगमुद्रा है।

जिनमुद्रा का स्वरूप — जिन अर्थात् अरिहन्त जिस प्रकार कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं, वह जिनमुद्रा कहलाती है। खड़े होकर दोनों पांवों के आगे के भाग में चार

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — ३/१७ से २१ — पृ. ४२

अंगुल और पीछे के भाग में चार अंगुल से कुछ कम अन्तर रखने पर जिनमुद्रा होती है।

मुक्ताशुक्ति-मुद्रा का स्वरूप - एक घुटना झुकाकर और एक घुटना खड़ा रखकर बैठने और दोनों हाथों को आमने-सामने रखकर हथेली के मध्य भाग को कुछ फूलाकर दोनों हाथ ललाट पर लगाने से मुक्ताशुक्ति-मुद्रा बनती है।

सम्पूर्ण चैत्यवन्दन में उपयोग की आवश्यकता - दर्शक जब परमात्मा के सम्मुख चैत्यवन्दन करता है, तब पूर्णतः एकाग्रता होना चाहिए, क्योंकि यदि मन का उपयोग क्रिया में नहीं है, तो वह क्रिया शून्य समान है, "उपयोगेयेधर्मः", अर्थात् उपयोग में ही धर्म है। उपयोग के बिना सारी क्रियाएँ केवल कर्म (आस्रव हेतु) हैं, अतः चारों ओर से मन को हटाकर केवल प्रभु परमात्मा, सूत्र, अर्थ, विधि आदि में उपयोग लगाना चाहिए, जिससे विधि-पूर्वक चैत्यवन्दन हो, जिससे कर्म निर्जरा हो सके और मोक्ष के सुख को प्राप्त किया जा सके।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की बाईसवीं एवं तेईसवीं गाथाओं में¹ इसे स्पष्ट करते हुए चैत्यवन्दनविधि में चैत्यवन्दन-सम्बन्धी विषयों में उपयोग की चर्चा की है।

1. क्रियाएँ - मुद्रा करना, मुँह के आगे मुँहपत्ती लगाना, भूमिप्रमार्जना करना वगैरह क्रियाएँ हैं। इनमें उपयोग लगाना चाहिए।
2. सूत्रों के पद, इसी प्रकार,
3. अकारादि वर्ण
4. सूत्रों के अर्थ और
5. जिनप्रतिमा - इन पाँचों में उपयोग लगाना चाहिए।

वे उपर्युक्त बात को छिन्न-ज्वाला के उदाहरण से सिद्ध करते हैं - जिस प्रकार मूल ज्वाला से नई-नई ज्वालाएँ निकल कर मूल ज्वाला से अलग दिखती हैं, फिर भी उनको मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानना पड़ता है, क्योंकि अलग हुई ज्वाला के परमाणु

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 3/22.23 - पृ. 42

भी रूपान्तरित होकर वहाँ मूल ज्वाला के समीप ही अवश्य रहते हैं, किन्तु दिखलाई नहीं पड़ते हैं। एक घर में रखे गए दीपक का प्रकाश दूसरे घर में दिखलाई पड़ता है। यहाँ मूल घर के झरोखे से प्रकाश निकलकर आया होने पर भी स्पष्ट रूप से दिखलाई नहीं देता है, फिर भी प्रकाश निकला है— ऐसा मानना पड़ता है, क्योंकि निकले बिना दूसरे घर में प्रकाश जा ही नहीं सकता है। उसी प्रकार, छिन्न ज्वाला(मूल ज्वाला से अलग हुई ज्वाला) मूल ज्वाला से सम्बद्ध नहीं दिखती, किन्तु उसके परमाणु मूल ज्वाला के पास होने से उसे मूल ज्वाला से सम्बद्ध मानना पड़ता है। उसी प्रकार ही, प्रस्तुत चैत्यवन्दन में भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न उपयोग होने पर भी उपयोग का परावर्त अति तीव्र गति से होने पर से हमें एक ही उपयोग दिखलाई देता है, किन्तु शेष उपायोगों के भाव भी वहाँ होते हैं।

एक ज्वाला के मूल ज्वाला से अलग होने के बावजूद उसके परमाणुओं का अभाव नहीं होता है, क्योंकि यदि उन परमाणुओं का सर्वथा अभाव माना जाए, तो ज्वाला की जो सन्तति (प्रवाह) दिखलाई देती है, वह दिखलाई नहीं पड़ेगी, क्योंकि नई ज्वालाएँ मूल रूप से अलग होने के बावजूद उनके परावर्तित परमाणु वहाँ होते हैं, दिखलाई नहीं देते हैं। उसी प्रकार, एकाग्रचित्त का एक समय में एक ही विषय में उपयोग होता है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य विषयों के परमाणु (भाव) भी वहाँ मौजूद होते हैं। यह बात अलग है कि वे वहाँ दिखलाई नहीं देते हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि चैत्यवन्दन की सभी विधियों में एक ही समय में एक साथ उपयोग (भाव) कैसे संभव हो सकता है ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की चौबीसवीं एवं पच्चीसवीं गाथाओं में¹ दिया है कि मुद्रा आदि में सतर्क रहने का मुख्य कारण है— भावशुद्धि, क्योंकि भावशुद्धि के लिए ही चैत्यवन्दन की प्रक्रिया है। क्षायोपशमिक-भाव (मिथ्यात्व और मोहनीय आदि कर्मों के क्षय एवं उपशमित होने की दशा में) परम आदरपूर्वक किए गए चैत्यवन्दनादि अनुष्ठान (आचरण) में उन-उन कर्मों के उदय के कारण कभी-कभी शिथिलता भी आ जाती है,

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/24,25 — पृ. 45,46

किन्तु क्षायोपशमिक —भाव होने के कारण वह शुभाचरण उसके अध्यवसाय (आत्मपरिणाम) का वर्द्धक ही होता है, इसलिए शुभभावरूप मोक्ष के हेतुओं की वृद्धि करने वाला होने के कारण चैत्यवन्दन करना चाहिए।

उपर्युक्त धर्म व्यापार में विशेष रूप से निहित बुद्धि वाले (प्रतिभाशाली) व्यक्तियों द्वारा सामान्य रूप से अनुकूल इस भाववर्द्धक क्रिया को श्रेष्ठ बुद्धि के धारक विद्वानों को अच्छी तरह से धारण करना चाहिए।

चैत्यवन्दन का लक्षण — आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में¹ जिज्ञासा को चैत्यवन्दन का लक्षण बताते हुए चर्चा करते हैं, कि भुद्धभावों से की गयी वन्दना में जिज्ञासा (जानने की इच्छा) भी एक मुख्य लक्षण है, जो निर्वाण चाहने वालों को निर्वाण के सम्यग्ज्ञानादि हेतुओं के प्रति होती है, अर्थात् साधक वेला, विधान और आराधना आदि के साथ-साथ मोक्ष के लिए अपेक्षित सम्यग्ज्ञान आदि के हेतुओं के प्रति भी जिज्ञासु होता है, यह बात सिद्ध है।

जिज्ञासा को मोक्ष का हेतु बताया गया है, क्योंकि ज्ञाता के द्वारा अपने साध्य को जानने की जो इच्छा है, वही जिज्ञासा है। ऐसी जिज्ञासा का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की सत्ताइसवीं गाथा में² जिज्ञासा मोक्ष का कारण है, इसका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

जिज्ञासा मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त है, क्योंकि पतंजलि के योगशास्त्र आदि आध्यात्मिक—ग्रन्थों में प्रायः धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा (जिज्ञासा) आदि को मोक्ष के कारणभूत एवं सम्यग्ज्ञानादि की उत्पत्ति के हेतु के रूप में माना गया है।

शुद्धवन्दना की प्राप्ति के नियम — शुद्धवन्दना किन जीवों में होती है, इसका विवेचन आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक की अठ्ठाइसवीं एवं उन्नीसवीं गाथाओं में³ किया है—
“यह शुद्धवन्दना यथाप्रवृत्तिकरण से ऊपर के तथा मिथ्या आग्रह से रहित जीवों में ही

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/26 — पृ. 46

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/27 — पृ. 46

³ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/28,29 — पृ. 46,47

संभव होती है, अर्थात् अपुनर्बन्धकादि जीवों का चैत्यवन्दन ही शुद्ध हो सकता है। इससे नीचे की अवस्था वाले जीवों का चैत्यवन्दन अशुद्ध होता है। आगम में इन कारणों के तीन प्रकार बतलाए गए हैं— 1. यथाप्रवृत्तिकरण 2. अपूर्वकरण 3. अनिवृत्तिकरण। ये तीन कारण भव्य जीवों के ही होते हैं, और अभव्यों को प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है। करण जीव के परिणाम विशेष (अध्यवसाय) को कहते हैं।

कौन करण कब होगा ? अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण किस स्थिति में होता है? अपूर्वकरण होने पर कैसे परिणाम होते हैं तथा अनिवृत्तिकरण होने में कैसे अध्यवसाय होते हैं ? इसका विस्तृत विवेचन आचार्य हरिभद्र द्वारा चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की तीसरी गाथ में¹ किया गया है, जो निम्नलिखित है—

जब तक ग्रन्थि हो, तब तक पहला यथाप्रवृत्तिकरण होता है। ग्रन्थि को अतिक्रान्त करने पर दूसरा अपूर्वकरण और जब जीव सम्यक्त्व की ओर अभिमुख हो गया हो, तब अनिवृत्तिकरण होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण — 'नदी—पाषाणन्याय' से इच्छा के बिना ही कर्मों के क्षय होने पर अध्यवसाय विशेष यथाप्रवृत्तिकरण है। संसारी जीवों को बिना प्रयत्न के भी अनादिकाल से प्रतिक्षण कर्मक्षय होता रहता है, इसलिए इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है। यथा, अर्थात् बिना किसी पुरुषार्थ के स्वतः हुई प्रवृत्ति यथाप्रवृत्तिकरण कहलाती है।

ग्रन्थि — ग्रन्थि, अर्थात् वृक्ष की दुर्भेद और कठिन गाँठ जैसे दुर्भेद राग—द्वेष का तीव्र परिणाम।

ग्रन्थि—देश — जिस प्रकार संसारी जीवों को यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा प्रतिक्षण कर्मक्षय होते रहते हैं, उसी प्रकार उनके नए कर्म भी बंधते रहते हैं, इसलिए कर्म पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाते हैं। निरन्तर कर्मक्षय एवं कर्मबन्ध के कारण कर्मों की मात्रा कम नहीं होती है, और कभी—भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार, कर्मों की मात्रा आदि कम होते—होते आयुष्य के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति घटकर एक कोड़ा—कोड़ी सागरोपम से कुछ कम रहे, तब भी ग्रन्थि अर्थात् राग—द्वेष के तीव्र परिणाम का उदय रहता है। सात कर्मों

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/30 — पृ. 47

की उत्कृष्ट बन्ध स्थिति हो, तब तो ग्रन्थि का उदय होगा ही, लेकिन घटते-घटते भी जहाँ तक कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति हो जाए, वहाँ तक भी ग्रन्थि का उदय रहता है। उसके बाद ग्रन्थि का भेद होता है, क्योंकि उसके बाद अपूर्वकरण से ग्रन्थि का भेद हो जाता है। इस प्रकार, ग्रन्थि की अन्तिम सीमा सात कर्मों से कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति होने तक है। इस स्थिति को ग्रन्थिदेश (ग्रन्थि की अन्तिम सीमा) कहा जाता है। इस ग्रन्थिदेश तक यथाप्रवृत्तिकरण होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव को उक्त अवस्था प्राप्त हो सकती है। यहाँ से आगे बढ़ने के लिए जीव को अपूर्वकरण आदि में पुरुषार्थ की जरूरत पड़ती है। अभव्य जीव इतनी अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुषार्थ नहीं कर सकने के कारण आगे नहीं बढ़ पाते हैं, इसलिए उनतीसवीं गाथा में कहा गया है कि अभव्यों को केवल यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है। दूर-भव्यों, अर्थात् जिनकी मुक्ति अति दूर है, ऐसे भव्यों को भी यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है।

अपूर्वकरण – रागद्वेष की गाँठ को नष्ट करने का जैसा उत्साह इससे पूर्व न हुआ हो, और बाद में होने लगे, तब अपूर्वकरण होता है। जब शक्तिशाली आसन्न भव्यजीव में ग्रन्थिदेश की स्थिति आने के बाद रागद्वेष की गाँठ को भेदने का पहले कभी प्रकट नहीं हुआ हो, ऐसा तीव्र पुरुषार्थ प्रकट होता है, उसे ही अपूर्वकरण कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण – सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाला विशुद्ध अध्यवसाय अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्ति— पुनः पीछे नहीं मुड़ने का अदम्य उत्साह। जो अध्यवसाय सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना पीछे नहीं मुड़े, वह अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। अनिवृत्तिकरण को प्राप्त आत्मा अन्तमुहुर्त्त में ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसलिए कहा गया है कि जब जीव सम्यक्त्वाभिमुख हो, तब अनिवृत्तिकरण होता है।

शुद्ध वन्दन मोक्ष का कारण – शुद्ध वन्दन मोक्ष का कारण है। यथा— प्रवृत्तिकरण के समय की गई वन्दना अशुद्ध है, अशुद्ध चैत्यवन्दन के कारण मोक्ष नहीं मिल पाता है। उपदेशक मोक्षप्राप्ति के लिए शुद्ध चैतन्वन्दन के स्वरूप का ही उपदेश दें। इस विषय में

आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की इकतीसवीं से तैंतीसवीं तक की गाथाओं में¹ इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है -

उपर्युक्त यथाप्रवृत्तिकरण आदि विभागों के आधार पर तथा अनादि संसार में भटकते जीवों द्वारा स्वीकृत द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्यवेश आदि के आधार पर इस वन्दना का सम्यक् प्रकार से निरूपण करना चाहिए, जिससे यह मोक्ष का साधन बने।

भावपूर्वक चैत्यवन्दन करने पर जीवों का संसार अधिक से अधिक कुछ समय कम अर्द्धपुद्गलपरावर्त मात्र रहता है, उससे अधिक नहीं रहता। ऐसा जैनागमों में प्रसिद्ध है।

शुद्ध चैत्यवन्दन की स्थिति प्राप्त होने के बाद जीव संसार में कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरावर्त से अधिक नहीं रहता है। यद्यपि उतने समय में शुद्ध चैत्यवन्दन की स्थिति अनेक बार प्राप्त हो सकती है, किन्तु अनन्त बार नहीं। यह सत्य है कि चैत्यवन्दनों के अवसरों की प्राप्ति उसे अनन्त बार हुई है, किन्तु उसके पूर्व शुद्ध चैत्यवन्दन नहीं हुआ, अतः सिद्ध होता है कि अनन्त बार किया गया उसका वह चैत्यवन्दन अशुद्ध ही था।

इस प्रकार इस चैत्यवन्दन की प्रक्रिया को विद्वानों को आगम और युक्ति से निरूपित करना चाहिए, क्योंकि चैत्यवन्दन करने मात्र से मोक्ष नहीं होता, अपितु शुद्ध चैत्यवन्दन करने से ही मोक्ष होता है।

रूपये के उदाहरण से शुद्ध-अशुद्ध चैत्यवन्दना पर विचार - चैत्यवन्दन करन पर ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। जब द्रव्य चैत्यवन्दन-भाव चैत्यवन्दन होता है, तब ही मोक्ष की प्राप्ति संभव होती है, अतः अशुद्ध चैत्यवन्दन से मुक्ति-लाभ प्राप्त नहीं होगा। शुद्ध चैत्यवन्दन से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। इस शुद्धता-अशुद्धता के विषय मे भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति में सिक्के के प्रकारों का विवरण दिया है। चैत्यवन्दन करने वालों के परिणामों को इसी दृष्टांत द्वारा घटित करने का उपक्रम

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/31 से 33 - पृ. 49,50

आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की चौतीसवीं से इक्तालीसवीं तक की गाथाओं में¹ विवेचन किया है, जो इस प्रकार है—

सिद्धान्त के जानकार भद्रबाहु स्वामी आदि ने आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में चार प्रकार के शुद्ध—अशुद्ध मुद्राओं का दृष्टांत दिया है। चैत्यवन्दन के विषय में भी वह दृष्टांत विचारणीय है।

स्वर्णादि द्रव्य शुद्ध और छाप भी प्रामाणिक हो, तो वह मुद्रा असली होती है। स्वर्णादि द्रव्य तो शुद्ध हो, किन्तु छाप ठीक न हो, तो वह मुद्रा पूर्णतः प्रामाणिक शुद्ध नहीं होती है।

छाप तो ठीक हो, किन्तु स्वर्णादि द्रव्य अशुद्ध हो, तो वह मुद्रा जाली कही जाती है। छाप और द्रव्य—दोनों के ही अप्रामाणिक होने पर मुद्रा नकली या खोटी होती है। मुद्रा के इन चार प्रकारों के समान ही चैत्यवन्दन में द्रव्य और भाव के आधार पर ही उसका मूल्य मिलता है। भाव एवं द्रव्य—दोनों शुद्ध होने पर चैत्यवन्दन का पूरा मूल्य मिलता है। भाव शुद्ध होने पर उसके वास्तविक मूल्य से थोड़ा कम मूल्य मिलता है, किन्तु भाव और द्रव्य—दोनों के ही अप्रामाणिक होने पर उस चैत्यवन्दन का कुछ भी मूल्य नहीं होता है। इससे तो मात्र लोगों को ठगा जाता है।

जो अनुपयोगी है, ऐसी दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति अनर्थ कहलाती है, इसलिए उसको यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। यहाँ शुद्ध रूप से आत्मा के लिए उपयोगी आगमोक्त मोक्षादि फल की विचारणा की जाती है। द्रव्य—चैत्यवन्दन के द्वारा दूसरों को ठगने से मिलने वाला फल आत्मा—सम्बन्धी नहीं है, अपितु पुद्गल सम्बन्धी है।

श्रद्धायुक्त, स्पष्ट उच्चारण एवं विधिसहित की गई वन्दन शुद्ध मुद्रा के समान शुद्धवन्दना है। यह वन्दना अवश्य मोक्षफलदायिनी और यथोचित गुण वाली होती है।

जो वन्दना भाव से युक्त हो, परन्तु वर्णोच्चार आदि विधि से अशुद्ध हो, वह वन्दना दूसरे प्रकार की उस मुद्रा के समान है, जिसकी धातु शुद्ध है, किन्तु छाप ठीक

¹ पंचाशक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र सूरि— 3/34 से 41 — पृ.सं. 50 से 53

नहीं है। इस वन्दना को भी तीर्थकरों ने शुभ कहा है, क्योंकि क्रिया की अपेक्षा भाव श्रेष्ठ है और क्रिया में भावों की ही प्रधानता होती है।

भावरहित चैत्यवन्दन वर्णोच्चार आदि से शुद्ध होने पर भी खोटे सिक्के के समान होता है, अर्थात् श्रद्धा के बिना वन्दना चाहे जितने भी शुद्ध उच्चारणपूर्वक की जाए, वह वांछित फलदायिनी नहीं होती है और जो वन्दना श्रद्धा और शुद्ध वर्णोच्चार— इन दोनों से रहित हो, उसे केवलचिह्न रूप जानना चाहिए। श्रद्धा और वर्णादि के शुद्ध उच्चारण— इन दोनों से रहित वन्दना अनिष्ट फलदायिनी होती है। तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना प्रायः अति दुःखी और मन्दबुद्धि वाले जीवों द्वारा ही होती है। कभी-कभी उपयोगरहित अवस्था में संक्लेशरहित जीवों को भी होती है, इसलिए मूल में 'प्रायः' पद रखा गया है तथा प्रायः निम्न जाति के देवों में उत्पत्ति का हेतु होने से दुर्गति देने वाली होती है। पाँचवे आरे (दुग्शमा—काल) में तो यह रूप से दुर्गति देने वाली होती है।

तीसरी और चौथी वन्दना के विषय में कई आचार्यों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। कई आचार्यों का कथन है कि ये वन्दना शुद्ध नहीं है, कई आचार्यों का कथन है कि यह वन्दना लौकिक है, कई आचार्यों का यह कथन है कि यह वन्दना जिन-वन्दना ही नहीं है। कई आचार्यों का यह कथन है कि इस वन्दना में जो भाव होने चाहिए, वह भाव नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि—पंचाशक की बयालीसवीं गाथा में¹ की है जो निम्नलिखित है—

कुछ आचार्य कहते हैं कि तीसरे और चौथे प्रकार की वन्दना लौकिक ही है। जैनेतर स्वमान्य देव की जो वन्दना करते हैं, वह केवल नाम से वन्दना कही जाती है, क्योंकि लौकिक वन्दना का निम्न देवयोनि आदि में उत्पत्तिरूप जो फल है, वही फल इस वन्दना का है। लौकिक-वन्दना से थोड़ा भी अधिक फल इस वन्दना से नहीं मिलता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/42 — पृ. — 53

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 3/43,44 — पृ. — 53

प्रस्तुत मत का समर्थन करते हुए विशेष रूप से स्पष्टीकरण आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की तैंतालीसवीं और चौवालीसवीं गाथाओं में करते हैं—

दूसरे कुछ आचार्यों के मत में तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना जिनवन्दना नहीं है। उनका यह मत भी युक्तिसंगत माना जा सकता है, क्योंकि उन वन्दनाओं में जो भाव होना चाहिए, वे नहीं होते हैं, इसलिए जैन-दृष्टि से वन्दना की शुरुआत ही नहीं हुई, अतः उन तीसरे और चौथे प्रकार की दो वन्दनाओं से, अर्थात् नाममात्र की जिन-वन्दना से इस लोक में क्षुद्र उपद्रवों का नाश, धन-धन्यादि की वृद्धि, परलोक में विशिष्ट देवयोनि की प्राप्ति और कालान्तर में मोक्षरूपी शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु जिन-वन्दना की विराधना से मिलने वाला उन्माद-रोग, धर्मभ्रंश आदि दुष्ट फल भी नहीं मिलता है।

उभयजनन स्वभाव वाली यह जिनवन्दना विधिपूर्वक करने पर मोक्षादि इष्ट फलदायिनी होती है और विधिरहित करने पर धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फलदायिनी होती है— ऐसा नियम है। लौकिकी-वन्दना ऐसी नहीं होती। जैसे इस लौकिकी-वन्दना से मोक्षादि इष्ट फल नहीं मिलता, तो धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फल कैसे मिल सकता है ? उसी प्रकार तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना से मोक्षादि इष्ट फल भी नहीं मिलता है तथा धर्मभ्रंश आदि अनिष्ट फल भी नहीं मिलता है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार — सम्यक् श्रद्धा के अभाव में सम्यक् वन्दना नहीं है, मिथ्या वन्दना है, अतः वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकती यह नितान्त सत्य है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की तैंतालीसवीं गाथा में कहते हैं —

तीसरे एवं चौथे प्रकार की वन्दना में जिन आदि शब्द होने से वह जिन-वन्दना भी लौकिकी-वन्दना जैसी होती है, ऐसा न्यायपूर्वक जानना चाहिए। इस वन्दना में सम्यक् श्रद्धा आदि भाव नहीं होने के कारण वह मूषावाद से युक्त है, साथ ही मोक्षादि फल नहीं मिलने के कारण यह जिन-वन्दन मिथ्या है।

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/45 - पृ. - 54

अभव्य जीव प्रथम और द्वितीय वन्दना की योग्यता को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि अभव्य जीव अपुनर्बन्धक स्थिति को प्राप्त ही नहीं कर सकता, तो इन दो वन्दना का अधिकारी कैसे हो सकता है, यही बात आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की छियालीसवीं गाथा में² कही है-

अभव्य (मोक्षप्राप्ति के अयोग्य) जीव शुभ फल को उत्पन्न करने के स्वभाव वाले चिन्तामणि-रत्न कल्पवृक्ष आदि को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो फिर मोक्ष की हेतुभूत और प्रधान प्रथम और द्वितीय प्रकार की वन्दना के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ?

अभव्य जीव दो वन्दना के अधिकारी कैसे बन सकते हैं, जबकि सभी भव्य जीव भी इस वन्दना के अधिकारी नहीं बन पाते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की सैंतालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं, कि-

इस प्रधान वन्दना की भूमिका को अभव्य जीव प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भव्य जीव प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन सभी भव्य जीव इस वन्दना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वे ही भव्य जीव इस वन्दना को प्राप्त कर सकते हैं, जो आसन्न भव्य हैं। स्वभाव से भव्य होने पर भी जो दूरभव्य हैं, वे जीव इस वन्दना को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। चूंकि आगम में भव्यत्व को अनादिकालीन भी कहा गया है, अतः भव्यत्व मात्र से मोक्ष की प्राप्ति होगी ही, यह भी आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा होता, तो सभी भव्यजीवों को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती।

विधि-द्वेष से रहित जीव आसन्न भव्य है - चैत्यवन्दन की विधि के प्रति जिसे बहुमान होता है, अर्थात् विधि (क्रिया) के प्रति जिसे द्वेष नहीं है, उसके लिए यही समझना चाहिए कि वह निकट भव्य है, क्योंकि निकट मोक्षगामी जीव को सुविधि पर द्वेष नहीं होगा ? सुविधि के प्रति तिरस्कार नहीं होगा ? यही विवरण आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में² देते हैं-

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/46 - पृ. - 54

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/47 - पृ. - 54

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/48 - पृ. - 55

जिन जीवों को विधि अर्थात् जैन आचार के प्रति द्वेष नहीं है, वे जीव भी शुद्ध को प्राप्त होने के कारण आसन्न हैं, क्योंकि क्षुद्र कर्म करने वाले जीवरूपी हरिणों के लिए विधि का उपदेश सिंह की गर्जना के समान है। जिस प्रकार हरिणों को सिंह का गर्जन भयावह लगता है, उसी प्रकार कर्मों से बंधे जीवों को विधि अर्थात् आचारविषयक उपदेश भयावह लगता है। ऐसे जीव संसार से भयभीत हो जाते हैं।

विधि-पालन के लिए गीतार्थ को उपदेश - आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की उन्पचासवीं गाथा में¹ गीतार्थों को विधिपालन हेतु निर्देश दिया है कि आचार्यों को उपर्युक्त विधि के अनुसार परस्पर अविरोधपूर्वक मुग्धजीवों के हितार्थ वन्दनविधि का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करना चाहिए, अर्थात् अप्रमत्त होकर स्वयं विधिपूर्वक ही जिन-वन्दना करना चाहिए और दूसरों से विधिपूर्वक ही जिन-वन्दना करवाना चाहिए, क्योंकि मुग्धजीव दूसरों को देखकर प्रवृत्ति करने वाले होते हैं।

आचार्य हरिभद्र चैत्यवन्दनविधि-पंचाशक की पचासवीं (अन्तिम) गाथा में² यह निर्देशित करते हैं कि चैत्यवन्दन की विधि का ज्ञान जीवों की योग्यता के अनुसार देना ही चाहिए। धीर पुरुषों को दुराग्रह से रहित होकर चैत्यवन्दनविधि का ज्ञान न होने पर विधि-विहीन भी वन्दना करना चाहिए, क्योंकि दुष्मा-काल में सभी को विधि का ज्ञान होना दुर्लभ है। विधि का ही आग्रह रखा जाएगा, तो मार्ग का उच्छेद हो जाएगा- ऐसा विचार कर दुराग्रहों से मुक्त होकर बीमार व्यक्ति को दवा देने के उदाहरण के समान उपासकों की योग्यता के अनुसार उन्हें जिन-वन्दना के लिए प्रेरित करना चाहिए।

यदि किसी रोगी को दवा देनी हो, तो उसकी अवस्था देखना पड़ती है। उसकी अवस्था एवं बीमारी के अनुसार उचित समय में, उचित मात्रा में, उचित दवा दी जाए, तो उस दवा से रोगी को लाभ होता है, अन्यथा हानि। उसी प्रकार, सर्वकल्याणकारी वन्दनाविधि भी योग्य जीवों को उनकी योग्यतानुसार विधिपूर्वक दी जाए

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/49 - पृ. - 55

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 3/50 - पृ. - 55

और प्राप्तकर्ता भी उसकी विधिपूर्वक आराधना करें, तो लाभ ही होगा, अन्यथा हानि होगी।

चैत्यवन्दनविधि का प्रस्तुत प्रकरण तीन प्रकार से निर्दिष्ट हैं— जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। वर्तमान परम्परा में जघन्य चैत्यवन्दन ही सम्भव है, किन्तु कोई निकटभव्य, मध्यम और उत्कृष्ट चैत्यवन्दन भी कर सकता है।

द्रव्य एवं भावरूप से वन्दन दो प्रकार का है। भाव के बिना द्रव्य का कोई महत्व नहीं है। द्रव्य-वन्दना मोक्ष में हेतु नहीं होती है, फिर भी द्रव्य का महत्व इसलिए है कि द्रव्य के बिना व्यवहार-धर्म पूर्णतः समाप्त हो जाएगा। व्यवहार-धर्म ही निश्चय-धर्म का हेतु बनता है, अतः द्रव्यवन्दना आवश्यक है। द्रव्यवन्दना होने पर ही भाववन्दना होना सम्भव है, क्योंकि द्रव्य ही द्रव्य करते रहे, भाव नहीं जुड़े, तो आकाश-कुसुमवत् स्थिति हो जाएगी ? अर्थात् द्रव्य का कोई अर्थ नहीं रहेगा। द्रव्य का अर्थ तब ही है, जब उसमें भाव जुड़ जायँ। द्रव्य एवं भाव का एक प्रकार होना ही सोने में सुहागा है।

पंचाशक-प्रकरण में पूजाविधि

‘पूजा’ की व्युत्पत्ति और परिभाषा —

‘पू’ — पुण्य, पुष्प और पूर्व।

‘जा’ — जाप, जातक, जश और जाल।

पूजा — परमात्मा की पूजा — पुण्य-पाप के जाल को काटकर जो मोक्ष में ले जाए, वह पूजा है।

पू — पानी, पुष्प आदि द्रव्य पूजा तथा

जा — जाप आदि भावपूजा का सम्मिलित रूप है जिसमें, वह पूजा है।

मुख्य रूप से पूजा के दो भेद हैं— द्रव्यपूजा और भावपूजा। जल, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत्, नैवेद्य और फलादि से जिनबिम्ब की पूजा करना द्रव्यपूजा है तथा क्षायोपशमिक आदि भावों से कीर्तन, जाप, चैत्यवन्दन, देववन्दन, ध्यान, गुणस्मरण आदिरूप जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति करना भावपूजा है। अन्तर इतना ही है कि

भावपूजा में परमात्मा को हृदय में स्थापित कराना होता है और द्रव्यपूजा में परमात्मा की मूर्ति की उपर्युक्त द्रव्यों से पूजा करना होती है।

गृहस्थ-वर्ग द्रव्यपूजा करके भावपूजा में स्थित होने का प्रयत्न करता है। चूंकि हृदय के भावों को स्थिर रखना एक कठिन कार्य है, अतः वह द्रव्य के माध्यम से भाव को लाने का पुरुषार्थ करता है। इसी कारण गृहस्थ-वर्ग के लिए द्रव्यपूजा का विधान किया गया है। भावपूजा में परमात्मा के बिम्ब को भावों के आलम्बन का आधार बताया गया है। जहाँ गृहस्थ के लिए द्रव्यपूजा-युक्त भावपूजा कही गई है, वहीं साधु के लिए मात्र भावपूजा कही गई है, क्योंकि अपरिग्रही साधु का मन इतना सधा हुआ होता है कि उसे द्रव्यपूजा की आवश्यकता नहीं है तथा साधु सचित्त वस्तुओं का त्यागी होता है, अतः द्रव्यपूजा का साधुवर्ग के लिए निषेध किया गया है।

पूजा की व्युत्पत्ति और परिभाषा — भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'पूजा' शब्द की द्राविड़ उत्पत्ति स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'पूजा' में पुष्पों का चढ़ाया जाना आवश्यक है, अतः यह पुष्पकर्म कहलाता है। इसी आधार पर पूजा की व्याख्या करते हुए 'मार्क कॉलिन्स' ने उसे द्राविड़ शब्द घोषित किया है, जो "पू" और "गे" से मिलकर बना है। 'पू' का अर्थ है— पुष्प और 'गे' का अर्थ है— करना। इस तरह 'पूगे' का मिला हुआ अर्थ निकला— 'पुष्पकर्म' अर्थात् फूलों को चढ़ाना। इसी 'पूगे' से पूजा शब्द 'पुसु' या 'पुचु' द्राविड़ धातु से बना है, जिसका अर्थ है— चुपड़ना, अर्थात् चन्दन या सिन्दूर से पोतना अथवा रुधिर से रंगना। पूर्व समय में पूजा का यह ही ढंग था।¹

अभिधान राजेन्द्रकोश में 'पूजा' शब्द 'पूज' धातु से माना गया है। 'पूज' ही 'गुराश्च हलः' के द्वारा दीर्घ होकर पूजा का रूप धारण कर लेता है। 'पूज' धातु पुष्पादि के द्वारा अर्चन करने में, गन्ध, माला, वस्त्र, पात्र, अन्न, और पानादि के द्वारा सत्कार अर्थ में, स्तवादि के द्वारा उपचार करने में आती है।²

¹ जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि — डॉ. सागरमल जैन — पृ. — 23

² अभिधान राजेन्द्रकोश — श्री राजेन्द्रसूरि — भाग-5 — पृ. — 1073

परमात्मा की पूजा नहीं करने वाले का इस विषय में कथन है कि शास्त्रों से ज्ञान होता है, अतः शास्त्र उपकारी है, इसलिए शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। चूंकि शास्त्रों के द्वारा ही परमात्मा का एवं परमात्मा के मार्ग का परिचय होता है और शास्त्रों से ही जैन-धर्म की पहचान होती है, अतः शास्त्र ही महत्वपूर्ण हैं।

देवचन्द्रजी महाराज ने भगवान महावीर के स्तवन में कहा है कि जिन-आगम और जिन-प्रतिमा- ये दो ही आत्मा के तारण के लिए माध्यम हैं। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, वह एक ही पक्ष के आग्रह को लेकर नहीं चलता है। शास्त्र से प्रतिमा का स्वरूप जाना जाता है और प्रतिमा से ही जैन-धर्म की पहचान है। यदि आज मन्दिर नहीं होते, प्रतिमाएँ नहीं होती, तो जैन-धर्म की पहचान ही अधूरी रहती, क्योंकि जैनआगम किसी आक्रमण से नष्ट हो गए, तो उसकी प्राप्ति कभी नहीं होगी, लेकिन जिन-मन्दिर किसी आक्रमण में नष्ट हो गए, तो हजारों वर्षों के पश्चात् भी खुदाई में निकलकर वे जैन-धर्म की पहचान का मूल्यांकन पुनः करवा देंगे।

हालांकि शास्त्र भी हमारे लिए श्रुतदेवस्वरूप हैं, अतः जिनकी कृपा से हमें परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हुआ, उनकी पूजा करना भी हमारा कर्त्तव्य है, अतः परमात्मा की पूजा करने वाले, परमात्मा और श्रुतदेव- दोनों की पूजा करते हैं, दोनों का सम्मान करते हैं और दोनों का स्वाध्याय करते हैं।

धर्माभूत में कहा है कि जो भक्तिपूर्वक श्रुत को पूजते हैं, वे परमार्थ से जिनदेव को ही पूजते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ देव ने श्रुत और देव में किंचित् भी भेद नहीं कहा है।¹

पूजाविधि-पंचाशक — पूजाविधि-पंचाशक में जिनपूजाविधि का विवेचन करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र प्रथम गाथा में अपने आराध्य के स्मरण के द्वारा मंगलाचरण करते हैं-

¹ धर्माभूत - पं. आशाधर - द्वितीय अध्याय - पृ. - 85

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 4/1 - पृ. - 57

भगवान् महावीर को प्रणाम करके मैं गुरुजनों द्वारा प्रदत्त उपदेश के अनुसार संक्षेप में महार्थ अर्थात् परमपद को प्राप्त कराने वाली जिनपूजा की विधि का विवेचन करूँगा।

पूजा में विधि का महत्व — किसी भी क्रिया में विधि का महत्व है। विधि के बिना कोई भी क्रिया महत्वपूर्ण नहीं बनती है, अतः हर क्रिया में एक विधि की आवश्यकता होती है। यदि भोजन विधिपूर्वक बनता है, तो वह भोजन ग्रहण करने योग्य होता है, जैसे विधिपूर्वक सब्जी बनाने में नमक, मिर्च, हल्दी, घी, तेल पानी, अन्य मसाला आदि सभी में एक सामन्जस्य होता है, जबकि अविधि से बनाया गया भोजन उपयोगी नहीं होता है, वैसे ही अविधि से की गई पूजा भी उपयोगी सिद्ध नहीं होती है। यह बात पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की दूसरी गाथा में¹ कहते हैं—

यदि खेती आदि क्रियाएँ भी विधिपूर्वक की जाएं, तो वे इस लोक में फलवती होती हैं, तो फिर विधिपूर्वक की गई जिनपूजा उभयलोक (इहलोक और परलोक) में फलवती क्यों नहीं होगी ?

पूजा में सामान्य से विधि—निर्देश — जिनपूजा करने वाला विधि—विधान का पूर्ण रूप से विवेक रखे। सर्वप्रथम पूजा करने वाला पवित्र होकर, अर्थात् वस्त्रादि की शुद्धि से समयानुसार विशिष्ट सामग्री के साथ प्रभु परमात्मा की पूजा करे तथा भावोल्लास के साथ स्तुति, स्तवन, स्तोत्रों के द्वारा जिन—पूजा करें, क्योंकि जो भावपूर्ण उत्तम सामग्री के साथ प्रभु परमात्मा की पूजा करता है, वह शुभ गति को प्राप्त करता है। आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि—पंचाशक में जिन पूजा के विधि—विधान का विवरण करते हुए तीसरी गाथा में² कहा है— पवित्र होकर उचित समय पर विशिष्ट पुष्पादि से तथा उत्तम स्तुति—स्तोत्र आदि से जिन—पूजा करना चाहिए।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/2 — पृ. — 57

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/3 — पृ. — 57

³ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/4 — पृ. — 58

यह द्वारगाथा है। इसमें निर्दिष्ट काल, शुचि, पूजा-सामग्री, विधि और स्तुति-स्तोत्र- इन पाँच द्वारों का क्रमशः विवेचन किया है। इसके पश्चात् प्रणिधान और पूजा की निर्दोषता- इन दो प्रकरणों का विवेचन किया है।

कालद्वार - समय का महत्त्व होता है, अर्थात् जो कार्य जिस समय पर करने का है, वह कार्य उसी समय पर करना चाहिए, जिससे कार्य का परिणाम सुन्दर हो। जिस प्रकार समय पर सोना, समय पर उठना, समय पर भोजन करना, समय पर व्यापार करना, समय पर विद्यालय जाना, समय पर अपने गृह में आना- ये सारे कार्य समय पर होते हैं, तो वे जीवन के लिए हितावह होते हैं, उसी प्रकार धर्म-कार्य भी समय पर करने पर आत्महितकारी होता है। यही बात आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की चौथी गाथा में³ कही है-

जिस प्रकार उचित समय पर किया गया कृषि-कार्य बहुत फलदायी होता है, उसी प्रकार सभी धर्म-क्रियाएँ यथासमय की जाए, तो बहुत लाभदायक होती हैं।

जिनपूजा में काल - परमात्मा की पूजा का विधान तीन समय है। वर्तमान में भी यह विधान तीन समय ही बताया गया है, पर वर्तमान में पूजा अधिकांशतः प्रातःकाल ही की जाती है, मध्याह्न एवं सायंकाल की पूजा जनसमूह में गिने-चुने लोग ही करते हैं। उसमें भी, एक ही व्यक्ति तीनों कालों में पूजा करे, यह देखने तथा सुनने को बहुत ही कम मिलता है, क्योंकि वर्तमान में लोगों का प्रभु परमात्मा के प्रति अहोभाव कम है। यदि व्यक्ति में प्रभु परमात्मा के प्रति बहुमान के भाव, अहोभाव के भाव, समर्पण के भाव हों, तो अवश्य ही वह तीन बार परमात्मा के द्वार पर पहुँचेगा ?

जैन-परम्परा में दो बार प्रतिक्रमण के लिए उपाश्रय में पहुँचे व तीन बार पूजा के लिए जिनालय में पहुँचे, अर्थात् श्रावक को कुल पाँच बार धार्मिक-स्थल पर बारह माह ही पहुँचने का विधान है। ऐसे ही क्रम में, मुस्लिम सम्प्रदाय में भी पाँच बार मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ना होती है, अतः अधिकांश मुस्लिम पाँच बार मस्जिद पहुँच जाते हैं, क्योंकि उनको अपने धर्मगुरु के आदेश पर विश्वास है, उसके प्रति बहुमान है।

जैनों में कई लोगों का तर्क रहता है कि मन्दिर जाओ, उपाश्रय जाओ, शुद्धि करो, वस्त्र बदलो, फिर जाओ, अतः यह सब करने में आलस आता है, या समय नष्ट होता है, इसलिए जाने की इच्छा नहीं होती है— ये सब विधि नहीं करने के बहाने हैं। पाँच बार नमाज पढ़ने वाला मुस्लिम नमाज पढ़ने के पूर्व पाँचों बार शुद्धि की क्रिया करता है, जिसे करने में 10 से 15 मिनट लगते हैं, उसमें भी नमाज पढ़ने का समय निश्चित होता है। वे चाहे जब नमाज नहीं पढ़ने लगते हैं, जो समय निर्धारित होता है, उसी समय में पड़ते हैं, फिर कितना भी काम क्यों न हो, भले वे गाड़ी ही क्यों न चला रहे हो, भले ही उनकी दुकानों पर ग्राहक क्यों न खड़ा हो, भले ही उनके लिए हजारों की कमाई का प्रसंग ही उस समय क्यों न हो। समय तो समय है।

जैन-धर्म में भी प्रतिक्रमण, पूजा, प्रतिलेखन आदि सभी कार्य समय-समय पर ही करने का विधान है। इसी प्रकार, आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की पाँचवीं गाथा में¹ समयानुसार पूजा करने का निर्देश दिया है तथा अपवादरूप में अन्य समय में भी पूजा करने का विधान बताया है, पर यह विधान उन लोगों के लिए है, जो किसी भी दशा में यह समय नहीं निकाल सकते हैं, अर्थात् वे, जो चाहते हुए भी निर्धारित समय (आजीविका के कारण) नहीं निकाल सकते हैं, उनके लिए समय की छूट दी गई है, ताकि कहीं वे धर्ममार्ग से च्युत न हो जाएँ। सामान्यतया ; प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल— इस प्रकार तीन बार पूजा करना चाहिए और यदि इन तीनों कालों में सम्भव नहीं हो, तो (अपवादपूर्वक) नौकरी, व्यापार आदि आजीविका के समय के अतिरिक्त जब भी समय मिले, तब पूजा करना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब पूजा का समय निर्धारित है, तो फिर आजीविका का ख्याल क्यों रखा गया ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की छठवीं से आठवीं तक की गाथाओं में² प्रस्तुत किया है जो निम्न है—

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/5 - पृ. - 58

² पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/6 से 8 - पृ. - 58,59

परमार्थ से सुखवृद्धि की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान पुरुष को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे स्व-पर कल्याण की परम्परा का विच्छेद न हो, अपितु उसकी वृद्धि हो। यदि आजीविका के अर्जन के समय पूजा की जाएगी, तो कल्याण की परम्परा का विच्छेद हो जाएगा।

आजीविका के व्यवच्छिन्न होन पर गृहस्थों की सभी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। सर्वथा निरपेक्ष व्यक्ति के लिए तो सर्वविरतिरूप संयम ही योग्य है, क्योंकि सर्वविरतिरूप संयम के बिना निःस्पृह बनना सम्भव नहीं है। गृहस्थ के लिए सर्वथा निःस्पृह बनकर रहना असम्भव है, अतः उसे आजीविका का अर्जन करना होगा। आजीविका का व्यवच्छेद हो जाने पर तो गृहस्थ की समस्त क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, इसलिए आजीविका सम्बन्धी क्रियाओं में व्यवधान न पड़ता हो— ऐसे समय पर पूजा का अभिग्रह करना चाहिए। नित्य जिन-पूजा किए बिना मैं खाना नहीं खाऊंगा, पानी नहीं पीऊंगा— इस प्रकार के अभिग्रहों में ऐसा कोई भी अभिग्रह (नियम) लेना चाहिए जो आजीविका का बाधक न हो। गृहस्थों के लिए जिनपूजा का वही काल कहा गया है, जो आजीविका अर्जन में बाधक नहीं हो, साथ ही अभिग्रह लेने से प्रतिदिन पूजा करने का परिणाम (भाव) भंग नहीं होता है। अभंग परिणाम (भाव) अभंग पुण्य-बन्ध का हेतु है।

शुद्धि-विचार — परमात्मा की पूजा के लिए पवित्रता का होना आवश्यक है और इस पवित्रता की अपेक्षा केवल शरीर से ही नहीं है, मन से भी है, क्योंकि बाह्यशुद्धि आन्तरिक शुद्धि का हेतु बनती है। हम व्यवहार में भी देखते हैं कि यदि कोई आपके घर पर आए, वह गन्दे कपड़ों में है, उसने स्नान नहीं किया है, तो आप उससे घृणा करेंगे, मन में कहेंगे कि कैसा गन्दा व्यक्ति है, स्नान भी नहीं कर सकता है। कई लोग ऐसे भी होते हैं कि मुँह पर ही कह देते हैं कि इतने गन्दे हो, 'छीं', कैसे रहते हो ? साफ रहा करो। मन्दिर, उपाश्रय आदि में भी लोग टोक देते हैं और ऐसे व्यक्ति से घृणा भी करते हैं, उसके पास में बैठना भी पसन्द नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में मन तटस्थ नहीं रह सकता है। सामने वाले के प्रति मन में क्रोध, घृणा आदि उत्पन्न हो ही जाएगी, तो मन

की भी पवित्रता नहीं रहेगी, अतः मन की पवित्रता के लिए तन की पवित्रता भी आवश्यक है, इसलिए प्रभु-पूजा के लिए स्नान आवश्यक है। वर्तमान में कई लोगों का प्रश्न है कि स्नान करने पर हिंसा होती है, और हिंसा में कैसा धर्म है ? यह तो धर्म के विरुद्ध है। सर्वप्रथम, हमारे यहाँ हिंसा वह बताई गई है, जिससे हिंसित व्यक्ति के मन में हिंसा करने वाले व्यक्ति के प्रति परिणामों में क्रूरता आए, किन्तु ऐसी हिंसा स्नान करने में, पुष्पादि चढ़ाने में नहीं होती है। पानी, पुष्प आदि में हिंसा है, पर ऐसी हिंसा में स्व-पर कल्याण के ही भाव हैं न कि हिंसा के भाव। घर से गाड़ी में स्थानक (उपाश्रय) प्रवचन सुनने गए, हिंसा हुई, पर भाव प्रवचन सुनने के थे, गुरु-दर्शन के थे, तो वह हिंसा स्व-पर कल्याण का कारण बनी। आपके बच्चे ने गलत हरकत की। आपने उसे चाँटा मारा, पर आपको हिंसा का दोष नहीं लगा, क्योंकि आपमें उसको सुधारने के भाव थे। आपने सरोवर खुदवाया, हिंसा हुई, पर आपके भाव परोपकार के थे, अतः हिंसा होकर भी हिंसा का पाप नहीं लगा, अतः, द्रव्यपूजा के लिए स्नान करना आदि दोषरूप नहीं हुआ। हाँ, यदि अपनी विभूषा के लिए स्नान किया जाता है, तो हिंसा है, क्योंकि इस स्नान में आसक्ति है। प्रभुपूजा के उद्देश्य य से स्नान करने का विधान है और इस स्नान की विधि में विवेक, यतना रखने की बात कही गई है कि एक लोटे पानी से स्नान हो सकता है, तो एक बाल्टी पानी का दुरुपयोग न करें। स्नान किए हुए पानी को सूखे स्थान (मिट्टी अथवा छत) पर डालें, स्नान-परात या टब में बैठकर करें, पानी की एक बूंद भी नालि आदि में व्यर्थ नहीं जाना चाहिए, जिससे धर्म के निमित्त में होने वाली सूक्ष्म हिंसा से भी बचा जा सकता है। इस प्रकार भाव से तो पूर्णतः हिंसा से बचे हुए होते हैं, द्रव्य से और बच सकते हैं, क्योंकि द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि— दोनों की पूर्णतः अपेक्षा है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की नौवीं से तेरहवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 4/9 से 13 - पृ. - 59 से 61

द्रव्य और भाव— इन दो प्रकारों से पवित्र होकर जिनपूजा करना चाहिए। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना द्रव्य—पवित्रता है और अपनी स्थिति के अनुसार नीतिपूर्वक प्राप्त किए गए धन से श्रद्धापूर्वक पूजा करना भाव—पवित्रता है।

खेती, व्यापारादि से सदा पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसारूप कार्य में स्थित गृहस्थों को जिनपूजा के लिए यत्नपूर्वक स्नान करना भी नियम से पुण्यबन्ध के लिए ही होता है, क्योंकि यह शुभभाव का हेतु है।

जिस प्रकार कुआँ खोदने में बहुत से जीवों की हिंसा होती है, किन्तु कुआँ खोदने या खुदवाने वाले का आशय हिंसा करना नहीं, अपितु जल निकालना होता है, जिससे बहुत से लोकोपकारी कार्य सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार जिनपूजा के लिए स्नान करने में थोड़ी हिंसा तो होती है, किन्तु पूजा के फलस्वरूप पुण्यबन्ध होने से लाभ ही होता है।

स्नानादि करने की भूमि का जीव—रक्षा के लिए निरीक्षण करना चाहिए, जल को छान लेना चाहिए, पानी में मक्खियाँ न पड़ जाएँ, इसका ध्यान रखना चाहिए, यही स्नानादि में यतना है।

प्रश्न — यतनापूर्वक स्नान करना शुभभाव का कारण है, इसकी प्रामाणिकता क्या है ?

उत्तर — इसमें अनुभव प्रमाण है। यतनापूर्वक स्नान करने से शुभ अध्यवसाय होता है— यह बुद्धिशालियों को अनुभव सिद्ध है।

गृहकार्यों में आरम्भ आदि कार्य करने वाले गृहस्थ को जिनपूजा में आरम्भ होता है— ऐसा जानकर उसमें स्नान आदि का त्याग करना उचित नहीं है , क्योंकि इससे लोक में जिनशासन की निन्दा और अबोधि (सम्यक्त्व की अप्राप्ति)— ये दो दोष आते हैं।

स्नान किए बिना पूजा करने से शास्त्र—विधि का निषेध होता है और लोक में जिनशासन की निन्दा होती है, इस निन्दा में कारण बनने वाले को भवान्तर में जिन—शासन की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए स्नान आदि करके शुद्ध वस्त्र पहनकर ही पूजा करनी चाहिए।

इसी प्रकार, न्याय-नीति से रहित अशुद्ध जीविका के अर्जन से भी अधिक दोष लगते हैं, क्योंकि द्रव्यशुद्धि के अभाव की अपेक्षा भावशुद्धि के अभाव में अधिक दोष लगते हैं। (इसमें अज्ञानता, निन्दा और अबोधि के अतिरिक्त राजदण्ड इत्यादि दोष अधिक लगते हैं), इसलिए द्रव्य और भाव- इन दोनों प्रकारों की शुद्धि से युक्त होकर जिनपूजा करनी चाहिए।

पूजा-सामग्री द्वार - पूजा करने वाला स्वद्रव्य से पूजन की सामग्री लेकर परमात्मा के द्वार जाए। पूजन की सामग्री यथा- चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत नैवेद्य, फलव विभिन्न प्रकार के रस, वस्त्र आदि सभी उत्तम से उत्तम लेकर जाएँ, क्योंकि जितनी उत्तम वस्तु होगी, उतनी ही भावना में शुद्धि होगी, तथा उत्तम सामग्री देखकर दूसरों का भावोल्लास भी बढ़ेगा ? वर्तमान में कई लोग चाहे जैसी पूजासामग्री परमात्मा के सम्मुख चढ़ा देते और उन्हें कोई कहता है, तो वे तर्क करने लगते हैं कि क्या हो गया, चढ़ा दिया तो ? क्या भगवान् उसे खाएंगे ? वह तो पुजारी को जाएगा, परन्तु ध्यान रहे, हम पुजारी को देने के भाव से नहीं चढ़ाते। कौन ले जाएगा ? कौन खाएगा ? ये सारे प्रश्न मस्तिष्क में नहीं होना चाहिए। मन तो केवल उत्तम द्रव्यसामग्री से उत्तम भावों की श्रेणी में चढ़ने के लिए होना चाहिए, क्योंकि सारी द्रव्यपूजाभावपूजा में स्थिर होने हेतु सेतु का कार्य करता है।

कई लोग खूब सस्ती चॉकलेट आदि चढ़ा देते हैं, मानो भगवान् बच्चे है। उन्हें चॉकलेट, मखाना आदि चढ़ाकर राजी कर दें। ऐसे लोग मेहमान को खुश करने के लिए तो रसगुल्ले, पेड़े, लड्डु आदि बढ़िया-बढ़िया मिठाई परोसते हैं और भगवान् के सामने चॉकलेट, सस्ती गोलियां, दाग लगे हुए सस्ते फल आदि चढ़ा देते हैं। ये फल सड़े हुए हैं, घर के लोग तो खाएंगे नहीं, अतः चढ़ा दो- इस प्रकार के विचार से चढ़ाने पर पूजा कभी फलदायक नहीं होती है, क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है कि जैसा बीज, वैसा फल। बबूल का बीज बोया है, तो आम का फल नहीं मिलेगा तथा आम का बीज बोया है, तो उसमें बबूल का फल नहीं लगेगा, जो बोया है, वही प्राप्त होगा। उत्तम द्रव्य उत्तम भाव से चढ़ाते हैं, तो उत्तम द्रव्य की प्राप्ति होगी।

कई लोगों का यह भी तर्क है कि हम कुछ भी चढ़ाएँ, कैसा भी चढ़ाएँ, अथवा नहीं भी चढ़ाएँ, पर हमारे भाव सुन्दर हैं, तो फिर हमें उत्तम फल की प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? उनका तर्क ठीक है कि भाव जब सुन्दर हैं, तो कुछ भी करें, कैसे भी करें, न भी करें, तो फल तो उत्तम ही मिलेगा, पर इस प्रकार की सामग्री चढ़ाने पर व्यवहार—जगत् में आपकी बुराई तो होगी ही, और वे किसी के कर्मबन्धन के निमित्त बनते जाएंगे। चाहे जैसी सामग्री चढ़ाने से तो आपके भी अशुभ कर्म के बन्ध होंगे ही। अतः, भाव—जगत् के साथ व्यवहार जगत् भी सुन्दर होना चाहिए, अर्थात् सुन्दर भावों के साथ बाह्यद्रव्य भी सुन्दर होने चाहिए। इन्हीं बातों को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की चौदहवीं से अठारहवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं —

“उत्तम सुगन्धित पुष्प, धूप, सभी प्रकार की सुगन्धित औषधियों, विभिन्न प्रकार के रसों एवं जलों (यथा— इक्षुरस, घी, दूध आदि) से जिन प्रतिमा को स्नान कराना, सुगन्धित चन्दन आदि का विलेपन करना, उत्तम सुगन्धित पुष्पों की माला, नैवेद्य, दीपक, सरसों, दही, अक्षत्, गोराचन तथा दूसरी मंगलभूत वस्तुएँ, स्वर्ण, मोती, मणि, आदि की विविध मालाएँ आदि द्रव्यों से अपनी समृद्धि के अनुसार जिनपूजा करना चाहिए।”

उत्तम द्रव्यों (साधनों) से पूजा करने से भाव भी प्रायः उत्तम होता है। ऐसा भी होता है कि किसी क्लिष्ट कर्म वाले व्यक्ति का भाव उत्तम द्रव्यों से भी उत्तम नहीं होता है और किसी भाग्यशाली जीव का भाव उत्तम द्रव्यों के बिना भी उत्तम हो जाता है। पुण्योदय से मिली उत्तम वस्तुओं का उपयोग जिनपूजा के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ अच्छा हो सकेगा।

इहलोक और पारलौकिक—कार्यों में पारलौकिक—कार्य प्रधान होता है, क्योंकि इहलौकिक कार्य नहीं करने से जो अनर्थ होता है, उससे कहीं अधिक अनर्थ पारलौकिक कार्यों को नहीं करने से होता है। वह पारलौकिक—कार्य भावप्रधान होता है। भावरहित पारलौकिक कार्य लाभदायी नहीं होता है। उत्तम भाव उत्पन्न करने के लिए उत्तम साधन होना चाहिए। जिनपूजा पारलौकिक कार्य है, अतः जिनपूजा में उत्तम साधनों के उपयोग का सर्वोत्तम स्थान है।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/14 से 18 — पृ. — 61 से 62

उत्तम द्रव्यों के कारण उत्तम भाव होने से अपने वैभव के अनुसार उत्तम पुष्पादि साधनों से बुद्धिमान लोगों को जिनेन्द्रदेव की बहुमानपूर्वक पूजा करना चाहिए। विधिद्वार – जहाँ पूजा की सामग्री उत्तम होना चाहिए, वहीं उस सामग्री को कैसे चढ़ाना— यह विधि भी उत्तम होना चाहिए, अर्थात् परमात्मा के चरणों में पुष्प चढ़ाएँ, तो व्यवस्थित रूप से सजाएँ, जिससे देखने वाले प्रभू परमात्मा की प्रशंसा करें कि भगवान् कितने सुन्दर लग रहे हैं। नैवेद्य चढ़ाएं, तो उसे भी सजाकर चढ़ाएं, स्वस्तिक बनाएं, तो एक-समान बनाएं, नए-नए ढंग से हर दिन स्वस्तिक बनाएँ, जिससे बनाते समय स्वयं को एवं देखने वालों को कुछ क्षणों के लिए भावों की तन्मयता बने, क्योंकि पूजा में एकाग्रता का होना आवश्यक है। यदि सामग्री के अनुरूप चिन्तन करते हुए व्यवस्थित रूप से सजाकर चढ़ाते हैं, तो मन की एकाग्रता अवश्य बनती है।

पूजा करते समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारा उच्छ्वास प्रभु पर न जाए, इसलिए मुखकोश आठपट्ट को नासा से ठोड़ी तक बांधना चाहिए, तथा पूजा करते समय अपने हाथों का स्पर्श अपने शरीर के किसी भी अंग से नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमारा शरीर पसीने आदि दुर्गन्ध से युक्त होता है। यदि पूजा के समय हाथों को शरीर से स्पर्श करते हैं, तो प्रभु परमात्मा की आशातना होती है। इन आशातनाओं से बचने के लिए प्रभु परमात्मा के प्रति अत्यन्त बहुमान होना चाहिए, क्योंकि परमात्मा का बहुमान करने से ही स्वयं को भी जगत् में बहुमान मिलता है।

व्यवहार में अनुभव होता है कि हम-आप किसी का काम करते हैं, तो वह भी हमारा सहयोग करने को तैयार रहता है। हम किसी से मधुर बोलते हैं, तो सामन वाला भी हमसे मधुर बोलता है।

एक सेवक भी स्वामी की सेवा करके सेवा का फल प्राप्त कर लेता है, तो एक भक्त भगवान् की सेवा करके भगवत् पद को क्यों नहीं पा सकता ? पा सकता है, पर शर्त यह है कि पूजा बहुमानपूर्वक, समर्पणपूर्वक, विधिपूर्वक होना चाहिए। यही बात

आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि—पंचाशक की उन्नीसवीं से बाईसवीं तक की गाथाओं में कही है—

जिनपूजा में सामान्य विधि (चौथी से अठारहवीं गाथा तक में) बतलाई गई है। विशेष विधि इस प्रकार है— पूजा इतने आदर से करना चाहिए कि चढ़ाई गई पूजा की सामग्री देखने में अच्छी लगे। जैसे, पुष्पादि इस तरह चढ़ाना चाहिए कि वे सुशोभित हो। इसी तरह, प्रत्येक वस्तु का अच्छी तरह उपयोग करके पूजन—सामग्री का दृश्य सुन्दर बनाना चाहिए। पूजा करते समय दूसरी कोई भी क्रिया नहीं करना चाहिए।

वस्त्र से नासिका बांधकर पूजा करना चाहिए, जिससे दुर्गन्धयुक्त श्वास आदि प्रभु को न लगे। नासिका बांधने पर यदि असुविधा हो, तो नासिका बांधे बिना भी पूजा की जा सकती है। पूजा आदि करते समय भारीर को खुजलाना, नाक से श्लेश्म निकालना, विकथा करना आदि क्रियाओं का त्याग करना चाहिए।

केवल पूजा में ही नहीं, अपितु लोक में भी जो सेवक अपने स्वामी राजादि का कार्य आदरपूर्वक करता है, उसे भी सेवा का फल मिलता है, क्योंकि राजा उस पर खुश होता है और जो अपने स्वामी का कार्य अनादरपूर्वक करता है, उसे सेवा का फल नहीं मिलता है, उल्टे स्वामी के नाराज होने के कारण शारीरिक और मानसिक कष्ट पाता है। जब एक छोटे से देश के स्वामी राजादि की आदरपूर्वक सेवा करने पर ही फल मिलता है, तो तीनों लोकों के स्वामी जिनेन्द्रदेव की पूज—स्तुति आदि भी अधिक आदर से की जाए, तो ही फल मिलेगा, इसीलिए बुद्धिजीवियों को जिनेन्द्रदेव की पूजा अत्यादरपूर्वक करना चाहिए।

स्तुति—स्तोत्रद्वार— प्रभु परमात्मा का गुणगान, बहुमानपूर्वक स्तवना, स्तुति आदि उत्तम स्तुति एवं स्तोत्रों से करना चाहिए, अर्थात् वे स्तुति, स्तोत्र, गूढ़ सार अर्थों से परिपूर्ण होना चाहिए, जिससे उनको बोलते हुए, श्रवण करते हुए शुभभाव बने रहें। स्तुति स्तोत्रों के अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि सूत्र के साथ अर्थ और भावपूर्ण बनता है, अशुभ कर्मों की निर्जरा करता है, फिर भी अर्थ का ज्ञान न हो, तो भी वे स्तुति, स्तोत्र

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/19 से 22 — पृ. — 63

शुभभाव के हेतु ही रहते हैं। जैसे, विषधर ने किसी को डंस दिया हो और विष उतारने के लिए मन्त्र बोला जा रहा हो, पर विषधारी को मन्त्र के अर्थ का ज्ञान नहीं है, फिर भी मन्त्र उसके जहर को समाप्त कर रहा है, क्योंकि मन्त्र का प्रभाव है, वैसे ही स्तुति-स्तोत्र का अर्थ समझ में नहीं आ रहा है, फिर भी शुभभावोत्प्लास से बोला जा रहा है, तो वे स्तुति-स्तोत्र आदि अशुभ कर्मरूप जहर को समाप्त करते ही हैं, अतः स्तुति-स्तोत्रपूर्वक चैत्यवन्दना करना— इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की तेईसवीं से लेकर अठ्ठाइसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

उपर्युक्त विधिपूर्वक जिनपूजा करने से भगवान् जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमान (सम्मान) भी होता है और नियमपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। सारभूत स्तुति तथा स्तोत्र सहित चैत्यवन्दन से भी भगवान का सम्मान होता है।

विशेष— (एक श्लोक को स्तुति व अनेक भूलोकों को स्तोत्र कहते हैं।)

भगवान् जिनेन्द्रदेव के सद्भूत गुणों का संकीर्तन करने वाली गम्भीर पद और अर्थ से युक्त सारभूत (श्रेष्ठ) स्तुतियाँ या स्तोत्र होने चाहिए।

उन स्तुतियों और स्तोत्रों के अर्थ का ज्ञान होने पर नियमतः परिणाम शुद्ध होता है, क्योंकि उनका भाव शुभ होता है और जिनका अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, उनका भी रत्नज्ञानन्याय से परिणाम शुभ ही होता है।

जिस प्रकार ज्वरादि का शमन करने वाले रत्नों के गुण का ज्ञान रोगी को नहीं होने पर भी रत्न उसके ज्वर को शान्त कर देता है, क्योंकि रत्न का यह स्वभाव ही होता है, उसी प्रकार भावरूपी रत्नों से युक्त स्तुतिस्तोत्र भी शुभभाव वाले होने के कारण उनके अर्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी कर्मरूपी ज्वरादि रोगों को दूर कर देते हैं।

सारभूत स्तुति-स्तोत्रों से शुभ परिणाम होने के कारण पूजा करने के बाद स्तुति-स्तोत्रपूर्वक ही चैत्यवन्दन करना चाहिए। चैत्यवन्दन जिनाज्ञा के अनुसार अस्खलित गुणों से युक्त और भावपूर्वक ही करना चाहिए। अस्खलित गुण आदि अनुयोगद्वारा ग्रन्थ से जान लेना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/23 से 28 — पृ. — 64 से 66

पूजापूर्वक किया गया यह चैत्यवन्दन कर्मरूपी विष का नाश करने वाला परममन्त्र है— ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं, इसलिए यह करने योग्य है। इस चैत्यवन्दन की मुद्रा जिनों द्वारा आचरित अविचलित कायोत्सर्ग की मुद्रा है।

प्रणिधान—प्रकरण— चैत्यवन्दन के पश्चात् प्रणिधानसूत्र बोलने वाले का विधान है, अर्थात् परमात्मा के सम्मुख शुभसंकल्प करना, क्योंकि शुभसंकल्प से ही आत्मा का उत्थान होता है, विघ्नों का निवारण होता है, इच्छित फल की प्राप्ति होती है, आत्मतोष होता है, चित्त प्रसन्न रहता है, आत्मगुणों का विकास होता है, अतः आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की उन्नीसवीं गाथा में¹⁰⁵ यही निर्देश करते हैं— चैत्यवन्दन समाप्त होने पर प्रणिधान करना चाहिए, क्योंकि प्रणिधान से धर्मकार्य में प्रवृत्ति, उसमें आने वाले विघ्नों पर विजय, प्रारम्भ किए गए कार्य की सिद्धि और अपनी एवं दूसरे की धर्म—प्रवृत्ति को स्थिर बनाना सम्भव होता है। धर्मकार्य में प्रवृत्ति आदि इच्छा वाले व्यक्ति को प्रणिधान अर्थात् शुभसंकल्प अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित होता है कि परमात्मा की पूजा से इस प्रकार का संकल्प करना निदान होगा ? और जैनदर्शन में निदान करने वालों को मिथ्यात्व माना गया है ?

आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि—पंचाशक की तीसवीं एवं इकतीसवीं गाथाओं में¹ इस प्रश्न का समाधान दिया है, तथा प्रणिधान की अनिवार्यता बताई गई है— प्रणिधान (शुभ संकल्प) को निदान नहीं कह सकते हैं, क्योंकि निदान में अशुभ कर्मबन्ध की कारणभूत लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की मांग की जाती है, जबकि प्रणिधान में शुभ की। अशुभ कर्म का बंध कराने वाली लौकिक वस्तुओं की मांग निदान है, न कि शुभ की। प्रणिधान बोधि की प्रार्थना के समान है। बोधि—प्रार्थना के ही समान शुभभाव का हेतु होने के कारण प्रणिधान निदान नहीं है। यदि प्रणिधान निदानरूप होता, तो चैत्यवन्दन के अन्त में उसे करने का निर्देश नहीं दिया जाता, क्योंकि निदान शास्त्र निषिद्ध है।

105

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/30,31 — पृ. — 66,67

² पंचशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/32 — पृ. — 67

इस प्रकार प्रणिधान करने से नियमतः इष्टकार्य की सिद्धि होती है, अन्यथा संकल्प-रहित, मात्र द्रव्यरूप प्रवृत्ति से न तो भाव ही बनते हैं और न इष्टफल की प्राप्ति ही सम्भव होती है, अतः प्रणिधान करना आगमानुकूल है— ऐसा जानना चाहिए और इसे यथासम्भव करना चाहिए।

प्रश्न — प्रणिधान नहीं करें, तो क्या कठिनाई आती है ?

उत्तर — प्रणिधान (शुभ संकल्प) नहीं करने से इष्टफल की प्राप्ति नहीं होती है। प्रणिधान नहीं करने से धार्मिक अनुष्ठान द्रव्यरूप होते हैं, भावरूप नहीं बन पाते। प्रणिधान से धार्मिक अनुष्ठान भावरूप बन जाते हैं, अतः प्रणिधान इष्टसिद्धि का कारण होने से उचित अवसरों पर उसका करना आवश्यक है।

प्रणिधान करने की विधि आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में¹ बताई है कि प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिए। चूंकि हर क्रिया की विधि होती है और विधिपूर्वक की गई सम्पूर्ण क्रिया फलदाई होती है, अतः मोक्षार्थी जीव को उपयोगपूर्वक पूरी श्रद्धा से सिर पर हाथों की अंजलि लगाकर आदरपूर्वक नित्य प्रणिधान (शुभसंकल्प) सूत्र बोलना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रणिधान कैसे करना चाहिए, क्योंकि चाहे जो सांसारिक शुभ संकल्प भी परमात्मा के समक्ष नहीं करना चाहिए। वहीं शुभ संकल्प होना चाहिए, जो आत्म-विकास में, आत्म-दर्शन में, आत्मा से परमात्मा के रुपान्तरण में सहयोगी बने तथा ऐसे शुभसंकल्पों को ही प्रणिधान कहा गया है। ऐसे शुभसंकल्प (प्रणिधान) आठ बताए गए हैं, जिसका विवरण पूजाविधि-पंचाशक की तैत्तिरीय एवं चौत्तीसवीं गाथाओं में¹ दिया गया है—

हे वीतराग! हे जगद्गुरु ! आपकी जय हो। हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफलसिद्धि, लोकविरुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग, गुरुजनपूजा,

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि- 4/33,34 - पृ. - 67

परार्थकरण, शुभगुरुयोग और संसार—सागरपर्यन्त, अर्थात् मोक्ष नहीं मिले, तब तक अखण्ड गुरु—आज्ञा का पालन— ये आठ भाव प्राप्त हों।

1 भवनिर्वेद — संसार के प्रति विरक्ति धर्मसाधना की नींव है। बिना भवनिर्वेद के धर्म—साधना बिना नींव के मकान के समान होती है। जिन्हें संसार से उद्वेग नहीं है, वे मोक्ष के लिए प्रयत्न कैसे कर सकते हैं, क्योंकि संसार और मोक्ष— दोनों एक—दूसरे के विरोधी हैं।

2 मार्गानुसारिता — कदाग्रह से रहित तात्त्विक—मार्ग का अनुसरण करना मार्गानुसारिता है। अपनी ही मान्यता को सत्य मानने वाले दूसरों की सच्ची बात को समझने का प्रयत्न नहीं करते, और उनको कोई समझाए, तो भी वे मानने को तैयार नहीं होते हैं। इस प्रकार कदाग्रह से सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, अतः सत्य को प्राप्त करने के लिए कदाग्रह से मुक्त होकर सत्य का अनुसरण करने की प्रवृत्ति मार्गानुसारिता है।

3. इष्टफलसिद्धि — धर्म में प्रवृत्ति हो— ऐसी लौकिक आवश्यकताओं की उपलब्धि। जीवन के लिए उन आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होनी चाहिए, जिससे उल्लासपूर्वक धर्म में प्रवृत्ति हो सके, इसलिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की मांग करनी चाहिए।

4. लोकविरुद्ध त्याग— लोकविरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति करने से लोगों के चित्त में संक्लेश होता है, द्वेष होता है और इससे उनकी अनर्थ में अर्थात् निन्दा आदि की वृत्ति होती है, फलतः लोकविरुद्ध प्रवृत्ति एक बड़े अनर्थ का साधन हो जाती है।

5. गुरुजन—पूजा— माता, पिता, विद्यागुरु, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, और धर्मोपदेशक— ये सब शिष्ट पुरुष गुरु के रूप में मान्य हैं। धार्मिकता प्राप्त करने के लिए इन गुरुओं का आदर करना आवश्यक है।

6 परार्थकरण— परोपकार के कार्य करना। धर्म प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिए भी स्वार्थ से परे होकर लोकोपकारी कार्य करना चाहिए।

7. शुभगुरु—योग— रत्नत्रयरूप गुणों से सम्पन्न उत्तम गुरु का संयोग भी आवश्यक है।

8. शुभगुरुवचनसेवा— चारित्रवान् आचार्य की आज्ञा का पालन। मोक्ष नहीं मिले, तब तक गुरु के प्रत्येक उपदेश का पालन अनिवार्य है।

विशेष — प्रणिधान का अर्थ निश्चय या संकल्प होता है। यहाँ इसका तात्पर्य है— प्रार्थनागर्भित संकल्प, क्योंकि इसमें प्रभु के समक्ष एकाग्रचित्त होकर भवनिर्वेद आदि की याचना की जाती है।

परमात्मा के सम्मुख — प्रणिधान करने का भी समय होता है कि कब तक प्रभु से मांगते रहें, अर्थात् भवनिर्वेद आदि भाव जब स्वभाव बन गया हो, तो फिर मांगने की जरूरत नहीं है। मांगना तभी तक है, जब तक संसार से उब न हो, विरक्ति न हो। वर्तमान में हमारी स्थिति तो अभी उस ओर नहीं पहुँची, अतः प्रार्थना करने में पूर्णतः भाव होने चाहिए। चूँकि शब्द तो जड़ हैं, भावों में जीवनता होती है, अतः अन्तर-भाव से शुभसंकल्प करना चाहिए, जिससे संसार से अप्रीति हो जाए और संसार की यह अप्रीति ही जीव की अप्रमत्तदशा है, और यह अप्रमत्तदशा ही अयोगी के निकट पहुँचने का आलम्बन है। सागर पार होने के लिए आलम्बनरूप एक नौका मिल गई, तो फिर अन्य नौका के आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार, अप्रमत्तदशा का आलम्बन प्राप्त होने के बाद अन्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

यही बात आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की पैंतीसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

भवनिर्वेद, अप्रमत्तदशा आदि की उच्चकक्षा की उपलब्धि तक या मोक्षरूप फल न मिले, तब तक याचना करना चाहिए। यह मत भी उचित है, क्योंकि दोनों का भाव एक ही है। भवनिर्वेद आदि गुण जब उच्चकोटि के बनते हैं, तब ही अप्रमत्तदशा या मोक्ष मिलता है। यहाँ भवनिर्वेद आदि गुण जब तक न मिले, तब तक प्रार्थना करना योग्य है, अथवा भवनिर्वेद आदि के उच्चकोटि के भाव बनते हैं, तो अप्रमत्तदशा या मोक्ष मिले बिना रहता नहीं है, इसलिए भवनिर्वेद आदि गुण न मिले, तब तक प्रार्थना करना योग्य है। इन दोनों का भाव समान है। अप्रमत्त-गुणस्थान से पहले, अर्थात् छठवें गुणस्थान

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/35 - पृ. - 69

तक यह प्रार्थना करना उचित है, उसके बाद नहीं, क्योंकि इस प्रार्थना में भी राग होता है। अप्रतलदशा में राग नहीं होता है। इसमें साधक मोक्ष और संसार—दोनों से निःस्पृह रहता है, इसलिए वह प्रार्थना भी नहीं करता है।

प्रणिधान भी निदान नहीं है। इसका प्रमाण आगमानुसार आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में² देते हैं—

मोक्ष के हेतुओं की प्रार्थनारूप से, जोकि प्रणिधान—संकल्प के योग्य पुरुषों (अप्रमत्त—संयतो) के होते हैं, उनको निदान नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह आगमसम्मत है। जिस प्रकार बोधिलाभ (जिनधर्म—प्राप्ति) के लिए गणधरकृत 'लोगस्ससूत्र' में की गई प्रार्थना उचित मानी गई है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। यदि मोक्ष के हेतुओं की प्रार्थना आगम—सम्मत नहीं होती, तो बोधिलाभ की मांग नहीं की जाती, अतः यह सिद्ध होता है कि यह प्रार्थना आगम—सम्मत है।

प्रणिधान निदान नहीं है, क्योंकि शुभसंकल्प को निदान नहीं माना गया, किन्तु दशाश्रुतस्कंध में तीर्थकरत्व को प्राप्त करने की प्रार्थना का निषेध किया गया है ? प्रतिपक्ष का कहना है कि किसी भी पद को पाने की इच्छा कहीं—न—कहीं भीतर लालसा की सूचक है और यही लालसा महत्वाकांक्षा है, महत्वाकांक्षा अहम् है, और यह अहम् पतन का हेतु है, यह पतन संसार—भ्रमण का कारण है और यह संसार—भ्रमण अपार दुःख की जाल है। इस जाल से अपने—आपको मुक्त करना कठिनतम् कार्य है, अतः इसी कारण निषेध किया गया है कि परमात्मा के सामने किसी भी पद की मांगनी (याचना) न करें, भले यह तीर्थकर का पद ही क्यों न हो।

इसका स्पष्टीकरण आचार्य हरिभद्र ने सैंतीसवीं गाथा के¹ अन्तर्गत किया है—

तीर्थकरों की समृद्धि देखकर या सुनकर उस समृद्धि को पाने की इच्छा से तीर्थकर बनने की प्रार्थना करना रागयुक्त है। उसमें उपकार करने की नहीं, अपितु समृद्धि प्राप्त करने की भावना होती है। ऐसी भावना से तीर्थकरत्व नहीं मिलता, उल्टे

² पंचशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/36 — पृ. — 69

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि— 4/37 — पृ. — 70

पापकर्म का बन्ध होता है, इसलिए तीर्थंकर की समृद्धि की इच्छा से तीर्थंकरत्व की प्रार्थना निदानरूप है, अतः दशाश्रुतस्कन्ध आदि में इसका निषेध उचित ही है।

पुनः प्रश्न उपस्थित किया गया है, कि यदि ऋद्धि आदि पाने के लिए नहीं, अपितु परोपकार की भावना से तीर्थंकर पद की अभिलाषा की जाए, तो इसमें क्या दोष है ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की अड़तालीसवीं एवं उन्चालीसवीं गाथा में² करते हैं—

भौतिक रिद्धि की थोड़ी भी इच्छा के बिना परोपकार की भावना से तीर्थंकर बनने की अभिलाषा दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर बनने की इच्छा वाला जीव तीर्थंकर नामकर्म बान्धने से अनेक जीवों का हितकारी बनता है। यह परमानन्द का जनक और अपूर्व चिन्तामणि के समान है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त होने से उसके धर्मदेशना आदि कार्य हितकारी और आदरणीय हैं। केवल परोपकार बुद्धि से तीर्थंकर बनने की भावनारूप उत्तम भाव वाले जीव की तीर्थंकर बनने की अभिलाषा अर्थापत्ति से धर्मदेशना अनुष्ठान में प्रवृत्ति रूप है, इसलिए वह अभिलाषा दोष-रहित है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार — प्रणिधान (प्रार्थना) के विषय में विशेष रूप से यह दर्शाया गया है कि प्रभु परमात्मा के सम्मुख संकल्प ऐसे होना चाहिए, जिससे संसार के द्वार बन्द हो जाएँ, अर्थात् भव-भ्रमणा समाप्त हो जाए। संकल्प के समय पूर्णतः परमात्मा के प्रति समर्पण के भाव आ जाएँ, अर्थात् मैं कुछ हूँ— यह भाव सर्वथा समाप्त हो जाए, क्योंकि आगमानुसार विधि से ही आत्मा आत्मोन्नति के शिखर पर चढ़ सकती है। यदि विधि आगमानुसार नहीं होती है, तो प्रभु से कितनी भी प्रार्थना कर लें, प्रभु के सम्मुख कितनी भी वन्दना कर लें, पुण्यबन्ध के अतिरिक्त क्या लाभ मिल सकता है ? निर्जरा हेतु तो विधि आगमानुसार ही होना चाहिए। देवचन्द्रजी महाराज ने संभवनाथ भगवान् के स्तवन में कहा है—

“एक बार प्रभु वन्दना रे आगम रीते थाय—

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि -- 4/38,39 - पृ. - 70

कारण प्रत्येकार्य नीरे सिद्धि प्रतीत कराय¹

अतः प्रार्थना, पूजा, वन्दना, आदि विधिपूर्वक ही करनी चाहिए— यही बात आचार्य हरिभद्र पूजाविधि—पंचाशक की चालीसवीं गाथा में² कहते हैं, कि—

इस पूजाविधि में प्रसंगवश प्रणिधान का विवेचन किया गया है। मनुष्यत्व को प्राप्त करके आगम—सम्मत विधि आदि से परिशुद्ध भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिए।

पूजा—निर्दोषता—प्रकरण— आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि—पंचाशक की इकतालीसवीं गाथा में³ उन व्यक्तियों के मन्तव्य को प्रकट किया है, जो पूजा की पद्धति को हिंसा—स्वरूप, दोष—स्वरूप मानते हैं तथा बयालीसवीं गाथा में⁴ द्रव्यपूजा दोषस्वरूप होने पर भी शुभभावरूप पुष्य एवं निर्जरास्वरूप ही हैं, अतः यह पूजा ग्राह्य है— इस सम्बन्ध में कथन करते हुए कहते हैं—

पूजा में पृथिव्यादि जीवनिकायों की हिंसा तो होती ही है, अतः उसे परिशुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि जीवहिंसा का जिनेन्द्रदेव ने निशेध किया है। दूसरी बात, इस पूजा से यदि जिनेन्द्रदेव का कोई लाभ होता हो, तो जीवहिंसा होने के बाद भी निर्दोष माना जा सकता है, किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है, अर्थात् भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग होते हैं, उन्हें पूजा से आनन्द नहीं होता है, अतः जिनपूजा निर्दोष कैसे कही जा सकती है ?

यद्यपि जिनपूजा में किसी न किसी रूप में कथञ्चित् हिंसा तो होती ही है, फिर भी गृहस्थों के लिए कुँ खुदवाने के उदाहरण के आधार पर इसकी निर्दोषता सिद्ध होती है (लेकिन साधुओं के लिए वह द्रव्यपूजा निर्दोष नहीं होती है, क्योंकि साधु द्रव्यपूजा के लिए स्नानादि करें, तो उनकी प्रतिज्ञा भंग होती है)।

¹ देवचन्द्र चौवीसी - श्रीमद्देवचन्द्र - 3/5

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/40 - पृ. - 71

³ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/41 - पृ. - 71

⁴ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/42 - पृ. - 71

जिस प्रकार कुआँ खोदते समय अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु बाद में कुएँ के जल से अनेक लोकोपकारी कार्य होते हैं, इसलिए कुआँ खोदने की प्रवृत्ति लाभकारी होती है, उसी प्रकार जिनपूजा में हिंसा होने पर भी पूजा से होने वाले शुभभावों से अन्ततः लाभ ही होता है।

गृहस्थों की जिनपूजा की निर्दोषता का कारण – गृहस्थ आरम्भी होता है। वह क्या पाप नहीं करता है ? सामान्यतः, अपनी सुख-सुविधा के लिए शरीर पोषण के लिए, पैसों की प्राप्ति के लिए पाप प्रवृत्ति करता ही रहता है, अर्थात् कर्म-बन्धन करता ही रहता है, तो इस पाप-निवृत्ति के लिए जिनपूजा ही श्रेयस्कर है, कि जिसके माध्यम से गृहस्थ आरम्भ से विवृत होता है। इस प्रकार, पूजा तो पापनिवृत्तिरूप है। यही बात आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की तिरालीसवीं गाथा में¹ स्पष्ट करते हैं-

यहाँ यह विचार करना चाहिए, कि गृहस्थों के लिए जिनपूजा निर्दोष है, क्योंकि गृहस्थ कृषि आदि असदारम्भ (अशुभकार्य) में प्रवृत्ति करते हैं, जबकि जिनपूजा से वे उस असदारम्भ से निवृत्त होते हैं, अतः जिनपूजा निवृत्तिरूप फल वाली है।

यह निवृत्ति कालान्तर और वर्तमान की दृष्टि से दो प्रकार की होती है-

1. जिनपूजा से उत्पन्न भावविशुद्धि से कालान्तर में चारित्रमोहनीय-कर्म का क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है, जिससे असदारम्भ से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है।
2. जिनपूजा जितने समय तक होती है, उतने समय तक असद् आरम्भ नहीं होता है, और शुभभाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए जिनपूजा में दूषण लगाने वालों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिनपूजा से असदारम्भ की निवृत्ति होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि पूजा करने पर प्रभु को क्या लाभ है ?

पूजा करने पर प्रभु (पूज्य) को लाभ न भी हो, तो कम से कम पूजक को तो लाभ होगा ही। पूज्य की पूजा पूज्य के लाभ के लिए नहीं होती है। पूजक अपने लाभ के लिए ही पूज्य की पूजा करता है। विद्यार्थी के अध्ययन से विद्यागुरु को लाभ

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/43 - पृ. - 72

मिले या न मिले, विद्यार्थी को तो लाभ मिलता ही है। अन्न-सेवन से अन्न को लाभ मिले या न मिले, पर अन्न का सेवन करने वालों को तो लाभ मिलता ही है।

यही बात आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की चंवालीसवीं गाथा में¹ कही है-

जिस प्रकार मन्त्रविद्यादि की साधना से मन्त्रादि को लाभ नहीं होने पर भी साधक को लाभ होता है, अग्नि आदि के सेवन से अग्नि आदि को लाभ नहीं होने पर भी सेवन करने वाले को लाभ होता है, उसी प्रकार जिनपूजा से जिनेन्द्रदेव को लाभ नहीं होने पर भी उनकी पूजा करने वाले (पूजक) को लाभ अवश्य होता है।

पूजा में जीवहिंसा है- यह मानकर पूजा नहीं करना मूर्खता है। गृहस्थी-सम्बन्धी कार्यों के द्वारा हो रही हिंसा से किसी प्रकार का भय नहीं है, न राग, द्वेष, कलह से होने वाली भावहिंसा से भय है, पर पूजा में हिंसा बताकर हिंसा से बचाने कि लिए लोगों को उपदेश दिया जाता है। द्रव्यपूजा करने से हिंसा का दोष लगता है- ऐसा मानकर गृहस्थ द्रव्यपूजा और भावपूजा से वंचित रह जाते हैं, जबकि पूजा तो विघ्नों को दूर करती है। यदि पूजा हिंसारूप होती, तो पूजा से विघ्न-निवारण कैसे होता ? अतः पूजा धर्म है- यह बात मनगढ़न्त नहीं है, आगम-सम्मत है। भगवती सूत्र में द्रव्य या भावपूजा का वर्णन देखन को मिलता है।¹

आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की पैंतालीसवीं एवं छियालीसवीं गाथा में² पूजा नहीं करने वालों को उलाहना देते हुए कहते हैं-

मोक्षाभिलाषी को पूजा अवश्य करनी चाहिए। जो गृहस्थ शरीर, घर, पुत्र, कलत्रादि के लिए खेती आदि द्वारा जीवहिंसा में प्रवृत्त होते हैं, उनकी जिनपूजा में जीवहिंसा के भय से अप्रवृत्ति मूर्खता (मोह) ही है, अन्यथा जिससे अनेक लाभ होते हैं- ऐसी जिनपूजा में प्रवृत्ति क्यों नहीं करें ?

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/44 - पृ. - 72

¹ प्रमाण

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/45,46 - पृ. - 73

³ सज्जनजिनवन्दनविधि - आनन्दघनजी - सुविधिजिनस्तवन - पृ. - 176

विशेष — जिनपूजा में ये लाभ हैं— भावशुद्धि, सम्यग्दर्शन गुणों की प्राप्ति, फलतः चारित्र की प्राप्ति से सम्पूर्ण जीवहिंसा का अभाव, अन्य जीवों को धर्म—प्राप्ति, परिणामतः मुक्ति ।

अतः निवारण के इच्छुक गृहस्थ को प्रमादरहित भाव से आगमसम्मत विधि द्वारा भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा अवश्य करना चाहिए।

पूजा का महत्व — आनन्दघनजी ने सुविधिनाथ—स्तवन में पूजा के महत्व को बतलाते हुए कहा है—

इम पूजा बहु भेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणी रे।

भविक जीव करशे ते लेशे, आनन्दघन पद धरणी रे।^१

इस पूजा के अनेक भेद बताएँ हैं, और उसका फल भी बताया है। परमात्मा की पूजा शुभ क्रिया है। शुभक्रिया से पुण्यकर्म का बंध होता है, पापकर्मों का नाश होता है। जिनपूजा का स्थान महत्वपूर्ण है। जिनपूजा से परम ज्ञान की उपलब्धि होती है।

जिनपूजा में पुष्पपूजा करते हुए राजा कुमारपाल जन्मान्तर में 18 देशों का अधिपति हुआ।

नागकेतु पुष्पपूजा की भावना से पुण्य लेने गए हुए थे। मार्ग में सर्प के डंसने पर शुभभावनाओं में तल्लीन होने के कारण उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

प्रभुपूजा कभी निष्फल नहीं जाती है, चाहे एक बार ही क्यों न करें— इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि—पंचाशक की सैंतालीसवीं गाथा में कहा है—

जिस प्रकार महासमुद्र में फेंकी गई जल की एक बूंद का भी नाश नहीं होता है, उसी प्रकार जिनों के गुणरूपी समुद्रों में पूजा अक्षय ही हो जाती है।

^१ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 4/47 — पृ. — 73

पूजा से होने वाले लाभ – निष्कपट होकर, चित्त की प्रसन्नता से भगवान् की पूजा करने वालों के सर्व दुःख दूर होते हैं, इच्छित फल की प्राप्ति होती है। आनन्दघनजी ने कहा है—

चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कहँयू रे पूजा अखंडित अह ।

कपट रहित थई आत्म अरपणा रे, 'आनन्दघन' पदरेह ।²

परमात्मा की पूजा अनन्त सुख प्रदान करने वाली होती है, अनन्त विघ्नों को दूर करने वाली होती है। आचार्य कवीन्द्र सागरसूरीश्वर जी महाराज ने चौंसठ प्रकारी पूजा के अन्तर्गत अन्तरायकर्म निवारण-पूजा में कहा है—

प्रभुपूजा करो, प्रभुपूजा करो, आया विघन मिट जाएगा ।³

मथुरा नगरी की एक घटना है— जिस प्रकार दावानल वन को भस्म कर देता है, वैसे ही वहाँ मारि का वेग बालक, युवा, वृद्ध आदि सभी प्राणियों को यम के सदन ले जाने लगा। वहाँ पौरजनों के सौभाग्य से मन्त्राहूतवत् दो चारणमुनि धर्मरुचि और धर्मघोष महर्षि पधारे। उनके पधारने से सारे नगर में क्षणमात्र में ही शान्ति हो गई, क्योंकि मुमुक्षु महात्माओं का आगमन कल्याणश्रेणी का आंगन तैयार कर देता है। सिद्धान्तरस के समुद्र वे दोनों मुनि वहाँ से शीघ्र ही अन्यत्र विहार कर गए, क्योंकि समयज्ञ तपोधन एक स्थान पर अधिक नहीं ठहरते। वहाँ फिर मारि चल पड़ी और फैल गई, जिससे लोग मरने लगे। प्रायः क्षुद्रजन छिद्र पाकर उपद्रव करते हैं। वे मुनि कहीं समीप ही थे। श्रेयस् को ईच्छा से नगरजन तत्क्षण ही उनके पास गए और आग्रह कर उन चारण ऋषियों को पुनः नगर में ले आए। पौरजनों ने एकत्र हो सादर निवेदन किया, कि किस प्रकार मारि सर्वदा के लिए चली जाए, आप हम सब पर कृपा करके वैसा उपाय बताइए। तब चारण मुनियों ने कहा— अपने-अपने सदनों के उत्तरंग-द्वार या तोरण-द्वार पर अर्हत प्रतिमा स्थापन कर प्रतिदिन पूजा करना चाहिए, जिससे आप सबका इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण होगा। नगरजनों ने वैसा ही किया, जिससे सारे प्रदेश में शीघ्र शान्ति हो गई।¹

² सज्जनजिनवन्दनविधि – आनन्दघनजी – सुविधिजिनस्तवन – ऋशभदेवस्तवन – पृ. – 173

³ अन्तरायकर्मनिवारणपूजा – कवीन्द्रसागरसूरि – आवश्यक पूजा-संग्रह – पृ. – 176

¹ चैत्यवन्दनकुलकटीका – श्रीजिनकुशलसूरि – अनु. प्र. सज्जनश्री – पृ. – 76

दिगम्बर परम्परा में जिनेन्द्रपूजा को सफल बताते हुए कहा गया है—
पद्मचरित में श्रीद्युति आचार्य भरत को जिनपूजा का उपदेश देते हुए कहते हैं—

हे भरत! जो प्रथम अहिंसारत्न को ग्रहण कर जिनदेव का पूजन करता है, वह देवलोक में अनुपम इन्द्रिय-सौख्य भोगता है। जो सत्यव्रत का नियम धारण करके प्रतिभा को पूजता है, वह मधुरभाषी आदेयवचन होकर संसार में अपनी कीर्ति का विस्तार करता है। जो अदत्तादान का त्यागकर जिननाथ को पूजता है, वह मणिरत्नों से परिपूर्ण नौ निधियों का स्वामी होता है। जो परनारी-संसर्ग को छोड़कर जिनपूजा करता है, वह कामदेव जैसा श्रेष्ठ शरीर धारण कर सौभाग्य-भाजन, सर्वजनों के नैत्रों को आनन्द देने वाला होता है। जो परिग्रह की सीमा करके सन्तोष-व्रत धारण करता है, वह विविध रत्नों से समृद्ध होकर सर्वजनों का पूज्य होता है।²

आचार्य हरिभद्र ने पूजाविधि-पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में³ प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से उनके प्रति सम्मान होता है। जिन, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि उत्तम पद मिलता है, और उत्कृष्ट धर्म की प्रसिद्धि होती है। पूजा करने से प्रकृष्ट पुण्यकर्म का बन्ध्या और अशुभकर्मों का क्षय होता है। परिणामस्वरूप वीतराग अवस्था की प्राप्ति होती है।

पूजा करने की भावना से भी महान् लाभ है, तो पूजा करने पर कितना अपूर्व लाभ प्राप्त होगा ? ऐसे अपूर्व लाभ का लाभ अवश्य लेना चाहिए, क्योंकि महान् लाभ से वंचित रहना मूर्खता का ही लक्षण है।

पूजा करने की मात्र भावना से होने वाले लाभ का दिग्दर्शन आचार्य हरिभद्र पूजाविधि-पंचाशक की उन्पचासवीं एवं पचासवीं गाथाओं में¹ करवाते हैं—

जिनेन्द्र-प्रवचन में सुना जाता है कि एक दरिद्र नारी जगद्गुरु (भगवान् जिनेन्द्रदेव) की सेमल के पुष्पों से, मैं पूजा करूँ— ऐसे संकल्पमात्र से स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

² श्रावकाचारसंग्रह - आचार्य कुन्दकुन्द - चतुर्थ भाग - पृ. - 156

³ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/48 - पृ. - 74

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 4/49.50 - पृ. - 74

अतः, उपर्युक्त पूजाविधि को भलीभांति जानकर आगमानुसार मुक्तिकामी धीर पुरुषों को निरन्तर जिनपूजा करना चाहिए।

प्रत्याख्यान—विधि—

प्रत्याख्यान—विधि की चर्चा करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की प्रथम गाथा में² अपने आराध्य के चरणों में नमन करते हुए कथन करते हैं— 'वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके, मन्दबुद्धि वालों के बोध के लिए, संक्षेप में आगम और युक्ति के आधार पर प्रत्याख्यान की विधि कहूँगा।

प्रत्याख्यान के पर्यायवाची शब्द, अर्थ और भेद —

आचार्य हरिभद्र के अनुसार प्रत्याख्यान, नियम, संयम, प्रतिज्ञा, संकल्प, धारणा आदि एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं।

प्रत्याख्यान, अर्थात् आत्म—कल्याण के प्रतिकूल प्रवृत्तियों का त्याग। प्रत्याख्यान नकारात्मक शब्द है। इसका अर्थ है— अनुचित प्रवृत्तियों के त्याग की प्रतिज्ञा करना।

प्रत्याख्यान के अनेक भेद हैं, जिसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की दूसरी गाथा में³ की है—

प्रत्याख्यान, नियम और चारित्रधर्म एक ही अर्थ वाले हैं। आत्महित की दृष्टि से प्रतिकूल प्रवृत्ति के त्याग की मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान कहलाता है। यह प्रत्याख्यान मूलगुण और उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का होता है। साधु के पाँच महाव्रत और श्रावक के पाँच अणुव्रत मूलगुण प्रत्याख्यान हैं। साधु के पिण्ड—विशुद्धि आदि गुण तथा श्रावक के दिग्विरति इत्यादि व्रत उत्तरगुण हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक भेद होते हैं, इसलिए मूलगुण और उत्तरगुण प्रत्याख्यान—शास्त्र में अनेक प्रकार के बताए गए हैं। ज्ञातव्य है कि मूलगुणों का पोषण करने में जो सहायक होते हैं, वे उत्तरगुण कहलाते हैं।

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्र सूरि — 5/1 — पृ.सं. — 75

³ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्र सूरि — 5/2 — पृ.सं. — 75

प्रवचन-सारोद्धार के अनुसार मर्यादापूर्वक आगार रखते हुए अविरति को त्याग करना प्रत्याख्यान है।¹

प्रस्तुत प्रकरण में उन प्रत्याख्यानों का विवरण दिया गया है, जो प्रायः उपयोगी प्रत्याख्यान हैं। कितने प्रत्याख्यान विशेष रूप से उपयोगी हैं— इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में² कहते हैं कि नवकार आदि दस प्रकार के कालिक-प्रत्याख्यान आहार सम्बन्धी होने से साधु-श्रावकों के प्रायः प्रतिदिन उपयोग में आते हैं, इसलिए इस प्रकरण में उन्हीं का विवेचन किया जा रहा है। ये प्रत्याख्यान दस हैं— (1) नवकारसी (2) पौरुषीय (3) पुरिमड्ड (4) एकासन (5) एकठाण (6) आयंबिल (7) अभत्त (उपवास) (8) चरित्र (9) अभिग्रह एवं (10) विगय— ये दस प्रत्याख्यान काल की मर्यादापूर्वक किए जाने के कारण कालिक-प्रत्याख्यान कहे जाते हैं।

प्रवचन-सारोद्धार एवं पच्चाक्खाण-भाष्य में प्रत्याख्यान के प्रायः उपर्युक्त दस भेद ही वर्णित हैं।³ पंचाशक में प्रत्याख्यान का एक भेद कालिक-प्रत्याख्यान है, जबकि प्रवचन-सारोद्धार में उसे 'अद्धा' कहा गया है। यहां अद्धा शब्द काल का ही वाचक है।

द्वारों का निर्देश —

कालिक-प्रत्याख्यानों की विधि क्या है ? इसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यान-पंचाशक-विधि की चौथी गाथा में¹ की है। वे लिखते हैं कि विधिपूर्वक ग्रहण, आगार (आपवादिक-स्थितियां), सामायिक, भेद, भोग नियम-पालन और अनुबन्ध— इन सात द्वारों के आधार पर कालिक-प्रत्याख्यान का विधिपूर्वक वर्णन किया जाएगा।

ग्रहणद्वार —

¹ प्रवचन-सारोद्धार — पं. नेमिचन्द्रसूरि — द्वार- 4 पृ. — 90

² पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/3 — पृ. — 75

³ (क) प्रवचन-सारोद्धार — पं. नेमिचन्द्रसूरि — द्वार- 4 — गाथा- 202 — पृ. — 87

(ख) पच्चाक्खाणभाष्य — देवेन्द्रसूरि — गाथा- 3

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/4 — पृ. — 76

किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ का त्याग करने पर गुरु के मुखारविन्द से नियम लेना चाहिए, जिससे लिए हुए नियमों में दृढ़ रहा जा सके। प्रत्याख्यान लेने के बाद ही यह सिद्ध होता है कि त्याग किया है, अर्थात् त्याग को ग्रहण किया है। कई लोग प्रत्याख्यान लेने में भयभीत होते हैं। कई लोग प्रत्याख्यान के नाम से क्रोधित होते हैं, लेकिन उनका डरना या क्रोधित होना गलत है, क्योंकि प्रत्याख्यान तो हमारे लिए सुरक्षा—कवच है तथा हमें असीम पाप—कर्मों के सीमित दायरे में लाकर खड़ा कर देता है, अर्थात् हमारे पापकर्मों को हल्का कर देता है, क्योंकि आत्मसुरक्षा के लिए प्रत्याख्यान बाड़रूप है। जैसे खेती की सुरक्षा चारों ओर लगी बाड़ से होती है, वैसे ही आत्मा की सुरक्षा प्रत्याख्यानरूपी बाड़ से होती है। वंकचूल के कथानक में वर्णन आता है कि स्वेच्छा से नहीं, पर गुरु के कहने पर उन्होंने चार नियम लिए थे—

1. कौए का मांस नहीं खाना 2. अनजाना फल नहीं खाना 3. किसी की हत्या करने के पहले चार कदम पीछे हटना 4. राजा की रानी के साथ कभी भी सहशयन नहीं करना।

इन नियमों को लेने के परिणामस्वरूप वह मृत्यु से बच गया, बहन की हत्या करने से बच गया, यह प्रत्याख्यान का ही प्रभाव था, अतः प्रत्याख्यान लेने में कभी भी डरना नहीं चाहिए, न ही क्रोध करना चाहिए। कौन किसके पास प्रत्याख्यान लें तथा शुद्ध—अशुद्ध प्रकार से प्रत्याख्यान का स्वरूप क्या है ? इसका वर्णन आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि की पांचवीं से सातवीं तक की गाथाओं में किया है—

प्रत्याख्यान के स्वरूप का जानकार जीव स्वयं के निश्चय के आधार पर प्रत्याख्यान के स्वरूप को जानकर गुरु के पास उचित समय पर विनय एवं उपयोगपूर्वक, गुरु प्रत्याख्यान का जो पाठ बोलें, उसे (मन में) स्वयं बोलते हुए सम्यक् रूप से प्रत्याख्यान ग्रहण करे।

यदि प्रत्याख्यान दर्शन, ज्ञान, विनय, अनुभाषण, पालना और भाव— इन शुद्धियों से युक्त हो, तो शुद्ध कहा जाता है।

यहाँ, प्रत्याख्यान के स्वरूप के ज्ञाता और अज्ञाता के भेद से प्रत्याख्यान के चार प्रकार होते हैं— 1. ज्ञायक के समीप ज्ञायक प्रत्याख्यान ले 2. ज्ञायक के समीप अज्ञायक प्रत्याख्यान ले 3. अज्ञायक के समीप ज्ञायक प्रत्याख्यान ले 4. अज्ञायक के समीप अज्ञायक प्रत्याख्यान ले। इन चारों भेदों में प्रथम पूर्णतः विशुद्ध और अन्तिम बिल्कुल अशुद्ध प्रत्याख्यान है। द्वितीय और तृतीय शुद्धाशुद्ध है, अर्थात् किसी दृष्टि से शुद्ध है और किसी दृष्टि से अशुद्ध है।

जानकार गुरु अज्ञानी को प्रत्याख्यान कराते समय, वह प्रत्याख्यान कितने समय का है— इसमें कल्प्य और अकल्प्य वस्तुएँ कौन-कौनसी हैं, इत्यादि को ठीक तरह से समझाकर प्रत्याख्यान दें, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध है।

तीसरे भंग (विकल्प) में गुरु या संसारी के बड़े भाई आदि जो प्रत्याख्यान के स्वरूप से अनभिज्ञ हों, उनके पास जानकार साधु विनय का पालन आदि कारणों से प्रत्याख्यान ले, तो वह शुद्ध है और यदि उचित कारण के बिना ले, तो वह अशुद्ध है।

आगारद्वार — प्रत्याख्यान करते समय कुछ आगार (छूट) रखे जाते हैं। चूंकि कभी भी शारीरिक या मानसिक-परिस्थिति कैसी भी बन सकती है तथा अचानक (भूलवश) अथवा बड़ों के द्वारा कहने पर भी त्याग की हुई वस्तु का उपयोग करना पड़ सकता है, अतः प्रत्याख्यान-भंग के दोष का भागीदार न बनना पड़े, इस कारण महापुरुषों ने आवश्यकतानुसार प्रत्याख्यानों में कुछ आगार (छूट या अपवाद) रखे हैं, आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की आठवीं से ग्यारहवीं गाथाओं तक में¹ प्रस्तुत विषय का विस्तृत वर्णन किया है—

दस प्रत्याख्यानों में उल्लिखित अपवाद (आगार=छूट) — नवकार (नवकारसी), अर्थात् सूर्योदय से दो मुहुर्त अर्थात् 48 मिनट तक आहार का त्याग करना नवकारसी है। इस प्रत्याख्यान में दो आगार (छूट) हैं। अन्नत्थणा भोगेण , सहसागारेण। अन्नत्थणा भोगेण — यह शब्द अन्नत्थ एवं अनाभोग— इन दो शब्दों से मिलकर बना है। अन्नत्थ का अर्थ है— अन्यथा नहीं होना।

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि -- 5/8 से 11 - पृ. - 77

अनाभोग का अर्थ है— विस्मरण, अर्थात् विस्मरण से प्रत्याख्यान का अन्यथा नहीं होना ? प्रत्याख्यान या उसके समय का विस्मरण हो जाने के कारण त्याग की हुई वस्तुओं को खा लेने पर भी प्रत्याख्यान भंग नहीं माना जाता है। सहसागारेणं — सहसाकार, अर्थात् अज्ञानवश त्याग की हुई वस्तु को अचानक मुंह में डाल लेने से भी प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी के अनुसार चौदह नियमधारी के लिए नवकारसी के लिए चार आगार हैं— 1. अन्नत्थ 2. सहसा 3. महत्तरागारेणं 4. सव्वसमाहिवतियागारेणं। सर्वसाधारण के लिए दो आगार हैं, जो पंचाशक के अनुसार हैं।¹ प्रबोध टीका के अनुसार भी नवकारसी के चार आगार हैं,² जो पंचाशक से भिन्नता रखते हैं।

प्रवचन—सारोद्धार के अनुसार दो आगार हैं,³ जो पंचाशक के अनुसार ही हैं।

पौरिसी — जिस समय धूप में खड़े होने पर अपनी छाया पुरुष—प्रमाण, अर्थात् स्वशरीर प्रमाण पड़े, उस समय तक के प्रत्याख्यान को पौरुषी कहते हैं, अर्थात् सूर्योदय से एक प्रहर यानी तीन घण्टे तक अशन, पान आदि चारों आहारों का त्याग किया जाता है। दिन के चार भाग करना चाहिए। यदि दिन 13 घण्टे का हो, तो एक प्रहर तीन घण्टे एवं 15 मिनिट ऊपर का मानना चाहिए, जैसे— 6 बजे सूर्योदय होता हो और 7 बजे सूर्यास्त होता हो, तो एक—एक प्रहर तीन—तीन घण्टे के चार प्रहर और उनमें एक घण्टे का चौथा विभाग करके प्रहर में मिला दें। डेढ़ प्रहर के आहार त्याग को सार्द्ध—पौरुषी कहते हैं।

पौरुषी प्रत्याख्यान में छः आगार (छूट) हैं, नवकारसी के दो और अन्य चार हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. पच्छन्नकालेणं 2. दिसामोहेणं 3. साहुवयणेणं 4. सव्वसमाहिवतियागारेणं।

¹ पंचाप्रतिक्रमण — उ. मणिप्रभसागरजी — पृ. — 210

² प्रबोधटीका — सम्पादक— भद्रकरविजयजीगणि — पृ. — 28

³ प्रवचन—सारोद्धार — आचार्य नेमिचन्द्रसूरि — द्वार— 4 पृ. — 93

पच्छन्नकालेणं — बादल आदि से सूर्य के ढंकने पर, प्रत्याख्यान पूर्ण होने के समय का ज्ञान न होने पर अनुमान से प्रत्याख्यान का समय पूर्ण हुआ, ऐसा जानकर आहार कर लेने पर प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

दिसामोहेणं — आंधी, कोहरा आदि छा जाने पर भ्रमित होकर समय से पूर्व भोजन कर लेने पर भी प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

साहुवयणेणं — साधु-वचन से, अर्थात् "बहुपडिपुन्नापोरसी" शब्द सुनकर, यानी इस प्रकार कहने पर कि पौरुषी हो गई— ऐसा कहने पर साधु समझें कि प्रत्याख्यान की पौरुषी आ गई है और ऐसा समझकर यदि आहार कर लें, तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

सव्वसमाहिवत्तियागारेणं — इसमें सर्व, समाधि, प्रत्यय और आगार— ये चार शब्द हैं।

सर्व	—	सम्पूर्ण
समाधि	—	स्वस्थता
प्रत्यय	—	कारण
आगार	—	छूट

सम्पूर्ण समाधि के लिए छूट अर्थात् असमाधि होने लगे एवं प्रत्याख्यान का समय पूर्ण नहीं हुआ हो, तो समाधि को बनाए रखने के लिए प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने के पूर्व आहार, औषध आदि को ग्रहण कर लेने पर प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

पच्छन्नकालेणं आदि आगारों का उपयोग जानकर न करें। दिशा आदि के भ्रमवश प्रत्याख्यान आने के पूर्व पारना लिए जाने पर ज्यों ही समय का ज्ञान हो जाए, तो भोजन उसी समय छोड़ दें, मिथ्यादुष्कृत्य कर लें। सव्वसमाहिवत्तिया का आगार असाध्य बीमारी, अथवा अत्यधिक असहनशीलता में करें, अन्यथा नहीं।

पुरिमड्ढ-अवड्ढ (पूर्वाद्ध/अपराद्ध)— दिन का प्रथम आधा भाग पुरिमड्ढ कहलाता है, अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त तक में बीच का भाग, अर्थात् चार प्रहर का दिन हो, तो पहले दो प्रहर, जैसे यदि छः बजे सूर्योदय होता है और छः बजे सूर्यास्त होता है, तो 12

बजे के समय पर परिमड्ड आएगा। 13 घण्टे का दिन हो, तो 12.30 बजे पुरिमड्ड आएगा।

अपराद्ध अवड्ड में अप और अर्द्ध— ये दो शब्द हैं। अप अर्थात् पीछे और अर्द्ध अर्थात् आधा। मध्याह्न के आधे का आधा भाग अपाद्ध कहलाता है, अर्थात् अपराह्न के आधे भाग तक का पचवक्खाण अवड्ड कहलाता है यानी तीन प्रहर तक का प्रत्याख्यान पुरिमड्ड या अवड्ड है। इसमें सात आगार हैं। छः आगार तो पौरुषी के समान ही हैं, सातवां आगार महत्तरागारेणं है।

महत्तरागारेणं — बड़ों की आज्ञा से संघ आदि के कार्य करने हेतु प्रत्याख्यान आने के पूर्व प्रत्याख्यान पारना तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

एकासन—बियासन (एकाशन—द्वयाशन)—

एकाशन — एक ही स्थान पर बैठकर एक ही बार अशन (भोजन) लेना एकाशन कहलाता है।

द्वयाशन — एक ही स्थान पर बैठकर दो बार भोजन लेना द्वयाशन कहलाता है।

एकाशन में आठ आगार हैं।

सागारि आगारेणं — गृहस्थ या अन्य जाति के लोगों के किसी कार्य की दृष्टि पड़ने से उठना पड़े, तो प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है। दूसरे, किसी कार्य हेतु गृहस्थ वर्ग आ गए हों, तो उनके सामने आहार नहीं करना चाहिए। यहाँ आहार बन्द कर देना चाहिए। यदि वे वहाँ से नहीं उठें, तो अन्य स्थान पर जाकर आहार करने से प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

प्रश्न है कि गृहस्थ के लिए यह आगार क्यों रखा गया ?

वैसे तो गृहस्थ को भी दूसरों के सामने भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस पर किसी की नजर लगने का भय हो, अर्थात् किसी के देखने पर खाना नहीं पचता है, तो वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाकर खाने पर प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

आउटण पसारेण (आकुंचन-प्रसारेण) — यदि शारीरिक-परिस्थिति के कारण एक आसन से न बैठ सकें, तो पांव आदि हिलाने या फैलाने पर प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

गुरुअभ्युत्थाणेणं (गुरु अभ्युत्थानेन)— आचार्य, गुरु, अथवा नूतन साधु के आने पर विनय के लिए उठना पड़े, तो प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

पारिष्ठावणियागारेणं (पारिष्ठापनिकागारेणं)— साधु-साध्वियों के समूह हेतु लाया गया आहार अधिक आ गया है, जिसे खा नहीं सकते हैं, अतः एकासन उपवास वाला वह आहार करे, तो प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है, क्योंकि साधु आहार को परठ नहीं सकता है। आहार परठने(फेंकने) में अधिक दोष बताया गया है, परन्तु उपवास आदि में भी खाने में लाभ बताया है। यदि कोई आहार ग्रहण करने वाला नहीं हो, तो विधिपूर्वक निरवद्य स्थान में ही परठना चाहिए। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आहार करने के पश्चात्, आहार नहीं कर सकने पर ही प्रतिस्थापन करवाएँ, अन्यथा नहीं।

एकठाणा (एकस्थान) — एक ही स्थान पर स्थित होकर भोजन करना एकठाण है। एकासन में बैठक के अतिरिक्त शरीर हिला सकते हैं, परन्तु एकठाण में केवल एक हाथ एवं मुंह ही हिला सकते हैं। एकासन तो तिविहार भी होता है, परन्तु एकाठणं तो चौविहार ही होता है, अर्थात् एक ही बार भोजन-पानी ले लेना। एकासन से उठने के बाद पानी पी सकते हैं, पर एकठाण में नहीं। एकासन में आठ आगार होते हैं, जबकि आउटण को छोड़कर एकठाण में सात आगार होते हैं।

पंचप्रतिक्रमणसूत्र, प्रबोधटीका के अनुसार¹ एकासना, एकलठाण, बियासन आदि में भोजन एवं पानी को मिलाकर चौदह आगार हैं— अनाभोग, सहसांकार, सागारिकाकार, आकुंचन-प्रसारण, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि-प्रत्याकार, लेप, अलेप, अच्छा, बहुलेप, ससिकथ, असिकथ। पश्चात् के ये छः आगार पानी के हैं।

¹ (क) पंचप्रतिक्रमणसूत्र — उपा. मणिप्रभासागरजी — पृ. — 211

(ख) प्रबोधटीका — भद्रकर विजयगणि — पृ. — 281

आयम्बिल (आचाम्ल) — आच, अर्थात् मांड और अम्ल अर्थात् खट्टा रस, जिसमें उड़द, चावल आदि के खट्टे रस का भी त्याग हो, वह आचाम्ल है।

आयम्बिल में आठ आगार हैं—

अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्त—विवेक, पारिष्ठापानिकाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्याकार। इन आठ में से पाँच आगारों का वर्णन पूर्व में हो गया है, अतः यहाँ तीन आगारों का विवरण कर रहे हैं।

लेवालेवेणं (लेपालेपेन) आयम्बिल में भोजन का पात्र, घी आदि से लिप्त हो, पात्र को पोंछने पर भी घी आदि की चिकनाहट रह जाए और उसमें आहार किया जाए, अर्थात् गृहस्थ ने रुखी रोटी, घी वाली रोटी पर रख दी हो, उसको लेकर आहार करने पर भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

गिहत्थसंसट्ठेणं (गृहस्थ संसृष्टेन)— गृहस्थ यदि विगय आदि से युक्त चम्मच आदि से रूक्ष आहार बहरा दे, तो उस वस्तु से मिश्रित आहार करने पर भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है।

उत्खित्तविवेगेणं (उत्क्षिप्तविवेकेन)— रोटी—चावल आदि पर लड्डू आदि रखा हुआ हो, तो उसे अलग कर बहराएँ, ऐसा करने से प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है, परन्तु यदि उन पर प्रवाही गुड़ आदि वस्तु रखी हुई हो, तो वह आहार अकल्प्य है।

उपवास (अभक्तार्थ) — जिसमें भोजन का सर्वथा त्याग है, ऐसा प्रत्याख्यान उपवास है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक के प्रत्याख्यान होते हैं।

इस प्रत्याख्यान में पाँच आगार हैं—

1.अनाभोग 2.सहसाकार 3.पारिष्ठापानिकाकार 4.महत्तराकार और 5 सर्वसमाधिप्रत्याकार।

यहाँ प्रतिस्थापनिकाकार के विषय में विशेष रूप से बताते हैं, कि यदि तिविहार उपवास किया है, पानी की छूट के साथ अवशिष्ट भोजन भी किया जा सकता है। यदि चौविहार उपवास है और पानी तथा भोजन— दोनों अवशिष्ट हों और उन्हें

प्रतिस्थापित (फेंकने) के अतिरिक्त कोई विकल्प न हो, तो उन दोनों का उपयोग किया जा सकता है।

पानी के आगार – मुनि सदा सचित्त पानी का त्यागी होता है, अतः अचित्त पानी को ही ग्रहण करता है। गृहस्थ-वर्ग भी एकासन आदि प्रत्याख्यान में अचित्त पानी का ही उपयोग करता है, इसलिए यहाँ अचित्त पानी के आगार का वर्णन करते हैं। अचित्त पानी के लेवेण, अलेवेण, बहुलेण, ससिक्थेण और असिक्थेण— ये छः आगार हैं।

लेवेण (लेपयुक्त) – चावल, तिल, खजूर आदि का धोया हुआ पानी।

अलेवेण (लेपरहित) – जिस पानी में अन्न आदि का कण न हो, जैसे— राख, चूने आदि का पानी।

अच्छेण (स्वच्छ) – तीन उकाले का पानी।

बहुलेण (धोवन) – चावल, तिल आदि को धोने से निकला हुआ पानी।

ससिक्थेण (ससिक्थेन) – जिसमें अनाज का दाना रह गया हो, जैसे— चावल का मांड, चावल का धोअन आदि।

असिक्थेण (असिक्थेन) – अनाज के दाने के बिना चावल का मांड, पानी आदि।

विशेष – ससिक्थ और असिक्थ का भावार्थ यह है कि लेवेण इत्यादि आगारों में जो पानी की छूट है, उसमें अनाज का कण न हो, तो अधिक अच्छा है, परन्तु कोई कण आ जाए, तो छूट है।

चरिम (अन्तिम)— चरिम शब्द से दिन एवं वर्तमान भव का अन्तिम भाग विवक्षित है। इसके दिवसचरिम एवं भवचरिम— ये दो भेद हैं।

दिवसचरिम – जिसमें दिवस के अन्तिम भाग से सूर्योदय के पूर्व तक चारों आहार का त्याग किया जाता है, वह दिवसचरिम है।

भवचरिम – जीवन के अन्तिम समय तक (जीवनपर्यन्त) तीन अथवा चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, वह भवचरिम है।

दिवसचरिम एवं भवचरिम प्रत्याख्यान में चार आगार हैं, जो निम्न हैं—

1. अन्नत्थणा 2. सहसा 3. महत्तरा और 4. सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ।

अभिग्रह (अभिग्रह) — विशिष्ट नियम या प्रतिज्ञा लेना अभिग्रह है। अभिग्रह में चार आगार हैं, जो निम्न हैं—

1. अन्नत्थणा 2. सहसा 3. महत्तरा 4. सव्वसमाहि. ।

विशेष — अभिग्रह लेने पर मुनि के लिए एक आगार और है— चोलपट्टागारेणं। कई साधु उपाश्रय में निर्वस्त्र रहने का अभिग्रह भी लेते हैं। यदि अचानक किसी ग्रहस्थ के आने पर चोलपट्ट पहनने की छूट होने पर ये पाँचवाँ आगार है।

विगय (विकृति) — घी आदि विगय का त्याग विगय प्रत्याख्यान कहलाता है। दही, दही, दूध आदि विगयों के प्रयोग से विचारों एवं मन में विकृति आने की संभावना होने के कारण इन विगयों का त्याग करने की विधि बतलाई गई है।

विगय के दस भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. दही 2. दूध 3. घी 4. तेल 5. गुड़ (शकर) 6. तली हुई वस्तुएँ 7. मधु 8. मक्खन 9. मदिरा और 10. मांस।

इन दस में अन्तिम की चार विगय सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि ये अभक्ष्य हैं, और ये महाविगय भी है, अर्थात् ये मन, वाणी एवं तन को अधिक विकृत करते हैं।

विगय के दो भेद हैं— द्रव और पिण्ड। मक्खन, तली हुई वस्तुएँ, माँस, दही, घी और गुड़— इन छह पिण्डविगय के त्याग में नौ आगार हैं।

अन्नत्थणा. सहसा. लेवा. गिह. उक्खित. पडुच्चमाक्खिएणं पारि. महत्तरा. सव्व.। आठ आगारों की परिभाषा पूर्व में दी गई है, यहां पडुच्चमाक्खिएणं की परिभाषा समझेंगे।

पडुच्चमाक्खिएणं (प्रतीत्यम्रक्षितेन)— अपेक्षाकृत चुपड़ा हुआ, अर्थात् नहीं के बराबर चुपड़ा हुआ हो, वह प्रतीत्यम्रक्षितेन है। आटे में घी या तेल डालकर बनाई हुई रोटी यदि खाए, तो विगय—प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। यदि वह अधिक मात्रा में डालकर बनाया हुआ या लगाया हुआ हो, तो नियम भंग होता है।

दूध, तेल, मधु और मदिरा— इन चार द्रव—विगय के त्याग में आठ आगार हैं। उक्खितविवेगेणं को छोड़कर पिण्डविगय वाले आठ आगार हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि प्रत्याख्यानो में आगार रखने का क्या प्रयोजन है ?

प्रत्याख्यान करने के पश्चात् असमाधि में, समय—ज्ञान के अभाव में आदि विशेष कारणों के कारण प्रत्याख्यान में दोष न लग जाए, इसलिए आगार रखे गए हैं। प्रत्याख्यान करने के बाद यदि प्रत्याख्यान तोड़ें, तो प्रत्याख्यान भंग के दोषरूप कर्मबन्ध का भागीदार बनना पड़ता है, अतः आगार रखने पर प्रत्याख्यान करने के पश्चात् प्रत्याख्यान आने के पूर्व ग्रहण करना पड़े तो दोष नहीं लगे इस कारण आगार रखे जाते हैं। यही बात आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की बारहवीं गाथा में¹ कही है कि नियम भंग से अशुभ कर्मबन्ध इत्यादि महान् दोष लगते हैं, क्योंकि उसमें भगवदाज्ञा की विराधना होती है, जबकि छोटे भी नियम के पालन से कर्म—निर्जरारूप महान् लाभ होता है, क्योंकि उसमें शुभ अध्यवसाय होता है। धर्म में लाभ और अलाभ का विचार करके जिस प्रकार भी अधिक लाभ हो उस प्रकार करना चाहिए, इसलिए प्रत्याख्यान में आगार रखे गए हैं।

सामायिक—द्वार— प्रस्तुत द्वार में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि प्रत्याख्यान पापों से बचने के लिए है, परन्तु साधुओं ने सभी सावद्य पापरूप व्यापार का त्याग कर निरवद्यस्वरूप सामायिक—व्रत को स्वीकार किया है, तो उन साधुओं को प्रत्याख्यान से क्या लाभ है ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की तेरहवीं गाथा में² किया है कि सभी पापरूप व्यापारों के त्याग के रूप सामायिक में भी यह प्रत्याख्यान ग्रहण भगवान् की आज्ञा के अनुसार होने से तथा अप्रमत्तदशा की वृद्धि का कारण होने से गुणकारी (लाभकारी) ही है।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/12 — पृ. — 84

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/13 — पृ. — 84

प्रत्याख्यान का स्वरूप परमात्मा द्वारा ही निर्दिष्ट है। परमात्मा की आज्ञा का पालन करना ही धर्म है, अतः साधु-वर्ग को भी प्रत्याख्यान का पालन करना आवश्यक है।

प्रत्याख्यान से अप्रमत्तदशा की वृद्धि होती है— यह अनुभव प्रमाण है, क्योंकि प्रत्याख्यान से व्यक्ति कर्म से भी हल्का होता है तथा मन एवं विचारों से भी हल्का होता है, इन्द्रियों के विषयों से भी हल्का हो जाता है, अतः स्वतः अप्रमत्त अवस्था की वृद्धि होती जाती है। इसी वृद्धि के विषय का आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की चौदहवीं गाथा में¹ प्रतिपादित करते हैं—

प्रत्याख्यान से सामायिक-चारित्र में अप्रमाद की वृद्धि होती है। इसमें अनुभव प्रमाण है, अर्थात् प्रत्याख्यान करने वालों को प्रायः अप्रमाद की वृद्धि का अनुभव होता है। इससे अन्तर और बाह्य— ये दो लाभ होते हैं। अप्रमाद विरति का स्मरण कराता है— यह अन्तर लाभ है और अप्रमाद से सम्पूर्णतया शुद्ध प्रवृत्ति होती है— यह बाह्य लाभ है। यद्यपि सामायिक चारित्र में रहते हुए साधु अशुद्ध प्रवृत्ति का त्याग कर देता है, फिर भी प्रमाद, रोग, सत्व-गुण का अभाव आदि कारणों से, अथवा दूषित आहार के सेवन आदि से साधु-जीवन में दोष आ जाना सम्भव है। प्रत्याख्यान से इन सबका नाश हो जाता है और सत्व-गुण की अभिवृद्धि होती है।

यहाँ प्रश्न किया गया कि प्रत्याख्यान करने वाला यदि चारों आहार का त्याग करता है, तब वह राग-द्वेष से विरक्त होता है, उसका सामायिक भंग नहीं होता है, पर अमुक प्रकार के आहार आदि का त्याग करे, तो सामायिक भंग होगा, क्योंकि जिस आहार का उसने त्याग नहीं किया है, तो उसके प्रति उसे राग-भाव रहेगा और जिसका त्याग कर दिया है, उसके प्रति द्वेष रहेगा।

प्रस्तुत प्रश्न उचित नहीं है। ऐसा नहीं है कि जिसका त्याग किया, उसके प्रति द्वेष रहेगा और जिसका उपयोग कर रहा है, उसके प्रति राग-भाव रहेगा।

प्रत्याख्यान करने वाला जिसका त्याग कर देता है, उसके प्रति द्वेष नहीं रखता है। चूँकि वह स्वेच्छा से मनोयोगपूर्वक त्याग करता है, अतः उसे त्याग के प्रति न

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/14 - पृ. - 85

तो राग होता है और न द्वेष, इसी प्रकार अत्याग के प्रति भी न राग होता है और न द्वेष होता है। दोनों ही परिस्थितियों में समत्व की साधना रहती है, अतः सामायिक भंग होने का किंचित् मात्र भी अवकाश नहीं रहता है। यही बात आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की पन्द्रहवीं गाथा में² कही है—

प्रत्याख्यान करने वाला चारों आहार का त्याग कर दे, तब तो ठीक, अन्यथा तिविहार आदि अमुक प्रकार के आहार का त्याग करें, तो उसमें सामायिक का भंग होगा, क्योंकि जिसका त्याग नहीं किया है, उसके प्रति उसका रागभाव है और जिसका त्याग किया है, उसके प्रति द्वेष-भाव है। इसी राग और द्वेष-भाव के कारण उसकी सामायिक अर्थात् समभाव का भंग होता है।

प्रत्याख्यान तिविहार आदि भेद से लिया जाए, तो भी वह सामायिक का बाधक नहीं होता है, क्योंकि तिविहार आदि प्रत्याख्यान करने वाला त्याग नहीं किए गए आहार में प्रवृत्ति और त्याग किए गए आहार में निवृत्ति समभावपूर्वक करता है। जिस प्रकार साधु को एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने में छोड़े हुए स्थान के प्रति द्वेष नहीं होता है और स्वीकार किए गए स्थान के प्रति राग भी नहीं होता है, अपितु वह दोनों स्थानों के प्रति समभाव रखता है, उसी प्रकार त्यक्त और अत्यक्त भोजन के प्रति भी उसमें समभाव ही होता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया कि सामायिक में आगार क्यों नहीं रखा गया, जबकि नवकारसी आदि प्रत्याख्यान छोटे हैं, फिर भी उनमें आगार रखें गए हैं, यह युक्ति कहाँ तक संगत है ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की सोलहवीं एवं सत्रहवीं गाथाओं में¹ किया है—

आगार वहाँ रखें, जहाँ व्रत भंग होने का प्रसंग हो। जहाँ व्रत भंग का अवकाश ही न हो, वहाँ आगार की क्या आवश्यकता है ? सर्वसावद्ययोगरूप सामायिक में चाहे त्याग हो या अत्याग, चाहे शत्रु हों या मित्र, चाहे ज्ञान हो या अज्ञान हो, चाहे

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/15 - पृ. - 85

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/16 से 17 - पृ. - 86

अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, चाहे मान हो या अपमान— सभी प्रसंगों पर, सभी पदार्थों पर जीवन—पर्यन्त समभाव होने के कारण प्रत्येक प्रवृत्ति समभावपूर्वक ही होती है। यदि शारीरिक—प्रतिकूलता में अपवाद—स्वरूप किसी पदार्थ का सेवन करना भी पड़े, तो वह भी समभावपूर्वक ही होता है, यही कारण है कि सामायिक भंग होने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए सामायिक में आगारों की आवश्यकता नहीं होती है, अतः सामायिक में आगार नहीं हैं और प्रत्याख्यान में आगार हैं। इसमें असंगति कहाँ हैं ?

सामायिक चारित्र को निरपेक्ष कहा गया है। चूंकि सामायिक—चारित्र में किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं होती है, इसी कारण इससे समभाव की सिद्धि होती है। यही बात आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की अट्ठारहवीं गाथा में¹ कहते हैं, कि—

यह सामायिक अपेक्षा—रहित है, क्योंकि इसमें सभी भावों का विषय समता है, अर्थात् सामायिक में सभी पदार्थों में समभाव होता है, अतः उसमें अपेक्षा नहीं होती है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया कि इसमें सर्वसावद्ययोग का त्याग सर्वकाल तक नहीं होता है, इसमें जीवन—पर्यन्त इस प्रकार की काल की मर्यादा है, अतः वर्तमान जीवन के बाद मैं पाप करूँगा— क्या ऐसी अपेक्षा है ? यदि इस जीवन के पश्चात् भी पाप करने की अपेक्षा न हो, तो यावज्जीवन कहकर उसे मर्यादित करने की क्या आवश्यकता है ? यावज्जीवन कहकर यह कैसे कह सकते हैं कि सामायिक अपेक्षा—रहित है ?

सामायिक में जीवन—पर्यन्त ऐसी मर्यादा प्रतिज्ञा—भंग के भय से रखी जाती है, न कि अपेक्षा से, क्योंकि जीवन पूर्ण होने के पश्चात् यदि मोक्ष नहीं मिला, तो देवादि अवस्थाओं में अधिकतम अविरतसम्यग्दृष्टिरूप में ही जन्म होगा, अतः अविरति के कारण पाप होना सम्भव है, इसलिए सामायिक का काल मर्यादापूर्वक होने पर भी निरपेक्ष है।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/18 — पृ. — 86

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/19 — पृ. — 87

सामायिकता में आगारों की अनावश्यकता की दृष्टान्त से सिद्धि — आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की उन्नीसवीं गाथा में वर्णन करते हैं, कि— सामायिक में आगारों की कोई आवश्यकता नहीं है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं कि सामायिक करने वाले के मन में ऐसे भाव होते हैं, जैसे, सुभट (योद्धा) के हृदय में होते हैं। योद्धा के हृदय में “विजय—प्राप्त करना” अथवा “मरना”— ये दो संकल्प होते हैं। ऐसे संकल्प वाले के मन में पीठ दिखाकर भाग जाना अथवा भयभीत हो जाना— ऐसे भाव आते ही नहीं हैं। इसी प्रकार साधु को भी सामायिक में कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना अथवा मरना स्वीकार होता है, परन्तु सामायिक भंग नहीं करूंगा— ऐसा दृढ़संकल्प होता है।

योद्धाभाव तो लौकिक और निम्न स्तर तक तथा उसमें विजय इस भव तक ही सीमित है, जबकि सामायिक करने वाले की विजय—यात्रा तो अनेक भवों तक चल सकती है, इसलिए अयोग्य व्यक्ति को सामायिक देने का निषेध है, जिसका वर्णन आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की बीसवीं गाथा में¹ किया है।

अयोग्य को सामायिक देने का निषेध — सामायिक योद्धा के मनोभावतुल्य होने से अयोग्यों के लिए शास्त्र में उसका निषेध है, परन्तु जो इस व्रत से पतित हो जाता है, उसके लिए भी उसके बीज मात्र संस्कार भी विशिष्ट लाभप्रद होते हैं।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया कि यदि अयोग्य व्यक्ति के लिए सामायिक निषेध है, तो भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को भेजकर किसान को दीक्षा क्यों दिलवाई, जबकि महावीर को ज्ञात था कि यह दीक्षा छोड़ देगा।

भगवान् जानते थे कि वह दीक्षा छोड़ देगा, पर वह यह भी जानते थे कि इसके लिए कुछ समय की दीक्षा भी मुक्तिकारक सिद्ध होगी। दीक्षा छोड़ने से हानि तो होगी, पर उस हानि से अधिक लाभ जानकर भगवान् ने गौतम को दीक्षा देने के लिए भेजा एवं दीक्षा दिलवाई। यहाँ हानि कम एवं लाभ अधिक रूपहेतु था, इसलिए दीक्षा देने में कोई दोष नहीं है।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/20 — पृ. — 88

प्रत्याख्यान में रखे आगार मूलभाव में बाधक नहीं होते हैं। प्रत्याख्यान में रखे गए आगार प्रत्याख्यान के लिए कोई बोधक तत्त्व नहीं है। वर्तमान में देखते हैं, कि कई बार शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामायिक, पारिवारिक तकलीफें आती हैं, परन्तु उनसे प्रत्याख्यान में कोई असर नहीं होता है। बाधक स्थिति के पैदा न होने के मूल में स्वयं का मनोबल ही होता है। जिसका मनोबल मजबूत नहीं है, वह अच्छी परिस्थिति में भी आगार के रहते हुए भी मूल प्रत्याख्यान में दोष लगा लेता है, जबकि दृढ़ मनोबल वाला व्यक्ति उनसे प्रभावित नहीं होता है। इसी बात की पुष्टि करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की इक्कीसवीं से तेईसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं, —

मरना या विजय-प्राप्त करना— ऐसे संकल्प वाला योद्धा भी विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध में प्रवेश करता है, कभी मौका देखकर निकल भी जाता है, कभी स्वयं लड़ना बन्द कर देता है, कभी शत्रु को रोकता है— इस प्रकार अनेक अपवादों का सेवन करता है, लेकिन उन अपवादों से उसके मूल संकल्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, उसी प्रकार नवकारसी आदि के प्रत्याख्यान के आगार (अपवाद) उसके मूल भाव को प्रभावित नहीं करते हैं।

अपवादों के होने पर भी योद्धा या साधु का जीवन के प्रति जो अनासक्त-भाव ही रहता है, वह अन्यथा परिणत नहीं होता है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो साधु उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त को स्वीकार करने रूप प्रतिकार और योद्धा भारण की खोजरूप प्रतिकार करता, किन्तु ऐसा दोनों में नहीं देखा जाता है।

अपवादों को स्वीकार करना या युद्ध में प्रवेश-निर्गम आदि करना मूलभाव (साधु के लिए समत्व को प्राप्त करना और योद्धा के लिए विजय-प्राप्त करना) में बाधक नहीं है, अपितु उन अपवादों से मूलभाव की सिद्धि की ही सम्भावना दृढ़ हो जाती है। अपवादों को स्वीकार नहीं करने से साधु की सामायिक और योद्धा की विजयेच्छा मूढ़ता-तुल्य हैं। ये अपवाद समभाव और विजय की सिद्धि में साधना का काम करते हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/21 से 23 - पृ. - 88,89

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि सामायिक योद्धा के अध्यवसाय के समान है, फिर भी कालान्तर में किसी जीव का पतन तो होता ही है, अतः सामायिक को सापवाद मानना ही क्या उचित है ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की चौबीसवीं गाथा में² इस प्रकार करते हैं—

कालान्तर में, अर्थात् साधु के सामायिक लेने के पश्चात् और योद्धा के युद्ध करते समय किसी कारणवश, अर्थात् साधु में वर्तमान भव के क्षय और मोक्ष के भावों का तथा योद्धा में विजय और मरण के भावों का अभाव होने पर भी साधु को सामायिक स्वीकार करते समय सामायिक स्वीकाररूप भाव तथा योद्धा के युद्ध में प्रवेश करते समय विजय पाने के परिणाम तो होते ही हैं। उस समय साधु के मन में अपवाद स्वीकार करने के भाव नहीं होते हैं।

पुनः यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि ऐसा कैसे हो सकता है कि अपवाद स्वीकार करने के भाव नहीं हो सकते हैं ? कर्मों का क्षयोपशम अनेक प्रकार से होता है, अतः उसमें भी उसी प्रकार के कर्मों का क्षयोपशम ही कारण है। साधु को सामायिक स्वीकार करते समय भी उसके कर्म-क्षयोपशम से ही ऐसे भाव होते हैं कि फिर किसी भी प्रकार से अपवाद की अपेक्षा होती ही नहीं है। जैसे वीर योद्धा में हारने पर भी निराश होकर पीछे लौटने के परिणाम आते ही नहीं है। मरना या विजय प्राप्त करना—यही दृढ़-निश्चय होता है। इसी प्रकार साधु भी इसी निश्चय में होता है कि मरना है या कर्मबन्धन तोड़कर मोक्ष पाना है। वह यह सोचता ही नहीं है कि अपवाद स्वीकार करना पड़ेगा।

भेदद्वार — प्रश्न होता है कि आहार आहार ह, अर्थात् यह क्षुधा वेदनीय शान्त करने का हेतु है, फिर आहार में भेद क्यों किया गया ? सारे भेदों का समावेश आहार करने पर ही हो जाता है। आहार के भेद को दर्शाने का मात्र एक लक्ष्य है कि दुविहार आदि प्रत्याख्यान करने पर ज्ञात हो सके कि कौनसे आहार का त्याग करना है एवं कौनसा

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/24 - पृ. - 89

आहार ग्रहण करना है। क्योंकि क्षुधा शान्त के सारे साधन केवल आहार संज्ञा से सम्बोधित करने पर ज्ञात हो जाता है कि यह खाद्य पदार्थ है, परन्तु खाद्य पदार्थों में स्वाद एवं गुणों की भिन्नता होने के कारण भेद किए गए हैं तथा प्रत्याख्यानों में भी भेद हैं, तो आहार में भी भेद हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की पच्चीसवीं से ईकतीसवीं तक की गाथाओं में¹ विस्तार से किया है। हम इसे इस प्रकार समझें—

जाति की दृष्टि से आहार एक होने पर भी प्रत्याख्यान की अपेक्षा से अशन, पान, खादिम और स्वादिम के भेद से आहार चार प्रकार का होता है। ज्ञान आदि की सिद्धि के लिए ये चार भेद जानना जरूरी हैं, अर्थात् आहार प्रत्याख्यान करते समय उसके अनुसार श्रद्धा एवं पालन आदि होता है।

सर्वप्रथम आहार के चार भेदों का ज्ञान होता है। फिर तद्विषयक रुचि होती है, फिर द्विविध—आहार आदि भेद वाले प्रत्याख्यान को स्वीकार करने का भाव होता है, फिर उसका उपयुक्त पालन होता है, तत्पश्चात् आहार—सम्बन्धी विरति की वृद्धि होती है। ये सब आहार के भेदों का ज्ञान होने पर सम्भव होते हैं। यदि भेदों का वर्णन न किया जाए, तो उपर्युक्त ज्ञान, श्रद्धा आदि का होना सम्भव नहीं है।

1. अशन — चावल आदि अनाज, सत्तू, मूँग आदि दलहन, सब्जी और तली हुई वस्तुएँ आदि पकवाने के अनेक प्रकार एवं दूध, दही, छाछ तथा सूरण आदि कन्द और सभी प्रकार की सब्जियों को अशन जानना चाहिए।

2. पान — मॉड, यव आदि का धोया हुआ पानी, विविध प्रकार की मदिरा आदि, कुएँ का पानी आदि, ककड़ी, खजूर आदि के भीतर का जल तथा आम आदि फलों का धोया हुआ पानी इत्यादि सभी पान जानना चाहिए।

3. खादिम — भुने हुए चने, गेहूँ आदि अनाज, गुड़ आदि से संस्कृत पदार्थ तथा खजूर, नारियल, द्राक्षा, ककड़ी, आम, कटहल आदि अनेक प्रकार के फल जो को खादिम जानना चाहिए।

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/25 से 31 — पृ. . — 90,91

4. स्वादिम — दातून, पान का पत्ता, सुपारी, इलायची, लवंग, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों के मिश्रणरूप ताम्बूल, तुलसी, जीरा, हल्दी, माक्षिक, पीपल, सोंठ, हरड़ आदि अनेक प्रकार के स्वादिम हैं।

इस प्रकार अशनादि चार प्रकार के आहरों के संक्षेप में ये भेद दिखलाए गए हैं। इसी के अनुसार शेष वस्तुओं में से कौन वस्तु किस प्रकार के आहार के अन्तर्गत आती है— यह जान लेना चाहिए।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या साधु भी त्रिविधाहार का प्रत्याख्यान ले सकते हैं ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में¹ दिया है—

जिनेश्वरों ने आहार—प्रत्याख्यान का त्रिविध आहार आदि के भेद से वर्णन किया है। ऐसा नहीं है कि आहार प्रत्याख्यान का तात्पर्य चतुर्विध आहार ही हो, अपितु त्रिविध आहार आदि भी हो सकता है, क्योंकि उसमें पानी के छः आगारों का उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि अशन—पानादि आहार के चार भेदों में से किसी का भी प्रत्याख्यान अविरोधपूर्वक किया जा सकता है। मुनियों के इस अभिग्रह में कि मैं अमूक प्रकार का अशन या पान ही लूंगा— इसमें बुद्धिजीवियों का कोई विरोध नहीं दिखता है। यह विषय सूक्ष्म होने के कारण विवेकीजन उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं।

त्रिविधाहार का समर्थन किया गया कि साधु त्रिविधाहार का प्रत्याख्यान ले सकता है, परन्तु अन्य मत वाले इस पर पुनः प्रश्न उठाते हैं कि त्रिविधाहार सर्वविरति साधुओं के लिए उचित नहीं है, क्योंकि यदि त्रिविध—आहार विशेष का प्रत्याख्यान साधुओं के लिए माना जाए, तो उनकी सामायिक सर्वविरति कैसे कही जाएगी ?

सर्व आहार का प्रत्याख्यान ही तो सर्वविरति है। त्रिविधाहार में सभी आहारों का त्याग नहीं होने से वह सर्वविरति नहीं कही जा सकती।

प्रस्तुत मत को आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की तैंतीसवीं गाथा में² उद्धृत किया है, अतः प्रस्तुत मत का उत्तर आचार्य हरिभद्र

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/32 — पृ. — 92

प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की चौतीसवीं गाथा में² देते हुए उपर्युक्त विरोध का निराकरण करते हैं, जो इस प्रकार है—

आहार का प्रत्याख्यान सर्वविरति में भी अप्रमादवर्द्धक होता है— ऐसा इसी पंचाशक की तेरहवीं गाथा में कहा गया है। त्रिविध—आहार में केवल पानी का उपयोग मात्र करने और शेष तीन प्रकार के आहारों का त्याग करने से अप्रमाद की वृत्ति अधिक बढ़ती है, अर्थात् सर्वविरति रूप सामायिक के ग्रहण से जो अप्रमाद के भाव का विकास हुआ था, उसमें त्रिविध—आहार के प्रत्याख्यान से भी वृद्धि ही होती है, इसलिए साधु त्रिविध—आहार का प्रत्याख्यान कर सकता है।

त्रिविधाहार प्रत्याख्यान के पुष्ट करने हेतु अन्य तर्क दिया गया है कि जब त्रिविधाहार प्रत्याख्यान को उचित माना जा सकता है, तो अस्वस्थता आदि विशेष परिस्थितियों में क्या द्विविध आहार के भी प्रत्याख्यान किए जा सकते हैं ?

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की पैंतीसवीं गाथा में¹ देते हैं—

आपकी यह बात सत्य है, किन्तु साधु को प्रायः अस्वस्थता आदि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त खादिम और स्वादिम आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि उसे शास्त्रनुसार वेदना आदि छः कारणों से ही भोजन करना आवश्यक है। खादिम और स्वादिम आहार इन कारणों में उपयोगी नहीं होते हैं, किन्तु विशेष परिस्थिति में स्वादिम एवं खादिम की छूट होने से साधु के द्वारा द्विविध आहार का प्रत्याख्यान लिया जा सकता है।

भोगद्वार — भोगद्वार में भोजन की विधि बताई है कि भोजन कब करना तथा भोजन करने के पूर्व क्या विधि है, जिसे करके फिर शान्त चित्त से भोजन ग्रहण किया जाए। चूंकि भोजन का प्रभाव शरीर एवं विचारों पर पड़ता है, अतः जिस भोजन से शरीर के वात, पित्त, कफ आदि भी शान्त हों, जिससे वे विकृत न हो जाए— ऐसा भोजन ही

² पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/33 — पृ. — 92

³ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/34 — पृ. — 93

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्र सूरि — 5/35 — पृ.सं. — 92

करना चाहिए । यह निर्देश दिया गया है कि भोजन करने के पूर्व गुरुजनों आदि के चरण स्पर्श कर भोजन करना चाहिए। यह भी मनोविज्ञान है कि भोजन के पूर्व बड़ों का आशीर्वाद लेना चाहिए। बड़ों के आशीर्वाद से भोजन अमृतमय बन जाता है और अमृतमय भोजन मन के विचारों में अमृत का संचार कर देता है। यह अमृत का संचार तन, मन, वचन, विचार, व्यवहार आदि सभी को स्वस्थ बनाता है, अतः स्वस्थता के लिए विधिपूर्वक भोजन करना चाहिए। भोजन के पूर्व किस प्रकार की क्रियाएं करना चाहिए ? इसकी सारी विधि का विवरण आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की छत्तीसवीं से लेकर अड़तीसवीं तक की गाथाओं में¹ किया है, जिसे समझकर ही आचरण करना चाहिए। प्रस्तुत विधि निम्न प्रकार से है -

विधिपूर्वक प्रत्याख्यान के पूर्ण होने के थोड़े समय बाद वात, पित्त, कफ, तीन धातुओं के सम बनने और कायादि योगों के स्वस्थ बनने पर शान्तचित्त से भोजन करना चाहिए। गोचरी करने के परिश्रम से शरीर की धातुएँ विषम बन जाती हैं और शरीर अस्वस्थ हो जाता है, इसलिए थोड़े समय बाद जब धातुएँ सम हो जाएँ और शारीरिक-योग स्वस्थ हो जाएँ तब शान्तचित्त से भोजन करना चाहिए।

धर्म में अनुरक्त जीव अपनी भूमिका के अनुसार भोजन के समय, अर्थात् भोजन से पूर्व करने योग्य क्रियाएँ, जैसे- माँ-बाप, धर्माचार्य और देव की सम्यकरूपेण वंदन-पूजन, परिवार में जो बीमार हो उसकी सेवा तथा नमस्कार मन्त्र का पाठ आदि करके 'मैंने यह प्रत्याख्यान किया है'- ऐसा विशेष रूप से याद करके बड़ों की आज्ञा लेकर विधिपूर्वक भोजन करे।

स्वयं-पालन-द्वार - प्रस्तुत द्वार में यह कहा गया है कि प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला मुनि यदि स्वयं प्रत्याख्यान का पालन करता हुआ अन्य मुनियों को आहार लाने हेतु घरों का परिचय दे कि अमुक घर में आहार मिल जाएगा, तो इससे उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है। प्रत्याख्यान भंग तब होता है, जब प्राणातिपात का उपदेश दे अथवा अनुमोदना करे, अतः साधु अन्य साधुओं को गृहस्थों के घर बताएँ, तो इसमें

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/36 से 38 - पृ. - 93,94

दोष नहीं है, इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की उन्चालीसवीं से इक्तालीसवीं गाथाओं में² कहते हैं कि-

प्राणातिपातविरति आदि व्रतों का स्वीकार त्रिविध (मनसा, वाचा, कर्मणा) होने के कारण प्राणातिपातविरमण-व्रत करने वाला प्राणातिपात आदि पाप करने को कहे या अनुमोदन करे, तो व्रत भंग होता है, किन्तु आहार-प्रत्याख्यान में आहार लाने या आहार लाने सम्बन्धी उपदेश दें, तो उससे प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है।

इसी प्रकार, आहार का प्रत्याख्यान करने वाले साधु को भी आचार्य, बीमार, बालक और वृद्ध साधुओं के लिए कल्प आहार की प्राप्ति हेतु भिक्षाटन करना चाहिए और इस प्रकार स्वशक्ति के अनुरूप प्रयत्न करके उनको अशनादि आहार उपलब्ध कराना चाहिए।

नए आए हुए मोक्षाभिलाषी भिन्न सामाचारी वाले साधुओं को भी दानमना गृहस्थों के घर बतलाना चाहिए। इसी प्रकार, बीमार होने के कारण समान सामाचारी वाले साधुओं के लिए आहार न ला सकें, तो उन्हें भी श्रद्धालु दाता गृहस्थों के घर बतलाना चाहिए, अथवा स्वयं को और दूसरे साधुओं को जैसी सुविधा हो, वैसा करना चाहिए।

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 5/39 से 41 - पृ. - 94

श्रावकों के लिए दान, उपदेश की विधि — श्रावक भी यथाशक्ति साधुओं को दान दे, क्योंकि दान से ही जगत् में महिमा बढ़ती है। शालीभद्र ने पूर्व भव में खीर का दान दिया। कालान्तर में उसे इसके परिणामस्वरूप पुण्य-प्रकृति के उदय के साथ संयमी जीवन एवं भगवान् महावीर स्वामी की शरण प्राप्त हुई। श्रावक अमीर हो या गरीब, साधुओं को दान देना ही चाहिए एवं अन्यो को भी इस विषय में कहना चाहिए। श्रावकों के लिए यहाँ तक निर्देश है कि यदि श्रावक आहार, वस्त्र आदि का दान नहीं दे सके, तो कम-से-कम साधुओं को आहार के लिए श्रावकों के घर बताएं— यह भी दान का अंग है।

जगत् में सुपात्र दान का अत्यंत महत्त्व है, अतः कहा गया है कि श्रावक को अपने उपकारी गुरु एवं गुरु-परिवार को अवश्य दान देना चाहिए। वैसे श्रावकों के लिए यह भी निर्देश है कि श्रावक किसी भी साधु-साध्वियों में भेद न करे, क्योंकि उन सभी में व्रत समान है, अतः उसके लिए सभी समान ही होना चाहिए। श्रावक भी माता-पिता तुल्य होता है, अतः भेद-बुद्धि उसमें कहाँ से होगी ? श्रावक के लिए जो यह निर्देश दिया है कि उसे अपने प्रतिबोधक गुरु को तो अवश्य दान देना चाहिए, वह इस अपेक्षा से कहा गया है कि यदि दान देने की अधिक शक्ति न हो, तो कम-से-कम इतना तो करे। इस प्रकार दान के उपदेश को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की बयालीसवीं तथा तिरालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

यदि शक्ति हो, तो सुसाधुओं को आहार का दान देना चाहिए और यदि शक्ति न हो, तो श्रद्धालुओं के घर बतलाना चाहिए। शेष वस्त्रादि के विषयों में भी यही विधि है, अर्थात् शक्ति हो, तो वस्त्रादि का दान करें, अन्यथा दाताओं के घर बतलाएं।

गरीब श्रावक, जो सभी साधुओं को वस्त्र नहीं दे सकता है, वह दिशा की अपेक्षा से दिशा के सम्बन्ध से दान दे। गृहस्थ जिस आचार्य से प्रतिबोधित हुआ हो, वह उसके लिए दिशा होता है और धर्म पाने वाले गृहस्थ का उस आचार्य के साथ दिशा का

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/42,43 — पृ. — 95,96

सम्बन्ध कहा जाता है। दिशा की अपेक्षा से दान देने का तात्पर्य, जिससे प्रतिबुद्ध हुआ हो, उस आचार्य को दान देना है।

श्रावक को भेदभाव के बिना सभी साधुओं को दान देना चाहिए। जिस साधु के पास वस्त्रादि न हो, उसे वस्त्र देना चाहिए।

यदि सभी के पास वस्त्रादि हों और सभी प्राप्त करने में समर्थ हों, अथवा किसी भी साधु को वस्त्रादि का अभाव न हो और कोई भी प्राप्त करने में असमर्थ न हों, अर्थात् सभी एक समान हों, तो ऐसे में सीमित शक्ति वाले श्रावक को अध्यात्म के क्षेत्र में मार्ग-निर्देश करने वाले साधु आदि के सम्बन्ध-भेद से दान देना चाहिए, अर्थात् जिस साधु का अपने ऊपर उपकार हो, उसे और उसके शिष्य-परिवार को प्रथम दान देना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि श्रावक दिशा-निर्देशक के सम्बन्ध के अनुसार दान न दें, तो जिनेश्वर की आज्ञा-भंग का दोष लगेगा।

अनुबन्धद्वारा — जो साधु आहार करते हुए भी अनासक्त-उदासीन रहता है, वह प्रत्याख्यान के भावों का उच्छेद नहीं करता है। यदि वह अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने पर भी गुरु की आज्ञा के अनुसार कार्य करता है, तो भी उसे प्रत्याख्यान का लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने से अधिक लाभ गुरु की आज्ञा मानने में है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि शिष्य कितना भी तपस्वी हो, कितना भी यशस्वी हो, कितना भी ओजस्वी हो, पर यदि वह गुरु की आज्ञा स्वीकार नहीं करता है, तो वह जिनाज्ञा को भंग करता है। यदि गुरु योग्य है, गीतार्थ है, ज्ञानवान् है, तो गुरु जो भी आज्ञा देंगे, वह जिनाज्ञा के अनुसार देश, काल, भाव, देखकर ही देंगे। यदि शिष्य अपनी स्वेच्छा को महत्व देकर गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करता है, तो यह उसका कदाग्रह है और यह कदाग्रह अनन्त संसार-भ्रमण का कारण होता है, फिर भले ही वह तपस्वी या संयमी क्यों न हो, अतः संसार-भ्रमण से बचने के लिए गुरु की आज्ञा मानकर ही तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान, शयन, आहार आदि करना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते

हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की चंवालीसवीं से छंवालीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं कि—

जो साधु भोजन करके मानसिक और शारीरिक—उदासीनता से रहित होकर अपनी भूमिका के अनुरूप सदा उचित प्रयत्न करता है, उसके आहार के प्रत्याख्यान में अनुबन्ध—भाव होता है, अर्थात् उसके प्रत्याख्यान के परिणाम का विच्छेद नहीं होता है।

जो गुरु के आदेश से अपनी भूमिका के अनुरूप कार्य करे और उससे भिन्न अन्य कार्य न करे, तो भी उसे प्रत्याख्यान का लाभ तो होता ही है, क्योंकि अपनी भूमिका के अनुरूप कार्य से गुरु द्वारा कहा गया कार्य प्रधान है, अर्थात् गुर्वाज्ञा प्रधान है। गुर्वाज्ञा के भंग होने पर सभी अनर्थ होते हैं, इसलिए शास्त्र में कहा गया है कि छः, आठ, दस, बारह, पन्द्रह उपवास और मासक्षमण करे, किन्तु यदि गुरु की आज्ञा नहीं माने, तो वह अनन्त—संसारी होता है।

प्रत्याख्यान से अविद्यमान वस्तु का भी लाभ — जो वस्तु हमारे पास नहीं है और वह मिलने वाली भी नहीं है, फिर भी उसका त्याग हमारे लिए लाभदायक है, क्योंकि विकल्प तभी समाप्त होते हैं, जब हम वस्तु का त्याग कर देते हैं, अन्यथा हमारे त्याग नहीं हैं, तो पाने की संभावना के विकल्प चलते ही रहते हैं और विकल्प आश्रव का हेतु बनते हैं। आश्रव, बंध का कारण बना रहता है। वस्तु के अभाव में भी वस्तु का विकल्प अनर्थदण्ड का कारण बनता है, अर्थात् वस्तु को भोगते भी नहीं है और कर्म बन्धते रहते हैं, इसलिए कहा जाता है कि संसार में अनगिनत वस्तु हैं, जिनका उपभोग नहीं होता है, उन अनावश्यक वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए, जिससे अनर्थ दण्ड से बचा जा सकें।

कई लोगों का प्रश्न है कि हम जिन वस्तुओं का उपभोग नहीं करते हैं, उसका पाप हमें क्यों लगेगा ? वे पाप हमें क्यों भोगने पड़ेंगे ? इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। आपने किराए का मकान लिया हो और उसमें ताला लगा दिया हो,

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/44 से 46 — पृ. — 96,97

लेकिन आप उसमें दो माह से नहीं रह रहे हो। दो माह बाद मकान—मालिक किराया लेने आया। आपने कहा कि हम तो दो महीने स इस मकान में रहे ही नहीं हैं, केवल ताला लगा हुआ है, तो किराया किस बात का ? चाहे मकान में नहीं रह रहे हों, परन्तु आपने मकान को छोड़ा तो नहीं, अपना ताला खोलकर मकान जिसका था, उसे दिया तो नहीं। यदि नहीं लौटाया है, तो किराया तो देना ही पड़ेगा, क्योंकि आपने उसमें मेरापन का त्याग नहीं किया, अर्थात् वहां भाव यही रहा कि मकान मेरे पास है, ताला मेरा लगा हुआ है। इसी प्रकार जब तक भोगों के साधनों का त्याग न कर दे, तब तक पाप की भी भागीदारी खत्म नहीं होती है। विद्यमान वस्तु अथवा अविद्यमान वस्तु का त्याग समझपूर्वक ही होना चाहिए और त्याग करने के बाद प्राप्त हो या नहीं हो, फिर भी दोनों स्थितियों में तटस्थ ही रहना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि—पंचाशक की सैंतालीसवीं एवं अड़तालीसवीं गाथाओं में¹ उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

जो वस्तु अपने पास न हो और भविष्य में मिलने की सम्भावना भी न हो, उस वस्तु का प्रत्याख्यान भी लाभप्रद है, क्योंकि उससे आस्त्रव का निरोध होता है, विरति होती है और सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन भी होता है।

अविद्यमान वस्तु भविष्य में कभी मिलेगी ही नहीं— ऐसा मानना सर्वथा सत्य नहीं है। अविद्यमान वस्तु भी अचानक मिल जाती है, अर्थात् कभी—कभी जिस वस्तु की कोई सम्भावना न हो, वह भी मिल जाती है। इस विषय में गाड़ी का उदाहरण है।

एक बार एक मुनि अनेक भव्य जीवों को उपदेश दे रहे थे। उसे सुनकर एक ब्राह्मण ने उपहास करने के लिए मुनि के पास जाकर ऐसा प्रत्याख्यान लिया कि— “मैं गाड़ी नहीं खाऊंगा”।

एक दिन वह ब्राह्मण भूखा—प्यासा जंगल से आ रहा था कि एक राजकुमारी उसे सामने मिली। उस राजकुमारी ने गाड़ी के आकार का पकवान ब्राह्मण को खिलाने का नियम लिया था। राजकुमारी पकवान तैयार करके ब्राह्मण को ढूँढ ही

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/47.48 — पृ. — 97.98

रही थी कि यह ब्राह्मण उसे मिला। उसने पकवान ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण ने पकवान को गाड़ी के आकार का देखकर खाने से इनकार कर दिया। फलतः, मुनि की बात उसे सत्य प्रतीत हुई। इस प्रकार कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

प्रत्याख्यान विषयरहित नहीं है — प्रस्तुत विषय का विवेचन आचार्य हरिभद्र प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की उनचासवीं गाथा में¹ करते हुए कहते हैं कि प्रत्याख्यान के विषय में यह भी चिन्तन है कि प्रत्याख्यान अविद्यमान का नहीं होता है, अपितु विद्यमान का ही होता है, क्योंकि वस्तुओं के नाम भिन्न-भिन्न भी होते हैं, देश, काल के अनुसार भिन्न-भिन्न देश में, भिन्न-भिन्न काल में सभी वस्तुओं का उपभोग होता ही है।

जिस प्रकार गाड़ी के उदाहरण में पकवान गाड़ी नहीं होने पर भी गाड़ी के आकार का होने के कारण गाड़ी ही कहा जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न आकार होता है और उन वस्तुओं का भोग सम्भव है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु खाद्य नहीं हो सकती है, खाद्य या अखाद्य— सभी वस्तुओं का भोग सम्भव है, अतः अनुपलब्ध या अखाद्य वस्तुओं का भी प्रत्याख्यान तो आवश्यक है।

विरागी जीव का प्रत्याख्यान सफल — किसी भी विषय का प्रत्याख्यान करने वाला मन से विरत होता है, तो उसके हर प्रत्याख्यान सफल होते हैं, अतः विरत होकर ही प्रत्याख्यान करना चाहिए, अर्थात् भव-विरह की इच्छा से सर्व-प्रकार के आहार आदि से मन से निवृत्त हो जाना चाहिए, क्योंकि मन की निवृत्ति ही वास्तव में प्रत्याख्यान है और ये ही प्रत्याख्यान सफल होते हैं। यही बात आचार्य हरिभद्र ने प्रत्याख्यानविधि-पंचाशक की पचासवीं गाथा में¹ उल्लेखित की है—

भवविरह की इच्छा वाले जीव का विद्यमान या अविद्यमान सर्व वस्तु सम्बन्धी प्रत्याख्यान सफल है, क्योंकि मोक्षाभिलाषा और विरति के भाव से जिसका प्रत्याख्यान किया है, उसका चारित्र-मोहादि कर्म का क्षय होता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/49 — पृ. — 98

¹ पंचाशक-प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 5/50 — पृ. — 99

पंचाशक-प्रकरण में स्तव-विधि — आचार्य हरिभद्र स्तवविधि के विषय का प्रतिपादन करने के पूर्व अपने आराध्य के चरणों में प्रार्थना करते हुए प्रथम गाथा में² कहते हैं—

तीनों लोकों में पूजनीय भगवान् महावीर को प्रणाम करके मैं अपने और दूसरों के कल्याण के लिए आगमानुसार शुद्ध स्तव-विधि का निरूपण करूंगा। ज्ञातव्य है कि स्तवन, स्तव, स्तुति, भक्ति, गुण-संकीर्तन आदि प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं।

स्तव के दो प्रकार — आचार्य हरिभद्र ने स्तवनविधि-पंचाशक की दूसरी गाथा में³ स्तवन के भेद बताएँ हैं—

स्तव के दो भेद हैं— 1. द्रव्य-स्तवन और 2. भाव-स्तवन। अनुरागपूर्वक भावोल्लास के साथ जिन-मन्दिर का सम्यक् निर्माण, अथवा जिन-प्रतिमा का सम्यक् निर्माण करना अथवा करवाना द्रव्य-स्तवन है, जो भाव-स्तवन का हेतु है।

भाव-स्तवन है— मन, वचन और काय से विरक्त रहना, अर्थात् मन की परम विशुद्धि ही भाव-स्तवन है।

द्रव्य-स्तव — आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में⁴ द्रव्यस्तव के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि शास्त्रोक्त विधिपूर्वक जिन-मन्दिर का निर्माण, जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, तीर्थों की यात्रा और जिन-प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यस्तव है। भावस्तव का निमित्त कारण होने से ये द्रव्य-स्तव कहे जाते हैं। जिन-मन्दिर आदि की शुभ-प्रवृत्ति संसार के सुख-साधनों को पाने हेतु न हो, क्योंकि शास्त्रों में यह निषेध किया गया है। द्रव्य-क्रिया संसार को पाने के लिए नहीं है, अपितु शुभ-भावों को लाने के लिए है। यदि परमात्म-पूजन आदि द्रव्य-प्रवृत्ति संसार की याचना के लिए बन गई, तो वह द्रव्यस्तव नहीं है, क्योंकि द्रव्यस्तव का तात्पर्य है— शुभ-क्रिया। यहाँ द्रव्य शब्द को बाह्यक्रिया-काण्ड समझकर उसकी उपेक्षा करना अनुचित है। यहाँ द्रव्यस्तव, द्रव्यपूजा आदि अनुष्ठान का लक्ष्य शुद्धभावों को उत्पन्न करना ही है, न कि कोई निदान करना। शुद्ध भावस्तव का उत्स द्रव्यस्तव ही है, अतः

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/1 - पृ. - 100

³ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/2 - पृ. - 100

⁴ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/3 - पृ. - 100

द्रव्यस्तव को भावस्तव का आधार समझकर ही करना है। द्रव्यस्तव अनुष्ठानों को न हिंसा समझें, न प्रभु की आज्ञा के विपरीत साधन समझें, क्योंकि आप्त पुरुषों के उपदेश से विपरीत प्रवृत्ति कभी द्रव्यस्तव नहीं बन सकती है और द्रव्यस्तव के बिना भावस्तव नहीं बन सकता है तथा भावस्तव के बिना भव-परम्परा समाप्त नहीं हो सकती है। भव-परम्परा को समाप्त करने के लिए मूल को पकड़ना होगा और उसी के सहारे आगे बढ़ना होगा। इस विषय को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की चौथी से सातवीं तक की गाथाओं में¹ यह स्पष्ट करते हैं-

ये जिनभवन-निर्माण आदि धार्मिक अनुष्ठान आगमों में विहित माने गए हैं। भावपूर्वक जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठान करने वाले के वे अनुष्ठान सर्वविरति का कारण बनते हैं। यदि ये जिन-भवन आदि धार्मिक अनुष्ठान इहलोक या परलोक में भौतिक सुख पाने के लिए किए जाएं, तो वे निदान से दूषित बन जाते हैं और भावस्तव का कारण नहीं बनते हैं।

उपर्युक्त प्रकार का द्रव्यस्तव केवल भावस्तव का निमित्त ही नहीं होता है, अपितु आप्तवचनों का पालन करने के कारण भावस्तव के प्रति सम्मान (भक्ति-भाव) भी उत्पन्न करता है। यदि यही जिन-भवन आदि सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठान भौतिक सुखों की अपेक्षा से किया जाए, तो वह भावस्तव तो क्या, द्रव्यस्तव भी नहीं होता है।

आप्तवचन से किञ्चित् भी विपरीत प्रतीत होने वाले अनुष्ठानों को यदि द्रव्यस्तव कहा जाए, तो अतिव्याप्ति-दोष आ जाएगा और फिर आप्तवचन से विपरीत जो हिंसादि विभिन्न क्रियाएँ होंगी, वे सभी द्रव्यस्तव हो जाएंगी, जो उचित नहीं हैं।

पूर्वपक्ष- जब जिन-सम्बन्धी अनुष्ठान जिनाज्ञा के विपरीत होने पर भी द्रव्यस्तव हैं, तब अतिप्रसंग आने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

उत्तरपक्ष - यदि ऐसा माना जाए, तो जिन को गाली देना, इत्यादि निन्द्य क्रियाएँ भी द्रव्यस्तव हो जाएंगी, क्योंकि वे भी जिन-सम्बन्धी हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/4 से 7 - पृ. - 101

पूर्वपक्ष – आज्ञा के विपरीत जिन-सम्बन्धी अनुष्ठान उचित हो, तो ही द्रव्यस्तव है। जिन को गाली देना इत्यादि अनुष्ठान उचित नहीं है, इसलिए वे क्रियाएँ द्रव्यस्तव नहीं हो सकती हैं।

उत्तरपक्ष – ऐसा मानना आप्तवचन का पालन नहीं है, क्योंकि आप्तवचन से विरुद्ध उचित हो ही नहीं सकता है, अर्थात् जो अनुष्ठान आप्तवचन के विरुद्ध हो, वह उचित अनुष्ठान नहीं है।

उचित कार्य करना ही आप्तवचन का पालन करना है। उचित-अनुचित का विवेक तो बुद्धिमान को होता ही है। ऐसा व्यक्ति यह जानता है कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। यदि उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं है, तो वह व्यक्ति जिनाज्ञा का पालन तो क्या, व्यवहार का भी पालन नहीं कर सकता है। आगमवचन है कि उचित अनुष्ठान होने पर भी उसके प्रति बहुमान के भाव यदि नहीं हैं, तो वह आप्तपुरुषों की दृष्टि में द्रव्यस्तव ही नहीं है। द्रव्यस्तव के बिना भावस्तव में प्रवेश ही नहीं होता। भूमि के बिना खेती नहीं है, मिट्टी के बिना घड़ा नहीं है, शरीर के बिना जीवन का अस्तित्व नहीं है। भूमि खेती नहीं है, मिट्टी घड़ा नहीं है, शरीर जीवन नहीं है, परन्तु खेती, घड़ा और जीवन को पाने के लिए भूमि, मिट्टी और शरीर आवश्यक हैं, इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। यदि उपेक्षा कर दी, तो खेती आदि से धान्य आदि पाने का लक्ष्य किसी भी दशा में सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार, द्रव्यस्तव की उपेक्षा करके भावस्तव को प्राप्त नहीं कर सकते, अतः द्रव्यस्तव पहले अति आवश्यक है। इसी बात को सिद्ध करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की आठवीं से ग्यारहवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

बुद्धिमान् मनुष्य को हमेशा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जो उचित हो, उसे ही करना चाहिए। उचित कार्य करने से निश्चित ही फलप्राप्ति होती है और यही आप्तवचन है। जो अनुष्ठान औचित्यरहित हो और आदरभाव से सर्वथा शून्य

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/8 से 11 - पृ.सं. - 102,103

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/12 - पृ.सं. - 103

हो, वह जिनेन्द्र-सम्बन्धी हो, तो भी द्रव्यस्तव नहीं होता है, क्योंकि आस्थाशून्य अनुष्ठान भावस्तव का कारण नहीं है।

जो अनुष्ठान भावस्तव का कारण न बने, वह अनुष्ठान द्रव्यस्तव नहीं है, क्योंकि शास्त्र में द्रव्य शब्द प्रायः किसी तरह की औपचारिकता के बिना योग्यता के अर्थ में रूढ़ है, अर्थात् जिसमें भावरूप में परिणत होने की योग्यता हो, उसे ही द्रव्य शब्द से सम्बोधित किया जाता है। शास्त्र में ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें द्रव्य शब्द योग्यता का सूचक है।

मिट्टी का पिण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसमें घट बनाने की योग्यता है। अच्छा श्रावक द्रव्यसाधु है और साधु द्रव्यदेव है ऐसा शास्त्र में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी भले ही पिण्डाकार है, लेकिन उसमें घड़ा बनाने की योग्यता है। उससे घड़ा बन सकता है, इसलिए वह द्रव्यघट है। सुश्रावक में साधु बनने की योग्यता है, इसलिए उसे द्रव्यसाधु कहा जाता है और साधु में देव बनने की योग्यता होने के कारण उसे द्रव्यदेव कहा जाता है।

अप्रधान द्रव्यस्तव — आप्तपुरुषों द्वारा स्पष्ट निर्देश है कि उसी द्रव्यस्तव का महत्त्व है, जो भावस्तव को उत्पन्न करे। यदि भावस्तव को उत्पन्न नहीं करे, तो वह द्रव्यस्तव की कोटि में नहीं है। यही बात आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की बारहवीं गाथा में कहते हैं—

जो भावस्तव का हेतु है, वही द्रव्यस्तव है— यही यहाँ अभीष्ट है, अतः जो उक्त प्रकार के भाव की योग्यता वाला द्रव्यस्तव नहीं है, वह अप्रधान द्रव्यस्तव है।

द्रव्य शब्द योग्यता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी वह अयोग्यता के अर्थ में भी लिया जाता है, जिसका प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की तेरहवीं गाथा में¹ उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/13 - पृ.सं. - 104

² पंचाशक-प्रकरण- आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/14 - पृ.सं. - 104

केवल योग्यता के अर्थ में ही नहीं, अयोग्यता के अर्थ में भी कहीं-कहीं द्रव्य शब्द का प्रयोग देखा गया है, जैसे— अंगारमर्दक नामक आचार्य योग्यतारहित होने के कारण द्रव्याचार्य थे और वे आजीवन मुक्ति के अयोग्य रहे।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार— आचार्य हरिभद्र स्तवविधि—पंचाशक की चौदहवीं गाथा में² द्रव्य की अयोग्यता के विषय में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अयोग्यता के अर्थ में भी द्रव्य शब्द का प्रयोग होने से भावस्तव का कारण नहीं बनने वाले अनुष्ठान को भी द्रव्यस्तव के रूप में मानना पड़ता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वह योग्यता-रहित होने से आप्त-वचन के बाहर है।

अप्रधान द्रव्यस्तव से भी फल की प्राप्ति — अप्रधान द्रव्यस्तव जैसे तो गौण माना गया है, फिर भी इस स्तव से भी फल की प्राप्ति तो होती ही है। यह स्तव संसार के सुखों को प्रदान करने वाला होता है, जो फल पाकर भी नहीं पाने जैसा रहता है। इस स्तव में संसार का फल पाकर भी यह फल सफल फल नहीं कहलाता, क्योंकि इससे दुःख से मुक्ति नहीं मिलती है। इससे संसार रूपी घास, कृषक को अनाज के साथ मिले हुए घास की तरह प्रधान द्रव्यस्तव की आराधना से भी मिल जाएगी, उसे पाने के लिए क्यों प्रयत्न करें। जिससे मोक्ष का शाश्वत फल मिल सकता है, उससे यदि संसाररूपी नाशवान् फल प्राप्त किया, तो इसमें क्या बुद्धिमानी ? रत्न को प्राप्त किया और उसे कौड़ी के मोल बेच दें, तो क्या यह बुद्धिमानी है ? वीतराग-भाव पाने के लिए धार्मिक अनुष्ठान रूप द्रव्यस्तव की उपलब्धि हुई और उसे संसार के सुख को पाने में गंवा दें, तो क्या वह बुद्धिमानी है ? इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि—पंचाशक की पन्द्रहवीं गाथा में¹ कहते हैं—

सांसारिक विषय-भोगों आदि की प्राप्ति तो द्रव्यस्तव से भी होती है, क्योंकि स्तव के विषय की अपेक्षा से तो द्रव्यस्तव के विषय वीतराग भगवान् हैं। वीतराग भगवान् विषयक कोई भी अनुष्ठान आज्ञा-बाह्य हो, तो भी सर्वथा निष्फल नहीं होता है,

¹ पंचाशक—प्रकरण— आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/15 — पृ.सं. — 104

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/16,17 — पृ.सं. — 105

इसलिए अप्रधान द्रव्यस्तव आज्ञा बाह्य होने पर भी मनोज्ञ फल देता है, अतः उसे भी तुच्छ नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा फल तो प्रकारान्तर से बालतप आदि से भी मिल सकता है। जो फल दूसरे कारणों से मिलता हो, वही वीतराग-सम्बन्धी अनुष्ठान से भी मिले, तो वीतराग-सम्बन्धी अनुष्ठान की विशेषता ही क्या रही ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि भावस्तव का हेतु बनने वाला अनुष्ठान द्रव्यस्तव है, तो फिर जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठान को भावस्तव कहने में क्या हानि है, क्योंकि आप्तकथित ये अनुष्ठान भी साधुओं के द्वारा की जाने वाली ग्लान-सेवा, स्वाध्याय आदि के समान ही हैं और साधुओं के उपर्युक्त कार्य भावस्तव कहे भी जाते हैं ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान यह है कि द्रव्यस्तव को भावस्तव का हेतु माना गया है। विशुद्ध के विशुद्धि, विशुद्धितर और विशुद्धितम— ये तीन स्तर होते हैं तथा जिनभवन-निर्माणविधि आदि आप्त पुरुष कथित हैं और साधु द्वारा किए जाने वाले स्वाध्याय, सेवा आदि भी आप्त पुरुष कथित हैं। यदि ये दोनों आप्तपुरुष कथित हैं, तो दोनों को भावस्तव ही कहना चाहिए। एक को द्रव्यस्तव एवं एक को भावस्तव क्यों कहा जाता है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है, परन्तु जिनभवन-निर्माण आदि में गृहस्थ को राग-भाव होता है तथा वह अंशतः आरम्भ रूप भी होता है, अतः उसमें शुभ अध्यवसाय की मात्रा कम होती है, इस कारण यह भावस्तव का हेतु होने पर भी द्रव्यस्तव ही कहा जाता है। इस बात को सिद्ध करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की सोलहवीं एवं सत्रहवीं गाथा में^२ कहते हैं—

साधुओं के उपर्युक्त कार्यों से होने वाले शुभ अध्यवसाय की अपेक्षा जिनभवन-निर्माण आदि अनुष्ठानों से होने वाले शुभ अध्यवसाय कम होते हैं, इसलिए वे द्रव्यस्तव हैं। यद्यपि जिनभवन-निर्माण आदि के रूप में द्रव्यस्तव साधु के शुभयोग की तरह शुभ होता है और आप्तवचन होने के कारण विहित क्रियारूप भी होता है, तो भी साधु के योग की अपेक्षा तुच्छ है, क्योंकि साधुओं की प्रवृत्तियाँ स्वरूपतः शुभ होती हैं, जबकि द्रव्यस्तवरूप जिनभवन-निर्माण, जिनपूजा आदि कार्य, कार्य की अपेक्षा से ही शुभ

हैं, अपने स्वरूप की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि उनमें थोड़ा आरम्भ (पाप) भी निहित होता है। वे अल्प विषमिश्रित दूध के समान हैं।

आप्त पुरुषों द्वारा कथित जिनभवन-निर्माण आदि कार्य — द्रव्यस्तव को कम शुद्ध कहने का एक अन्य कारण गृहस्थ जीवन की मानसिकता की अपेक्षा से भी है, क्योंकि गृहस्थ के आसक्त और मोह आदि के वशीभूत होने के कारण उसके अध्यवसाय में गिरावट आ जाती है, इस कारण साधु की अपेक्षा गृहस्थ के अध्यवसाय अल्पशुद्ध बताए गए हैं। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की अठारहवीं से बीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

साधु सभी बाह्य-प्रवृत्तियों में भी अनासक्त होता है, इसलिए उसके क्रिया-व्यापार द्रव्यस्तव की अपेक्षा उत्तम हैं। द्रव्यस्तव करने वाले गृहस्थ तो शरीर, स्त्री और पुत्रादि में आसक्त होते हैं, इसलिए गृहस्थों का द्रव्यस्तव साधुओं की वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति की अपेक्षा कभी-कभी तो तुच्छ से भी तुच्छ होता है। आसक्तिरूपी मल जीव को अवश्य ही दूषित कर देता है तथा दूषित जीव का व्यापार विष से आक्रान्त पुरुष के व्यापार के समान होता है, अर्थात् जिस प्रकार विष से आक्रान्त पुरुष में चेतना के धूमिल होने से उसका व्यापार अल्प-सार्थक ही होता है, उसी प्रकार आसक्ति वाले जीव का व्यापार भी अल्पशुद्ध ही होता है।

आसक्ति से रहित अकलुषित तथा हिंसादि पापकर्मों से सर्वथा मुक्त साधु का महाव्रत आदि में प्रवृत्तिरूप व्यापार शुद्ध ही होता है, इसलिए साधु का क्रिया-व्यापार हमेशा निर्दोष होता है।

भावस्तव और द्रव्यस्तव में भेद — भावस्तव वायुयान की यात्रा के समान है, जबकि द्रव्यस्तव रेल की यात्रा के समान। दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँचने वाले हैं। अन्तर यह है कि भावस्तव वाला किनारे पर आ गया और द्रव्यस्तव वाला अभी बीच तक ही पहुँचा है, अर्थात् वह अभी लक्ष्य से कुछ दूर है। द्रव्यस्तव सातिचार हैं और भावस्तव निरतिचार। द्रव्यस्तव को आलम्बन की आवश्यकता है, जबकि भावस्तव को आलम्बन की आवश्यकता

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/18 से 20 — पृ.सं. — 105,106

नहीं है। द्रव्यस्तव को भावस्तव-संयोग की आवश्यकता है, भावस्तव को द्रव्यस्तव के संयोग की आवश्यकता नहीं है। इसी द्रव्यस्तव और भावस्तव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की इक्कीसवीं से तेईसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं-

द्रव्यस्तव किंचित् सावद्य होने से नहीं, अपितु पतवार से नाव खेकर पार जाने की क्रिया के समान सापेक्ष है और मोक्ष के लिए भावस्तव की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण अपूर्ण है। भावस्तव आत्मपरिणामरूप होने से बाह्य-द्रव्य की अपेक्षा से रहित होने के कारण नदी आदि को हाथों से तैरकर पार जाने की क्रिया के समान निरपेक्ष है और द्रव्यस्तव की अपेक्षा से रहित मोक्ष का कारण होने से पूर्ण है।

द्रव्यस्तव बाह्यद्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला होने के कारण कड़वी औषधी आदि से दीर्घकालीन रोग के उपशमित हो जाने के समान है, जबकि भावस्तव औषध के बिना ही रोग-निर्मूल हो जाने के समान है।

द्रव्यस्तव से पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म का बन्ध होता है। उसके उदय से सुगति, शुभसत्त्व आदि मिलते हैं। उसके बाद परम्परा से थोड़े समय के बाद भावस्तव का योग भी मिलता है।

भावस्तव की महत्ता — महत्त्व द्रव्य का भी है और भाव का भी, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक है, क्योंकि भावस्तव वाला परमात्मा की पूर्ण आज्ञा का पालन करता है तथा उसके मन की पूर्णतः विशुद्धि होती है। मन की पूर्ण वि-गुद्धि एवं आज्ञा का पालन ही भावस्तव है, इसी कारण भावस्तव का महत्त्व है तथा इस भावस्तव के महत्त्व को अन्य सभी आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की चौबीसवीं से छब्बीसवीं तक की गाथाओं में¹ प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन किया है-

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/21 से 23 - पृ.सं. - 106,107

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/24 से 26 - पृ.सं. - 107,108

चारित्र की स्वीकृतिरूप भावस्तव वीतराग भगवान् की आज्ञा—पालनरूप उचित प्रवृत्ति होने के कारण महत्वपूर्ण है। वस्तुतः, वीतराग की सम्पूर्ण आज्ञा का पालन ही उचित प्रवृत्ति है। द्रव्यस्तव सम्पूर्ण आज्ञा के पालनरूप नहीं है।

भावसाधु के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सम्पूर्ण आज्ञा—पालनरूप उचित प्रवृत्ति नहीं कर सकता है, क्योंकि भावसाधुत्व से रहित अन्य व्यक्तियों को सम्पूर्ण आज्ञापालन से प्राप्त होने वाला यथार्थ लाभ नहीं मिलता है, साथ ही उनमें चारित्रमोहनीय आदि कर्मों का दोष भी होता है।

जिनाज्ञा का पूर्णतः पालन साधु से ही हो सकता है, इसी कारण अन्य आचार्य भी पुष्प—पूजा, आहार—दान, स्तुति और चारित्र—स्वीकृति (प्रतिपत्ति)— इन चार पूजाओं में से अन्तिम पूजा (चारित्र—स्वीकृति) को उत्तम मानते हैं, क्योंकि वह प्रतिक्षण होती है, जबकि पुष्पादि से पूजा तो कभी—कभी होती है।

दोनों स्तव परस्पर सम्बद्ध हैं — द्रव्यस्तव और भावस्तव भिन्न—भिन्न होते हुए भी दोनों अन्योन्याश्रित हैं, क्योंकि द्रव्यस्तव के बिना भावस्तव असम्भव है। भावस्तव जहाँ है, वहाँ द्रव्यस्तव का तो उसमें ही समावेश हो गया है। गृहस्थ में द्रव्यस्तव के साथ भावस्तव भी हो सकता है तथा साधु में भावस्तव के साथ द्रव्यस्तव भी हो सकता है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि—पंचाशक की सत्ताईसवीं गाथा में² कहते हैं—

जिनभवन—निर्माण आदि द्रव्यस्तव और चारित्र स्वीकाररूप भावस्तव— ये दोनों भिन्न—भिन्न होने पर भी परमार्थ से सम्बद्ध हैं। इन दोनों के अधिकारी पहले कह दिए गए हैं, अर्थात् द्रव्यस्तव का अधिकारी गृहस्थ है और भावस्तव का अधिकारी साधु है, किन्तु गौण रूप से गृहस्थ को भी भावस्तव होता है और साधु को भी द्रव्यस्तव होता है, इसलिए दोनों स्तव परस्पर सम्बद्ध हैं।

साधु के द्रव्यस्तव की पुष्टि— हरिभद्र ने द्रव्यस्तव और भावस्तव को साधु में एवं गृहस्थ में दोनों में ही मुख्य एवं गौण रूप से माना है, अतः साधु में भावस्तव के साथ

² पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/27 - पृ.सं. - 108

गौण रूप में द्रव्यस्तव है। उसका वर्णन शास्त्रों के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि-पंचाशक की अठाईसवीं एवं उन्तीसवीं गाथाओं में¹ किया है—

साधु को भी जिनपूजा एवं दर्शन आदि से हुए हर्ष, प्रशंसा-रूप अनुमोदन से द्रव्यस्तव होता है। इस अनुमोदन को द्रव्यस्तव-प्रकरण में वर्णित शास्त्र-युक्ति से सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

चैत्यवन्दन को 'अरिहन्तं चेइयाणं' सूत्र में साधु के लिए भी जिनेन्द्र भगवान् के पूजन एवं सत्कार हेतु कायोत्सर्ग करने को कहा गया है। वह पूजन और सत्कार द्रव्यस्तवरूप हैं, इसलिए साधु को द्रव्यस्तव भी होता है— इसका अनुमोदन शास्त्र-सम्मत है।

पूजा और सत्कार का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि-पंचाशक की तीसवीं गाथा में² पूजा और सत्कार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—

पूजा उसे कहते हैं, जो पुष्पमाला आदि से की जाती है तथा सत्कार उसे कहते हैं, जो उत्तम वस्त्रादि से पूजा की जाती है। अन्य आचार्यों के मत को भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि उत्तम वस्त्रों आदि से पूजा करना पूजा कहलाती है और पुष्पमाला आदि से की जाने वाली पूजा सत्कार कहलाती है। पूजा और सत्कार की व्याख्या कुछ भी हो, पर यह अवश्य है कि दोनों ही द्रव्यस्तव हैं।

द्रव्यस्तव भगवान् को सम्मत है— परमात्मा ने साधु के लिए द्रव्यस्तव का निषेध नहीं किया है। यदि निषेध किया होता, तो शास्त्रों में द्रव्यस्तव की कहीं भी चर्चा नहीं होती, जबकि आगमों में कई स्थलों में द्रव्यस्तव की चर्चा की गई है।

ज्ञातधर्म-कथा में द्रौपदी के द्वारा जिन-प्रतिमाओं के पूजन का उल्लेख है।³ वह प्रवर राजकन्या द्रौपदी ऊषाकाल में पौ फटने पर सहस्ररश्मि दिनकर तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के कुछ ऊपर आ जाने पर जहाँ स्नान-घर था, वहाँ आई। आकर स्नान-घर में प्रवेश किया। प्रवेश कर स्नान, बलिकर्म और कौतुक-मंगल रूप

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/28 से 29 - पृ. - 109

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/30 - पृ. - 109

³ ज्ञातधर्म-कथांग - म. महावीर - अनु. आ. महाप्रज्ञ - अध्याय-16 - सूत्र - 158 - पृ. - 330

प्रायश्चित्त कर, पवित्र स्थान में प्रवेश करने योग्य प्रवर मंगल वस्त्र पहन, स्नान—घर से निकली। निकलकर जहाँ जिनालय था, वहाँ आई। आकर जिनालय में प्रविष्ट हुई। प्रविष्ट होकर जिन—प्रतिमाओं की पूजा की।

राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के पूजन का उल्लेख है।¹

सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् और दूसरे बहुत से देवों और देवियों से परिवेष्टित होकर अपनी समस्त ऋद्धि—वैभव यावत् वाघों की तुमुल ध्वनिपूर्वक जहाँ सिद्धायतन था, वहाँ आया। पूर्व द्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछंदक और जिन—प्रतिमाएँ थीं, वहाँ आया। वहाँ आकर उसने जिन—प्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली और प्रमार्जनी लेकर जिन—प्रतिमाओं को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुरभि गन्धोदक से उन जिन—प्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। लेप करके सुरभि (गन्ध) से सुवासित कषायिक वस्त्र से उनको पोछा। उन जिन—प्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्प, माला, गन्ध, चूर्ण, वर्ण, वस्त्र और आभूषण चढ़ाए। उसके पश्चात् अन्तर, फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी—लम्बी गोल मालाएँ पहनाई। पुष्पपुंजों को हाथ में लेकर उनकी वर्षा की और चित्र बनाकर उस स्थान को सुशोभित किया। फिर उन जिन—प्रतिमाओं के सन्मुख शुभ्र, सलोने, रजतमय अक्षत चावलों से लेकर दर्पण तक आठ मंगलों का आलेखन किया।

तदनन्तर उन जिन—प्रतिमाओं के सन्मुख श्रेष्ठ काले अगर, कुन्दर, तुरुष्क और धूप की महकती सुगन्ध से व्याप्त और धूपबत्ती के समान सुरभि (गन्ध) को फैलाने वाले चन्द्रकान्त—मणि, वज्र, रत्न और वैदूर्य—मणि की दंडी तथा स्वर्ण—मणिरत्नों से रचित चित्र—विचित्र रचनाओं से युक्त धूपदान को लेकर धूप—क्षेप किया तथा विशुद्ध अपूर्व अर्थसम्भव महिमाशाली एक सौ आठ छन्दों में स्तुति की।

तीर्थकर परमात्माओं ने संसार—परिभ्रमण की हेतुरूप क्रियाओं का निषेध किया है, परन्तु जिनभवन—निर्माण, पूजा आदि का निषेध नहीं किया है। प्रस्तुत बातों की

¹ राजप्रश्नीयसूत्र — म. महावीर — अनु. मिश्रीमलजी 'मधुकर' — सूत्र—198 — पृ. — 117

पुष्टि करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि—पंचाशक की इकतीसवीं से छतीसवीं तक की गाथाओं में¹ द्रव्यस्तव की चर्चा की है—

समवसरण में पूजा आदि का निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि वह भी द्रव्यस्तव है। राजा आदि का यह द्रव्यस्तव भगवान् को अनुमत रहा है।

भगवान् मोक्ष के प्रतिकूल व्यापार की अनुमति कभी भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे सदा और सर्वज्ञ पारमार्थिक परोपकार करने की भावना वाले होते हैं और ऐसा नहीं हो सकता कि मोक्ष के अनुकूल क्रिया में बहुमान न हो।

जो थोड़ा सा भी भावस्तव है, वह ही भगवान् द्वारा स्वीकृत है और वह द्रव्यस्तव के बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार, अर्थापत्ति होने से द्रव्यस्तव भी भगवान् द्वारा स्वीकृत है।

भावस्तरूप कार्य की ईच्छा करने वाले के लिए भाव का कारण रूप द्रव्यस्तव भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार आहार से उत्पन्न तृप्ति को चाहने वाले के लिए आहार करना भी इष्ट है।

आदिनाथ भगवान् ने भरत आदि को जिस प्रकार शल्य—विष आदि के उदाहरण देकर विषयभोगों का निषेध किया है, उसी प्रकार जिनभवन—निर्माण आदि का निषेध नहीं किया है। यदि भगवान् आदिनाथ को जिनभवन—निर्माण आदि अनुमत नहीं होता, तो वे विषयभोगों की तरह उनका भी निषेध करते।

भगवान् ने जिनभवन—निर्माण आदि का निषेध नहीं किया है। इस शास्त्रयुक्ति से यह सिद्ध है कि जिन—भवन आदि का निर्माण उनको भी अभिमत है। इसी प्रकार, साधुओं को भी जिन बिम्ब—दर्शन से होने वाली प्रसन्नता आदि से द्रव्यस्तव सम्बन्धी अनुमोदन उचित है।

साधुओं के द्रव्यस्तव करने की पुष्टि— साधु में भावस्तव बताया, पर साथ ही द्रव्यस्तव का स्वरूप भी बताया है। साधु उपचार से जो कार्य करता है, अथवा द्रव्यस्तव करने वाले की अनुमोदना करता है, उसे देखकर प्रसन्न होता है तथा सूत्र, अर्थ आदि के

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/31 से 36 — पृ. — 109,110,111

द्वारा उस जिनभवन-निर्माण में चैत्यवन्दन करने का विधान है, तो वह द्रव्यस्तव का ही स्वरूप है और साधु के लिए द्रव्यस्तव की पुष्टि करता है। इस द्रव्यस्तव की पुष्टि करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की सैंतीसवीं से उन्चालीसवीं तक की गाथाओं में वर्णित करते हैं-

दशवैकालिक के विनयसमाधि अध्ययन आदि में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचाररूप- चार प्रकार की विनय कही गई है, उसमें जो औपचारिक-विनय है, वह तीर्थकर के विषय में द्रव्यस्तव से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् द्रव्यस्तवरूप ही हैं।

द्रव्यस्तवरूप औपचारिक-विनय करने के लिए ही चैत्यवन्दन में पूजा आदि का उल्लेख है, इसलिए साधु के लिए भी मर्यादानुकूल द्रव्यस्तव संगत है।

पूजा, चैत्यवन्दन आदि में सूत्र-पाठ का उच्चारण यदि द्रव्यस्तव के लिए न हो, तो वह निरर्थक होता है, क्योंकि आगम में सूत्र-पाठ के बिना वन्दना नहीं कही गई है, अर्थात् सूत्र-पद के उच्चारण के बिना वन्दना हो ही नहीं सकती है, इसलिए साधु कायोत्सर्गपूर्वक स्तव-पाठरूप द्रव्यस्तव करे- यही शास्त्र-सम्मत है।

पुनः, यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि साधु साक्षात् द्रव्यस्तव क्यों नहीं करता ? नहीं करने का कारण स्पष्ट है कि साधु सचित परिहारी होता है। जब साधु ने सचित का त्याग कर दिया, अर्थात् सचित पानी, पुष्प, फल आदि का स्पर्श करने का ही त्याग कर दिया हो, तो वह द्रव्यस्तव कैसे करेगा ? साधु को भाव-प्रधान माना गया है। भावपूजा करने की आज्ञा है, अतः साधु साक्षात् पूजा नहीं करता है। यह अधिकार गृहस्थ को ही है, क्योंकि गृहस्थ के लिए आरम्भ की छूट है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की चालीसवीं से बयालीसवीं तक की गाथाओं में साक्षात् पूजा के विषय में समाधान करते हुए कहते हैं-

सर्वथा प्राणातिपातविरमणरूप सम्पूर्ण अहिंसा महाव्रत के पालन करने वाले तथा पूर्ण अभिग्रही साधुओं के लिए साक्षात् द्रव्य-पूजा करना शास्त्र-सम्मत नहीं है- ऐसा शास्त्रनीति से लगता है। साधुओं के लिए स्नानादि करना भी शास्त्र में निषिद्ध है,

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/37 से 39 - पृ. - 111

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/40 से 42 - पृ. - 112

चूँकि मुनियों में भाव की प्रधानता होती है, इसलिए मुनियों के लिए भाव से ही पूजा करना उपयुक्त है।

मुनियों से भिन्न जो धर्माधिकारी जीव हैं, उनके लिए साक्षात् द्रव्यस्तव का विधान है। वह द्रव्यस्तव शुभभाव का कारण होता है। इसका आवश्यकनिर्युक्ति में विवेचन किया गया है।

एकदेश संयम वाले देशविरति श्रावकों के लिए भव कम करने में यह द्रव्यस्तव योग्य है। इसकी स्पष्टता के लिए कूप-खनन का दृष्टान्त दिया है।

विशेष— चतुर्थ पंचाशक की दसवीं गाथा में इस दृष्टान्त का वर्णन किया जा चुका है, अतः वहाँ द्रव्यस्तव है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया कि आवश्यकसूत्र में "दत्थव्यओपुफ्फाई" कहकर पुष्प, दीप, धूप आदि 'द्रव्यस्तव' हैं— यह कहा गया है, परन्तु यहाँ जिनभवन-निर्माण आदि को द्रव्यस्तव कहा है— ऐसा अन्तर क्यों ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि-पंचाशक की तिरालीसवीं गाथा में¹ किया है—

पुष्पादि शब्द में आदि शब्द से जिनभवन-निर्माण आदि का भी सूचन हो जाता है, क्योंकि जिनभवन आदि न हों, तो पुष्पादि से पूजा किसकी होगी ?

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आवश्यकसूत्र में मुनियों द्वारा पुष्पादि से पूजा करने का स्पष्ट निषेध किया गया है, तो मुनियों को द्रव्यस्तव कैसे होगा ?

साधु शुद्धभाव में रहता है, जबकि गृहस्थ अशुभ भाव से शुभभाव में आता है, किन्तु साधु को इसकी भी प्रसन्नता होती है कि गृहस्थ ने गृहस्थ-जनित आरम्भ के अशुभ मार्ग से हटकर शुभमार्ग में प्रवेश किया है, तो कभी शुद्ध मार्ग में भी आएगा। साधु स्वयं शुद्धमार्ग में है, पर गृहस्थ को द्रव्यस्तव के लिए निर्देश दे सकता है, क्योंकि इसका आप्तपुरुषों ने निषेध नहीं किया है।

इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि-पंचाशक की चवालीसवीं से छियालीसवीं तक की गाथाओं में² इस प्रकार वर्णन किया है—

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 6/43 - पृ. - 113

प्रश्न— आवश्यकसूत्र में मुनियों द्वारा पुष्पादि से पूजा करने का स्पष्ट निषेध किया गया है, तो उनको द्रव्यस्तव कैसे होगा ?

उत्तर— वहाँ साधुओं को स्वयं पुष्पादि पूजा करने का निषेध किया गया है, न कि अनुमोदन आदि का भी। साधु सामान्यतः दूसरों से द्रव्यस्तव करवा सकता है।

ऐसा सुना जाता है कि वज्रऋषि के द्वारा भी दूसरों से द्रव्यस्तव (पूजाविधान) करवाया गया था और आवयकनिर्युक्ति में साधुओं के लिए द्रव्य-पूजा के उपदेश का विधान है ही। वस्तुतः साधुओं को पुष्पादि से स्वयं पूजा करने का निषेध है, किन्तु दूसरों से करवाने का निषेध नहीं है।

जिस प्रकार भावस्तव द्रव्यस्तव से युक्त है, उसी प्रकार योग्य गृहस्थ द्वारा किया गया परिशुद्ध द्रव्यस्तव भी भावस्तव से युक्त है— ऐसा जिनवचन है। द्रव्यस्तव भगवान् के प्रति बहुमानरु भाव से युक्त होता है, अर्थात् द्रव्यस्तव से उत्पन्न होने वाला भाव (अल्प शुभभाव) अल्पभावस्तरूप है। इस प्रकार द्रव्यस्तव भी भाव से युक्त होने के कारण भावस्तव कहा जाता है।

सुपरिशुद्ध द्रव्यस्तव का लक्षण— प्रश्न है कि कौन-सा द्रव्यस्तव शुद्ध है ? वही द्रव्यस्तव शुद्ध है, जो विशुद्धि की ओर ले जाए। जिस द्रव्यस्तव से लोगों में निन्दा न हो, अपितु प्रशंसा हो तथा जो भावस्तव की ओर ले जाए, वह द्रव्यस्तव परिशुद्ध है। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि-पंचाशक की सैतालीसवीं एवं अड़तालीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

जो लोक में प्रशंसनीय हो और जिसके कारण विशिष्ट भाव उत्पन्न होते हों तथा जिन-शासन की प्रभावना होती हो, ऐसा द्रव्यस्तव सुपरिशुद्ध द्रव्यस्तव है।

द्रव्यस्तव में चैत्यवन्दन, स्तुति, प्रणिधान, चन्दनादि से पूजा आदि में अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप उत्साह से अंशतः शुभभाव अवश्य होता है। इसमें आगमोक्त विधिपूर्वक चैत्यवन्दनादि करने वालों का अनुभव प्रमाण है।

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्र सूरि — 6/44 से 46 — पृ. — 113,114

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/47 से 48 — पृ. — 114

द्रव्यस्तव में भावस्तव होने का कारण— परमात्मा अनन्त गुणों से युक्त है। संसार सागर से तिराने वाले हैं, अठारह दोषों से रहित हैं, अतः द्रव्यस्तव के योग्य हैं। इस प्रकार द्रव्यस्तव करते-करते भावस्तव में प्रवेश पा लिया जाता है, अतः भावस्तव में द्रव्यस्तव ही निमित्त बनता है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र स्तवविधि—पंचाशक की उनचासवीं गाथा में¹ कहते हैं—

भगवान् महनीय गुणों से युक्त हैं, इसलिए द्रव्यस्तव के योग्य हैं— ऐसा अच्छी तरह जानकर जो जीव द्रव्यस्तव में विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, उनकी आंशिक भाव—विशुद्धि अनुभवसिद्ध हैं। यह भाव—विशुद्धि जिनगुणों कि अनुमोदन से होती है। इस प्रकार द्रव्यस्तव और भावस्तव परस्पर सम्बद्ध हैं।

उपसंहार — प्रस्तुत अध्याय में द्रव्यस्तव एवं भावस्तव के विषय में विशेष रूप से जानकारी दी गई है कि मन की विशुद्धि के साथ कौन—सी विधि करनी चाहिए ? यदि विधिपूर्वक विधि करते हुए द्रव्यस्तव और भावस्तव की आराधना की जाती है, तो अवश्य ही वह भव—भ्रमण को मिटाता है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्तवविधि—पंचाशक की पचासवीं गाथा में² यह निर्देश किया है कि बुद्धिमान् को संकेत ही पर्याप्त है। अपनी क्षमता को जानकर अपने संसार का अन्त करने के लिए बुद्धिमान् लोगों (साधुओं और श्रावकों) को द्रव्य और भाव— दोनों स्तव करने चाहिए।

जिनभवन—निर्माणविधि— आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि बताने के पूर्व जिनभवन—निर्माणविधि पंचाशक की प्रथम गाथा में³ अपने आराध्य के चरणों में वन्दन करते हैं—

वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके गुरु के उपदेशानुसार महान् अर्थ को धारण करने वाली जिनभवन—निर्माणविधि को मैं संक्षेप में कहूंगा।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/49 — पृ. — 115

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 6/50 — पृ. — 115

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/1 — पृ. — 116

जिनमन्दिर—निर्माण का अधिकारी— जिनालय का निर्माण कराने वाला श्रेष्ठ भावों से युक्त होना चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ भावों से युक्त व्यक्ति में विवेक जाग्रत होता है और विवेकवान् साधक ही न केवल अपने—आपको दोषों से बचाता है, अपितु अपनी विवेकशीलता से दूसरों को भी दोषों से बचाता है। यदि जिन—मन्दिर का निर्माण करवाने में तत्सम्बन्धी योग्यता नहीं है, तो वह दूसरों के द्वारा निन्दा का पात्र बनता है। ऐसे में वह स्वयं तो दोषों को लगाकर प्रभु की आज्ञा को भंग करता ही है, तथा दूसरों की भी जिनाज्ञा भंग करने का निमित्त बनता है, अतः जिनालय—निर्माण में उदार, सम्पन्न, तटस्थ, गुणानुरागी, देवगुरुधर्मानुरागी, विधि का जानकार, सम्यक्तवी, दूसरों में समकित बीज—वपन हो— ऐसे शुभकार्यों को करने वाला होना चाहिए। जिनालय का निर्माण करने वालों को पूर्णतः जिनाज्ञा का पालन करना चाहिए।

“आणाए धम्मो”, अर्थात् आज्ञा में ही धर्म है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि—पंचाशक की दूसरी से आठवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

जिनभवन—निर्माण योग्य व्यक्ति द्वारा करवाया जाना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति द्वारा यह करवाने पर कर्मबन्ध—रूपी दोष लगता है। यदि अयोग्य व्यक्ति जिनभवन का निर्माण करवाएगा, तो आज्ञा का भंग होगा। चूंकि धर्म तो आज्ञा—पालन में निहित है, इसलिए अयोग्य व्यक्ति को आज्ञा भंग होने से दोष लगेगा।

आप्तवचन का पालन करने से पुण्य अर्थात् शुभकर्म का बन्ध होता है और उसकी विराधना करने से पाप अर्थात् अशुभ कर्म का बन्ध होता है— यही धर्म का रहस्य है। बुद्धिजीवियों को इस रहस्य को जानना चाहिए।

जिनभवन—निर्माण कराने का अधिकारी वह है, जो गृहस्थ हो, शुभभाव वाला एवं जिनधर्मी हो, समृद्ध हो, कुलीन हो, कंजूस न हो, धैर्यवान् हो, बुद्धिमान हो, धर्मानुरागी हो। गुरु, माता—पिता और धर्माचार्य आदि की स्तुति करने में तत्पर हो,

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/2 से 8 — पृ. — 116,117,118

शुश्रूषादि गुणों से युक्त हो, जिनभवन-निर्माण की विधि का ज्ञाता हो और आगमों को अधिक महत्व देने वाला हो।

जिनमन्दिर का निर्माण कराने की योग्यता वाला व्यक्ति जिनमन्दिर का निर्माण कराते समय उक्त गुणरूपी ऋद्धि से युक्त होने से उन गुणरूपी रत्नों (सम्यग्दर्शनादि) को अनेक जीवों को देकर उनका हित करते हुए अपना भी हित करता है। इस प्रकार अपने और दूसरों के हित के लिए जिन-मन्दिर बनवाने वाले व्यक्ति में उक्त गुणों का होना आवश्यक है।

उस योग्य व्यक्ति को जिन-मन्दिर का निर्माण करवाते देखकर कुछ गुणानुरागी मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं तथा दूसरे गुणानुरागरूप शुभपरिणाम से मोक्ष-प्राप्ति के बीजरूप सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करते हैं।

सर्वज्ञदेव द्वारा स्वीकृत जिनशासन के प्रति जो शुभभाव हैं, वे परिशुद्ध हैं और वे ही शुभभाव सम्यग्दर्शन का हेतु बनते हैं। इस विषय में एक चोर का दृष्टान्त है, जिसने फाँसी की सजा पाने के लिए जाते समय मुनियों की धार्मिक क्रियाओं को देखकर उनकी प्रशंसा की और भवान्तर में उसे बोधि की प्राप्तिरूप फल मिला।

जिनभवन-निर्माणविधि- जिनभवन-निर्माण में षट्काय जीवों का आरम्भ होता है, जो दोष-स्वरूप हैं, पर इन दोषों से भी बचने के उपाय हैं। जिनालय निर्माण कराने वाला जिनालय के लिए सर्वप्रथम शुद्ध भूमि का चयन करे तथा जिनालय के लिए उपयोग में आने वाली सामग्री की शुद्धि का पूर्ण ख्याल रखें एवं सावधानी के साथ विवेकपूर्ण निर्माण का कार्य करवाए, अनछाणा पानी का उपयोग न करे, रात्रि में कार्य न करवाए, मजदूरों को उनका पारिश्रमिक उदार हृदय से दें, जिससे उनमें भी जिन-धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो। इसी विषय को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की नौवीं गाथा में¹ कहते हैं-

1. शुद्धभूमि - जहाँ मन्दिर बनवाना है, वह भूमि निर्दोष होनी चाहिए।
2. दलशुद्धि - जिससे मन्दिर बनता है, वह काष्ठादि शुद्ध होना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/9 - पृ. - 118

3. भूतकानतिसन्धान — काम करने वालों का शोषण नहीं करना चाहिए।
4. स्वाशयवृद्धि — शुभ अध्यवसायों की वृद्धि करना चाहिए।
5. यतना — मन्दिर बनवाते समय कम से कम दोष लगे, अर्थात् कम-से-कम जीवों की विराधना हो- ऐसी सावधानी रखना चाहिए। यह जिन-मन्दिर बनवाने की विधि है। ये द्वार गाथाएँ हैं।

भूमिशुद्धिद्वार — जिनभवन-निर्माण में भूमि-शुद्धि का ध्यान रखने की आवश्यकता होती है, क्योंकि यही तो आधार-शिला है। यदि मूल अच्छा है, तो फल अपने-आप अच्छा ही होगा। सर्वप्रथम यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि भूमि कैसी हो ? भूमि में किसी प्रकार का दोष तो नहीं है, उसमें किसी भी प्रकार का मृत कलेवर आदि तो नहीं है, क्योंकि शुद्धि का प्रभाव सभी के मन पर पड़ता है, जो अन्य लोगों के लिए भी शान्ति का कारण बनता है। यह भूमि ऐसी हो, जहाँ लोगों को बार-बार आने की मानसिकता बने, अतः भूमि की शुद्धि करना अनिवार्य है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की दसवीं गाथा में¹ कहते हैं-

द्रव्य और भाव- इन दो प्रकारों से भूमि की शुद्धि होती है। भूमि के आस-पास सदाचारी लोगों का निवास हो, भूमि में कांटे, हड्डियाँ आदि न हो- यह द्रव्य-शुद्धि है, तथा दूसरे, वहाँ जिनभवन बनाने में अन्य लोगों को कोई आपत्ति न हो- यह भावशुद्धि है।

अयोग्य प्रवेश में जिनमन्दिर-निर्माण से होने वाले दोष- जिनालय-निर्माण करने वाला इस बात का अवश्य ध्यान रखे कि जहाँ जिनालय-निर्माण करवाना है, उसके आस-पास कौन लोग रहते हैं ? उनके संस्कार कैसे हैं ? वहाँ के लोग कैसे स्वभाव के हैं ? वहाँ जाने पर धर्म की, धन की, चारित्र की, संस्कारों की, जान की हानि तो नहीं है ? इसी प्रकार साधु, साध्वी के वहाँ जाने पर उन्हें किसी प्रकार से हानि तो नहीं है ? यदि जिनालय के लिए स्थान का चयन करने में इन बातों का ध्यान नहीं रखा गया, तो यह सत्य है कि जिनभवन-निर्माता जिनाज्ञा-भंग के दोष और मिथ्यात्व के दोष का भागी

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/10 — पृ. — 119

बनेगा। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की ग्यारहवीं तथा बारहवीं गाथाओं में¹ कहते हैं-

अयोग्य क्षेत्र में जिनमन्दिर-निर्माण से भूमि एवं परिवेश की अशुद्धता से तथा असदाचारी लोगों के प्रभाव से उस जिन-मन्दिर की न तो वृद्धि होती है और न पूजा। धर्मभ्रंश के भय से दर्शनादि के लिए साधु भी वहाँ नहीं आते हैं। यदि साधु वहाँ आते भी हैं, तो उनके आचार का नाश होता है।

अयोग्य स्थान पर मन्दिर-निर्माण से लोक में जैन-शासन की निन्दा होती है। वहाँ कुत्सित लोगों के आने-जाने से कलह होता है तथा आज्ञा-भंग, मिथ्यात्व और जिनाज्ञा-विराधना रूप भयंकर दोष लगते हैं, जो घोर संसार-बन्धन के कारण हैं।

भूमि में कांटे होने से होने वाले दोष — भूमि लेने के पूर्व वहाँ शोध कर लेना चाहिए कि वहाँ पर किसी भी प्रकार की हड्डी, मांस आदि अशुद्ध वस्तुएँ आदि तो नहीं है, क्योंकि भूमि की अशुद्धि भी अशान्ति का हेतु बनती है। कई लोगों का प्रश्न रहता है कि भूमि-शुद्धि आदि की क्या आवश्यकता है? मन शुद्ध होना चाहिए। मन की शुद्धि तो आवश्यक है ही, परन्तु भूमि-शुद्धि की क्या आवश्यकता है? भूमि आदि की शुद्धि से शारीरिक, मानसिक और आर्थिक पक्ष पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि भूमिशुद्धि नहीं हो, तो इसका बुरा प्रभाव शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति पर भी पड़ता है— यह अधिकांश लोगों की अनुभव-सिद्ध बात है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की तेरहवीं गाथा में² कहते हैं—

जिन-मन्दिर की भूमि में कांटे, हड्डियाँ आदि अशुभ वस्तुरूप शल्य होने से अशान्ति, धनहानि, असफलता आदि दोष होते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए शास्त्रोक्त विधि से प्रयत्न करना चाहिए।

भूमि भाव से भी शुद्ध होना चाहिए — जिनभवन-निर्माता को जिनभवन-निर्माण के द्वारा ऐसा कोई भी अनुचित कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे अन्य को उसके प्रति अथवा

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/11 व 12 — पृ. — 119

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/13 — पृ. — 119

जिनालय के प्रति अप्रीति हो। इसी बात की पुष्टि करते हुए आचार्य हरिभद्र ने जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की चौदहवीं से सोलहवीं तक की गाथाओं में¹ भावशुद्धि पर भगवान् महावीर का दृष्टान्त देते हुए जिनभवन-निर्माता को अच्छी तरह से समझाया है—

जिनभवन-निर्माण आदि के द्वारा कर्मक्षयरूप धर्म करने हेतु उद्यत व्यक्ति को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे किसी को अप्रसन्नता हो, क्योंकि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है। किसी को अप्रीति नहीं हो, ऐसा कार्य करने से चारित्र भी प्रशंसनीय बनता है। इस विषय में भगवान् महावीर के जीवन का एक दृष्टान्त दृष्टव्य है—

तापसों को मुझसे अप्रीति होती है और यह अप्रीति सम्यग्दर्शन के अभाव का महान् कारण है— ऐसा जानकर भगवान् महावीर तापस-आश्रम से चातुर्मासों में, अर्थात् वर्षाऋतु में ही चल दिए। चातुर्मास में साधुओं को विहार नहीं करना चाहिए, फिर भी वे अप्रीति को जानकर विहार कर गए।

भगवान् महावीर की तरह ही जिनभवन आदि निर्माण की इच्छा वाले व्यक्ति को तथा संयम स्वीकार करने की इच्छा वाले व्यक्ति को, लोगों को अप्रीति उत्पन्न हो, ऐसे कार्यों का यथाशक्य परिहार करना चाहिए। यदि लोगों में व्याप्त अज्ञानता आदि के कारण अप्रीति का त्याग न कर सके, तो स्वयं को वहाँ से दूर कर लेना चाहिए।

दलविशुद्धि—द्वार— जिनमन्दिर-निर्माण हेतु काष्ठ आदि सम्पूर्ण सामग्री शुद्ध होना चाहिए। वस्तुओं की शुद्धि का भी अपना प्रभाव होता है। काष्ठ आदि यदि अशुद्ध आ गए हों, तो इसके निमित्त से उपद्रव आदि भी उपस्थित हो सकते हैं, अतः न तो अशुद्ध काष्ठ लाएँ, न चोरी का माल लाएँ, न अधिक मूल्य की भवन-सामग्री कम मूल्य देकर लाएँ, अर्थात् व्यापारी का शोषण करके भी किसी प्रकार की जिनमन्दिर-निर्माण की सामग्री नहीं लाएं। यह भी कहा गया है कि किसी भी वस्तु को लाना हो, या इस विषय में बात करनी हो, तो शकुन-अपशकुन का भी ज्ञान होना चाहिए। इसी बात को पुष्ट

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरी - 7/14 से 16 - पृ. - 120

करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि पंचाशक की सत्रहवीं से बीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

जिनमन्दिर—निर्माण के लिए काष्ठ, पत्थर आदि भी शुद्ध होना चाहिए। व्यन्तर अधिष्ठित जंगल अथवा घर इत्यादि में से लाया गया काष्ठादि अशुद्ध है, क्योंकि व्यन्तराधिष्ठित जंगल से काष्ठादि लाने से वह व्यन्तर क्रोधित होकर जिनमन्दिर को नुकसान पहुँचा सकता है। पशुओं को शारीरिक या मानसिक कष्ट देकर अनुचित रीति से लाया गया काष्ठादि अशुद्ध है। इस हेतु हरा वृक्ष कटवाकर लाया गया काष्ठादि भी अशुद्ध है।

उस दल, अर्थात् काष्ठ आदि को खरीदने की बात चलती हो या उसको खरीदा जा रहा हो, तो उस समय होने वाले शकुन और अपशकुन से दल आदि की शुद्धि और अशुद्धि जानने के उपाय हैं, अर्थात् उस समय यदि शुभ शकुन हो, तो दल आदि शुद्ध हैं और यदि अपशकुन हो, तो उस दल—सामग्री को अशुद्ध समझना चाहिए।

नन्दी आदि बारह प्रकार के वाद्ययन्त्र, घण्टे आदि की शुभ ध्वनि, जल से भरे कलश, सुन्दर आकृति वाले पुरुष और मन आदि योगों की शुभ प्रवृत्ति शकुन हैं, अर्थात् इष्टकार्य की सिद्धि के सूचक हैं। आक्रन्दनयुक्त शब्द आदि अपशकुन हैं।

शुभ दिन में शुभ मुहूर्त में खरीदे गए दल को जहाँ खरीदा गया हो, वहाँ से दूसरी जगह ले जाने में भी शकुन और शुभ दिन इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए।

भूतकानतिसन्धान—द्वार — जिन—मन्दिर का निर्माता व्यवहारकुशल, उदार—हृदय, जिनधर्म के प्रचार की शुभ—भावना वाले जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त, जिन—मन्दिर का कार्य करने वाले मजदूरों के प्रति सहानुभूति रखनेवाला होना चाहिए, क्योंकि इन गुणों के प्रभाव से जैनेतर समाज में जैनधर्म की महती प्रभावना होती है और जिनधर्म की महती प्रभावना से अनेक जीव बोधि—बीज को प्राप्त करते हैं, जिसमें जैनधर्म की प्रशंसा एवं जय—जयकार होती है और लोग उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तथा नतमस्तक होते

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/17 से 20 — पृ. — 121,122

हैं। यही बात सिद्ध करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की इक्कीसवीं से चौबीसवीं तक की गाथाओं में¹ प्रतिपादन करते हैं-

जिनमन्दिर-निर्माण सम्बन्धी कोई भी कार्य करवाते समय मजदूरों का शोषण नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें अधिक मजदूरी देनी चाहिए। अधिक मजदूरी देने से इहलोक और परलोक-सम्बन्धी शुभफल मिलता है। वे मजदूर गम्भीर नहीं होते हैं, वे दीन होते हैं। निश्चित की गई मजदूरी से अधिक मजदूरी देने से वे अधिक सन्तुष्ट हो जाते हैं और सन्तुष्ट होकर पहले से अधिक काम करते हैं। इस कथन से हरिभद्र की उदार-दृष्टि का परिचय मिलता है।

अधिक धन देने से जिन-शासन की प्रशंसा होती है। इससे कुछ लोग शासन के प्रति आकर्षित होकर बोधिबीज को प्राप्त करते हैं और दूसरे लघुकर्म वाले कुछ मजदूर आदि तो प्रतिबोध को प्राप्त करते हैं।

जिनभवन-निर्माण कराने वाले की उदारता से सभ्य समाज में "जैनधर्म श्रेष्ठ है और उत्तम पुरुषों द्वारा कहा गया है"- इस प्रकार जिन-शासन की प्रभावना होती है।

स्वाशयवृद्धि-द्वार- जिनमन्दिर-निर्माण का निमित्त शुभभावों की वृद्धि का हेतु बनता है, क्योंकि जिन-मन्दिर का निर्माण, प्रतिष्ठा परमात्मा की छवि, अनेक भव्यात्माओं का आगमन- ये सब प्रसन्नता और भावोल्लास के कारण हैं। जब-जब मन्दिर में दर्शनार्थी आएंगे, अथवा महाव्रतधारी आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का आगमन होगा और वे परमात्मा के दर्शन करेंगे तथा मुझे इन महापुरुषों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा। इस प्रकार शुभ-भावना निरन्तर मन में बहने से शुभभावों में वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि संसार को कम ही नहीं करती है, अपितु संसार का क्षय करके मोक्ष का अक्षय सुख को देने वाली बनती है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की पच्चीसवीं से अठाइसवीं तक की गाथाओं में² कहते हैं-

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/21 से 24 - पृ. - 122,123

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/25 से 28 - पृ. - 123,124

स्वाशयवृद्धि, अर्थात् शुभ-परिणाम की वृद्धि। जिनभवन-निर्माण से तीनों लोकों में सम्मान्य जिनेन्द्रदेव के गुणों के यथार्थ ज्ञान से एवं जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा के लिए की गई प्रवृत्ति से शुभ-परिणाम की वृद्धि अवश्य ही होती है।

मैं जिनभवन मे वन्दनार्थ आए हुए पुण्यवान्, गुणरूपी रत्नों के धनी महासत्व वाले साधु-भगवन्तों को देखूँगा। जिन-मन्दिर में निर्दोष जिन-प्रतिमा को देखकर दूसरे भव्यजीव भी प्रतिबोध को प्राप्त करेंगे और श्रेष्ठ धर्म का अनुसरण करेंगे, इसलिए जो धन जिनमन्दिर-निर्माण में निरन्तर लगाया जा रहा है- यही धन मेरा है, उसके अतिरिक्त सारा धन पराया धन है। इस प्रकार के सतत् शुभ विचार से शुभ परिणाम की वृद्धि होती है और उससे मोक्षरूपी फल मिलता है।

यतना-द्वार-परमात्मा ने यतना रखने का पूर्णतः निर्देश दिया है, क्योंकि यतनावान् ही संसार में सांसारिक-कार्य करते हुए भी अपने को दोषों से बचा सकता है।

जिन-मन्दिर का निर्माता निर्माण करवाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखे कि कहीं निरर्थक रूप से जीवों की हिंसा तो नहीं हो रही है। छःकाव्य का जहाँ भी उपयोग हो रहा है, उसकी ओर पूर्णतः ख्याल रखे कि अकारण कहीं भी स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा न हो। यदि इतना सजग होकर जिनभवन-निर्माण का कार्य करवाता है, तो वह धर्म के सार को समझता है। यही यतना है। यतना को जिन-माता का स्वरूप बताया गया है। जिस प्रकार माँ अपने किसी भी बच्चे को दुःख में डालना पसंद नहीं करती है, उसी प्रकार यतना माता भी किसी को यातना के गर्त में डालना पसंद नहीं करती है, अतः यतनापूर्वक आरम्भ का कार्य करते एवं करवाते हुए भी अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है और दोषों को कम किया जा सकता है, चूंकि कार्य आरम्भ का है, परन्तु भाव यतना एवं स्व-पर कल्याण का है, अतः लाभ अधिक और दोष कम है। जैसे- एक बच्चा पढ़ाई नहीं कर रहा है, आज्ञा नहीं मान रहा है, तो माँ ने अथवा शिक्षक ने बच्चे को एक थप्पड़ मारा। बच्चा रोने लगा। उसको पीड़ा हुई, पर बच्चा पढ़ने लग गया। मारने के समय बच्चे को पीड़ा हुई पर वह पढ़ने में लग गया। इसमें पाप कम

हुआ तथा हित या उपकार अधिक हुआ, इसी तरह जिनभवन-निर्माण में पाप कम और उपकार अधिक होता है।

इसी विषय को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि पंचाशक की उन्तीसवीं से इक्तालीसवीं तक की गाथाओं में¹ यतनाद्वार की विस्तृत चर्चा करते हुए उदाहरण के माध्यम से जिनभवन-निर्माणविधि का प्रतिपादन करते हैं-

जिनभवन के निर्माण हेतु लकड़ी लाना, भूमि खोदना आदि कार्यों में जीवहिंसा न हो, इसके लिए सावधानी रखना चाहिए। वीतराग भगवान् ने यथाशक्ति जीवरक्षा में सावधानी को ही धर्म का सार कहा है।

यतना धर्म की माता है। यतना ही धर्म का पालन कराने वाली है। यतना धर्म की वृद्धि कराने वाली है और यतना सर्वथा सुखकारिणी है।

जिनेश्वरों ने यतनापूर्वक कार्य कराने वाले जीव को श्रद्धा, बोध और आसेवन के भाव से क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधक कहा है। यद्यपि यतना (सावधानीपूर्वक की गई क्रिया) में थोड़ी हिंसा तो होती है, इसलिए वह क्रिया अल्पदोषयुक्त है, फिर भी इससे नियमतः बड़े-बड़े दोष दूर हो जाते हैं, इसलिए बुद्धिशालियों को यतना को निवृत्ति-प्रधान ही जानना चाहिए।

जिनमन्दिर-निर्माण में प्रासुक जल और दल की विशुद्धि यतना है तथा अन्य खेती-बाड़ी आदि आरम्भों का त्याग करके जिनभवन-निर्माण के समय उपस्थित रहना भी यतना है। मन्दिर के कार्य में स्वयं उपस्थित रहने से यथायोग्य जीवों की रक्षा करवाते हुए मजदूरों से काम करवाया जा सकता है। इस प्रकार, जिनभवन-सम्बन्धी यतना प्रवृत्तिरूप होने पर भी आरम्भ अल्प होने और हिंसा की निवृत्तिरूप भावों के अधिक होने से परमार्थतः निवृत्तिरूप है।

जिनभवन सम्बन्धी यतना में थोड़ी हिंसा होती है, किन्तु साथ ही खेती आदि बड़े-बड़े हिंसा कार्य बन्द हो जाते हैं, इसलिए यहाँ आरम्भ कम होता है और अधिक आरम्भ से निवृत्ति होती है, इसलिए ऐसी यतना भी परमार्थ से निवृत्तिरूप है, इसलिए श्री आदिनाथ भगवान् ने शिल्पकला, राजनीति आदि का जो उपदेश दिया है,

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/29 से 41 - पृ. - 124,128

वह थोड़ा दोषयुक्त होने पर भी निर्दोष है, क्योंकि उससे लोगों के अनेक दोष दूर हो गए।

विशेष— भगवान् ने शिल्पकला, राजनीति आदि का उपदेश देकर लोगों को शान्तिमय जीवन जीने की कला सिखाई, जिससे जीवों में परस्पर किसी भी तरह का संघर्ष नहीं हो और सभी प्रकार के नीतिविहीन आचार बन्द हो। इस प्रकार थोड़ी सी सदोष-प्रवृत्ति करके उन्होंने महान् दोषों को दूर किया।

अप्रतिपाति सम्यग्दर्शन-युक्त और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न, महापुण्यवान्, सर्वहितकारी, विशुद्ध मन, वचन और काय वाले तथा महासत्त्व वाले श्री आदिनाथ भगवान् ने, जिससे अधिक लाभ हो, उस ज्ञान को जानकर लोगों को बतलाया और यथोचित (स्वकर्तव्य-पालनरूप) शिल्पादि का शिक्षण देकर प्रजा की अनेक अनर्थों से रक्षा की, ऐसे भगवान् को दोष कैसे लगेगा ?

भगवान् आदिनाथ के द्वारा किए गए शिल्पादि विधान में यद्यपि थोड़ी हिंसा होती है, फिर भी प्रधान रूप से वह शुभ प्रवृत्ति ही है, क्योंकि उससे अनेक दोषों का निवारण भी होता है। जिस प्रकार सर्पादि से रक्षा करने के लिए माता के द्वारा बालक को खींचना पीड़ायुक्त होने पर भी वहाँ माता का आशय तो शुभ ही माना गया है।

गड्ढे के ऊँचे-नीचे किनारों पर अपने प्रिय पुत्र को खेलते देखकर उसको चोट न लग जाए, इस भय से उसको लाने के लिए माता गई। इतने में उसने बालक की तरफ तेजी से आते एक सर्प को देखा। उसे देखते ही माता ने बचाने के भाव से गड्ढे में से बालक को खींच लिया। खींचने में बालक को पीड़ा तो हुई, किन्तु शुद्ध भाव होने से इस पीड़ा से अधिक अनर्थरूप बालक की मृत्यु का निवारण हो गया।

यहाँ बालक को खींचने में पीड़ा होने पर भी माता के द्वारा बालक के द्वारा खींचना उचित ही है। यदि माता नहीं खींचती, तो सर्प बालक को दंश मार देता और उस बालक की मृत्यु हो जाती, अतः मृत्युरूप भयंकर अनर्थ से बचाने के लिए खींचने रूप अल्प अनर्थ किया गया है, तो भी वह परमार्थ से अर्थरूप, अर्थात् उचित ही है।

यतना—द्वार का उपसंहार — जिनभवन—निर्माण में भूमि से लेकर प्रतिष्ठा तक के कार्य को आरम्भपूर्वक करवाने पर भी यह प्रवृत्ति यतनापूर्वक होने के कारण अहिंसा—युक्त ही है तथा पूजा, जिन—महोत्सव आदि में भी विवेक होने के कारण यह प्रवृत्ति भी अहिंसा है।

यतना से तात्पर्य है— अप्रमत्तता। जहाँ अप्रमत्तता है, वहाँ अहिंसा है। इसी अहिंसा के स्वरूप का विवरण करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि—पंचाशक की बयालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

भूमिशुद्धि आदि में विधिपूर्वक सावधानी रखने वाले व्यक्ति की जिनमन्दिर—निर्माण सम्बन्धी प्रवृत्ति में जीवहिंसा होने पर भी वह अधिक आरम्भ की क्रियाओं की निवृत्ति कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसा ही है। इसी प्रकार जिन—पूजा, जिन—महोत्सव आदि सम्बन्धी प्रवृत्ति भी अधिक जीवहिंसा से निवृत्त कराने वाली होने के कारण परमार्थ से अहिंसा ही है।

जिन—मन्दिर निर्माण के बाद की विधि— मन्दिर—निर्माण का कार्य सम्पन्न होने के बाद जिनमन्दिर—निर्माता के यही भाव होना चाहिए कि वह शीघ्र ही सद्गुरु आचार्य की निश्रा में जिनालय में परमात्मा को विराजमान करे, क्योंकि परमात्मा के बिना उस मन्दिर की क्या शोभा होगी ? जैसे— आत्मा के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं है, माँ के बिना पुत्र का कोई महत्व नहीं है, पति के बिना पत्नी का कोई महत्व नहीं है, ज्ञान के बिना आत्मा का कोई महत्व नहीं है, पंख के बिना पक्षी का कोई अस्तित्व नहीं है, ज्योति के बिना आँख का कोई महत्व नहीं है, ठीक इसी तरह परमात्मा के बिना मन्दिर का कोई महत्व नहीं है, अतः श्रावक शीघ्रातिशीघ्र शुभ मुहूर्त में भावोल्लास के साथ परमात्मा की प्रतिष्ठा करवाएं। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि पंचाशक की तिरालीसवीं गाथा में² कहते हैं—

उक्त विधि से सुन्दर जिन—मन्दिर तैयार करवाकर उसमें विधिपूर्वक तैयार कराई गई जिन—प्रतिमा को विधिपूर्वक शीघ्र प्रतिष्ठित कराना चाहिए।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/42 — पृ. — 128

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/43 — पृ. — 128

जिनमन्दिर—निर्माण का फल — आप्त पुरुषों का कथन है कि शुभकार्य करने, करवान एवं अनुमोदन करने वाला शुभ गति को ही प्राप्त करता है, अतः श्रावक निरन्तर स्वयं को शुभ कार्यों में रत रखे, जिससे सदगति को प्राप्त करता रहे एवं परम्परा से सिद्धगति को प्राप्त कर सके। जिनभवन—निर्माण करवाने वाला सदगति को ही प्राप्त करता है, दुर्गति को नहीं तथा परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता ही है, अतः श्रावक के इन कर्तव्यों को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि—पंचाशक की चवालीसवीं गाथा में¹ जिनमन्दिर—निर्माण के फल की चर्चा करते हुए कहते हैं—

आप्तवचन का पालन करने वाले श्रावक को मुक्ति न मिलने तक देवगति और मनुष्यगति में अभ्युदय और कल्याण की सतत परम्परारूप जिनभवन—निर्माण का जो फला मिलता है, उससे अन्ततः मोक्ष मिलता है— ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

जिनबिम्ब—प्रतिष्ठा की भावना का फल— जिन—प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाने की भावना का परिणाम भी सदगति एवं परम्परा से मुक्ति है, अतः महोत्सवपूर्वक प्रतिष्ठा करवाने के भाव होने ही चाहिए। चूंकि भावों के आधार पर ही व्यक्ति भूमि से शिखर तक पहुँच जाता है, अतः प्रतिष्ठा की भावना से क्या फल मिलेगा, इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि —पंचाशक की पैंतालीसवीं गाथा में² वर्णन करते हैं—

जिनबिम्ब—प्रतिष्ठा के भाव से उपार्जित पुण्यानुबन्धी पुण्य के फल से जीव को सदा देवलोक आदि सुगति की प्राप्ति होती है, अर्थात् जब तक मोक्ष न मिले, तब तक वह देवलोक या मनुष्य—लोक में ही उत्पन्न होता है।

साधुदर्शन की भावना का फल — साधुदर्शन की भावना से भी पुण्य प्रकृष्ट होता है। संयमितो के प्रति अहोभाव पुष्ट होता है, साधुदर्शन से संतुष्टि होती है तथा एक से अनेक गुण परिपुष्ट होते हैं, अतः प्रतिदिन प्रभुदर्शन के पश्चात् साधुदर्शन के भाव रहना चाहिए और यदि वे आस—पास हों, तो अवश्य ही दर्शन करें, अन्यथा भावना से आँख

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/44 — पृ. — 129

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/45 — पृ. — 129

बन्द करके मुनिराजों के दर्शन कर गुणों की वृद्धि और अन्त में सिद्धि प्राप्त करने हेतु सदा प्रयत्न करते रहें। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि-पंचाशक की छयालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं-

साधुदर्शन की भावना से उपार्जित कर्म से सुगति में भी स्वाभाविक गुणानुराग होता है, इसलिए समय आने पर साधु का दर्शन होता है और साधुदर्शन से क्रमशः आत्मा में नए-नए गुण प्रकट होते हैं।

अन्य जीवों के प्रतिबोध की भावना का फल - जिनमन्दिर के निर्माण से अन्य को भी जिनमन्दिर बनाने के भाव आते हैं, तो उनके लिए शुभ-भावनाओं के प्रेरणास्रोत होने के कारण वे मोक्षमार्ग के राही बनते हैं, अर्थात् उनमें द्रव्य-चारित्र ही नहीं, अपितु भाव-चारित्र की भी उपलब्धि की भावना होती है। इसी भावना को परिपुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि-पंचाशक की सैतालीसवीं गाथा में² कहते हैं कि-

मन्दिर-निर्माण से दूसरे लोग भी प्रतिबोध को प्राप्त करेंगे- इस भाव से उपार्जित-कर्म से सर्वथा सुखदायी, मोक्षसुख देने वाले भाव-चारित्र की नियम से प्राप्ति होती है।

स्थिर शुभचिन्तन का फल- जिनमन्दिर-निर्माण में लगने वाला धन ही सार्थक है। सुकृत में लगने वाला धन ही वास्तव में मेरा धन है- इस प्रकार का चिन्तन परिग्रह-त्याग की भावना और प्रकारान्तर से चरम में ग्रहण कराने वाला होता है। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन-निर्माणविधि -पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में³ स्पष्ट करते हैं-

जो धन जिन-मन्दिर में लग रहा है, वही मेरा है- ऐसे स्थिर शुभ चिन्तन रूप भाव से उपार्जित शुभकर्म के विपाक से जीव स्वीकृत चारित्र का अन्त तक निर्वाह करता है, अर्थात् आजीवन चारित्र का सम्यक् पालन करता है और विशुद्ध चारित्र का

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/46 - पृ. - 129

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/47 - पृ. - 130

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 7/48 - पृ. - 130

आराधक बनता है, क्योंकि जिसके चारित्र का पतन नहीं हुआ है, वही जीव अन्तिम समय में चारित्र का आराधक बन सकता है।

निश्चयनय से चारित्र की आराधना— चारित्र लेना जीवन की उपलब्धि नहीं है। चारित्र लेकर चारित्र का जिनाज्ञानुसारं पूर्णतः पालन करना है— वही वास्तव में जीवन की उपलब्धि है, अतः चारित्र को जिस शुभ भावोल्लास से स्वीकार किया है, उसी प्रकार से ही चारित्र का भी पालन करना चाहिए। इस प्रकार चारित्र को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि—पंचाशक की उनपचासवीं गाथा में¹ स्पष्ट करते हैं—

चारित्र स्वीकार करने से लेकर मृत्युपर्यन्त लगातार विधिपूर्वक संयम का पालन करना निश्चयनय से चारित्राराधना है।

आराधना का फल— इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जो श्रेष्ठ प्रकार से साधना करता है, अर्थात् साधना करते हुए किसी प्रकार से विराधना नहीं करता है, वह आराधना अर्थप्रद होती है, सिद्धगति प्रदान करने वाली होती है। ज्ञानादि की आराधना से किस फल की प्राप्ति होती है ? इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनभवन—निर्माणविधि—पंचाशक की पचासवीं गाथा में² उस वास्तविक स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

ज्ञानादि की आराधना करने वाले जीव सात या आठ भवों में जन्म—मरणादि दोषों से रहित शाश्वत—सुख वाले मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष— यहाँ सात या आठ भव जघन्य आराधना की अपेक्षा से हैं। उत्कृष्ट आराधना से तो उसी भव में भी मोक्ष मिल सकता है।

पंचाशक—प्रकरण में जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि— जिनबिम्ब—प्रतिष्ठा की चर्चा करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र अपने आराध्य को नमस्कार करते हैं, क्योंकि आराध्य को किया गया नमस्कार ही कार्य की सफलता का हेतु है। ग्रन्थकार को यह विश्वास है कि विश्व पूज्य को किया गया नमस्कार ही उनके अज्ञानरूपी तमस्कार को हरकर उनमें ज्ञान का आलोक भर देगा और उसी का परिणाम होगा कि वे श्रुतज्ञान की सेवा करने में समर्थ

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/49 — पृ. — 130

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 7/50 — पृ. — 130

बन पाएंगे, अतः ग्रन्थकार जिनबिम्ब—प्रतिष्ठानविधि की प्रथम गाथा में¹ आराध्य के चरणों में झुकते हुए कहते हैं—

मैं इन्द्रादि द्वारा पूज्य देवाधिदेव भगवान् महावीर को प्रणाम करके आगम और लोक— इन दोनों नीतियों के अनुसार जिनबिम्ब प्रतिष्ठानविधि का सम्यक् एवं संक्षिप्त विवेचन करूंगा।

यहाँ 'लोक' शब्द से यह सूचित किया गया है कि कभी जिनमत के अनुकूल लोक—परम्परा का भी अनुसरण होता है। उनके इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जिनबिम्ब—प्रतिष्ठाविधि के इस विवेचन में उन्होंने लोक की परम्परा का अनुसरण किया है।

जिनबिम्ब बनवाने सम्बन्धी विधि का निरूपण — जिनबिम्ब अन्यों से ही बनवाए जाते हैं, अतः उसकी भी विधि है। विधि के अनुसार बनने वाली प्रतिमा फलदायी होती है। कई लोगों का प्रश्न होता है कि कुछ प्रक्रियाएँ विधिपूर्वक करने पर भी फलदायी नहीं होती है। इसमें मुख्य कारण यह है कि हम बाह्य—विधि तो कर लेते हैं, इसमें भूल कम होती है, पर आन्तरिक भावों का संयोग नहीं जुड़ता है। इस कारण विधिपूर्वक की गई क्रिया से भी वैसा फल प्राप्त नहीं हो पाता, जो फल प्राप्त होना चाहिए।

इसी कारण कहा गया है कि द्रव्य के साथ भावों को जोड़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही प्रयत्न फल देने वाला होता है। फल किसे नहीं चाहिए। बच्चे से लेकर बड़े तक फल की इच्छा करते हैं, परन्तु फल पाने का पुरुषार्थ तभी सफल होता है, जब क्रियाविधि को जिनाज्ञानुसार शुद्धता के साथ किया जाए। यही बात आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब—प्रतिष्ठानविधि—पंचाशक की दूसरी से सातवीं तक की गाथाओं में² कहते हैं—

प्रायः दूसरों से बनवाए गए जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की जाती है, अतः मैं सर्वप्रथम जिनबिम्ब को बनवाने की विधि का वर्णन कर रहा हूँ—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — ४/१ - पृ. - 132

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — ४/२ से ७ - पृ. - 13 से 133

जिन-भगवान् के वीतरागता, तीर्थप्रवर्तन आदि गुणों को गुरु से सुनकर और जानकर विचारों के शुद्ध होने पर जीव की ऐसी बुद्धि होती है कि जिनबिम्ब बनवाना मनुष्य का कर्तव्य है और यही मनुष्य का जन्म-फल है।

भगवान् जिनेन्द्रदेव अतिशय गुण-सम्पन्न हैं। उनके बिम्ब का दर्शन भी कल्याणकारी होता है। उनकी प्रतिमा बनवाने से स्वयं को एवं दूसरों को भी उत्कृष्ट लाभ होता है, अतएव मोक्ष के लिए उद्यत् बुद्धिशाली जीव को मोक्षमार्ग के प्रणेता जिनेन्द्रदेव के उन असाधारण गुणों का प्रयत्नपूर्वक बहुमान करना चाहिए, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिनेन्द्रदेव के गुणों को महान् समझना चाहिए।

मोक्षमार्ग के अधिकारी जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्रशंसा करने से तथा उनके प्रति शुभभाव रखने से शुभकर्मों का अनुबन्ध अवश्य होता है और उन कर्मों के उदय से सभी अभीष्ट फलों की प्राप्ति भी होती है।

उपर्युक्त प्रकार की शुद्ध बुद्धि से जिनबिम्ब-निर्माण कराने वाले जीव को उदारता से शुभ अध्यवसायपूर्वक निर्दोष शिल्पी का उचित समय पर भोजनादि से सम्मान कर अपने वैभव के अनुसार उसको उचित मूल्य देना चाहिए।

दूषित शिल्पी को मूल्य देने की विधि — दूषित शिल्पी से तात्पर्य है वह शिल्पी, जिसके जीवन में व्यसन हो। जिनबिम्ब-निर्माण में शिल्पकार श्रेष्ठ जीवन-यापन करने वाला होना चाहिए। यदि ऐसा शिल्पकार शोध करने पर भी न मिले, तो ही अपवाद रूप में दूषित शिल्पकार से जिनबिम्ब-निर्माण का कार्य करवाया जाए। फिर भी, यह प्रयत्न हो कि जितने समय वह जिनबिम्ब-निर्माण का कार्य करे, उसे मधुर स्वरो से समझाकर बिम्ब-निर्माण तक उसे व्यसनों से मुक्त रखा जाए तथा ऐसे शिल्पकार से मूल्य निर्धारित करवाकर ही कार्य करवाया जाए, जिससे देवद्रव्य भक्षण आदि दोषों से बचा जा सकता है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की आठवीं से ग्यारहवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/11 — पृ. — 134 से 135

निर्दोष चारित्र वाले शिल्पकार न मिलने पर दूषित चारित्र वाले शिल्पकार से मूर्ति-निर्माण करवानी पड़ी, तो उस शिल्पकार के हित के लिए जिनबिम्ब-निर्माण के समय उसका मूल्य निर्धारित कर लेना चाहिए, जैसे- इतने बिम्ब इतने रुपयों में तुम्हें बनाने हैं और उन रुपयों का भुगतान अंशतः या भोजन, वस्त्रादि सामग्री के रूप में किया जाएगा।

विशेष- ऐसा करने से दूषित शिल्पकार उस द्रव्य का परस्त्रीगमन, जुआ, शराब आदि दुर्व्यसनों में उपयोग नहीं कर सकेगा और इस प्रकार बिम्ब बनाने से मिला द्रव्य, जो कि देवद्रव्य है, के भक्षण का दोष भी नहीं लगेगा। अंशतः पैसा देने से वह जीवनोपयोगी वस्तुओं को ही खरीद सकेगा।

यदि दूषित चारित्र वाले शिल्पी से प्रतिमा निर्माण करवाने का मूल्य निश्चित नहीं किया गया, तो वह देवद्रव्य का भक्षण करेगा और देवद्रव्य का भक्षण करने से अशुभकर्म का बन्ध होगा, जो अनन्त भव-भ्रमणरूप और नरकादि में भयंकर दुःखरूप फल का प्रदाता होता है। भयंकर अशुभ फलावाले देवद्रव्य भक्षण-रूप कार्य में जो शिल्पी मूल्य-निर्धारण किए बिना नियुक्त किया जाता है, वह शिल्पी पाप रूप प्रवृत्ति ही करता है, इसलिए ऐसे शिल्पी को मूल्य निश्चित किए बिना नियुक्त नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार किसी अत्यन्त बीमार व्यक्ति को अपथ्य भोजन नहीं देना चाहिए, क्योंकि अपथ्य भोजन उसके लिए हानिकारक होता है, उसी प्रकार भलीभांति विचारकर जो कार्य परिणामस्वरूप सबके लिए दारुण हो, उसे नहीं करना चाहिए।

आज्ञा के अनुसार कार्य करने पर भी छद्मस्थता के कारण यदि कुछ विपरीत हो जाए, तो भी आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला दोषी नहीं होता है, क्योंकि वह आज्ञा का आराधक होता है और उसका परिणाम शुद्ध होता है।

यदि जिनबिम्ब का मूल्य देने पर भी छद्मस्थता के कारण देवद्रव्य के रक्षण के बदले भक्षण कराने का दोष हो जाए, तो भी उक्त विधि के अनुसार जिनबिम्ब का मूल्य देकर आज्ञा की आराधना करने के कारण दूसरे को देवद्रव्य भक्षण कराने का दोष नहीं लगता है, क्योंकि उसका परिणाम शुद्ध है।

परिणाम शुद्ध होने का कारण— परिणामों की शुद्धि में जिनाज्ञा ही प्रधान है। जिनाज्ञा मानने वाला यदि आप्तपुरुषों द्वारा निर्दिष्ट विधि से कार्य करता है, तो दोषों से बच जाता है, अतः दूषित शिल्पकार को निर्धारित राशि, निर्धारित समय पर कम-कम अंशों में देने के बाद भी यदि वह उस राशि का दुरुपयोग करता है, तो वह दोष जिनबिम्ब बनवाने वाले को नहीं लगता है, क्योंकि बिम्ब बनवाने वाला तो जिनाज्ञा के अनुसार ही कार्य कर रहा होता है। जिनाज्ञा के कारण उसके परिणाम तो शुद्ध हैं ही, इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की बारहवीं गाथा में¹ कहते हैं—

आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से परिणाम शुद्ध ही होता है। आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करने से परिणाम शुद्ध नहीं होता है। आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले को तीर्थंकर के प्रति बहुमान होता है और तीर्थंकर के प्रति बहुमान होने के कारण परिणाम शुद्ध ही होता है। आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करने वाले का तीर्थंकर के प्रति बहुमान नहीं होता है, इसलिए उसका परिणाम भी शुद्ध नहीं होता है।

आज्ञा की प्रधानता का कारण— जिनाज्ञा संसार के बन्धन को तोड़ने में निमित्त है। यदि आज्ञा-रहित कोई भी प्रवृत्ति करता है, तो वह संसार का कारण है, अतः जिनाज्ञा के अनुसार ही जिनभवन-निर्माण, जिनबिम्ब-निर्माण, प्रतिष्ठा आदि का कार्य सम्पन्न करवाना चाहिए। यदि प्रतिष्ठा आदि तो धूमधाम से करवाई जा रही है, परन्तु किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि प्राथमिक भूमिकाओं का ध्यान ही नहीं रखा गया, तो जिन-आज्ञा नहीं मानने का दोष होगा और अन्य सभी कार्य व्यर्थ हो जाएंगे, अतः आज्ञानुसार ही सभी कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिए। आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की तेरहवीं से पन्द्रहवीं तक की गाथाओं में² इसी बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

साधु या श्रावक-सम्बन्धी कोई भी प्रवृत्ति यदि अपनी मति के अनुसार हो, तो वह आज्ञारहित होने से सांसारिक फल देने वाली ही होती है, क्योंकि संसार को पार

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/12 — पृ. — 135

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/13 से 15 — पृ. — 136

करने के साधनों के उपयोग में आज्ञा ही प्रमाण है। अपनी मति के अनुसार प्रवृत्ति, चाहे वह तीर्थकर को उदिदष्ट करके भी हो, तो भी वह संसार-बन्धन का ही कारण होती है, क्योंकि वह परमार्थतः तीर्थकर को उदिदष्ट नहीं होती है। आज्ञानुसारी प्रवृत्ति ही परमार्थ से तीर्थकर को उदिदष्ट हो सकती है।

कुछ मूर्ख लोग भगवान् जिनेन्द्रदेव को लक्ष्य में रखकर जिनपूजा आदि कार्य करते हैं, किन्तु वे भगवान् की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। वे यह नहीं समझते हैं कि एक ओर तो जिनपूजा करके तीर्थकर को अपना आराध्यदेव मानते हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके उनकी ही अवज्ञा करते हैं। इसका कारण यह है कि वे अनादिकाल से मोह के वशीभूत हैं, इसलिए मोक्ष के अभिलाषी को आज्ञा के अनुसार ही सावधानीपूर्वक सर्वत्र भलीभांति प्रयत्न करना चाहिए।

प्रतिष्ठाविधि का प्रतिपादन— प्रतिष्ठा के पूर्व प्रभु परमात्मा को महोत्सवपूर्वक शुभ समय में प्रवेश करवाना चाहिए, क्योंकि शुभसमय में करवाया गया प्रवेश सभी के हृदय में भावोल्लास उत्पन्न करता है तथा संघ में शान्ति और मंगल के कार्य होते हैं। परमात्मा को प्रवेश करवाने के पूर्व मन्दिर के चारों ओर की भूमि साफ करवाना चाहिए, क्योंकि जहाँ भगवान् विराजित हो, वहाँ चारों ओर किसी भी प्राणी का मृत शरीर अथवा गन्दगी नहीं होनी चाहिए। यह सफाई भी परमात्मा के प्रति बहुमान के भावों को दर्शाती है। जब नगर में कभी भी किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन होता है, तब अत्यन्त उत्साह और उल्लासपूर्वक सफाई, सजावट आदि तैयारियाँ की जाती हैं। तो फिर जगत्पति परमात्मा के प्रति कितना बहुमान होना चाहिए, यह भक्ति तथा भावोल्लास से ही ज्ञात होता है। परमात्मा के प्रति बहुमान कितना है ? इसका कथन आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की सोलहवीं एवं सत्रहवीं गाथा में¹ करते हैं—

अच्छी तरह से निर्मित उस प्रतिमा के स्थापन की विधि इस प्रकार है—
शुभ मुहूर्त्त में उसका मन्दिर में प्रवेश कराना चाहिए और उस बिम्ब को उचित स्थान पर स्थापित करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/16 व 17 - पृ - 137

प्रतिष्ठा के समय उसी शुभ मुहूर्त में जिन-मन्दिर के चारों ओर सौ हाथ तक जमीन को अवश्य ही शुद्ध कर लेना चाहिए, अर्थात् सौ हाथों की परिधि के अन्दर स्थित हड्डी, मॉस अथवा अन्य अपवित्र वस्तुओं को हटा देना चाहिए तथा मन्दिर में गन्ध, पुष्प आदि से प्रतिमा का पूजन (सत्कार) करना चाहिए।

प्रतिष्ठा में देवपूजा का विधान— अनेक आचार्यों का भी मत है तथा वर्तमान में भी यह प्रथा प्रचलित है कि परमात्मा की स्थापना के पूर्व सभी इन्द्रादि देवों की पूजा की जाती है। अनेक लोगों का प्रश्न यह होता है कि असंयमी देवों की पूजा क्यों की जाती है ?

जिन देवी-देवताओं की पूजा की होती है, वे प्रथम तो सम्यक्त्वी होते हैं, क्योंकि ये देवी-देवता परमात्मा के भक्त होते हैं। ये लोग भी नन्दीश्वर आदि द्वीपों में जाकर पूजा, भक्ति एवं महोत्सव मनाते हैं। ये मिथ्यात्वी नहीं होते हैं, अतः सम्यक्त्वी होने के कारण पूजा करने में कोई दोष नहीं होता है। इनकी पूजा करने का तात्पर्य है कि ये पूजा से प्रसन्न होकर संघ की एवं जिनधर्म की रक्षा के लिए तत्पर रहेंगे। संघ एवं धर्म की रक्षा आवश्यक है। प्रश्न होता है कि जब ये परमात्मा के भक्त हैं, तो ये पूजा से खुश होकर ही संघ एवं धर्म की रक्षा करेंगे— ऐसा क्यों मानें ? इन्हें तो बिना पूजा के ही संघ एवं धर्म की रक्षा करनी चाहिए।

हम भी परमात्मा के भक्त हैं तथा परमात्मा की पूजा करते हैं, फिर भी संघ की, धर्म की, परिवार की रक्षा नहीं कर पाते। केवल एक-दूसरे को नीचे गिराने में, हानि पहुँचाने में ही लगे रहते हैं, जबकि हम भी हर दिन संसार की असारता का बोध प्राप्त करते रहते ही हैं, फिर भी हम छद्मस्थ हैं, संसारी हैं। धर्म की, संघ की रक्षा में हमें भी सम्मान की अपेक्षा रहती ही है। इस कारण से देवों की पूजा करके ही प्रतिमा की स्थापना करना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की अठारहवीं से इक्कीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/18 से 21 - पृ. - 137,138

सभी इन्द्रादि देवताओं की पूजा करना चाहिए और सभी लोकपालों देवों यथा— सोम, यम, वरुण और कुबेर की पूर्व आदि दिशा में जिस क्रम से वे स्थित हैं, उसी क्रम से उनकी पूजा करना चाहिए।

प्रस्तुत बिम्ब के स्वामी तीर्थंकर भगवान् इन्द्रादि सभी देवों के अभ्युदय के कारण होते हैं, अतः प्रतिष्ठा के समय उन देवताओं की पूजा उचित है।

वे दिक्पाल इत्यादि देव साधर्मिक हैं, क्योंकि वे जिनेन्द्रदेव के भक्त हैं। वे महान् ऋद्धि वाले और सम्यग्दृष्टि होते हैं, इसलिए प्रतिष्ठा में उनका पूजन, सत्कार आदि उचित है।

बिम्ब के पास कलशों की स्थापना एवं मंगलदीप— परमात्मा की स्थापना सभी के लिए मंगलमय हो, अतः उनके समीप कलश एवं मंगलदीप की स्थापना का निर्देश किया गया है। जल से युक्त कलश शुभ शकुन है और यह शकुन दुःख—दारिद्र्य समाप्त होने का सूचक है। मंगलदीप मंगल का प्रतीक है तथा संघ में ज्ञान—सूर्य के उदित होने का सूचक है। आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब—प्रतिष्ठानविधि—पंचाशक की बाईसवीं तथा तेईसवीं गाथाओं में¹ कहते हैं—

जिनप्रतिमा के चारों ओर जल से परिपूर्ण चार कलश रखना चाहिए, जिनमें स्वर्णादि मुद्रा या रत्न आदि डाला गया हो तथा विविध पुष्पों से युक्त हों और उनमें पीले सूत के कच्चे धागे बंधे हुए हों।

बिम्ब के समक्ष घी और गुड़ से युक्त मंगलदीप रखना चाहिए तथा अच्छे गन्ने के टुकड़े और मिष्ठान्न आदि रखना चाहिए तथा जौ के अंकुर, चन्दन का स्वस्तिक आदि सभी प्रकार के रमणीक आकार बनाना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब—प्रतिष्ठानविधि—पंचाशक की चौबीसवीं तथा पच्चीसवीं गाथाओं में² कहते हैं कि परमात्मा की स्थापना के पूर्व प्रतिमा के साथ ऋद्धि और वृद्धि— इन दो औषधियों से युक्त विचित्र मांगलिक कंगन बांधना चाहिए, क्योंकि ये ऋद्धि, वृद्धि, औषध—युक्त कंगन द्रव्य एवं भाव—ऋद्धि की वृद्धि के कारण हैं। प्रतिमा पर

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/22,23 — पृ. — 138,139

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/24,25 — पृ. — 139

कस्तूरी, कपूर आदि से मिश्रित चन्दन का लेप करना चाहिए, क्योंकि चन्दन का लेप संघ में सुख-शान्ति का प्रतीक है।

आचार्य हरिभद्र ने निर्देश किया है कि कम से कम सौभाग्यवती चार नारियाँ प्रभु परमात्मा का पौखन (न्यौछावर) करें। यहाँ यह भी निर्देश दिया है कि परमात्मा को पौखते समय सौभाग्यवती नारियाँ उत्तम वस्त्र धारण करें। उत्तम वस्त्र धारण करने के कारण का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में¹ किया है। वे लिखते हैं कि उत्तम वस्त्र धारण करना शरीर की शोभा के साथ-साथ शुभकर्म के उदय का कारण हैं, क्योंकि उत्तम वस्त्रों के द्वारा सुसज्जित होना उत्तम पुरुषों के प्रति बहुमान प्रकट करना है और अहंकार के अभाव में सुन्दर वस्त्र पुण्य-बन्ध में भी हेतु बनते हैं।

पुण्यबन्ध को दर्शाते हुए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की सत्ताइसवीं गाथा में² कहते हैं कि प्रतिष्ठा आदि में सुन्दर वस्त्र धारण करने से तीर्थंकर के प्रति सम्मान प्रकट होता है, शास्त्रोक्त होने से शुभ-प्रवृत्ति होती है। सतत् कर्म क्षयोपशम होने से आत्मा निर्मल होती है और जिनाज्ञा पालन के लिए शरीर-शोभन करने से रागादि भावों का अभाव होता है।

यह स्पष्ट निर्देश है कि आज्ञा-पालन के लिए उत्तम वस्त्रों का धारण न तो प्रदर्शन के लिए करना चाहिए और न ही अहम् के पोषण के लिए। उत्तम वस्त्र पुण्य-बन्ध का कारण हैं, जब तक इसमें अहम् का प्रवेश न हों, लोगों को दिखाने का भाव न हो। अपने सुन्दर वस्त्र देख-देखकर बार-बार प्रसन्न नहीं होना चाहिए। प्रभु की पौखने से इसी लोक में फल की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत पंचाशक की अठाईसवीं गाथा में³ आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि अधिवासित जिनबिम्ब का पौखण करने और उसके लिए यथाशक्ति दान देने से स्त्रियों को भी कभी वैधव्य (विधवापन) एवं दारिद्र्य प्राप्त नहीं होता है, परन्तु इसके लिए ध्यान रखने की आवश्यकता है कि परमात्मा का पौखण भावोल्लास के साथ करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/26 - पृ. - 139

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/27 - पृ. - 140

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/28 - पृ. - 140

भावोल्लास से की गई पौख-क्रिया एवं दान- दोनों ही अवश्य इसी भव में फल की प्राप्ति कराने वाले होते हैं।

उत्कृष्ट पूजा का विधान- स्थापना के समय भावोल्लास के साथ उत्कृष्ट प्रकार से पूजा करना चाहिए, क्योंकि उत्कृष्ट पूजा प्रकृष्ट पुण्य का अर्जन करती है। यह पुण्य कालान्तर में कर्म-निर्जरा का हेतु बनता है। आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की उन्तीसवीं एवं तीसवीं गाथाओं में⁴ उत्कृष्ट पूजा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अधिवासन के समय चन्दन, कपूर, पुष्प आदि उत्तम द्रव्यों से, अक्षत् वगैरह औषधियों से, नारियल आदि फलों से, सुवर्ण, मोती, रत्न-रत्नों से एवं विविध प्रकार के वस्त्रों के उपहारों से, कोष्ठ पुटपाक, अर्थात् इत्र आदि सुगन्धित द्रव्यों से, विविध प्रकार के पुश्यों एवं दूसरी वस्तुओं को सुगन्धित बनाने वाले विविध चूर्णों से और भक्तिभाव-युक्त उत्तम रचनाओं से जिनेन्द्रदेव के वैभव को प्रकट कर जिनबिम्ब की उत्कृष्ट पूजा करना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित होता है कि पूजा को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया गया ? इसका उत्तर आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की इकतीसवीं गाथा में¹ विशेष रूप से देते हैं कि-

प्रतिष्ठा के समय जिनबिम्ब की उत्कृष्ट पूजा का हेतु मूलमंगल है। इस मूलमंगल से ही प्रतिष्ठा होने के बाद प्रतिष्ठित जिनबिम्ब का सत्कार उत्तरोत्तर बढ़ता है। मूलमंगल उत्तरोत्तर सत्कारवृद्धि का कारण है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को इस मूलमंगल हेतु उद्यम करना चाहिए।

उत्कृष्ट पूजा के बाद की विधि- उत्कृष्ट पूजा के पश्चात् भाव-पूजा का विधान है। इस विधान-विधि का वर्णन करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में² कहते हैं कि पूजा करने के पश्चात् चैत्यवन्दन करना चाहिए, फिर वर्द्धमान-स्तुति बोलना चाहिए, फिर शासनदेवी की आराधना के लिए एकाग्रचित्त होकर

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/29.30 - पृ. - 140

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/31 - पृ. - 141

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/32 - पृ. - 141

कायोत्सर्ग करना चाहिए, फिर परमात्मा के गुणों का स्मरण करते हुए मंगलोच्चारणपूर्वक जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करना चाहिए।

प्रतिष्ठा के बाद की विधि—

परमात्मा की स्थापना (प्रतिष्ठा) के बाद प्रथम

बार अष्ट— प्रकारी पूजा करना चाहिए। अष्टप्रकारी पूजा अष्टकर्मों का उच्छेद करने में हेतुभूत है। अष्ट—प्रकारी पूजा से अष्ट—सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है। अष्ट—प्रकारी पूजा करते हुए भव्यजीव भावना करता है कि प्रस्तुत पूजा से उसके कर्ममल दूर हो, कषायरूपी ताप शान्त हो, उसका क्रूर स्वभाव मधुर स्वभाव बने, वह चारों ओर अपने यश की मधुर सुगन्ध फैलाकर, ऊर्ध्वारोहण करने के लिए, अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट कर तथा ज्ञान का प्रकाश पाकर, अक्षय सुख को पाने के लिए अणाहारी पद को प्राप्त करे या मोक्ष का फल प्राप्त करे। इन शुभ भावनाओं के प्रभाव से जीव कर्म की जंजीर को तोड़ता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है, अतः भावपूर्वक चैत्यवन्दन में स्थित होकर आशीर्वादरूप मंगल ऐसी प्रार्थना करना चाहिए। ये मंगल वचन इष्ट सिद्धि के हेतु बनते हैं। आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की तैंतीसवीं से छत्तीसवीं तक की गाथाओं में¹ प्रस्तुत विषय का वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब की पुष्पादि से पूजा करना चाहिए, फिर चैत्यवन्दन करना चाहिए, फिर उपसर्गों की शान्ति के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने के पश्चात् चित्त की स्थिरता करना चाहिए, अर्थात् एकाग्रचित्त होना चाहिए। आशीर्वाद के लिए सिद्धों की पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि की उपमा वाली मंगलगाथाएँ बोलना चाहिए।

जिस प्रकार त्रिभुवन चूड़ामणिरूप सिद्धालय में सिद्ध भगवन्तों की प्रतिष्ठा है तथा जैसे चन्द्र और सूर्य शाश्वत् हैं, उसी प्रकार यह प्रतिष्ठा भी शाश्वत् बनें।

जिस प्रकार सिद्धों की उपमा से मंगल गाथा कही गई , उसी प्रकार मेरुपर्वत, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि शाश्वत पदार्थों की उपमा से भी आशीर्वाद की

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — १/३३ से ३६ — पृ. — १४१,१४२

मंगल गाथाएँ बोलना चाहिए। प्रतिष्ठा के समय ऐसे मंगल वचन कल्याणकारी बनते हैं – ऐसा शास्त्रज्ञों द्वारा कहा गया है।

जिस प्रकार शकुन-शास्त्र के अनुसार विजय आदि मांगलिक शब्द सुनने से इष्टसिद्धि होती है, उसी प्रकार प्रतिष्ठा में भी मंगलवचनों से इष्टसिद्धि होती है— यह बात विद्वानों को जानना चाहिए।

मंगल वचन बोलने में मतान्तर— आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा में² अन्यो के मत को प्रकट करते हुए कहते हैं कि कई आचार्यों का कथन है कि पूर्ण कलश, मंगलदीप आदि रखते समय समुद्र, अग्नि आदि शुभ शब्द बोलना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि परमार्थ से जिनेन्द्रदेव ही मंगलरूप है, इसलिए प्रत्येक कार्य करने से पूर्व भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव के नामों का ही उच्चारण करना चाहिए।

दूसरा मत अधिक उचित है, क्योंकि यह निश्चित है। अनन्त प्रकृष्ट पुण्य-प्रकृति के धारक तीर्थंकर होते हैं, अतः उनका नाम ही मंगल का प्रतीक है। यदि प्रभु का नाम ही हमारे लिए मंगलकारक बन सकता है, तो अन्य नाम की ओर आकर्षित क्यों होना चाहिए ?

संघपूजा और संघ की महत्ता — प्रतिष्ठा के पश्चात् गृहस्थ के लिए अन्य महत्वपूर्ण कर्त्तव्य यह दर्शाया गया है कि वह संघ-पूजा करे। संघ शब्द का अर्थ है— साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका। ये चारों मिलकर ही संघ होता है, इनमें से एक के बिना भी संघ अपूर्ण है। जिस प्रकार चार पायों से ही खाट (पलंग) पूर्ण होती है, एक भी पाया कम हो, तो वह किसी काम की नहीं होती है, इसी प्रकार ये चारों अंग पूरे होने पर ही संघ बनता है। यह संघ चतुर्विध-संघ कहलाता है। इतना अवश्य है कि संघ के इन चारों अंगों में से किसी एक की भी पूजा करने पर भी यह सम्पूर्ण संघ की पूजा कहलाएगी, क्योंकि भाव संघ-पूजा के हैं। संघ की महिमा इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि संघ को तो तीर्थंकर भी नमस्कार करते हैं। आगमों के आधार पर कल्पसूत्र में वर्णन आता है कि तीर्थंकर को केवलज्ञान होने पर सर्वप्रथम समवसरण में देशना प्रारम्भ

² पंचाशक-प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि – 8/37 – पृ. – 143

करने के पूर्व तीर्थकर परमात्माओं णमो तित्थस्स कहकर संघ को नमस्कार करते हैं। संघ-पूजा से विश्व का कोई पूज्य, पूजा से शेष नहीं रहता है, सबकी पूजा हो जाती है, क्योंकि संघ में सभी आ जाते हैं। संघ-पूजा करने वाला निकट में मोक्षगामी होता है, क्योंकि संघ के प्रति बहुमान होने से द्वेष की भावना समाप्त हो जाती है, अहम् का विसर्जन हो जाता है। जिसमें अहम् होगा, वह किसी का भी बहुमान नहीं कर सकेगा, किसी की भी पूजा नहीं कर पाएगा और यह अहम् मोक्ष को कैसे प्राप्त करवाएगा ? अतः, संघपूजा मोक्ष का फल ही देने वाली है, यह सत्य है। संघ-पूजा करने वाला जीव जब तक मोक्ष नहीं पाएगा, तब तक पुण्यरूप मनुष्य एवं देव भव प्राप्त करता रहेगा। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की अड़तीसवीं से लेकर पैंतालीसवीं तक की गाथाओं में¹ संघ-पूजा के महत्व की चर्चा की है-

प्रतिष्ठा हो जाने के बाद यथाशक्ति श्रमण-प्रधान चतुर्विध-संघ की पूजा करना चाहिए, क्योंकि संघ के एक भागरूप धर्माचार्य आदि की पूजा से संघ-पूजा अधिक फल वाली है। इसका कारण यह है कि शास्त्र में कहा गया है कि तीर्थकर के बाद पूज्य के रूप में संघ का स्थान है, उसके पश्चात् धर्माचार्यों का स्थान आता है। तीर्थकर बनने में संघ हेतु होता है, इसलिए धर्माचार्य की पूजा से भी अधिक महत्व संघपूजा का है।

अनेक जीवों के ज्ञानादि गुणों का समूह ही संघ कहलाता है। यहाँ प्रवचन और तीर्थ- ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, जिनका अर्थ होता है- संघ। सद्य स्त्री, पुरुष आदि बाह्य समूहरूप संघ नहीं है, अपितु गुण-समुदायरूप संघ है, इसलिए तीर्थकर भी देशना के पहले गुरुभाव से संघ को नमस्कार करते हैं।

विशेष- प्रवचन शब्द प्रकृष्ट वचनरूप द्वादशांगी के लिए प्रयुक्त किया जाता है और द्वादशांगी, जिससे जीव भवरूप समुद्र को पार करता है, वह भी तीर्थ कहलाती है। इस प्रकार तीर्थ शब्द का अर्थ द्वादशांगी भी होता है। द्वादशांगी का आधार संघ है। संघ के बिना द्वादशांगी नहीं रह सकती, इसलिए द्वादशांगी आधेय और संघ आधार है। आधार और आधेय के अभेद की विवक्षा से प्रवचन और धर्म-तीर्थ को भी संघ कहा जाता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/38 से 45 - पृ. - 143 से 145

प्रवचनवात्सल्य आदि हेतुओं से तीर्थकर-नामकर्म का बन्ध होता है, अतः तीर्थकरत्व में संघ कारण है। लोग बड़े लोगों से पूजित व्यक्ति की पूजा करते हैं। तीर्थकर संघ की पूजा करते हैं— ऐसा सोचकर लोग भी उस संघ की पूजा करते हैं। तीर्थकर बनने में संघ निमित्त होने से उपकारी है। विनय करने से कृतज्ञता और धर्म का पालन होता है। इससे, धर्म का मूल विनय है— यह सूचित होता है, इन तीन कारणों से तीर्थकर संघ को नमस्कार करते हैं।

तीर्थकर कृतकृत्य होने के बाद भी तीर्थकर नामकर्म के उदय से उचित प्रवृत्ति में संलग्न रहते हैं। वे जिस प्रकार धर्म-देशना करते हैं, उसी प्रकार संघ को नमस्कार भी करते हैं।

संघ की पूजा होने पर विश्व में कोई ऐसा पूज्य शेष नहीं बचा रहता है, जिसकी पूजा न हुई हो, अर्थात् संघ की पूजा करने से सभी पूज्यों की पूजा हो जाती है, क्योंकि समस्त लोक में संघ के अतिरिक्त दूसरा अन्य कोई गुणी पूज्य नहीं है।

संघ के एक भाग की पूजा करने पर भी पूजा का परिणाम सम्पूर्ण संघ-सम्बन्धी होता है, अर्थात् भाव सम्पूर्ण संघ की पूजा करने का ही होता है, जैसे— देवता, राजा आदि के एक अंग की पूजा करने से भी देवता, अथवा राजा के सम्पूर्ण शरीर की पूजा करने का भाव होता है।

किसी प्रकार के भेदभाव के बिना ही गुणों के निधानरूप संघ की पूजा करना आसन्नसिद्धिक का लक्षण है— ऐसा तीर्थकरों ने कहा है।

संघपूजा महादान है। यही भावयज्ञ या वास्तविक यज्ञ है। यही गृहस्थ-धर्म का सार है और यही सम्पत्ति का मूल है।

इस संघ-पूजा का मुख्य फल निर्वाण (मोक्ष) ही जानना चाहिए। इसके आनुषाङ्गिक फल देवलोक और मनुष्यलोक के सुख हैं। जिस प्रकार खेती का मुख्य फल अनाज की प्राप्ति है, किन्तु अनाज के साथ पुआल भी मिलता है, उसी प्रकार संघ-पूजा का मुख्य फल मोक्ष है तथा देव और मनुष्य रूप शुभगति की प्राप्ति आनुषाङ्गिक है।

संघ-पूजा के पश्चात् अन्य विशेष कार्यों को करने का विधान बताते हुए आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक में कहते हैं कि जीवदया की प्रवृत्ति करना चाहिए। चूंकि जीवदया स्वदया है, अतः शुभ कार्य करने का परिणाम तब ही सामने आता है, जब गृहस्थ जीवदया हेतु दान करता है। इस दान से पुण्य रूपी कल्प-वृक्ष बढ़ता रहता है। तत्पश्चात्, स्वजन-साधर्मिक का सत्कार करना चाहिए, अर्थात् स्वधर्मी-जनों के प्रति वात्सल्य-भाव प्रकट करना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठानविधि-पंचाशक की छियालीसवीं तथा सैंतालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं-

प्रतिष्ठा के अधिकार में प्रसंगवश संघ-पूजा का विवेचन यहाँ किया गया। प्रतिष्ठा के पश्चात् तीर्थ की उन्नति करने वाले अमारि (हिंसा-निवारण), घोषणा आदि अन्य अनुकूल कार्य भी अवश्य करना चाहिए।

प्रतिष्ठा के पश्चात् स्वजनवर्ग का विशेष रूप से लोकपूजारूप सत्कार करना चाहिए, क्योंकि स्वजनवर्ग व्यावहारिक दृष्टि से निकट का होता है। स्वजनवर्ग के बाद दूसरे सहधर्मियों का भी लोकपूजारूप सत्कार करना चाहिए, इससे स्वजनों और सहधर्मियों के प्रति उत्तम वात्सल्यभाव जाग्रत होता है।

अष्टाह्निका महोत्सव - प्रतिष्ठा के अवसर पर भावोल्लास के साथ महोत्सव कराना चाहिए। यह महोत्सव भक्त को भगवान् से जोड़ता है, एवं इससे द्रव्य तथा भाव-पूजा करने की भावना जाग्रत होती है। इस प्रकार के महोत्सव से बच्चों से बड़े तक सभी जुड़ते हैं। अन्य मतों पर भी इसका अपूर्व प्रभाव पड़ता है तथा उन्हें भी श्रद्धा से अनुमोदन करने का अवसर प्राप्त होता है। आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में² इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

प्रतिष्ठा के अवसर पर शुद्धभाव से आठ दिनों तक महोत्सव करना चाहिए, इससे प्रतिष्ठित बिम्ब-पूजा का विच्छेद नहीं होता है- ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, जबकि अन्य आचार्य, तीन दिनों तक महोत्सव अवश्य करना चाहिए- ऐसा कहते हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/46,47 - पृ. - 146

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 8/48 - पृ. - 146

कंकणमोचन-विधि — अठ्ठाई महोत्सव के पश्चात् कंकणडोराविधि के अनुसार खोलना चाहिए। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशकविधि की उनपचासवीं गाथा में³ प्रस्तुत विधि का निर्देशन किया है—

महोत्सव पूर्ण होने के पश्चात् पहले की अपेक्षा और अच्छी तरह से पूजा करके कंकणमोचन (प्रतिमाजी को बांधे गए मंगलसूत्र को खोलने रूप कार्य) करना चाहिए। इस अवसर पर भी आर्थिक-स्थिति और भावना के अनुसार प्रेतों को पुष्प, फल, अक्षत और सुगन्धित जल से पकाया गया अन्न आदि चढ़ानेरूप भूतबलि और अनुकम्पारूप दान करना चाहिए।

उपसंहार — प्रस्तुत प्रसंग का मन में अवधारण करके यह संकल्प करना चाहिए कि मैं आजीवन इस प्रकार की प्रवृत्ति करता हुआ संसार-सागर से पार होऊंगा। चूंकि संसार से पार होने के लिए जिनधर्मरूप नौका ही साधन है, अतः प्रतिदिन परमात्मा की आज्ञानुसार चलना चाहिए। यही बात आचार्य हरिभद्र जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाविधि-पंचाशक की पचासवीं गाथा में¹ भव्य जीवों को बोध देते हुए कहते हैं—

इसके बाद प्रतिदिन शास्त्रोक्त-विधि से चैत्यवन्दन, स्नात्र-पूजा आदि उसी प्रकार करना चाहिए, जिसके करने से भव-भ्रमण का नाश हो।

पंचाशक-प्रकरण में जिन-यात्राविधि— आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक का प्रतिपादन करने के पूर्व अपने इष्ट को वन्दनरूप मंगलाचरण करते हुए यात्राविधि-पंचाशक की प्रथम गाथा में² वे कहते हैं—

मैं भगवान् वर्द्धमान को नमस्कार करके आगमानुसार मोक्ष-फलदायी जिन-यात्राविधि का सम्यक् प्रकार से संक्षेप में विवेचन करूंगा।

सम्यग्दर्शन के आठ आचार — सम्यग्दर्शन मोक्ष की आधारशिला है। मोक्ष की सम्भावना तभी बनती है, जब सम्यग्दर्शन का स्पर्श हो गया हो। सम्यग्दर्शन का स्पर्श हो गया है या नहीं— यह जानने के लिए सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षणों— प्रशम, संवेग, निर्वेद,

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/49 — पृ. — 147

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 8/50 — पृ. — 147

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/1 — पृ. — 148

अनुकम्पा और आस्तिक्य— के आधार पर विचार करना चाहिए। इन लक्षणों का वर्णन तो पूर्व में हो चुका है, अतः यहाँ सम्यग्दर्शन के आठ आचारों का ही विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि सम्यग्दर्शन के आचारों का विवेचन पूर्व में भी कर चुके हैं, फिर भी प्रस्तुत अध्याय की दूसरी गाथा में³ आचार्य हरिभद्र ने आठ आचारों का आख्यान किया है। वे आठ आचार इस प्रकार हैं—

1. निःशंकित — तीर्थकरों के वचनों में शंका का अभाव।
2. निःकांक्षित — इन्द्रियजनित सुखों की इच्छा का अभाव।
3. निर्विचिकित्सा — सुविहित साधु के मलिन वस्त्रों के प्रति ग्लानि का अभाव।
4. अमूढदृष्टि — मिथ्यादृष्टि जीवों के कार्यों के अनुमोदन का अभाव।
5. उपवृंहणा — धर्मारोधना के प्रति प्रीति तथा सद्गुणों की वृद्धि करना।
6. स्थिरीकरण — स्व और पर को सुधर्म में स्थिर करना।
7. वात्सल्य — साधर्मिक का भोजन, वस्त्रादि से सम्मान करना।
8. प्रभावना — अन्य लोग जैन-धर्म के प्रति आकर्षित हों, ऐसे कार्य करना।

इन आठ आचारों में प्रभावना आचार प्रधान है। जिन-शासन के जो भी कार्य होते हैं, उनमें जिन-शासन अर्थात् जैनधर्म की प्रभावना होती है और यही प्रभावना व्यक्ति को सत्पथ से जोड़ती है तथा प्रभावनाअंग अभिवृद्धि करती रहती है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ कहते हैं—

सम्यग्दर्शन के आठ आचारों में प्रभावना प्रधान आचार है, क्योंकि जो निःशंकित आदि आचारों से युक्त हैं, वही शासन की प्रभावना कर सकता है। जिनयात्रा जिन-शासन की प्रभावना का प्रधान कारण है, इसलिए यहाँ जिनयात्राविधि का वर्णन किया गया है।

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — १/२ — पृ. — 148

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — १/३ — पृ. — 149

जिनयात्रा शब्द का अर्थ — जिन, अर्थात् जिन्होंने अपनी विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। ऐसे जिनेश्वर परमात्मा की यात्रा करना जिनयात्रा है।

जिनयात्रा — जो नव पदार्थ का प्ररूपण करते हैं, ऐसे जिनेश्वर परमात्मा की यात्रा करना जिनयात्रा है।

जिन-यात्रा — जिन को लक्ष्य में रखकर यात्रा करना जिनयात्रा है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि पंचाशक की चौथी गाथा में² जिनयात्रा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

जो महोत्सव जिनों को उद्दिष्ट करके किया जाता है, वह जिनयात्रा है। जिनयात्रा की विधि दानादि रूप है।

महोत्सव में करने योग्य दानादि का निर्देश — श्रावक को अपनी शक्ति, सम्पत्ति, सन्मति, समय, सद्भाव आदि को जिनयात्रा-महोत्सव में लगाना चाहिए, क्योंकि जिनयात्रा-महोत्सव में लगाने पर ही इनकी सार्थकता है तथा इनकी सार्थकता से ही जीवन की सफलता है। जीवन की सफलता के लिए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की पाँचवीं गाथा में¹ दान आदि सत्कार्यों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

जिनयात्रा-महोत्सव में यथाशक्ति दान, तप, शरीर-शोभा, उचित गीतवाद्य, स्तुतिस्तोत्र, प्रेक्षणक (नाटक) आदि कार्य करना चाहिए। यह द्वार-गाथा है। आगे इन द्वारों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

दान-द्वार का विवरण — श्रावक महोत्सव हेतु तो दान करता ही है, परन्तु महोत्सव के निमित्त अन्य के लिए भी दान करने की प्रवृत्ति बताई गई है, क्योंकि इससे भी जिन-शासन की प्रभावना होती है। यदि इस प्रकार से दान नहीं देते हैं, तो इससे जिनधर्म की अवहेलना होती है। अवहेलना होने का मुख्य कारण है कि महोत्सव में तो लाखों रुपए खर्च किए जाते हैं, इसमें स्वधर्मी वात्सल्य, सजावट आदि भी करते हैं, परन्तु यदि दीन-दुःखियों को दान नहीं देते हैं, तो वे इसकी भी निन्दा करते हैं और यह भी

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/4 — पृ. — 149

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/5 — पृ. — 150

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/6 — पृ. — 150

कहने में नहीं चूकते हैं कि ये जैन लोग कैसे हैं ? स्वयं तो माल उड़ाते हैं और हमें कुछ देते ही नहीं, अतः यह भी जिनाज्ञा है कि जिनयात्रा-महोत्सव में दीन-दुःखियों को गरीबों को दान देना चाहिए। दान की यह महिमा और परम्परा आज से नहीं, जब से तीर्थकर हुए हैं, तब से है कि याचक को दान अवश्य देना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने यात्राविधि-पंचाशक की छठवीं गाथा में² दानद्वार का वर्णन इस प्रकार से किया है-

जिनयात्रा में दीनों और अनाथों को दयापूर्वक यथाशक्ति अन्नादि का दान करना चाहिए, क्योंकि तीर्थकरों ने भी अनुकम्पा-दान किया है। वे भी ज्ञानादि गुणरूप रत्नों के आगार हैं, अतः सुपात्र बुद्धि से उनको भी दान देना चाहिए।

तप-द्वार का विवरण- जिनयात्रा में तप करने का भी निर्देश दिया है। महोत्सव में उपवास, आयम्बिल, एकासन आदि तपस्या करना चाहिए। तप के प्रभाव से महोत्सव निर्विघ्न सम्पन्न होता है तथा तप से महोत्सव की शोभा दोगुनी बढ़ जाती है। तप से आत्म-परिणामों की विशुद्धि भी होती है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की सातवीं गाथा में¹ कहते हैं-

जिनयात्रा में एकासन, उपवास आदि तप भी अवश्य करना चाहिए। इससे भाव-विशुद्धि अवश्य होती है। धर्मार्थियों को भाव-विशुद्धि ही उपादेय है तथा जिनयात्रा में तप करने से विधि का पालन होता है।

शरीर-शोभाद्वार - महोत्सव की शोभा के लिए शरीरादि की विभूषा का भी निर्देश दिया गया है। विभूषा ऐसी हो, जिसे देखकर अन्यो को भी शुभभाव आएँ कि इनके महोत्सव चल रहें हैं, परन्तु यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि महोत्सव में शरीर-विभूषा इस प्रकार की न करें, जिससे शरीर के अंगों का प्रदर्शन हो। शरीर-विभूषा सभ्य होना चाहिए। आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की आठवीं गाथा में शरीर-विभूषा का विवरण देते हुए कहते हैं-

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - १/७ - पृ. - 150

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - १/८ - पृ. - 150

जिस प्रकार भगवान् के जन्मादि के समय देवेन्द्र सम्पूर्ण विभूतियों एवं आदर के साथ शरीर-शोभा करते हैं, उसी प्रकार दूसरों को भी अपने सामर्थ्य के अनुसार वस्त्र, विलेपन, माला आदि विविध द्रव्यों से शरीर की सर्वोत्तम शोभा करना चाहिए।

उचित गीत-वाद्य-द्वार — महोत्सव में गीत, वाद्य आदि के आयोजन का भी निर्देश दिया गया है। भक्तिभावपूर्वक गीतों का आयोजन परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का माध्यम होता है। रावण ने अष्टापद तीर्थ पर गीत, वाद्य आदि के द्वारा परमात्मा से ऐसे तार जोड़े, जिससे तीर्थकर गोत्र का उपार्जन हो गया। गीत ऐसे हों, जो वासना से मुक्त कर दें और आत्म-भावना में जोड़ दें, अन्यो को भी प्रभु के प्रति प्रीति से जोड़ दे। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि पंचाशक की नौवीं गाथा में³ कहते हैं—

जो वचन आदि भावों से रमणीय हो, जिनमें जिन की वीतरागता आदि गुणों का वर्णन हो, जो सद्धर्म (जैनधर्म) के प्रति आकर्षण पैदा करने वाला हो और उपहासनीय न हो, ऐसे गीतवाद्य योग्य माने गए हैं। जिनयात्रा में ऐसा ही गीतवाद्य होना चाहिए।

स्तुति-स्तोत्र-द्वार — जिनयात्रा में स्तुति-स्तोत्र का प्रयोग करना चाहिए। स्तुति-स्तोत्र वैराग्यवर्द्धक होना चाहिए, शब्दों का प्रयोग सुन्दर होना चाहिए, भाषा सरल होना चाहिए, इन्हें मन्दस्वर में बोला जाना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की दसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

जिनयात्रा में गम्भीर भावों से विरचित, संवेगवर्द्धक और बोले जाने वाले पदों को प्रायः सभी समझ सकें, ऐसे योग्य स्तुति-स्तोत्र बोलना चाहिए।

प्रेक्षणक-द्वार — जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। इसमें किसी एक ही पक्ष को लेकर धर्म की व्यवस्था नहीं है। इसमें अनेक मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। वे सभी मार्ग उसे स्वीकार्य हैं, जिनके द्वारा किसी-न-किसी प्रकार आत्मा आत्म-धर्म में स्थिर हो जाए, किसी न किसी माध्यम से वैराग्य के बीजों का वपन हो। इसी उद्देश्य से

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/9 — पृ. — 151

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/10 — पृ. — 151

जिनयात्रा-महोत्सव में नृत्य-नाटिका आदि का भी विधान है, साथ ही यह भी निर्देश है कि नृत्य-नाटिकाएँ, जम्बूकुमार, इलायचीकुमार, सुदर्शन सेठ, स्थूलभद्र आदि महापुरुषों के जीवन-चरित्र पर आधारित होने चाहिए, क्योंकि ऐसे नाटक वैराग्य-रस में डुबो देते हैं। जैनधर्म में ऐसे नाटकों का विधान नहीं है, जो जीव को वासना से भर दे और संसार-सागर में डुबोएं। नाटक ऐसे होना चाहिए, जो संयम के मार्ग में, त्याग के मार्ग में, वैराग्य के मार्ग में प्रवृत्त करें, असार संसार का अहसास करवा दे। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की ग्यारहवीं गाथा में² कहते हैं-

जिनयात्रा में जिन-महोत्सव में भरत-दीक्षा आदि वृत्तान्त वाले धार्मिक नाटक आदि दृश्य भी उचित हैं, क्योंकि वे भव्य श्रोताओं में संवेग उत्पन्न करते हैं। नाटकादि दृश्यमहोत्सव के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में करना चाहिए। दान कब देना चाहिए- इस विधि का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने यात्राविधि-पंचाशक की बारहवीं गाथा में¹ किया है-

दीन आदि गरीबों के मनस्तोष के लिए महोत्सव के प्रारम्भ में ही अनुकम्पा-दान करना चाहिए। सिद्धान्त के ज्ञाता-गुरु को अपनी शक्ति के अनुसार राजा को उपदेश देकर हिंसा से आजीविका चलाने वाले मछुआरों आदि की आजीविका की व्यवस्था करवाकर उनसे होने वाली हिंसा को रुकवाना चाहिए तथा राजा से कर आदि माफ करवाना चाहिए।

जिनयात्रा-महोत्सव में साधुओं का आगमन प्रायः होता ही है। जिनाज्ञा है कि साधु जिस क्षेत्र में रहें, उस प्रदेश के राजा अथवा नगर-सेठ आदि की आज्ञा लेकर ही उन्हें वहां रहना चाहिए। साधुओं द्वारा राजा को यह बताना चाहिए कि उनका साध्वाचार है कि वे जिस प्रदेश में रहें, उस प्रदेश के राजा की आज्ञा प्राप्त करें तथा जिस वसति में रहें, वहां के स्वामी की आज्ञा प्राप्त करें। कई लोग प्रश्न करते हैं कि राजा की आज्ञा लेने की क्या आवश्यकता है ? संघ के अग्रगण्य की आज्ञा होना चाहिए।

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - १/११ - पृ. - १५१

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - १/१२ - पृ. - १५१

प्रदेश के स्वामी की, वसति के स्वामी की, संघ के स्वामी की आज्ञा आवश्यक है तथा राजा आदि से आज्ञा लेने पर जिन-शासन की प्रभावना आदि का लाभ अधिक होता है। इस बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की तेरहवीं गाथा में कहते हैं-

साधु को राजा के देश में प्रवेश करके राजा या राजा की अनुपस्थिति में युवराज से मिलना चाहिए। राजा द्वारा यह पूछने पर कि 'आपके आने का कारण क्या है?' अवग्रह (निवास-स्थान) की बात करना चाहिए, क्योंकि साधु को आज्ञा लेकर की निवास करना होता है।

इस प्रकार राजा से निवास-स्थान की याचना करना आगमविधि-सम्मत है। इस विधि से राजा के देश में रहने वाले साधुओं को निम्न लाभ होते हैं-

1. तीसरे महाव्रत का निरतिचार पालन और जिनाज्ञा की आराधना होने से कर्मों की बहुत निर्जरा होती है।
2. इस लोक में भी शत्रु-उपद्रव आदि अनर्थ नहीं होते हैं।
3. राजा द्वारा साधु का सम्मान करने से लोक में भी वह साधु सम्माननीय होता है। आज्ञालेकर निवास करने से साधुओं को ऐसे अनेक लाभ होते हैं।

राजा को उपदेश - समयज्ञ आचार्य को महावीर की वाणी के माध्यम से राजा को उपदेश देना चाहिए। उपदेश से प्रभावित होकर राजा जिनयात्रा में अनेक प्रकार से सहयोग देकर जिन-शासन की प्रभावना में निमित्त बन सकता है।

राजा को उपदेश कैसा देना चाहिए, इस विधि का भी साधु को ज्ञान होना चाहिए। राजा किस प्रकार का उपदेश देने पर प्रसन्न हो सकता है और प्रसन्न होकर संघ को कितनी सुविधाएँ प्रदान कर सकता है? इस बात का उपदेश देते समय बहुत ध्यान रखना चाहिए। जिसमें सबसे बड़ा लाभ मिलने की सम्भावना होती है, वह है जीवदया की घोषणा। राजा को प्रभावित करने पर शासन की प्रभावना सम्यक् प्रकार से

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/13,14 - पृ. - 152

हो सकती है, इसलिए राजा को विधिपूर्वक उपदेश देना चाहिए। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की पन्द्रहवीं से बीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

मुख्य आचार्य राजा से मिलकर विधिपूर्वक उपदेश दे, तो उस उपदेश से सन्तुष्ट राजा, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो न दे सके। फिर तो, जिनयात्रा के अवसर पर जीवहिंसा-निवारण कौन-सा बड़ा काम है, अर्थात् जीवहिंसा का निवारण तो राजा ही कर सकता है।

साधु को राजा के पास जाकर जैन-शासन से अविरुद्ध विनय, दाक्षिण्य और सज्जनता आदि गुणों की प्रशंसा करना चाहिए। महापुरुषों के उत्तम उदाहरण देना चाहिए और भाव-भरे नीतिपरक संवादों का वर्णन करना चाहिए। यही राजा को उपदेश देने की विधि है।

हे श्रेष्ठ पुरुष ! मनुष्य के रूप में सभी मनुष्य समान होते हैं, फिर अपने पुण्यकर्म से ही मनुष्य राजा बनता है, यह जानकर आपको धर्म में प्रवृत्ति करना चाहिए। लोगों के चित्त को प्रसन्न करने वाली मनुष्य और देवलोक-सम्बन्धी सभी सम्पत्तियों का कारण धर्म ही है और धर्म ही संसाररूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज है।

वीतराग भगवान् जिनेन्द्रदेव की यात्रा द्वारा उचित कार्य करने से सबका शुभ होता है और उनके गुणों का अतिशय प्रकट होता है। यही श्रेष्ठ धर्म है।

जिनेन्द्रदेव के जन्मादि के समय सभी जीव सुखी होते हैं, इसलिए हे महाराज! इस समय भी इस जिनयात्रा में अमारि-प्रवर्तन (हिंसा-निवारण) के माध्यम से सभी जीवों को अभयदान देकर सुखी करें।

आचार्य की अनुपस्थिति में करणीय कार्य — जीव-दया ही श्रेष्ठ धर्म है। कहा भी गया है— 'अहिंसा परमोधर्मः'। अहिंसा ही महावीर का मूल सिद्धान्त है। जीओ और जीने दो— यह महावीर का मूल मन्त्र है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' महावीर का परम-प्रिय सूत्र है, अतः महोत्सव के प्रसंग पर जीव-दया का कार्य अधिक-से-अधिक होना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/15 से 20 - पृ. - 152,154

किसी महोत्सव में आचार्य न हों, तो मुख्य श्रावकों को राजा से मिलना चाहिए और उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें जीव-दया के विषय में समझना चाहिए तथा कत्लखानों और मछुआरों को आर्थिक सहयोग देकर जीव-हिंसा बन्द करवानी चाहिए, क्योंकि जीव-दया का कार्य करने पर सम्यग्दर्शन के बीज का वपन स्वयं में भी किया जाता है एवं अन्यो में भी करवाया जाता है। जहाँ भी शासन-प्रभावना के लिए कार्य होते हैं, वहाँ भावोल्लास आता है, वही सम्यक्त्व भावोल्लास का कारण बन जाता है, अतः अहिंसा हेतु तन, मन, धन का पूर्णतः उपयोग करना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने यात्राविधि-पंचाशक की इक्कीसवीं से चौबीसवीं तक की गाथाओं में जीव-दया के लाभों का प्रतिपादन किया है-

आचार्य न हों, तो श्रावकों को ही प्रचलित रीति-रिवाज के अनुसार राजा से मिलना चाहिए और उसे समझाकर जीव-हिंसा बन्द करवाना चाहिए। यदि समझने से राजा न माने, तो उसे धन देकर भी यह कार्य करवाना चाहिए।

जीव-हिंसा से आजीविका चलाने वाले मछुआरों आदि को भी, जितने दिन महोत्सव हो, उतने दिन अन्नादि का दान देकर हिंसा बन्द करवाना चाहिए तथा उन्हें अहिंसा का शुभ उपदेश देना चाहिए।

हिंसकों को दान देकर हिंसा बन्द करवाने से लोक में जिन-शासन की प्रशंसा होती है और इससे कितने ही लघुकर्मी जीवों को सम्यग्दर्शन का उत्तम लाभ होता है तथा अन्य कितने ही जीवों को सम्यग्दर्शन के बीज की प्राप्ति होती है। जिन-शासन के सम्बन्ध में यदि थोड़ा भी गुण-प्रतिपत्ति हो, तो वह ही सम्यग्दर्शन का कारण बनती है। इस विषय में चोर का उदाहरण प्रसिद्ध है।

विशेष- यह उदाहरण सप्तम् पंचाशक की आठवीं गाथा में कहा गया है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि श्रावक की राजा तक पहुँच न हो, तो फिर क्या करना चाहिए?

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/21 से 24 - पृ. - 154,155

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हुए यात्राविधि—पंचाशक की पच्चीसवीं से अठ्ठाईसवीं तक की गाथाओं में¹ कहा है—

यदि आचार्य और श्रावक— दोनों राजा से हिंसा बन्द करवाने में समर्थ न हो सकें, तो उन दोनों को राजा से मिलकर हिंसा बन्द करवाने वाले पूर्व महापुरुषों/पूर्वजों का निम्नानुसार कथन कर अन्तःकरण से सम्मान करना चाहिए।

वे पूर्वज धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं, जिन्होंने जिनयात्रा में राजा आदि को उपदेश देकर तथा हिंसकों को अन्य आजीविका के साधन देकर हिंसा बन्द करवाई थी। हम तो अभागे हैं, क्योंकि हम जिनयात्रा को शास्त्रोक्त—विधि से करने में असमर्थ हैं, फिर भी इतने धन्य तो हैं ही कि हम उन धर्म—प्रधान महापुरुषों के सुखद आचरण का सम्मान करते हैं।

इस प्रकार उन महापुरुषों का सम्मान करने से उनके गुणों की अनुमोदना अवश्य होती है और हिंसा के निवारण रूप विशेष भाव होने से उन पूर्व पुरुषों के समान ही कर्मक्षयरूप फल मिलता है। चूंकि शुभाशुभ कर्मबन्ध का मुख्य कारण व्यक्ति का अध्यवसाय ही है, अतः इससे शुभ भावानुरूप फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

जैन—दर्शन की यह विशेषता है कि वह पुरुषार्थ करने की बात कहता है। यदि पुरुषार्थ करते हुए भी सफलता नहीं मिलती है, तो आक्रोश करने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है, अपितु पूर्व में जिन राजाओं ने अहिंसक क्षेत्र की या अभयारण्य की घोषणा की हो, उनकी अनुमोदना, प्रशंसा, सराहना करना चाहिए। इससे पूर्वजों की परम्परा के निर्वाह के साथ—साथ अहिंसारूप फल की प्राप्ति भी हो जाती है।

कल्याणकों की आराधना का विधान — श्रावकों के लिए जीवहिंसा—निवारण जिस प्रकार कर्तव्य है, उसी प्रकार परमात्मा के कल्याणक—दिनों की आराधना करना भी कर्तव्य है। परमात्मा का इस लोक में अवतरण होना, जन्म होना, दीक्षा लेना, बोध को पाना एवं निर्वाण को प्राप्त करना— ये प्रसंग सभी जीवों के लिए सुखकारी हैं, अतः उनके जन्म आदि के शुभ प्रसंगों को ही कल्याणक कहा जाता है और प्रभु के इस प्रकार के

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — ९/२६ से २८ — पृ. — १५५,१५६

कल्याणक से नारक-जीवों को भी क्षणभर के लिए सुख-शान्ति का अनुभव होता है। कल्याणक की आराधना क्षणभर के लिए दुःख से मुक्ति ही नहीं, अपितु शाश्वत् मुक्ति का फल भी प्रदान करती हैं। परमात्मा के ये कल्याणक स्व-पर कल्याण में निमित्त बनते हैं। यहाँ तक कि देव-देवेन्द्र आदि भी इन कल्याणकों को मनाकर स्व-जीवन सफल करते हैं तथा स्वयं को धन्य मानते हैं, अतः मनुष्यों को भी इन कल्याणकों की आराधना स्व-पर कल्याण के लिए अवश्य करना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की उनतीसवीं से तैंतीसवीं तक की गाथाओं में¹ कल्याणकों के स्वरूप और उनके फल की चर्चा करते हुए कहते हैं-

दानपूर्वक जीवहिंसा-निवारण का प्रसंग यहाँ पूरा हुआ। भगवान् जिनेन्द्रदेव के कल्याणक के दिनों में यथावसर तप, शरीरभूषा आदि भी करना चाहिए।

सभी तीर्थकरों के पाँच महान् कल्याणक अवश्य होते हैं और तीनों लोकों के सभी जीवों के लिए ये कल्याणक कल्याणकारी फल देने वाले होते हैं, अर्थात् इन कल्याणकों की आराधना से जीवों को मोक्षफल मिलता है।

तीनों लोकों के नाथ तीर्थकरों के गर्भ में आगमन, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञान की प्राप्ति और मोक्षप्राप्ति- इन पाँच प्रसंगों पर सभी जीवों का कल्याण होता है, इसलिए इन प्रसंगों को कल्याणक कहा जाता है।

उन्हीं गर्भ आदि कल्याणकों के समय भगवद्व्यक्ति के कारण विनीत, पुण्यशाली देवेन्द्रादि भी जिनयात्रा, पूजा, स्नात्र आदि अनुष्ठानों के माध्यम से ही स्व-पर कल्याण करते हैं।

इस प्रकार ये कल्याणक दिन उत्तम होते हैं, क्योंकि उनसे जीवों का कल्याण होता है, अर्थात् उनकी आराधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए देवताओं के अतिरिक्त मनुष्यों द्वारा भी उन कल्याणक के दिनों में हर्षपूर्वक जिनयात्रादि करनी चाहिए। भगवान् महावीर वर्तमान शासन के अधिपति हैं, इसलिए उनके कल्याणक दिनों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/29 से 33 - पृ. - 156,157

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक दिन — वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर महावीर हैं, अतः भगवान् महावीर को प्रधानता दी गई है। चूंकि वर्तमान में भगवान् महावीर ही शासन-नायक हैं, भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है, अतः भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों का ही प्रतिपादन किया गया है। आचार्यश्री के अनुसार भगवान् महावीर के षट्कल्याणक का वर्णन इस प्रकार है—

देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला महारानी की कुक्षि में संक्रमण होना दूसरा गर्भ-कल्याणक माना है। ऐसा मानने का प्रमुख कारण यह है कि प्रथम बार देवानन्दा की कुक्षि में अवतरण हुआ, तब इन्द्र द्वारा स्तुति करना, देवानन्दा द्वारा स्वप्न बताना, ऋषभदत्त द्वारा स्वप्न का फल बताना आदि जो प्रवृत्ति हुई, वही प्रवृत्ति पुनः देवानन्दा की कुक्षि से महारानी त्रिशला की कुक्षि में अवतरण होने पर भी हुई, अतः इस अनुसार भगवान् महावीर के षट्कल्याणक मानना भी उचित है, परन्तु यहाँ पंचाशक के अनुसार ही भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक का प्रतिपादन किया जा रहा है। आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की चौंतीसवीं एवं पैंतीसवीं गाथाओं में¹ कहते हैं—

भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक क्रमशः इस प्रकार है—

1. आषाढ शुक्ला षष्ठी को गर्भाधान।
2. चैत्रमास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को जन्म।
3. अगहन मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन निष्क्रमण।
4. वैशाखमास के शुक्लपक्ष की दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति,
5. कार्तिकमास के कृष्णपक्ष की अमावस्या को निर्वाण।

इनमें से गर्भ, जन्म, निष्क्रमण और केवलज्ञान— इन चार कल्याणकों में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था और अन्तिम निर्वाण-कल्याणक के समय में स्वाति-नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था।

प्रश्न उपस्थित किया गया कि भगवान् महावीर के ही कल्याणकों का वर्णन क्यों किया गया है ?

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 9/34,35 — पृ. — 158

जिनका शासन चलता है, उनका महत्व अपने-अपने काल में होता ही है। यह तो व्यवहार-काल में अनुभवसिद्ध है कि जिस समय जो राजा जैसा होता है, उसी की सत्ता, उसी के गुणगान, उसी की प्रशंसा, उसी का नाम उस काल में होता है। उसी प्रत्येक युग में तत्समय होने वाले तीर्थंकर का ही शासन चलता है, उनके ही गुणगान होते हैं, उनके ही कल्याणक मनाए जाते हैं, अतः इस अनुसार यदि वर्तमान में केवल भगवान् महावीर के ही कल्याणकों का वर्णन किया गया, तो इसमें न तो आश्चर्य की बात है और न कोई शंका है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में¹ कहते हैं-

भगवान् महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरतक्षेत्र के तीर्थ के अन्तिम संस्थापक हैं, इसलिए उनके कल्याणक-दिनों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार वर्तमान शासन में भगवान् महावीर के कल्याणक दिनों की आराधना की जाती है, उसी प्रकार शेष ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकरों के कल्याणक-दिनों की भी आराधना की जाना चाहिए।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के ऋषभदेव आदि चौबीस जिनों के जो कल्याणक-दिन हैं, वे ही कल्याणक-दिन शेष अन्य चार भरतक्षेत्रों और चार ऐरावत क्षेत्रों के चौबीस जिनों के भी होते हैं। जैसे- महावीर स्वामी के जो कल्याणक-दिन हैं, वे ही दिन दूसरे चार भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में भी चौबीसवें तीर्थंकर के हैं। ऐसी परम्परागत मान्यता है।

कल्याणक के दिनों में महोत्सव मनाने से लाभ - किसी भी कार्य को करने पर कोई-न-कोई परिणाम अवश्य होता है तथा वह परिणाम होता है- लाभरूप अथवा अलाभरूप। शुभ कार्य का परिणाम लाभरूप तथा अशुभ कार्य का परिणाम अलाभरूप होता है।

किसी से मधुर बोलना लाभरूप है और कटु बोलना अलाभरूप। परमात्मा आदि के जन्म आदि महोत्सव मनाना लाभरूप है और ग्रहस्थ का जन्मदिन मनाना

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/36 - पृ. - 158

अलाभरूप। परमात्मा आदि के जन्म-महोत्सव मनाने का लाभ इस कारण में है कि वे परमपुरुष हैं, राग-द्वेष एवं वासनाओं से मुक्त हैं, जबकि गृहस्थ संसार में लिप्त है, राग, द्वेष और वासनाओं से युक्त है, अतः जन्म आदि उन्हीं का मनाना चाहिए, जिनका जीवन संसार की वासनाओं से सर्वथा मुक्त हो। मुक्तात्माओं के जन्म आदि कल्याणक मनाने का निर्देश आचार्य हरिभद्र यात्राविधि पंचाशक की सैंतीसवीं एवं अड़तीसवीं गाथाओं में¹ करते हैं तथा जन्म आदि कल्याणक-महोत्सव मानने के लाभ बताते हुए कहते हैं-

कल्याणक के दिनों में जिन-महोत्सव करने से ये लाभ हैं-

1. ये वे दिन होते हैं, जब भगवान् का जन्म इत्यादि हुआ था- इस भावना से तीर्थकर का सम्मान होता है।
2. पूर्व पुरुषों के द्वारा आचरित परम्परा का अभ्यास होता है।
3. देव, इन्द्र आदि द्वारा निर्वाहित परम्परा का अनुकरण होता है।
4. यह जिन-महोत्सव साधारण नहीं, अपितु गम्भीर और सहेतुक है- ऐसी लोक में प्रसिद्धि है।
5. इससे लोक में जिन-शासन की ख्याति होती है
6. जिनयात्रा से ही विशुद्ध मार्गानुसारी भाव (मोक्षमार्ग के अनुकूल अध्यवसाय) होते हैं।

विशुद्ध मार्गानुसारी भाव का महत्त्व- मोक्ष-मार्ग के अनुकूल अध्यवसाय यदि सिद्धत्व को प्राप्त करा सकते हैं, तो ये अन्य कार्यों की सिद्धि प्रदान करें, इसमें क्या बड़ी बात है ? अतः अध्यवसाय शुभ और शुद्ध ही होने चाहिए। शुभभाव की श्रेणी में आत्मा शुभकार्य ही करती है। कदाचित् अशुभ कार्य कर भी ले, तो बन्धन गहरा, चिकना, अथवा दीर्घ समय के लिए नहीं होता है, क्योंकि क्रिया अशुभ करने पर भी अध्यवसाय शुभ ही होते हैं। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की उन्चालीसवीं से इक्तालीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं-

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/37 व 38 - पृ. - 159

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/39 से 41 - पृ. - 159,160

विशुद्ध मार्गानुसारी भाव से सभी वांछित अर्थों की सिद्धि अवश्य होती है, क्योंकि राग और द्वेष को जीतने वाले अर्हतों ने विशुद्ध मार्गानुसारी भाव को सकल वांछित अर्थों की सिद्धि का सफल हेतु कहा है।

मार्गानुसारी भाव वाले जीव के सम्यक्त्व का अभिमुख होने से उसकी सभी क्रियाएँ शुभ ही होती हैं और यदि असावधानी से या परिस्थितिवश क्रियाएँ अशुभ हो भी जाएँ, तो निरनुबन्ध, अर्थात् फिर से गाढ़ बन्धन नहीं करने वाली होती है। मार्गानुसारी, आत्माभिमुखी जीव की अशुभ क्रिया में पूर्वोपार्जित कर्म की परतन्त्रता ही कारण है। भाव से वह अशुभ क्रिया नहीं करता है, इसलिए उसकी अशुभ क्रिया निरनुबन्ध है। ऐसे मार्गानुसारी भाव का मूल कारण जिन-कल्याणक सम्बन्धी जिनयात्रा-महोत्सव भी होता है।

कल्याणक में रथादि का विधान— परमात्मा के कल्याणक के दिन उत्सव-महोत्सव के साथ मनाने का निर्देश है। इन दिनों में रथ आदि में जिनबिम्ब की यात्रा निकलवाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति से अन्य लोगों को अनुमोदन करने का अवसर मिलता है। यह अनुमोदन जीव को श्रेष्ठ उच्च गति की ओर प्रेरित करता है। साथ में, यह भी निर्देश है कि अन्य दिनों की अपेक्षा प्रभु के कल्याणक के दिनों में ही जिन-यात्रा करना चाहिए। ऐसा करने से परमात्मा के प्रति बहुमान भी जागता है और व्यक्ति का अहंकार भी कम हो जाता है तथा कर्म-निर्जरा भी अधिक मात्रा में होती है, अतः समृद्धिपूर्वक महोत्सव करवाना चाहिए। यदि महोत्सव नहीं करवाते हैं या अन्य परम्परा के लौकिक-पर्वों को मनाने में आनन्द लेते हैं, तो जिनाज्ञा का भंग होता है, अतः गृहस्थ को जिनाज्ञा का पालन करने हेतु इस प्रकार समृद्धिपूर्वक महोत्सव करवाना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की बयालीसवीं से सैंतालीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं—

कल्याणक-दिवसों में जिन-महोत्सव करने से तीर्थकर का अति सम्मान होता है, इसलिए इन दिनों में जिनबिम्ब से युक्त रथ, शिबिका आदि भी शहर में घुमाना

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/42 से 47 - पृ. - 160,162

चाहिए। ये सब कल्याणक के दिनों में ही करना चाहिए, क्योंकि इन सब कार्यों के लिए कल्याणक के दिन ही उत्तम हैं।

क्रिया का लक्ष्य यदि उत्कृष्ट हो, तो सामान्य क्रिया करने से भी बहुत लाभ होता है और यदि क्रिया का लक्ष्य उत्कृष्ट न हो, तो विशिष्ट प्रकार की क्रिया से भी बहुत लाभ नहीं होता है। जैसे— वीतराग परमात्मा उत्कृष्ट गुणों वाले होने के कारण उनकी पूजादि की सामान्य क्रिया भी बहुत फलदायिनी होती है, जबकि जो वीतराग नहीं हैं, उनकी विशिष्ट पूजा करने से भी बहुत लाभ नहीं होता है। इन कल्याणकों के दिनों के अतिरिक्त दूसरे दिनों में जिन-महोत्सव करने से बहुत लाभ नहीं होता है।

कल्याणक के दिनों में जिन-महोत्सव इन्द्रादि देवों ने भी किया है। यह बहुत फल देने वाला होता है, इसलिए दुर्लभ मनुष्य-योनि और जिन-शासन पाकर सात्त्विक जीवों के दृष्टान्तों को जीवन में अपनाना चाहिए, अर्थात् कल्याणक के दिनों में जिनयात्रा अवश्य करना चाहिए।

कल्याणक के दिनों में की गई जिनयात्रा का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह उत्तम है तथा शास्त्रोक्त है, साथ ही दूसरे महोत्सव भी उत्तम हैं, इसलिए बुद्धिजीवी लोगों द्वारा इन महोत्सवों को सदा समृद्धिपूर्वक करना चाहिए।

समृद्धिपूर्वक महोत्सव न करने से, अथवा महोत्सव ही नहीं करने से उस महोत्सव का विधान करने वाले शास्त्र या महोत्सव करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की अवज्ञा होती है। यह साधारण सा नियम है कि शास्त्रोक्त-वचन का पालन एवं महापुरुषों के कृत्यों का अनुसरण न करना, उनका अपमान करना है, इसलिए अवज्ञा का भलीभांति विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि सभी अनुष्ठानों में गुणदोष की विचारणा मुख्य होती है।

जिस प्रकार पिता आदि बड़े लोग विद्यमान हों, तो पुत्रादि को मुखिया के रूप में मान-सम्मान देना उपयुक्त नहीं है, उसी प्रकार जगत् के जीवों के सामने सर्वश्रेष्ठ जिनागम के विद्यमान होने पर लौकिक-उदाहरणों को ग्रहण करना अनुपयुक्त है। लोक में पिण्डदान, श्राद्ध आदि महोत्सव किए जाते हैं, इसलिए मुझे भी वैसे ही महोत्सव करना चाहिए— यह ठीक नहीं है, क्योंकि वे अनुपयुक्त हैं। इस हेतु आचार्य

हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं कि जिनागम के होते हुए लोकरुढ़ि से महोत्सव करने से लोकरुढ़ि ही जिनागम से भी बड़ी प्रमाणभूत बन जाती है। इस प्रकार, लोक-परम्परा को प्रमाण मानने में लोकरुढ़ि जिन-शासन से भी प्रमुख हो जाती है। लोकरुढ़ि को भगवान् की वचना से बड़ा मानना मिथ्यात्व है। इससे सर्वज्ञ देव की महान् आशातना होती है, इसलिए सर्वज्ञवचन को ही प्रधान मानना चाहिए।

सर्वसाधारण को जिनाज्ञा का स्वरूप दर्शाते हुए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की उन्पचासवीं गाथा में² कहते हैं-

महोत्सव के अतिरिक्त अन्य अनुष्ठानों में भी गुरुता-लघुता को भलीभांति जानकर इष्ट-अनुष्ठान में प्रवृत्ति होना चाहिए- यही भगवान् का आदेश है।

उपसंहार - जिनयात्राविधि के अन्तर्गत जिनयात्रा किस प्रकार करना चाहिए- यह आचार्य हरिभद्र द्वारा पूर्णतः बता दिया गया है। भव्य जीव को इसे पढ़कर तथा समझकर जिनयात्रा-महोत्सव में समृद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए एवं सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए जिनाज्ञा का पालन करना चाहिए। यही बात आचार्य हरिभद्र यात्राविधि-पंचाशक की पचासवीं गाथा में³ कहते हैं-

श्रद्धालु एवं सज्जन मनुष्यों द्वारा गुरुमुख से इस जिन-महोत्सवविधि को जानकर उसी प्रकार हमेशा करना चाहिए, अर्थात् जिनयात्राओं का आयोजन करना चाहिए।

-----अध्याय द्वितीय समाप्त-----

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/48 - पृ. - 162

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/49 - पृ. - 163

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 9/50 - पृ. - 163

तृतीय अध्याय : पंचाशकप्रकरण में श्रावक धर्म

आचार्य हरिभद्र के अनुसार श्रावक का स्वरूप और उसके कर्त्तव्य –

(अ) श्रावक के द्वादश व्रत–

1. अहिंसाणुव्रत
2. सत्याणुव्रत
3. अचौर्याणुव्रत
4. स्वपति–संतोषव्रत
5. परिग्रह–परिमाणव्रत
6. दिशा–परिमाणव्रत
7. भोगोपभोगपरिमाणव्रत
8. अनर्थदण्डविरमव्रत
9. सामायिकव्रत
10. पौषधव्रत
11. देशावगाशिक व्रत
12. अतिथिसंविभागव्रत
13. उपासक प्रतिमा विधि :-
14. श्रावकाचार का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

(अ) ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप –

(ब) प्रतिमाओं की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता –

(स) व्रत–विवेचन में हरिभद्र का वैशिष्ट्य

(द) व्रत–व्यवस्था की प्रासंगिकता

अध्याय— 3

पंचाशक—प्रकरण में श्रावकधर्मविधि

पंचाशक—प्रकरण के प्रथम श्रावकधर्मविधि—पंचाशक की प्रथम गाथा में अपने इष्ट को नमस्कार करके रचनाकार उनसे श्रावकधर्म के विवेचन की अनुज्ञा प्राप्त करते हैं।⁰¹

दूसरी गाथा में उत्कृष्ट श्रावक की विवेचना की गई है।⁰²

तीसरी गाथा में सम्यक्त्व के स्वरूप को बताते हुए मिथ्यात्व के क्षय उपशम अथवा क्षयोपशम के कारण धर्मशास्त्र सुनने की मानसिकता का वर्णन किया है।⁰³

सम्यग्दृष्टि और व्रतीश्रावक में अन्तर— श्रावकधर्मविधि—पंचाशक की चतुर्थ गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् जिनवाणी सुनने की इच्छा होती है, देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, किन्तु वह श्रावक के योग्य व्रतों को स्वीकार करे ही— यह आवश्यक नहीं है। व्रत ग्रहण कर भी सकता है और नहीं भी।⁰⁴

व्रत स्वीकार नहीं करने की बात इस अपेक्षा से कही गई है कि चारित्र—मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम, क्षय के अभाव में व्रत स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्यक्त्व की योग्यता तो दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से होती है। दर्शन—मोह के क्षय, उपशम और क्षयोपशम के साथ ही अथवा उसके पश्चात् शीघ्र ही चारित्र—मोह का क्षय, उपशम, क्षयोपशम हो जाए— यह अनिवार्य नहीं है, अतः सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव के साथ ही व्रत—ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी। दर्शन मोह का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो गया हो, किन्तु चारित्रमोहनीय—कर्म का क्षय आदि न हुआ हो, तो सम्यग्दर्शन ही होता है, सम्यक्चारित्र नहीं। देश—सम्यक्चारित्र के अभाव में व्यक्ति श्रावकत्व की भूमिका में प्रवेश नहीं कर सकता है। हालांकि सम्यग्दृष्टि जीव के लिए यह कथन है कि वह संसार में रहकर संसार से अलग रहता है, फिर भी उसे व्रती

⁰¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/1 — पृ. — 1

⁰² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/2 — पृ. — 1

⁰³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/3 — पृ. — 1

⁰⁴ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/4 — पृ. — 1

या श्रावक नहीं कह सकते ? हमने पूर्व में भी, श्रावक किसे कहते हैं— इसकी चर्चा की है। व्रत के अभाव में सम्यग्दृष्टि को श्रावक नहीं कहा गया। उसे द्रव्य से श्रावक कह सकते हैं, पर भाव से श्रावक नहीं। चूंकि श्रावक का गुणस्थान पाँचवाँ है और सम्यग्दृष्टि का स्थान चौथा, इसी कारण व्रत के अभाव में (चारित्रमोहनीय—कर्म के क्षय आदि के अभाव में) सम्यग्दृष्टि को श्रावक नहीं कह सकते।

प्रश्न हो सकता है कि श्रावकत्व के अभाव में सम्यग्दृष्टि धर्म—श्रवण करता है, पूजा, अर्चा, वन्दन आदि करता ही है, तो उसे श्रावक क्यों नहीं कहा जाता ? यह सत्य है कि उसकी दृष्टि सम्यग् हो गई है, उसे सत्य—असत्य का विवेक हो गया है, अतः वह श्रद्धा के साथ शुभ क्रियाएँ करता है। सम्यग्दृष्टि इन क्रियाओं को करने योग्य तो है, परन्तु श्रावक की गिनती में नहीं है। देव, गुरु, धर्म की आराधना करने वाला सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ या उसके तुरन्त बाद चारित्रमोह आदि का क्षयादि क्यों नहीं कर लेता ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने पाँचवीं गाथा में कहा है—

परिणाम—भेद के कारण ऐसा होता है।¹ दर्शन—मोह के क्षयोपशम के लिए जो अध्यवसाय चाहिए, उससे विशेष निर्मल परिणाम चारित्रमोह के क्षयोपशम के लिए चाहिए, अतः जब ऐसे विशेष अध्यवसाय होंगे, तब स्वतः चारित्र—मोहनीय का क्षयोपशम हो जाएगा। छठवीं गाथा में यह बताया है कि श्रावक को व्रत स्वीकार करने की इच्छा कब जाग्रत होती है, अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् आयुर्कर्म के अतिरिक्त मोहनीय आदि सात कर्मों की दो से नौ पल्योपम जितनी स्थिति शेष रहती है, तब भव—समुद्र से पार होने के लिए अणुव्रतरूपी यान में बैठने के भाव आते हैं।² सातवीं गाथा में श्रावक की प्राथमिक भूमिका की चर्चा प्रारम्भ करते हुए अणुव्रत एवं उत्तरगुणों का विवरण प्रस्तुत किया है कि अणुव्रत पाँच होते हैं— स्थूल—प्राणातिपात, विरमण आदि तथा इन अणुव्रतों को सुरक्षित रखने के लिए दिशाव्रत आदि सात उत्तरगुण हैं।³

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/5 — पृ. — 2

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/6 — पृ. — 2

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/7 — पृ. — 3

श्रावक के द्वादश व्रत— उपासकदशांग में व्रतों के दो भेद हैं— अणुव्रत और शिक्षाव्रत, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने बारह व्रतों के तीन विभाग किए हैं— अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन अणुव्रतों का आख्यान पंचाशक—प्रकरण के अतिरिक्त सावयपन्नति, धर्मबिन्दु एवं श्रावकधर्मविधि—प्रकरण में भी विस्तार से किया है।¹

जैन—आचार्यों के अनुसार ये आध्यात्मिक—साधना के द्वार हैं। इन अणुव्रतों का सम्यक् आचरण करने पर ही श्रावकत्व की ओर अग्रसर हुआ जाता है। श्रावक इन व्रतों का पालन बड़ी श्रद्धा व एकाग्रता के साथ जीवन—पर्यन्त करता है। पाँच अणुव्रतों को शीलव्रत भी कहा जाता है। शील का अर्थ भी सद— आचरण ही है। अणु का अर्थ छोटा या सीमित होता है। श्रावक व्रतों का पालन मर्यादित, सीमित या स्थूल रूप से करता है। मुनियों के महाव्रतों की अपेक्षा श्रावक के व्रत आंशिक व सीमित होते हैं, इसी कारण श्रावकों के व्रतों को अणुव्रत कहते हैं और श्रावक को अणुव्रती कहते हैं।

स्थूल प्राणातिपात—विरमण से तात्पर्य है— त्रस जीवों, अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचना। स्थूल प्राणियों, अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा से विरमण स्थूल प्राणातिपात विरमण नामक प्रथम अणुव्रत है।

सम्यग्दर्शन आत्म—शोधन के लिए है। सम्यग्दर्शन द्वारा भीतर का मिथ्या विश्वास रूप कचरा साफ हो जाता है। सम्यग्दर्शन की अणुव्रत की प्रज्ञा प्रदान करता है, जिससे व्यक्ति स्वयं अहिंसामय बन जाता है, सत्यमय बन जाता है, अस्तेयमय बन जाता है, ब्रह्ममय बन जाता है, अपरिग्रही बन जाता है। सम्यग्दर्शन वैसी ही दृष्टि प्रदान करता है, जिससे बुराईयाँ दिखाई ही नहीं देती है। सम्यग्दर्शन एवं अणुव्रतों के आधार पर ही व्यक्ति के गुणों का विकास होता है, अर्थात् श्रावकत्व प्रकट होने लगता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक—प्रकरण में गुणव्रतों की चर्चा की है। गुणव्रतों के विकास—क्रम को व्यवस्थित करने के लिए उत्तर गुणों का विधान किया गया है। मूलगुण अणुव्रत है, परन्तु अणुव्रतों को सुरक्षित रखने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए, उन्हें निर्मल रखने के

¹ (क) सावयपन्नति — आ. हरिभद्र
(ख) धर्म—बिन्दु — आ. हरिभद्र
(ग) श्रावकधर्मविधि—प्रकरण — आ. हरिभद्र

लिए और उन्हें पुष्ट करने के लिए उत्तरगुणों का प्रतिपादन किया है, जो उत्तरगुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में है। उत्तरगुण अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं, बल भरते हैं। उत्तरगुण अणुव्रतों में रखी गई सीमा मर्यादा को अधिक संक्षिप्त करते हैं, अथवा पाप-प्रवृत्ति की संग्रह-वृत्ति को संक्षिप्त करते हैं, जिससे अणुव्रतों का पालन अधिक सरलता से हो सके।¹

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका में कहा गया है कि अणुव्रतों के गुणों की पुष्टि करने के कारण ही ये गुणव्रत कहलाते हैं।²

आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।³ यहाँ शीलव्रत से तात्पर्य उत्तरगुणों से है।

पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने गुणव्रत व शिक्षाव्रत को उत्तरगुण कहा है, जबकि आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासक दशांग में गुणव्रत व शिक्षाव्रत को संयुक्त रूप से शिक्षाव्रत कहा है।⁴

तत्त्वार्थ-सूत्र में देशविरति को गुणव्रत में माना है एवं भोगापभोग को शिक्षाव्रत में माना है,⁵ जो पंचाशक-प्रकरण के अनुसार नहीं है। "रत्नकरण्डकश्रावकाचार" में दिग्ब्रत-अनर्थदण्ड, भोगापभोगपरिणाम को गुणव्रत कहा है तथा देशावगासिक, सामायिक, पौषधोपवास, वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है,⁶ जो पंचाशक से समानता रखता है। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के क्रम में जो भी विभिन्नता हो, परन्तु उनकी मूल भावना में कोई मतभेद नहीं है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/7 - पृ. - 3

² तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्रवर्तिनी सज्जनश्री - भाग - 3 पृ. - 21

³ पुरुशार्थ सिद्धयुपाय - आ. अमृतचन्द्र - पृ. - 136

⁴ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि - 1/12 - पृ. - 26

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति - 7/16

⁶ रत्नकरण्डकश्रावकाचार - आ. समन्तभद्र - 1/4

आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण में प्रथम पंचाशक की आठवीं गाथा के अनुसार अणुव्रतों में सर्वप्रथम स्थान अहिंसाणुव्रत का है। अहिंसा जैनधर्म और दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। गृहस्थ श्रावक के लिए अणुव्रतों के पालन की परम आवश्यकता है, इसलिए तीर्थंकर परमात्मा दो धर्म की स्थापना करते हैं— गृहस्थ-धर्म व साधु-धर्म, अथवा अणुव्रत और महाव्रत। प्रथम अणुव्रत में हिंसा के दो विभाग किए हैं—

1. संकल्पज-हिंसा।

2. आरम्भिक-हिंसा।¹

1. संकल्पज-हिंसा— संकल्पपूर्वक जीवों की हिंसा करना संकल्पज-हिंसा है।

2. आरम्भिक हिंसा — कार्य करते हुए जो सहज रूप से हिंसा हो जाए, अर्थात् जहाँ हिंसा करने के भाव नहीं हैं। सांसारिक क्रिया-कलाप करते हुए जो स्वतः हिंसा हो जाए, उसे आरम्भिक हिंसा कहते हैं।

प्रथम अणुव्रत स्वीकार करने वाला श्रावक संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का पूर्णतः त्याग करता है, परन्तु आरम्भिक-हिंसा से अपने-आपको नहीं बचा सकता, उसे मजबूरी में हिंसा करना ही पड़ती है। चूँकि वह गृहस्थ अवस्था में है, अतः पेट-पूर्ति के लिए भोजन आदि बनाने की तथा भोजन आदि के लिए खेती आदि करने की प्रवृत्ति का वह त्याग नहीं कर सकता है।

आचार्य हरिभद्र ने नौवीं गाथा में यह ज्ञात करवाया है कि किस प्रकार गुरु के मुखारविन्द से धर्म-श्रवण कर मोक्ष की अभिलाषा से² व्रत ग्रहण किया हो, फिर चाहे कुछ समय के लिए ही किया हो, अथवा जीवन-पर्यन्त के लिए किया हो। साथ ही, प्राणातिपात का त्याग करने पर व्रत को मलिन करने वाले अतिचारों से बचने की आवश्यकता बताई गई है। इसके पश्चात् अतिचारों से बचने की विधि बताई है। पंचाशक-प्रकरण के प्रथम पंचाशक की दसवीं गाथा में पहले अणुव्रत के पाँच अतिचारों का विवरण किया है—

¹ पंचाक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/8 — पृ. — 3

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/9 — पृ. — 3

1. बन्ध ।
2. वध ।
3. छविच्छेद ।
4. अतिभार ।
5. अन्नपान-निरोध ।¹

1. बन्ध— बन्ध का अर्थ है— किसी भी जीव को कठोर बन्धन में बांधना, अर्थात् क्रोध, मोह आदि के वशीभूत होकर पशु, मनुष्य आदि को निष्प्रयोजन बंधन में बान्धना। किसी की विचरण-स्वतन्त्रता को समाप्त करना अहिंसा-अणुव्रत अतिचार है। किसी प्रयोजन से पशु, अथवा मनुष्य को यदि मजबूत बान्धना पड़े, तो करुणाभाव से बांधें, द्वेषभाव से नहीं, अर्थात् यदि किसी को बांधना पड़े, तो ऐसे बांधा जाए कि वहाँ कोई भी दुर्घटना न हो जाए, तो वहाँ से वे बन्धन खोलकर अन्यत्र जा सकें। पहली बात तो यह है कि किसी को नहीं बांधना चाहिए। यदि किसी को बांधना ही पड़े, तो निर्दयतापूर्वक नहीं बांधें। महापुरुषों का कथन है कि घर में ऐसे पशु आदि नहीं रखें, जिन्हें बान्धना पड़े। बिना बन्धन के ही उन्हें प्रेम से रखें, उनकी विचरण की सुविधा का अपहरण न करें।

2. वध-अतिचार— पंचाशक-प्रकरण के अनुसार क्रोध, मोह आदि के वशीभूत होकर किसी भी मनुष्य, अथवा पशु आदि को मारना वध-अतिचार है।²

उपासकदशांगटीका के अनुसार ऐसा घातक प्रहार करना, जिससे प्राणी-अंगोपांग का छेदन हो, उसे वध अतिचार कहते हैं।³

चारित्रसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि में किसी भी पुरुष या पशु को लकड़ी, बेंत, थप्पड़, घूंसा, अंकुश आदि से मारने को भी वध-अतिचार कहा है।⁴

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/10 - पृ. - 4

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/10 - पृ. - 4

³ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि - 1/45 - पृ. - 40

⁴ (क) चारित्रसार श्रावकाचार संग्रह - चामुण्डाचार्य - भाग- 1 - पृ. - 339

(ख) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय - अमृतचन्द्राचार्य - गाथा- 183 - पृ. - 340

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति - 7/20 - पृ. - 187

¹ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ - डॉ. सागरमल जैन - पृ.- 330

² चैत्यवन्दनकुलक-टीका - श्रीजिनकुशलसूरि - पृ. - 161

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार लाठी या चाबुक आदि से प्रहार करना वध अतिचार है।⁵

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार अंगोपांग का छेदन और घातक प्रहार करना वध-अतिचार है।¹

चैत्यवन्दनकुलक-टीका के अनुसार आर या कील चुभाना, बेंत, लात, घूंसे, थप्पड़ आदि से मारना, असभ्य, अश्लील वचन बोलना आदि सभी वध-अतिचार है।²

3. छविच्छेद-अतिचार - आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित पंचाशक-प्रकरण के अनुसार मनुष्य, अथवा पशुओं के अंग को काटना, छेदना आदि छविच्छेद अतिचार हैं।³

उपासकदशांग-टीका के अनुसार क्रोधावेश में किसी का अंग काट डालना, मनोरंजन के लिए कुत्ते, बिल्ली आदि पालतू पशुओं की पूंछ, कान आदि काट देना छविच्छेद-अतिचार है।⁴

चारित्रसार पुरुषार्थसिद्धपाययु के अनुसार पशु-पक्षी आदि की कान, जीभ आदि छेदना छविच्छेद अतिचार है।⁵

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार कान, नाक, चमड़ी आदि अवयवों का भेदन या छेदन करना छविच्छेद-अतिचार है।⁶

चैत्यवन्दनकुलक-टीका के अनुसार सुन्दर दिखने के लिए कान, नाक, पूंछ आदि काटना छविच्छेद अतिचार है।⁷

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार किसी की आजीविका को छीनना या उसमें बाधा डालना भी छविच्छेद अतिचार है।⁸

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/10 - पृ. - 4

⁴ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि - 1/45 - पृ. - 40

⁵ (क) चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - भाग- 1/239

(ख) पुरुषार्थ सिद्धपाययु - अमृतचन्द्राचार्य - गाथा- 183 - पृ. - 340

⁶ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति - 7/20 - पृ. - 187

⁷ चैत्यवन्दनकुलकटीका - श्रीजिनकुशलसूरि - पृ. - 161

⁸ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ - डॉ. सागरमल जैन - पृ. - 330

⁹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/10 - पृ. - 4

4. अतिभार—अतिचार— पंचाशक—प्रकरण के अनुसार मनुष्य, अथवा पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ (वजन) लादना अतिभारारोपण अतिचार है।⁹

उपासकदशांग टीका के अनुसार पशु, दास आदि पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है।¹

चारित्रपुरुषार्थसिद्धयुपाय के अनुसार किसी भी प्राणी पर उसकी सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण—अतिचार है।²

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मनुष्य या पशु आदि पर शक्ति से ज्यादा भार लादना अतिभारारोपण अतिचार है।³

चैत्यवन्दनकुलक टीका के अनुसार मनुष्य, बैल, घोड़ा, ऊँट आदि के ऊपर उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझ लादने को अतिभारारोपण—अतिचार कहते हैं।⁴

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार प्राणी के सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना या कार्य लेना अतिभारारोपण अतिचार है।⁵

5. अन्नपाननिरोध — पंचाशक—प्रकरण के अनुसार दास—दासी आदि को पशुओं को अन्न (भोजन), पानी आदि से वंचित रखना अन्नपाननिरोध अतिचार है।⁶

अपने आश्रित मनुष्य एवं पशुओं को समय पर खाना नहीं देना, उसमें व्यवधान डालना अन्नपाननिरोध अतिचार है।⁷

¹ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि — 1/45 — पृ. — 41

² (क) चारित्रसार श्रावकाचार संग्रह — चामुण्डाचार्य — भाग— 1/239

(ख) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय — अमृतचन्द्राचार्य — गाथा— 183 — पृ. — 340

³ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति — 7/20 — पृ. — 187

⁴ चैत्यवन्दनकुलकटीका — श्रीजिनकुशलसूरि — पृ. — 161

⁵ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ — डॉ. सागरमल जैन — पृ. — 330

⁶ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिमद्रसूरि — 1/10 — पृ. — 4

⁷ उपासकदशांग टीका — आ. अभयदेवसूरि — 1/45 — पृ. — 41

⁸ (क) चारित्रसार श्रावकाचार संग्रह — चामुण्डाचार्य — भाग— 1/239

(ख) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय — अमृतचन्द्राचार्य — गाथा— 183 — पृ. — 340

⁹ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति — 7/20 — पृ. — 187

चारित्रपुरुषार्थसिद्धयुपाय के अनुसार पशु आदि को खान-पान से रोककर भूख-प्यास से पाड़ित करना अन्नपाननिरोध अतिचार है।⁸

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार किसी के खाने-पीने में रुकावट डालना अन्नपाननिरोध अतिचार है।⁹

चैत्यवन्दनकुलक टीका के अनुसार मनुश्य, पशु आदि को समय पर उनके योग्य भोजन, घास-चारा आदि तथा पानी आदि नहीं देना, कम देना, समय-समय पर साज-संभाल नहीं करना अन्नपाननिरोध अतिचार है।¹

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार आधीनस्थ पशुओं एवं कर्मचारियों के भोजन, पानी आदि की समय पर व्यवस्था न करना अन्नपाननिरोध अतिचार है।²

सत्याणुव्रत — पंचाशक-प्रकरण के अर्न्तगत प्रथम पंचाशक की ग्यारहवीं गाथा में कहा है—

स्थूल असत्य वचन से विरत होना दूसरा अणुव्रत है।³ इस व्रत को धारण करने वाला बड़ी झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है।

जीवन में कभी भी और कैसी भी विपत्ति आ जाए, अपने स्वार्थ को कितना भी धक्का लग जाए, ऐसे आपत्ति-काल में भी न तो स्वयं असत्य बोलता है और न दूसरों से असत्य बुलवाता है— इसे ही सत्याणुव्रत कहते हैं।

वह स्थूल असत्य वचन कन्या, गाय, भूमि, न्यासहरण और कूट साक्ष्य की अपेक्षा से संक्षेप में पाँच प्रकार के बताए गए हैं—

1. कन्या असत्य— कन्या के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है, जैसे खण्डित शील कन्या को अखण्डित शील कन्या कहना। अखण्डित शीलकन्या को खण्डित शीलकन्या कहना, विवाहित को अविवाहित कहना और अविवाहित को विवाहित कहना या

¹ चैत्यवन्दनकुलक टीका — श्रीजिनकुलसूरि — पृ. — 161

² डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ — डॉ. सागरमल जैन — पृ. — 330

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/11 — पृ. — 4

सुन्दर को असुन्दर और असुन्दर को सुन्दर कहना, अर्थात् कन्या के विषय में असत्य जानकारी देना।

प्रश्न यह है कि क्या श्रावक कन्या के विषय में ही झूठ बोलता है लड़के के लिए झूठ नहीं बोल सकता है ? यदि ऐसा है, तो फिर कन्या के विषय में ही यह बात क्यों कहीं गई ?

ग्रन्थकार ने इसका समाधान दे दिया है कि कन्या से सम्बन्धित असत्य वचन के त्याग से दो पैर वाले सभी प्राणियों से सम्बन्धित असत्य वचन का त्याग हो जाता है। इसे समझाने हेतु अब अलग-अलग स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं रही, अतः कन्या शब्द में ही सभी द्विपदों का अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए।

2. गौ असत्य वचन – पशुओं के विषय में भी कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है, जैसे— अधिक दूध देने वाली गाय को कम दूध देने वाली गाय बताना या कम दूध देने वाली गाय को अधिक दूध देने वाली बताना। संक्षेप में, पशु आदि के क्रय-विक्रय हेतु गलत जानकारी देना गौ असत्य वचन है। गौ का अर्थ गाय होता है, परन्तु यहाँ गौ से चार पाँव वाले सभी प्राणियों को इंगित किया जाता है, अतः इसके त्याग से सभी चार पैर वाले जीवों से सम्बन्धित असत्य वचन का त्याग हो जाता है।

3. भूमि असत्य वचन – भूमि के विषय में भी कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है, जैसे— अपनी भूमि को अन्य की भूमि कहना या अन्य की भूमि में अपना स्वामित्व स्थापित करना। भूमि से सम्बन्धित कार्य अपने सामने नहीं हुआ हो, परन्तु भूमि का अमुक कार्य मेरे सामने हुआ— यह बताना तथा अन्य की भूमि को अपनी भूमि बताकर विक्रय कर देना भूमि-सम्बन्धी असत्य वचन है। भूमि-सम्बन्धी असत्य वचन के त्याग से सभी द्रव्यों से सम्बन्धित असत्य वचन का भी त्याग हो जाता है।

4. न्यास-अपहरण— अमानत के सम्बन्ध में भी कभी दुर्भाव के कारण असत्य बोलने का प्रसंग उपस्थित होता है, जैसे— किसी व्यक्ति द्वारा विश्वासपूर्वक रखी गई अमानत (वस्तु) हड़प जाने के उद्देश्य से उसे यह कहकर वापस नहीं देना कि आपने वह वस्तु मुझे दी ही नहीं थी, अथवा मेरे पास नहीं रखी थी। इस प्रकार, किसी की धरोहर को दबाने के

लिए और अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए असत्य वचन बोलना न्यासापहरण असत्य है।

5. कूटसाक्षी— धन, सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित विवादों में भी असत्य बोलने का प्रसंग आता है, जैसे— न्यायालय में झूठी गवाही देना, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि के कारण जो कार्य अपने सम्मुख नहीं हुआ है या हुआ है, उसके विषय में झूठी साक्ष्य देना कूटसाक्षी है।

इन पाँच प्रकार के असत्य वचनों के परित्याग करने को ही सत्याणुव्रत कहते हैं।

सत्याणुव्रत के स्वरूप का कथन करते हुए समन्त भद्राचार्य ने कहा है¹—

जो स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता और न दूसरे से कहलवाता है तथा जिस वचन से अपने पर या दूसरे पर आपत्ति आ जाए— ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है, उसे सन्त पुरुष झूठ का त्याग कहते हैं। दशवैकालिक² में कहा गया है कि सत्य होने पर भी अवज्ञासूचक शब्दों का प्रयोग न करें। सम्मानसूचक शब्दों का ही प्रयोग करें।

सत्य बोलने में विवेक रखें। ऐसा भी सत्य न बोलें, जिससे किसी पर भारी आपत्ति आ जाए, अथवा किसी की मौत हो जाए। मान लो आप चौराहे पर खड़े हों और किसी ने आकर पूछा कि यहाँ से भागते हुए आदमी को देखा है ? अथवा यहाँ से भागते हुए बकरे को देखा ? यदि हिम्मत हो, तो कह दें कि हाँ देखा है ? पर बताऊंगा नहीं ? यदि हिम्मत नहीं है, तो आप उस समय मौन रहें, पर सत्य नहीं बताएँ। कल्पसूत्र³ में सामाचारी में समिति और गुप्ति के प्रसंग में भाषा—समिति में उदाहरण आता है कि मुनि बहुभूमि के लिए नगर से बाहर आए, तो शत्रु के सैनिकों ने उन्हें पकड़ लिया और उनसे नगर की प्राकार—भित्ति पर कितनी सेना है आदि पूछने लगे, तो मुनि मौन रहे। फिर पूछा, तो सत्य जवाब दिया, पर वह सत्य कैसा सत्य था, वह समझे— जो सुनते हैं, वे देखते—बोलते नहीं और जो देखते या बोलते हैं, वे सुनते नहीं। मुनि को पागल समझकर उन सैनिकों ने छोड़ दिया।

¹ श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार - समन्तभद्र, तृतीय अणुव्रत अधिकार - पृ. - 97

² दशवैकालिकसूत्र - भायमभवसूरि- 7/1/1

³ कल्पसूत्र - समाचारी, अनु. सज्जनश्रीजी म. सा. - पृ. - 386

जो जीवन-पर्यन्त सत्य का पालन करते हैं, उनकी विश्व में प्रतिष्ठा फैलती है। जैन-श्रावकों का अतीत का इतिहास सत्याणुव्रत से इतना उज्ज्वल था कि वे कोर्ट में ज्यों ही पहुँचते, त्वरित ही अपनी पहचान व छाप न्यायाधीश पर डाल देते थे। व्यक्ति के तिलक को देखकर समझ जाते थे कि ये जैन हैं। सत्य का प्रभाव फैले बिना नहीं रहता है। सत्य के लिए अपने प्राण की कुर्बानी करने वाले आज भी इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की रक्षा के लिए राज्य भी त्याग दिया, रामकृष्ण परमहंस के पिता सत्य-पालन के लिए गाँव छोड़कर चले गए। ग्रीस का प्रसिद्ध चिंतक जेनोक्रिटिस था, जिसके लिए यह प्रसिद्धि थी कि वह कौसी भी परिस्थिति में असत्य नहीं बोल सकता है। एक प्रसंग है कि एक बार अदालत में गवाही देने के लिए उन्हें जाना पड़ा। वे गवाही के लिए कटघरे में खड़े हो गए और कटघरे की परम्परानुसार 'मैं झूठ नहीं बोलूंगा'— ऐसा कहते हुए प्रतिज्ञा के लिए धर्म की पुस्तक हाथ में लेने लगे। उसी समय न्यायाधीश ने कहा— महोदय जेनोक्रिटिस! धर्म की पुस्तक हाथ में लेकर आपको प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है। हमें विश्वास है कि आप जो बोलेंगे, वह सच ही होगा, क्योंकि सूर्य पश्चिम में उदय हो सकता है, पर जेनोक्रिटिस असत्य नहीं बोल सकता। जेनोक्रिटिस की सत्य के लिए ऐसी प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि थी।

महापुरुष कहते हैं कि सत्य पर विश्वास रखें व सत्य को जीवन में आत्मसात करें तथा संकल्प करें कि अपने स्वार्थ के कारण झूठ नहीं बोलेंगे, फिर भले ही धन का नुकसान हो, सन्तानों का वैवाहिक सम्बन्ध न हो, व्यापार आगे न बढ़े, मान-सम्मान न मिले, कोई चिन्ता नहीं। यह भी संकल्प करें कि दूसरों की घाति हो, वैसा सत्य भी नहीं बोलेंगे, तब मौन रहेंगे।

तीर्थंकर महापुरुषों ने नहीं, अपितु भारतीय ऋषियों व विद्वानों ने भी असत्य भाषण को क्लिष्ट पाप कहा है। चूँकि असत्य भाषण से व्यक्ति के नैतिक गुणों का पतन तो होता ही है, साथ ही व्यक्ति की विश्वसनीयता भी खण्डित होती है, अतः श्रावक को असत्य का त्याग कर सावधानीपूर्वक सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस अणुव्रत का सावधानी पूर्वक पालन करते हुए यदि कोई दोष लग भी जाए, तो उन अतिचारों का मिथ्यादुष्कृत्य करना चाहिए, अर्थात् तत्सम्बन्धी गलती को गलती के रूप में स्वीकार

करना चाहिए। सम्यक् पालन करते हुए जिन कारणों से अतिचार लगते हैं, वे पाँच कारण निम्नलिखित हैं। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के प्रथम अध्याय में सत्याणुव्रत के दोषों को निम्न प्रकार से बताया है¹—

(1) सहसाम्याख्यान (2) रहस्याभ्याख्यान (3) स्वदारमन्त्रभेद (4) मिथ्योपदेश (5) कूटलेखकरण।

(1) सहसाम्याख्यान— गलत अनुमान लगाना, बिना विचारे किसी पर दोषारोपण करना, अर्थात् निर्दोषी को दोषी कहना। बिना जाने ही अनुमान से यह कहना कि तू चोर है, व्यभिचारी है, परदारगामी है, भिखारी है, मायावी है, कपटी है, लुटेरा है, शराबी है आदि। यह प्रवृत्ति सत्याणुव्रत को दूषित करती है। इस प्रवृत्ति से अन्य के जीवन में भी कोई दुर्घटना घट सकती है, जिसे हम निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं—

दो व्यक्ति आपस में बातें कर रहे थे, तभी तीसरा व्यक्ति वहाँ पहुँच गया। उन दोनों की बातें पूरी हो चुकी थी। तीसरे व्यक्ति को यह शंका हो गई कि ये दोनों मेरी ही बातें कर रहे हैं, इन्हें दूसरों की निन्दा करने में ही आनन्द आता है। इससे वे दोनों स्तब्ध रह गए कि यह ऐसा क्यों सोच रहा है ? हम तो किसी अन्य सन्दर्भ में बात कर रहे थे। इस गलतफहमी के चलते उनमें आपस में कलह हो गया और कलह के फलस्वरूप परस्पर मनमुटाव हुआ, जिससे उनके सम्बन्ध बिगड़ गए। गलत अनुमान से अणुव्रत दूषित हो गया और व्यवहार भी बिगड़ गया। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में स्पष्ट किया है कि श्रावक इस अतिचार का त्याग करें।

(2) रहस्याभ्याख्यान — गुप्त बात को प्रकट करना, किसी पर झूठा आरोप लगाना, झूठा कलंक लगाना, विश्वासघात नहीं करना, गलत बात का प्रचार करना आदि इस अतिचार के अन्तर्गत हैं।

(3) स्वदारमन्त्रभेद — अपनी पत्नी द्वारा कही गई गुप्त बात को दूसरे के सामने प्रकट करना स्वदारमन्त्रभेद है। मान लीजिए किसी स्त्री को अपने पति पर पूर्ण विश्वास है कि वह पूर्णरूप से गंभीर हैं। उसे बताई गई कोई बात इधर से उधर नहीं होगी। इतना

¹ इह सहसम्बन्धखणं रहसा य सदार मंत भयं च,

मोसोवएसयं कूडलेहकरणं च वज्जेइ। ॥११२॥ - पंचाशक प्रकरण- 1/12 - पृ. - 5

दृढ़-विश्वास होने के कारण वह स्त्री अपनी गुप्त बात भी अपने पति को बता देती है कि शादी के पूर्व उसका किसी के साथ कोई सम्बन्ध था, अब उसे इसका बहुत दुःख हो रहा है। पत्नी की इस बात को सुनकर पति ने उसे उसे वचन दिया कि मैं यह बात किसी को कभी भी नहीं बताऊंगा। कुछ वर्ष बीते। किसी बात को लेकर उनमें परस्पर कलह हो गया, तब गुस्से में आकर पति ने वह बात अन्य लोगों के सामने प्रकट कर दी, फलतः पत्नी ने आवेश में आकर आत्महत्या कर ली। इस प्रकार पत्नी की गुप्त बात को प्रकट करने का परिणाम स्वयं के लिए भी व दूसरों के लिए भी घातक सिद्ध हुआ।

प्रश्न यह है कि क्या पत्नी की ही गुप्त बात प्रकट नहीं करना है ? क्या अन्य किसी की गुप्त बात को प्रकट कर सकते हैं ? बुद्धिमानों के लिए यह संकेत ही पर्याप्त है कि पत्नी ही क्या, अन्य किसी की भी बात को प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपनी गुप्त बात किसी के सामने प्रकट हो, तो कोई भी सहन नहीं कर पाएगा, यहाँ एक ही रूप में कही गई बात को सभी के लिए समझ जाना चाहिए।

(4) मिथ्योपदेश— दूसरों को झूठ बोलने की सलाह देना मिथ्योपदेश है। यदि कभी किसी कारणवश झूठ बोलने का प्रसंग आ जाए, तो यह विचार करना चाहिए कि मैं असत्य कैसे बोलूँ ? मैंने तो अणुव्रत लिए हैं, परन्तु मिथ्या का आश्रय लिए बिना कार्य भी नहीं होगा, अतः किसी अन्य से असत्य बुलवा दूँ। उतना असत्य कैसे बोलना है, यह उस अन्य को सिखा दिया गया और वह कार्य भी हो गया, अणुव्रत भी भंग नहीं हुआ। व्रत को सुरक्षित रखने की भावना थी, अतः अणुव्रत तो भंग नहीं हुआ, अर्थात् अनाचार तो नहीं हुआ, पर मिथ्योपदेश का अतिचार तो लग गया। अतिचार से भी बचना है, तो दूसरों को झूठ बोलने की सलाह नहीं देना चाहिए।

(5) कूटलेखकरण— पंचाशक-प्रकरण में अतिचार का पाँचवां भेद जाली लेख तैयार करना या जाली हस्ताक्षर करना या जाली दस्तावेज आदि तैयार करना है। इसे कूटलेख-क्रिया कहते हैं।

यदि व्रतधारी व्यक्ति ऐसा सोचे कि झूठ नहीं बोलना— यह मेरा व्रत है, पर झूठ नहीं लिखना— यह मेरा व्रत कहाँ है ? अतः झूठ लिखने पर मेरा व्रत भंग नहीं होगा— यह समझकर यदि जाली लेख लिखता है, तो अणुव्रती का व्रत दूषित होता है,

अतः अणुव्रती ऐसा पत्र नहीं लिखे, जिसका अर्थ अनर्थ का हेतु बन जाए। अशोक सम्राट ने अपने पुत्र कुणाल को पत्र दिया जिस पर लिखा था— 'त्वम् अधीतव्यम्'। उस पत्र में सौतेली माँ ने अधी पर अनुस्वार लगा दिया, जिससे वह 'त्वम् अधीतव्यम्' बन गया। इससे 'तुम अध्ययन करना', उसके स्थान पर वहां अर्थ हो गया 'तुम अंधे हो जाना।' फिर क्या था, पिता की आज्ञा समझकर वह अंधा हो गया, अर्थ का अनर्थ हो गया, अतः ऐसे जाली पत्र न लिखें, जिससे दूसरों का अनर्थ हो जाए।

चेक पर जाली हस्ताक्षर करना, झूठे दस्तावेज बनाना, जमीनों पर अनधिकार चेष्टा करना श्रावकों के लिए शोभास्पद नहीं है, अतः स्थूलमृषावादविरमण—व्रतधारी इन अतिचारों के पूर्ण रूप से त्याग करें। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र¹ में सत्याणुव्रत का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि इन पाँच प्रकार के स्थूल असत्यों का वर्जन की क्या आवश्यकता है।

योगशास्त्र के अनुसार वर—कन्या—सम्बन्धी असत्य वचन, गौ आदि पशुओं से सम्बन्धित असत्य वचन, भूमि—सम्बन्धी असत्य वचन, कूट—लेख—करण तथा न्यासापहार और कूटलेख पुण्य का क्षय करने वाले हैं, अतः श्रावक को असत्य वचन का वर्जन करना चाहिए।

स्थानांगसूत्र के अनुसार सत्याणुव्रती को मिथ्या वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, कठोर वचन, अविचारपूर्ण वचन, कलह को उत्पन्न करने वाले वचन, दबी बात को पुनः उभारने वाले वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।²

योगशास्त्र³ के अनुसार जो महापुरुष ज्ञान और चारित्र के स्रोत सत्य को ही बोलते हैं, वे अपने चरण रेणु से धरती (पृथ्वी) को पवित्र कर देते हैं। तत्त्वार्थ—सूत्र⁴

¹ सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्धि भवसितघातकम्।

यद्विपक्ष च पुण्यस्य न वदेत्तसूनुतम् ॥ — आचार्य हेमचन्द्र — योगशास्त्र— 2/55 — पृ. — 277

² इमां छ अवयणां वदित्तए अलियवयणे हीलियवयणे खिसितवयणे फरसवयणे।

गारस्थियवयणे, विउसवित्त वा पुणाउदीरित्तए ॥ — आप्त पुरुश प्रणीत — स्थानांग सूत्र— 6/3

³ ज्ञान—चारित्रयोर्मूलं सत्यमेव वदन्ति ये।

धात्री पवित्रीक्रियते तेषां चरणरेणुभिः ॥ — आचार्य हेमचन्द्र — योगशास्त्र— 2/63 — पृ. — 291

⁴ मिथ्योपदे ।रहस्याभ्याख्यान कूटलेखक्रिया न्यासापहार साकार मन्त्रभेदाः

— आचार्य उमास्वाति — तत्त्वार्थ—सूत्र— 7/2

⁵ धूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं स पंचहा होई।

कन्ना—गो—मुआलियनासहरण कूडसक्खिखज्जे ॥160 ॥

में भी मृषावाद से विरत होने का निर्देश दिया है कि श्रावक को मिथ्योपदेश, असत्य—दोषारोपण, कूटलेखक्रिया, न्यास—अपहार और मन्त्रभेद (गुप्त बात प्रकट करना)—इन पाँच अतिचारों से अवश्य बचने का प्रयास करते रहना चाहिए।⁵

अदत्तादानव्रत— आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित पंचाशक—प्रकरण में तृतीय स्थूल—अदत्तादानविरमण—व्रत का वर्णन तेरहवीं गाथा में¹ किया गया है। अदत्तादान का अर्थ है— नहीं दिया हुआ लेना, अर्थात् चोरी करना। चोरी का त्याग करना स्थूलअदत्तादानविरमण है। हरिभद्र के अनुसार² दत्त का अर्थ है— दिया गया, अदत्त का तात्पर्य है— नहीं दिया गया। आदान का अर्थ है— ग्रहण करना। बिना दिए गए पदार्थ को ग्रहण करना अदत्तादान है, अर्थात् जिस पदार्थ का, जो स्वामी है, उसके द्वारा प्रदत्त को परिग्रहण करना दत्तादान है, और बिना अनुमति के लेना अदत्तादान है।

उपासकदशांगटीका में अदत्तादान को ही चोरी कहा गया है। यहाँ 'अदिण्णादानं' शब्द आया है, जिसका सामान्य अर्थ बिना दी हुई वस्तु को लेने से ही है।³ आवश्यकसूत्र में भी अदत्तादान का ऐसा ही अर्थ किया गया है।⁴ दिगम्बराचार्य सोमदेवसूरि ने उपासकाध्ययन में सार्वजनिक जल, तृण आदि वस्तुओं के सिवाय अन्य सभी बिना दी हुई वस्तुओं को ग्रहण करना चोरी बताया है।⁵ चारित्रसार व धवला में ग्राम, वन, शून्यगृह और वीथी आदि में गिरे, पड़े या रखे हुए मणि, सुवर्ण तथा वस्त्र आदि के ग्रहण का विचार अदत्तादान माना है।⁶

तत्त्वार्थ—सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने 'अदत्तादानंस्तेयम्' कहकर बिना दी हुई वस्तु को लेने को चोरी कहा है।⁷

— आचार्य हरिभद्रसूरि — श्रावकप्रज्ञप्ति — पृ. — 154

¹ थूलादत्तादाने विरई तं दुविहयो उं णिदुदुत्तं ॥ 13

पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/13 — पृ. — 5

² सम्यग्दर्शन से मोक्ष — साध्वी सम्यग्दर्शनाश्रीजी — पृ. — 195

³ उपासकदशांगटीका— 1/15

⁴ आवश्यकसूत्र — मुनि घासीलाल जी महाराज — पृ. — 323

⁵ उपासकाध्ययन — सोमदेवसूरि — श्लोक— 364

⁶ (क) चारित्रसार — चामुण्डाचार्य — पृ. — 41

(ख) अदखस्य अदिण्णस्स आदानं गहणं अदत्तादानं — धवल पुराण— 12/281

⁷ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/10

पंचाशक-प्रकरण में⁸ अदत्तादान में दो भेद किए हैं। नमक, पशु आदि की चोरी करना सच्चित-सम्बन्धी चोरी है। स्वर्ण आदि की चोरी करना अचित-सम्बन्धी चोरी है। सावयपण्णत्तिवृत्ति में⁹ विशेष रूप से और दो विभाग किए गए हैं- 1. स्थूल चोरी, 2. सूक्ष्म चोरी। जिस वस्तु के ग्रहण करने पर चोरी का आरोप लग सकता है, उसे दूषित अध्यवसाय (परिणाम) पूर्वक ग्रहण करना स्थूल अदत्तादान है एवं जिस चोरी के करने पर व्यक्ति चोर नहीं समझा जाता, उसे सूक्ष्म अदत्तादान कहते हैं साथ ही, चोरी के भाव को भी सूक्ष्मचौर्यकर्म ही कहा जाता है।

उक्त अदत्तादान सचित व अचित की अपेक्षा से भी दो प्रकार का बताया गया है। किसी विशिष्ट क्षेत्र आदि में जिस किसी भी प्रयोजन से रखे गए दास-दासी, हाथी-घोड़े आदि को स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना सचित्तादान कहलाता है एवं वस्त्र, सोना और चांदी आदि का उसके स्वामी की अनुमति के बिना चोरी के भाव से ग्रहण करना अचित्तादान है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस वस्तु का स्वामी न हो, वह वस्तु रास्ते में पड़ी हो और चोरी करने के भाव नहीं है, क्या उसे उठाना भी चोरी है ?

माना कि यह चोरी नहीं है, परन्तु जिसकी वस्तु है, यदि वह उसे वहाँ खोजने के लिए आए और उसे वह वस्तु नहीं मिले, तो उसके मन में तो संक्लेश होगा ही, अतः हमारे निमित्त से किसी को संक्लेश उत्पन्न हो, तो भी वह चोरी है। इसी प्रकार संक्लेश रूप परिणाम के साथ जो भी वृत्ति होती है, वहाँ चोरी है, अतः उचित तो यह है कि परद्रव्य की ओर दृष्टिपात करें ही नहीं।

अस्तेयानुव्रती श्रावक स्थूल चोरी, अर्थात् जिसे सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से चोरी समझा जाता है, उसे या दूसरों से चोरी करवाने का त्यागी होता है।

श्रावक स्थूलचौर्यकर्म से विरत तो होता ही है, साथ ही लोक-निन्द्य एवं राजदण्ड के योग्य चौर्यकर्म का भी त्यागी होता है। चोरी करने पर लोक में वह चोर के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, अतः लोक की ओर से निन्दा तथा राज की ओर से दण्ड

⁸ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 13/2 - पृ. - 5

⁹ सावयपण्णत्तिवृत्ति - आचार्य हरिभद्रसूरि - राधा- 265 - पृ. - 157

को प्राप्त करता है। चौर्यकर्म की भर्त्सना करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है¹— जो परधन का अपहरण करता है, वह स्वयं इस लोक एवं परलोक को बिगाड़ता है तथा धर्म (पुण्य), धैर्य (धीरज), धृति (स्वास्थ्य), मति (कृत्य-अकृत्य का विवेक) आदि सदगुणों का विनाश करता है।

उन्होंने चोरी करने का परिणाम बताते हुए कहा है¹ कि चोरी के पाप से इस लोक में वध-बन्धन आदि फल प्राप्त होते हैं, व परलोक में नरक की भयंकर वेदना की प्राप्ति होती है।

चोरी करने वाला सदा भयभीत रहता है और भयभीत मनुष्य में शान्ति नहीं होती। शान्ति के अभाव में सुख के साधन में जुड़े होते हुए भी वह सुख की अनुभूति से वंचित रहता है।

आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने कहा है² कि— चौर्यकर्म करने वाला कभी भी निश्चिन्त व शान्त नहीं रह पाता है। दिन हो या रात, सुप्त हो या जाग्रत, वह हमेशा सशल्ययुक्त रहता है, वह किसी भी स्थान में स्वस्थ नहीं रह पाता है।

गृहस्थ के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह बड़ी चोरी से बचने का प्रयत्न करे, अपितु यह भी आवश्यक है कि वह उन सूक्ष्म कृत्यों के प्रति भी सतर्क रहे, जो प्रत्यक्ष रूप में चोरी का आभास नहीं हो पाता, परन्तु वे चोरी के ही रूप हैं, जैसे— दूसरे की जमीन पर रास्ता बना लेना, करचोरी करना, व्यापार में प्रामाणिकता नहीं रखना, लेन-देन में हिसाब नहीं बताना, दूसरे की वस्तु लेने का मन में विचार करना, स्तेयाणुव्रतधारी को जीवन-निर्वाह व निर्माण के लिए अपनी आवश्यकताओं को अल्प नहीं करना, उन्हें सहयोग नहीं देना, किसी भी वस्तु के प्रति लालची-वृत्ति होना, बिना आज्ञा किसी भी वस्तु को उठा लेना आदि।

व्रत का यथाशक्ति परिपालन करते हुए भी असावधानीवश, अथवा प्रमाद के कारण व्रत-पालन में जो स्खलना हो जाती है, उसे अतिचार कहते हैं।

¹ योगशास्त्र - हेमचन्द्राचार्य- 2/67 - पृ. - 294

¹ योगशास्त्र - हेमचन्द्राचार्य- 2/69 - पृ. - 295

² योगशास्त्र - हेमचन्द्राचार्य- 2/70 - पृ. - 295

आचार्य हरिभद्र ने पूर्व-परम्परानुसार व्रतों का वर्णन करते हुए पंचाशक में लिखा है कि श्रावक स्तेयाणुव्रत को सुरक्षित रखने के लिए इन पाँच अतिचारों का सम्यक् प्रकार से त्याग करे। जिन अतिचारों से सावधान रहना है, उन अतिचारों का वर्णन आचार्य हरिभद्र ने प्रथम पंचाशक की चौदहवीं गाथा में प्रस्तुत किया है¹, जो जानने योग्य है, परन्तु अपनाने योग्य नहीं हैं। ये पाँच अतिचार निम्न हैं—

1. स्तेनाहृत 2. तस्करप्रयोग 3. राज्यविरुद्धव्यवहार 4. कूटतुला-कूटमान 5. प्रतिरूपक व्यवहार।

उपासकदशांग में भी इसी प्रकार से पाँच अतिचारों का वर्णन है² सागारधर्माभृत में³ तथा तत्त्वार्थ-सूत्र में⁴ पाँच अतिचार इस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं— 1. स्तेन-प्रयोग 2. स्तेन-अदत्तादान 3. विरुद्धराज्यातिक्रमण 4. हीनाधिक -मानोन्मान 5. प्रतिरूपक-व्यवहार।

इनमें एवं पंचाशक-प्रकरण में वर्णित अतिचारों में शाब्दिक अन्तर अवश्य है, किन्तु विशेष अर्थभेद नहीं है।

स्तेनाहृत - हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण की टीका में प्रस्तुत अतिचार की व्याख्या करते हुए कहा गया है— चोरी से लाई हुई वस्तु को क्रय करना स्तेनाहृत है⁵

उपासकदशांगटीका में नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी यही कहा है कि चोर द्वारा लाई हुई वस्तु स्वीकार करना स्तेनाहृत है⁶

श्रावकप्रज्ञप्ति-टीका में स्तेन का अर्थ चोर बताया गया है तथा चोरों द्वारा लाई गई वस्तुओं को लोभवश ग्रहण करने को स्तेनाहृत कहा है⁷

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

² उपासकदशांग टीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/47 - पृ. - 43

³ सागारधर्माभृत - पं. आशाधर - 4/50 - पृ. - 38

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति- 7/22

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

⁶ उपासकदशांगटीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/14 - पृ. - 43

⁷ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आचार्य हरिभद्र - गाथा- 268 - पृ. - 158

⁸ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति- 7/22

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार चोरी की वस्तु लेना स्तेनाहृत है।⁹ सम्यग्दर्शन से मोक्ष के अनुसार चोरी का माल खरीदना, चोरों से सम्बन्ध बनाए रखना स्तेन अदत्तादान है।⁹

तृतीय अणुव्रतधारी श्रावक यह ध्यान रखे कि तीसरे अणुव्रत को सुरक्षित रखने के लिए चोरों से सम्बन्ध स्थापित न करे, चोरों के साथ मित्रता आदि का सम्बन्ध न बनाए, चोरों के साथ न व्यापार करे और न उन्हें व्यापार में सहयोग दे, क्योंकि सम्बन्ध स्थापित करना व व्यापार में सहयोग देना चौर्यकर्म का ही एक रूप है, अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक—प्रकरण के श्रावकधर्मविधि में निर्देश दिया है कि श्रावक अपने अणुव्रत को अखण्ड रखने के लिए स्तेनाहृत अतिचार का परित्याग करे।¹

तस्कर—प्रयोग — पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत अतिचार की व्याख्या करते हुए कहा है कि चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना तस्कर—प्रयोग है।²

उपासकदशांगसूत्र की टीका में नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार चोरों को चोरी के कार्य में प्रवृत्त करना एवं 'इस प्रकार करो'— ऐसी आज्ञा देना तस्कर—प्रयोग है।³ श्रावकप्रज्ञप्ति में भी इसी प्रकार कहा गया है।⁴

तत्त्वार्थ—सूत्र में आचार्य उमास्वाति के अनुसार चोरी को बढ़ावा देना, चोरी के उपाय बताना, चोरों को सहयोग देना तस्कर—प्रयोग (तदाहृता) है।⁵ सम्यग्दर्शन से मोक्ष में कहा गया है कि चोरी करने की प्रेरणा देना, चोरी की योजना बनाना, चोरों की

⁹ सम्यग्दर्शन से मोक्ष — साध्वी सम्यग्दर्शनाश्रीजी— 7/206 — पृ. — 209

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — पृ. — 5

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/14 — पृ. — 5

³ उपासकदशांगटीका — आचार्य अभयदेवसूरि— 1/47 — पृ. — 43

⁴ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका — आचार्य हरिभद्र — गाथा— 268 — पृ. — 158

⁵ तत्त्वार्थ—सूत्र — आचार्य उमास्वाति— 7/22

⁶ सम्यग्दर्शन से मोक्ष — साध्वी सम्यग्दर्शनाश्रीजी— 7/205 — पृ. — 208

⁷ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — पृ. — 5

प्रशंसा करना, चोरी करना या करवाना, अथवा चोरी करते हुए की प्रशंसा करना स्तेन (तस्तक) है।⁶

अणुव्रतधारी को सतर्क रहने की आवश्यकता है। श्रावक चोरों के साथ व्यापार न करे तथा न उनको सहयोग दे। चाहे सहयोग देने में अपना स्वार्थ नहीं भी है, फिर भी चोर को चोरी करने का बढ़ावा देना भी दोषपूर्ण है, अतः पंचाशक-प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि- अणुव्रतधारी के लिए यह अतिचार वर्जनीय है।¹

विरुद्धराज्यातिक्रमण - आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में तृतीय अणुव्रत के तृतीय अतिचार का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस राज्य में जाना निषिद्ध हो, उस राज्य में या उस राज्य के सैन्य-क्षेत्र में जाना, अथवा राज्य के आदेश के विरुद्ध आचरण करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।²

उपासकदशांग की टीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा है- विरोधी शासकों द्वारा जहाँ प्रवेश निषेध किया गया है, उस सीमा का उल्लंघन करना व राज्य-विरुद्ध कार्य करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।³

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका के अनुसार दो अलग-अलग राजाओं के राज्य से वस्तुओं को लाने-ले जाने के लिए कुछ नियम निर्धारित रहते हैं, उनका उल्लंघन कर एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाना व दूसरे राज्य से अपने राज्य में ले आना विरुद्धराज्यातिक्रम है।⁴

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार वस्तुओं के आयात-निर्यात पर राज्य की ओर से लगे बन्धन का उल्लंघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है।⁵

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - पृ. - 5

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

³ उपासकदशांगटीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/47 - पृ. - 43

⁴ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आचार्य हरिभद्र - गाथा- 268 - पृ. - 158

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति- 7/22

⁶ सम्यग्दर्शन से मोक्ष - साध्वी सम्यग्दर्शनाश्रीजी- 7/207 - पृ. - 209

‘सम्यग्दर्शन से मोक्ष’ नामक ग्रन्थ के अनुसार राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, भूमि-भवन पर अवैध कब्जा करना, सार्वजनिक, अथवा शासकीय भूमि पर अतिक्रमण करना आदि विरुद्धराज्यातिक्रम है।⁶ इसमें कर-अपवंचन भी समाहित है।

अणुव्रतधारी श्रावक अपने व्रत को सुरक्षित रखने के लिए ध्यान रखे कि जिस राज्य की ओर से निषेध हो, उस देश में, उस स्थान में नहीं जाना चाहिए, क्योंकि आज्ञा के बिना उस देश-प्रदेश में जाना भी चोरी है। इस अपेक्षा से यह अतिचार है, अतः आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में यही संकेत कर रहे हैं कि श्रावक इस अतिचार का त्याग करें।¹

कूटतुला-कूटमान- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में अणुव्रतों के अतिचारों का वर्णन करते हुए तृतीय अणुव्रत के चतुर्थ अतिचार के विषय में निम्न प्रकार से कहा है-

कम तौलना, अर्थात् नियत तौल से कम तोलना, तेल आदि को कम मापना, अर्थात् नियत माप से कम मापना कूटतुला-कूटमान है।²

उपासकदशांगटीका में तोलने और मापने में झूठ का प्रयोग, अर्थात् देने में कम तोलना, लेने में अधिक तोलना को कूटतुला-कूटमान कहा है।³

श्रावकप्रज्ञप्ति में तुला का अर्थ तराजू और माप का अर्थ मापने का आढक, प्रस्थ आदि किया है। इनका देने के लिए कम और लेने के लिए अधिक प्रमाण रखना-इसे कूटतुला-कूटमान कहते हैं।⁴

तत्त्वार्थ-सूत्र में न्यूनाधिक नाप वाट या तराजू आदि से लेन-देन करना कूटतुला-कूटमान है।⁵

सम्यग्दर्शन से मोक्ष के अनुसार कम माप-तौल से दूसरे को देना और ज्यादा माप-तौल से स्वयं लेना कूटतुला-कूटमान-अतिचार कहलाता है।⁶

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

³ उपासकदशांगटीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/47 - पृ. - 43

⁴ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आचार्य हरिभद्र - गाथा - पृ. - 158

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति- 7/22

⁶ सम्यग्दर्शन से मोक्ष - साध्वी सम्यग्दर्शन - नाश्रीजी- 7/208 - पृ. - 209

अणुव्रती श्रावक यह ध्यान रखे कि कहीं उसके नियम भंग न हो जाएं, क्योंकि लेन-देन में अधिक या कम करना एक प्रकार की चोरी है। जैसे घी का भाव 150 रु. किलो है, यदि किसी को इसी भाव में घी दिया, पर तौल में घी कम कर दिया, तो यह चोरी है। 25 रु. मीटर कपड़े का भाव है। यदि किसी को कपड़ा 25 रु. में दिया, पर कपड़ा कुछ कम कर दिया, तो बस यही चोरी है। अतः, पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अणुव्रती श्रावक को निर्देश दिया है कि— इस प्रकार के अतिचार का त्याग करें।¹

प्रतिरूपक-व्यवहार— आचार्य हरिभद्रसूरि पंचाशक-प्रकरण में अणुव्रती श्रावकों के लिए तीसरे अणुव्रत के पंचम अतिचार को बताया कि जो नकली वस्तु का व्यापार करता है— यह प्रतिरूपक-अतिचार है।²

उपासकदशांगटीका³ एवं श्रावकप्रज्ञप्ति⁴ के अनुसार इसका कूटतुला-कूटमान जैसा शब्दार्थ करते हुए कथन किया गया है कि अधिक मूल्य वाली वस्तु में उसके समान कम मूल्य वाली वस्तु को मिला देना, नकली को असली बता देना आदि प्रतिरूपक-व्यवहार है।

तत्त्वार्थ-सूत्र में असली के बदले नकली वस्तु देना प्रतिरूपक है।⁵ 'सम्यग्दर्शन से मोक्ष' नामक ग्रन्थ के अनुसार मिलावट करना, अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर विक्रय करना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना और असली के प्रति नकली वस्तुओं का व्यापार करना आदि प्रतिरूपक-व्यवहार —अतिचार है।⁶

अणुव्रती श्रावक अपने व्रत को अखण्ड रखने के लिए ध्यान रखे कि कहीं व्रत दूषित न हो जाए, क्योंकि व्यापार में धोखेबाजी खूब होने लगी है, न्याय प्रामाणिकता

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/14 - पृ. - 5

³ उपासकदशांगटीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/47 - पृ. - 43

⁴ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आचार्य हरिभद्र - गाथा - पृ. - 158

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति- 7/22

⁶ सम्यग्दर्शन से मोक्ष - साध्वी सम्यग्दर्शनाश्रीजी- 7/209 - पृ. - 209

⁷ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - पृ. - 5

का अभाव होता जा रहा है। साड़ी सूरत की है और ऊपर छाप लगाएँ अमेरिका की, कलम है— भारत की, छाप लगी है, चीन का, घी—तेल के डिब्बे में मिलावट है और ऊपर लिखा है— शुद्ध तेल है। अन्दर माल स्वदेशी है, बाहर सिक्का विदेशी का है। इस प्रकार के व्यापार करने वाले अपने ब्रतों के व्यापार करने वाले अपने ब्रतों को दूषित कर लेते हैं, अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक—प्रकरण में यही निर्देश दिया कि श्रावक इस प्रकार के अतिचार का त्याग करें।¹

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार— ये पाँचों दृष्ट—प्रकृतियाँ आज भी अनुचित एवं शासन द्वारा दण्डनीय मानी जाती हैं, अतः इनके निषेध अप्रासंगिक या अव्यावहारिक नहीं है। वर्तमान युग में ये दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, अतः इनके नियमों का पालन अपेक्षित है।¹

पंचाशक में बताए अनुसार अदत्तादानविरमण—व्रतधारी, जो श्रावकचोरी का परित्याग करता है, अर्थात् परद्रव्य को ग्रहण करने का त्याग करता है, उसे अदत्तादानविरमण—व्रत का फल प्राप्त होता है। फल की प्राप्ति के विषय में आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि जो पर धन को ग्रहण करने का त्याग करता है, उसके सामने स्वयं ही स्वयंवरा बनकर लक्ष्मी चली आती है, उसके समस्त अनर्थ (विघ्न) दूर हो जाते हैं। सभी स्थानों पर उसकी आशंसा होती है। वह सभी के हृदय का विश्वासपात्र बनता है, यहाँ तक कि उसे स्वर्ग—अपवर्ग का सुख भी प्राप्त होता है।

पदार्थ ग्रहणे येषां, नियमः शुद्धचेतसाम्।

अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां! स्वयंमेव स्वयंवराः॥१७४॥

अनर्था दूरतो यान्ति, साधुवादः प्रवर्तते।

स्वर्ग सौख्यानि ढोकन्ते स्फुटमस्तेय चारिणाम्॥१७५॥

अतः, अस्तेय—व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए।

¹ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ — लेख-श्रावक आचार को प्रासंगिकता का प्र न — पृ. सं. — 330

² प्र न व्याकरणसूत्र — संवरद्वार— 4 — पृ. सं. — 215

ब्रह्मचर्य—व्रत— जैन—परम्परा में ब्रह्मचर्य का विशद विश्लेषण किया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना को अणुव्रत के रूप स्वपत्नी—संतोषव्रत व महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्यव्रत कहा जाता है।

ब्रह्मचर्यव्रत का भंग होने पर अन्य समस्त गुण मथे हुए दही जैसे, पिसे हुए धान्य जैसे चूर्ण—विचूर्ण हो जाते हैं, अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को भी ब्रह्मचर्यव्रत का पालन अवश्य करना चाहिए।²

सूत्रकृतांग³ में भी मोक्ष—प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यव्रत को आवश्यक माना गया है—

जो साधक स्त्रियों से सेवित नहीं है, वे मुक्त पुरुषों के समान कहे गए हैं, इसलिए कामिनी या कामिनी—जनित कामों के त्याग से ऊर्ध्व—ऊपर उठकर (मोक्ष) देखा। (जिन्होंने काम—भोगों को रोगावत् देखा है, वे महासत्त्व साधक भी मुक्त—तुल्य हैं)।

संयम को संसार में सर्वोत्तम रत्न कहा गया है, जिसकी प्राप्ति से कषायरूपी समस्त दारिद्र्य समाप्त हो जाता है।¹ इस प्रकार ब्रह्मचर्य को तप आदि का मूल माना है—

“बभचेरं उत्तमतव नियम नाणं—दंसण चरित्त सम्मत विणय मूलं”

ब्रह्मचर्यउत्तमतप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र—सम्यक्त्व और दिनय का मूल है।²

श्रावक का चौथा अणुव्रत ब्रह्मचर्य है, जिसका भावार्थ है— अब्रह्म का, अर्थात् ऐन्द्रिय विषयों का आसक्तिपूर्वक सेवन नहीं करना।

ब्रह्म, अर्थात् आत्मा में विचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। गृहस्थ—जीवन के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णतः पालन अशक्य है, परन्तु

³ सूत्रकृतांगसूत्र — तृतीय उद्देश्य भाग — गाथा— 144 — पृ. सं. — 157

¹ सूत्रकृतांग—सूत्र का दार्शनिक अध्ययन — साध्वी निलांजनाश्री— 15 अध्ययन — पृ. — 170

² प्रश्न व्याकरणसूत्र — संवरद्वार— 4

अत्यधिक कामासक्त होना भी आध्यात्मिक व नैतिक पतन ही है तथा मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी यह अनुचित है।

गृहस्थ-श्रावक को इस पतन से बचाने के लिए तथा सामाजिक-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एवं पारिवारिक सम्बन्धों की रक्षा के लिए तथा भारतीय-संस्कृति को पवित्र रखने के लिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत, अर्थात् स्वपत्नी-संतोषव्रत का उद्घोष किया। इस व्रत में अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को माँ, बहन और बेटी के समान समझकर उनसे यौन-सम्बन्ध बनाने का निषेध होता है। ब्रह्मचर्याणुव्रती इस व्रत को देशतः (अंशरूप में) पालन करता है, अर्थात् काम से पूर्ण निवृत्त तो नहीं होता, परन्तु मर्यादित हो जाता है, जिससे गृहस्थ-जीवन की भूमिका का निर्वाह अच्छी तरह से कर सकता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूर्ववर्ती परम्परा का निर्वाह करते हुए पंचाशक-प्रकरण में अणुव्रतों की चर्चा करते हुए प्रथम अध्ययन की पन्द्रहवीं गाथा में चतुर्थ व्रत की चर्चा की है--

परस्त्री का त्याग करना और अपनी पत्नी से संतोष करना स्वदार संतोषव्रत है।¹

उपासकदशांगटीका में भी पंचाशक-प्रकरण की तरह ही माना गया है कि अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का त्याग करना स्वदार-संतोषव्रत है।²

तत्त्वार्थ-सूत्र में "मैथुन ही अब्रह्म है" - इस प्रकार का कथन किया है।³

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि गृहीत या अगृहीत परस्त्री के साथ काम-रति नहीं करना गृहस्थ का चौथा व्रत है।⁴ यहाँ वैश्या, परस्त्री, विधवा, कुमारी और लेप-चित्रादिगत स्त्री का निषेध किया गया है, मात्र अपनी भार्या में प्रतिगमन की प्रवृत्ति रहती है, उसे ही मुनि-जन चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि - 1/15 - पृ. - 6

² उपासकदशांग टीका - आचार्य अभयदेवसूरि- 1/16 - पृ. - 27

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आचार्य उमास्वाति - मैथुनब्रह्म - 7/11

⁴ सर्वार्थसिद्धि - आचार्य पूज्यपाद- 7/20 - पृ. - 277

अधिकांश आगम ग्रन्थों में व अन्य वृत्तियों में प्रायः आचार्य हरिभद्र के पंचाशक के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप प्राप्त होता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में परस्त्री के दो प्रकार किए हैं— एक तो औदारिक शरीरधारी, अर्थात् जिसका शरीर स्नायु, मांस, हड्डी से बना है और दूसरी वैक्रियलब्धिधारी, अर्थात् जिन्होंने विकुर्णवा करके अपना शरीर बनाया है। मायावी स्त्री, पशुस्त्री, औदारिक परस्त्री हैं तथा देवियाँ और विद्या धारियाँ वैक्रिय—परस्त्री है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक में अणुव्रतधारी श्रावक को अपने ब्रह्मचर्याणुव्रत को सुरक्षित रखने के लिए सोलहवीं गाथा में सावधान रहने का संकेत दिया है⁵ कि वह इन पाँच अतिचारों को समझकर त्याग करें।

पंचाशक—प्रकरण में निम्न पाँच अतिचारों के वर्जन का वर्णन किया है—

- (1) धन देकर किसी वेश्या आदि से भोग करना।
- (2) धन नहीं लेने वाली अनाथ, विधवा, परित्यक्ता—कुमारिका आदि अपरिगृहीता स्त्री के साथ विषय सेवन करना।
- (3) मैथुन के लिए अपेक्षित अंग स्त्रीयोनि और पुरुशजनित जननेन्द्रिय हैं। इनके अतिरिक्त स्तन, छाती, कपोल इत्यादि अनंग हैं, अतः स्तन आदि अन्य अंगों से रतिक्रीड़ा करना अनंग—क्रीड़ा है, अथवा स्त्री द्वारा पुरुष जननेन्द्रिय से मैथुन के बाद भी असन्तोष के कारण चर्म, काष्ठ, फल, मिट्टी इत्यादि से बने पुरुष—लिंग जैसे कृत्रिम साधनों से तृप्ति करना, अथवा पुरुष द्वारा उक्त प्रकार के कृत्रिम साधनों से स्त्रीयोनि की रचना करके मैथुन—क्रिया करना भी अनंग—क्रीड़ा है।
- (4) अपनी सन्तति के अतिरिक्त दूसरों की सन्तति का विवाह करवाना।
- (5) मैथुन की तीव्र अभिलाषा और तीव्र कामानुभूति के लिए औषधि आदि का प्रयोग करना। हरिभद्र ने उपर्युक्त पाँचों अतिचारों को त्याज्य कहा है।

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार 'परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंग—क्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश'— इन पाँच अतिचारों का विवरण प्राप्त है, जो प्रायः पंचाशक—प्रकरण के समान है।

⁵ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/16 — पृ. — 6

अपनी ही स्त्री में संतोष रखना स्वदार संतोषव्रत है। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत, अथवा स्वपत्नी-संतोषव्रत भी कहते हैं। श्रावक अपने इस व्रत को सुरक्षित रखने के लिए पंचाशक-प्रकरण में बताए ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँचों अतिचारों का त्याग करे।

इन अतिचारों का वर्जन करने वाला श्रावक ही अपने व्रत को बिना दूषित किए स्वच्छ रख सकेगा। पंचाशक-प्रकरण के अनुसार प्रथम अतिचार में वेश्यागमन का निषेध किया है। यदि स्वस्त्री से संतोष न होने पर यह विचार कर वेश्यागमन करता है कि मैंने परस्त्री का त्याग किया है, वेश्या का त्याग नहीं किया है, अतः वेश्या के साथ सम्भोग करने से मेरा अणुव्रत दूषित नहीं होगा,

परन्तु इससे श्रावक का चौथा व्रत तो कलुषित एवं खण्डित होता ही है।

श्रावक अपनी पत्नी से इच्छा पूर्ण न होने पर वासना की पूर्ति के लिए यह कल्पना करे कि मैंने परस्त्री का त्याग किया है, पर अनाथ, त्यक्ता, विधवा आदि स्त्रियों का त्याग नहीं किया है, अतः उन स्त्रियों को भोग सकता हूँ, इससे भी वह अपने व्रत को दूषित या खण्डित करता है।

श्रावक अपनी कामपूर्ति के लिए यह चिन्तन करते हुए कि मेरा व्रत है-परस्त्री के साथ सम्भोग नहीं करने का, पर अनंगक्रीड़ा का त्याग नहीं है। यह मानकर यदि वह अनंगक्रीड़ा करे, तो उसका व्रत दूषित होता है और ब्रह्मचर्याणुव्रत के भंग का दोष भी लगता है।

अणुव्रती श्रावक यदि अन्यो का विवाह करवाता है, तो भी उसे अतिचार लगता है, क्योंकि किसी का सम्बन्ध करना मैथुन-प्रवृत्ति को पुष्ट करना है।

उपासकदशांग के अनुसार अपनी सन्तानों का विवाह करना तो अनिवार्य है, पर दूसरों का विवाह करवाना ब्रह्मचर्य-साधना की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। ऐसा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने अपना दूसरा विवाह करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत माना है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी अन्यो के विवाह करवाने में परेशानी आ सकती है, जैसे- विवाह करवाया, स्वभाव के कारण सम्बन्ध का निर्वाह सुचारु रूप से नहीं हुआ, अथवा विवाह होते ही कोई रोग उत्पन्न हो गया, या उसके घर में नुकसान होने लगा,

तो विवाह करवाने वाले को उपालम्भ सुनना पड़ते हैं, अतः महापुरुषों ने इसे अतिचार बताकर श्रावकों को इस कार्य के लिए निषेध ही किया है। अणुव्रती श्रावक अन्य सभी सम्भोगिक सम्बन्धों का त्याग करते हुए स्वस्त्री में भी मर्यादा रखे, अर्थात् भोगों के प्रति तीव्र अभिलाषा नहीं रखे, तभी श्रावक अपने अणुव्रतों को बचा सकता है।

प्रश्न यह है कि व्रतों में दोष लगाने की बात तो समझ में आई, पर खण्डित होने की बात समझ में नहीं आती है ?

व्रत में ये दोष लगने पर व्रत दूषित होता है, खण्डित नहीं। अतिचार है, परन्तु यहाँ भी भाव की अपेक्षा से तो व्रत भंग ही माना गया है, अतः यदि अणुव्रती श्रावक यह कहता रहेगा कि ये तो अतिचार है, अनाचार नहीं है, इससे व्रतभंगरूप दोष नहीं है, तो वह सदाचार से भ्रष्ट हो जाएगा, उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाएगा, अतः भूलकर भी ऐसी भूल न की जाए, जिससे यह अतिचार अनाचार बनकर व्यभिचार में बदल जाए और उसके फलस्वरूप परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व की सदाचार की व्यवस्था ही तहस-नहस हो जाए ? फिर तो समाज में सदाचार-सच्चरित्र के दर्शन ही नहीं होंगे तथा इन अणुव्रतों का फिर कोई महत्व भी नहीं रहेगा।

स्वदार-संतोषव्रत की तरह ही स्वपति-संतोषव्रत को भी समझना है कि श्राविका भी इस अणुव्रत का पालन करते हुए श्रावक के समान ही उपर्युक्त अतिचारों का वर्जन करे।

अणुव्रत का पालन सुचारु रूप से हो- इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है। पति-पत्नी में सम्बन्ध अच्छे बने रहें, इसके लिए पत्नी अपने पति के साथ मधुर व्यवहार रखे। यदि पत्नी का व्यवहार पति के प्रति कुशल हो, वह धर्म के महत्व को, त्याग के महत्व को, मनुष्यजीवन के महत्व को, संयम के महत्व को समझती रहे, तो वह सदैव पति के आकर्षण का केन्द्र बनी रहेगी और परस्पर कलह भी नहीं होगा। इस कथन की पुष्टि हमें डॉ. सागरमल जैन के लेख से प्राप्त होती है कि स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन-सम्बन्ध रखना जैन-श्रावक के लिए निशिद्ध है। पारिवारिक एवं सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था की दृष्टि से इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यह व्रत पति-पत्नी के मध्य एक-दूसरे के प्रति विश्वास जाग्रत करता है

और उनके पारस्परिक प्रेम एवं समर्पण-भाव को सुदृढ़ करता है। जब भी इस व्रत का भंग होता है, तब पारिवारिक जीवन में अशान्ति एवं दरार पैदा हो जाती है।¹

व्रत भंग करने वाला इस लोक में भी दुःखी होता है, व परलोक में भी दुःखी होता है। इस विषय की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—
स्वदार-संतोषी बनकर परस्त्री का त्याग करें। परस्त्री के साथ कामभोग करने के दुष्परिणामों को बताते हुए कहा है— अपनी प्रचण्ड शक्ति से सम्पूर्ण संसार को आक्रान्त करने वाला शक्तिशाली रावण भी परस्त्री-रमण की इच्छा के कारण अपने कुल का क्षय करके नर्क का मेहमान बना।

‘विक्रमाक्रान्त विश्वोऽपि, परस्त्रीणुरिरंसया।

कृत्वा कुलक्षयं प्राप, नरकं दशकन्धरः।।¹

आचार्य हेमचन्द्र ने यह भी संकेत दिया है— जिस प्रकार परस्त्री वर्जनीय है, वैसे ही परपुरुष-सेवन भी त्याज्य है। इस विषय में स्त्रियों को सलाह दी है कि ऐश्वर्य से कुबेर के समान, रूप से कामदेव के समान सुन्दर होने पर भी स्त्री को पर-पुरुष का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए, जैसे— सीता ने रावण का त्याग किया था।

‘ऐश्वर्य राजराजोऽपि रूपमीनध्वजोऽपि च।

सीतया रावण इव त्याज्यो नार्या नरः परः।।²

प्रश्न-व्याकरण में इसे भगवान कहा गया है।³ श्रमणों में तीर्थंकर की तरह ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ होता है। इसकी साधना से सभी व्रतों की साधना हो जाती है।

भगवती-आराधना में कहा गया है— जीव ब्रह्म है, जीव में जो परदेह रूप सेवन-चर्या नहीं होती है, उसे ब्रह्मचर्य समझें।⁴

¹ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ - लेख.श्रावक आचार को प्रासंगिकता का प्र न - पृ. - 330

¹ योगशास्त्र - आचार्य हेमचन्द्रसूरि- 2/99 - पृ. - 344

² योगशास्त्र - आचार्य हेमचन्द्रसूरि- 2/102 - पृ. - 302

³ तं बभं भगवन्तं - प्र. नव्याकरण - संवरद्वार- 4

⁴ जीवो बभो जीवम्भि चेष चरिया हविन्ज जा जिणिपदो तं जाणं बभंचेरं विमुक्क पर देहतिस्स्य
- भगवती-आराधना - सूत्र- 878

⁵ एकक गुणनायक - प्र. नव्याकरण - संवरद्वार- 4

⁶ (क) उग्गं महत्त्वयंधारययव्वं सुदकक्करं - उत्तराध्ययन - 19/22

(ख) घोर बंभचारी - उत्तराध्ययन - 19/20

प्रश्न—व्याकरण में कहा गया है— जगत् में अनेक व्रत हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य अद्वितीय व्रत (गुण) है, जो सर्वगुणों का नायक है।⁵ ब्रह्मचर्य का अत्यन्त महत्त्व है। पाँच अणुव्रतों में ब्रह्मचर्य को छोड़कर अन्य चार में घोर उग्र शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु ब्रह्मचर्य के लिए घोर, उग्र, दुष्कर शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि— ब्रह्मचर्य महाव्रत उग्र है। ब्रह्मचर्य महाव्रत घोर है।⁶

स्थूलभद्रसूरि कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास सम्पन्न करके आए, तब आचार्य संभूतिसूरि ने दुष्कर—दुष्कर शब्दों के द्वारा उनका अभिनन्दन किया, क्योंकि सब पर विजय पाना सरल है, पर काम पर विजय पाना ही दुष्कर है। स्थूलभद्र कामविजेता कहलाए, जिनके लिए कथन है कि चौरासी चौबीसी तक उनका नाम स्मरण किया जाता रहेगा।

विजय सेठ—विजय सेठानी ब्रह्मचर्य के कारण ही स्तुति के पात्र बने और उनके लिए आचार्य ने जिनदास को कहा था कि वच्छदेश के विजय सेठ और विजय सेठानी को पारणे पर बुलाकर भोजन कराओ, तो चौरासी हजार साधुओं को सुपात्र—दान से बढ़कर लाभ है। ऐसे महापुरुषों के उदाहरणों से समझ में आता है कि ब्रह्मचर्य की महिमा कितनी है। इसी कारण आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के प्रथम अध्याय में इस अणुव्रत के माध्यम से श्रावक की भूमिका कितनी स्वच्छ व निर्मल होना चाहिए, इसका ही प्रतिपादन किया है। अणुव्रती श्रावक को आचार्य हरिभद्र ने यही निर्देश दिया है कि वह अपने ब्रह्मचर्याणुव्रत को दूषित न करें और इन अतिचारों का सेवन न करें।

परिग्रह—परिमाणव्रत — आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक की सत्रहवीं गाथा में श्रावक—धर्म की चर्चा करते हुए परिग्रह परिमाण—व्रत का प्रतिपादन किया है।¹ पंचाशक—प्रकरण के अनुसार इच्छा ही परिग्रह है, अतः आचार्य हरिभद्र ने श्रावकों को इच्छाओं का परित्राण करने का संकेत दिया है। परिग्रह का मूल कारण इच्छा है। यदि

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि — 1/17 — पृ. — 7

इच्छा ही समाप्त हो गई, तो आंतरिक-परिग्रह स्वतः समाप्त हो गया और आंतरिक-परिग्रह समाप्त हुआ, तो बाह्य परिग्रह समाप्त न होने पर भी समाप्त के समान ही है, क्योंकि उसके प्रति आसक्ति का अभाव होता है तथा संग्रह की वृत्ति भी प्रायः समाप्त हो जाती है।

श्रावक सम्पूर्ण इच्छाओं से मुक्त होकर जीवन नहीं जी सकता है, अतः जीवन की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक में श्रावकों के अणुव्रतों की चर्चा करते हुए परिग्रह-परिमाण-व्रत में इच्छा-परिमाण का निर्देश दिया है कि धन-धान्य क्षेत्रादि परिग्रह की सीमा का निर्धारण करना पांचवां इच्छा-परिमाण (स्थूल-परिग्रह-परिमाण) अणुव्रत है।

(1) इच्छाओं से मुक्ति ही मोक्ष है।

(2) इच्छाओं का बाहुल्य ही परिग्रह एवं संसार-परिभ्रमण का कारण है।

(3) इच्छाओं का परिमाण करना शान्ति एवं तनावमुक्ति की कला है, क्योंकि इच्छा ही मूर्त है, आसक्ति है, ममत्व है और यह ही परिग्रह है।

प्रश्न है— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में इच्छा का परिमाण करने की बात क्यों कही ? यहाँ वस्तु के परिमाण की बात कहना थी। वस्तु परिग्रह है, क्या इच्छा परिग्रह है ? इच्छा तो आती है और चली जाती है, वह रहती तो है नहीं, वस्तु या पदार्थ रहते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि आचार्य हरिभद्र दूरदर्शी थे, प्रज्ञाशील थे, इसी कारण उन्होंने इच्छा-परिमाणव्रत की चर्चा कि, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ सीमित हैं और इच्छाएँ अनन्त हैं।

भगवान् महावीर ने भी उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है कि— 'इच्छामो आगास समा अनन्तिया'— इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं। भगवान् महावीर स्वामी ने आकाश के अनन्त को मिटाने की बात नहीं की, बल्कि अनन्त इच्छाओं को समेटने की बात की है, मूर्च्छा से मुक्त होने का उपदेश दिया है। इसी कारण, आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में इच्छाओं के परिमाण की बात की है। इच्छाओं का परिमाण कहने का यही लक्ष्य था कि यदि मूल समाप्त हो गया, तो शाखाएं, उपशाखाएं स्वतः समाप्त हो

जाएंगी, उनको मिटाने के लिए श्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं है, अर्थात् जब इच्छाएं परिमित हुई, अथवा समाप्त हुई, तो समझ लेना चाहिए कि पदार्थ की आवश्यकता स्वतः समाप्त हो जाएगी। भगवान् महावीर ने आचारांग में कहा है—

“जे ममाइय मइं जहाइ से चयइ ममाइयं”—

जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह का त्याग करता है।¹ आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है— शरीरादि के प्रति परमाणु-मात्र भी मूर्च्छा रखने वाला भले ही सम्पूर्ण आगमों का धारी हो जाए, तथापि सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।¹ भगवान् बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही बन्धन है।² उपासकदशांगटीका में अपरिमित इच्छाशक्ति को ही परिग्रह का कारण माना है— यही बात पंचाशक-प्रकरण में दृष्टिगोचर होती है— ‘तथाणंवरं च णं इच्छाविहि परिमाणं करे माणे’।³ तत्त्वार्थ-सूत्र में— मूर्च्छा परिग्रहः कहकर बाह्य व आन्तरिक ममत्व को ही परिग्रह स्वीकार किया है।⁴

जम्बूस्वामी ने गणधर सुधर्मास्वामी से प्रश्न किया— हे आर्य ! बन्धन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ?

स्वामी सुधर्मा ने उत्तर दिया— हे जम्बू ! कर्म-बन्धन का हेतु परिग्रह है। परिग्रह से ममत्व और आसक्ति बढ़ती है। इसी आसक्ति के कारण आत्मा जीवों का वध करती है और जीवों के वध से कर्म-बन्धन कर संसार में परिभ्रमण करती है, अतः जो आत्मा बाह्य व आन्तरिक परिग्रह से मुक्त होता है, वही आत्मा समस्त कर्म-बन्धन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त करती है।⁵ मूलाचारवृत्ति में कहा गया है—

“परिग्रहःपाददानोपकरणकांक्षा”, अर्थात् पापरूपी उपकरणों के ग्रहण की आकांक्षा परिग्रह है।⁶ आचार्य शय्यम्भवसूरि ने दशवैकालिक में परिग्रह के विषय की चर्चा करते हुए कहा है कि— वस्त्र आदि परिग्रह नहीं है, मूर्च्छा ही परिग्रह है— ऐसा ज्ञातपुत्र ने कहा है।⁷

¹ आचारांगसूत्र - म. महावीर स्वामी- 1/2/6

¹ प्रवचनसार - आ. कुन्दकुन्द- 224,239

² संयुक्तनिकाय- 2/2 - 66

³ उपासकदशांग टीका - तथाणंतरं च णं इच्छाविहि परिमाणं करे माणे - नवांगी टीकाकार
आ. अभयदेवसूरि-1/17 - पृ. - 27

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/17 सूत्र

⁵ सूयगडांग - अभयदेव टीका- 1/1 - गाथा- 2 - पृ. - 11

⁶ मूलाचारवृत्ति - आ. वट्टकेर- 11/9

इच्छाओं को परिमित नहीं किया, तो इच्छाएँ बढ़ती जाएंगी और परिग्रह जितना बढ़ता रहेगा, हम उतने ही अशान्त होते चले जाएंगे। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार ग्रह नौ होते हैं। जब वे किसी को प्रभावित करने लगते हैं, तो वह मन्त्र, जप, दान आदि से स्वस्थ होने का प्रयत्न करता है और स्वस्थ हो भी जाता है, पर यदि परिग्रह ऐसा ग्रह है, जिसके लगने के बाद व्यक्ति पागल हो जाता है और कई लोग तो अचेत-अवस्था में आ जाते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार का भान नहीं रहता है कि वे कितना अनर्थ कर रहे हैं या उनका कितना अनर्थ हो रहा है। वे अर्थ का अर्थ ही नहीं समझ पाते हैं। बाह्य-अर्थ के हेतु बाह्य व आन्तरिक-दोनों अनर्थ कर बैठते हैं। इस सम्बन्ध में मम्मण सेठ कि कथा सुज्ञात है। उसके पास अपार धन-सम्पत्ति थी, फिर भी परिग्रह के प्रति उसकी ममता एवं आसक्ति अति तीव्र थी, जिसके फलस्वरूप वह स्वयं भी न खा सका और किसी को दान भी नहीं दे सका। परिग्रह का परिमाण नहीं होने के कारण परिणाम आया कि धन की आसक्ति ने मम्मण सेठ को नर्क का भागीदार बना दिया, इसलिए पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने इच्छा-परिमाण पर जोर दिया, क्योंकि परिग्रह को पाप की जन्मभूमि कहा गया है। परिग्रह के पीछे दौड़ने वालों से पूछो कि वे दुःखी है, या सुखी ? किसी को अपने बच्चों द्वारा पैसे बरबाद का दुःख है, तो किसी को दूसरों के द्वारा अपनी सम्पत्ति हड़पने का दुःख। किसी को आयकर के छापे की चिन्ता है, तो किसी को अपने सगे-सम्बन्धियों द्वारा अपनी जमीन-जायदाद पर अधिकार कर अंगूठा दिखाने की चिन्ता। किसी को शारीरिक-पीड़ा का दुःख है, तो किसी को कोई अन्य प्रकार का, अर्थात् जितने श्रीमंत हैं, वे किसी-ना-किसी रूप से दुःखी ही हैं, क्योंकि ज्यों-ज्यों इच्छाएँ बढ़ती है, तृष्णाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों दुःख बढ़जा जाता है और व्यक्ति दुःखी बन जाता है, परन्तु सुखी वे होते हैं, सुख उनका बढ़ता जाता है, जो परिग्रह को एवं परिग्रह के ममत्व को अल्प करते जाते हैं, छोड़ते जाते हैं। अतः, समस्त पापों के मूल को छोड़कर जो समत्व को धारण करता है, संतोष को स्वीकार करता है, धर्म को अंगीकार करता है, वही महान् है, वही धन्योत्तम है, वही प्रशंसनीय है।

⁷ दशवैकालिक - भाय्यंभवसूरि- 6/20

परिग्रह के प्रकार— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में पांचवें अणुव्रत के महत्व को बताते हुए कहा है कि इस अणुव्रत से हिंसा की निवृत्ति होती है। हरिभद्र के इस कथन से यह ज्ञात होता है कि अपरिग्रह और अहिंसा में परस्पर कितनी निकटता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसी संकेत का समर्थन तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका में भी पढ़ने को मिलता है, जो निम्न है—

अहिंसा और अपरिग्रह एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। दोनों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रह सकता।¹

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में चेतन—अचेतन आदि अनेक वस्तुओं की विविधता के कारण परिग्रह के अनेक प्रकार कहे हैं। आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि परिग्रह के अनेक प्रकारों को लेकर किसी में विरोध नहीं होना चाहिए, फिर भी आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक—प्रकरण में श्रावक—धर्मविधि की अठारहवीं गाथा में नौ प्रकार के परिग्रह का प्ररूपण किया है², जो निम्न हैं—

1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. हिरण्य 4. सुवर्ण 5. धन 6. धान्य 7. द्विपद 8. चतुष्पद 9. कुप्य।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण में लिखते हैं— योजना, प्रदान, बन्धन, कारण और भाव से क्रमशः उपर्युक्त नौ प्रकार के बाह्य—परिग्रह का निर्धारण कर उनकी सीमा का अतिक्रमण नहीं करता है, अर्थात् उनका उक्त निश्चित परिमाण से अधिक मात्रा में संचय नहीं करता है।

स्थानांगसूत्र में परिग्रह के तीन भेद बताएँ हैं³— 1. कर्म—परिग्रह 2. शरीर—परिग्रह 3. वस्तु—परिग्रह।

उपासकदशांगटीका में परिग्रह के सात भेद बताए गए हैं— 1. हिरण्य 2. सुवर्ण 3. चतुष्पद 4. खेत 5. वस्तु 6. गाड़ी और 7. वाहन।⁴

¹ तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका - ले. प्रवर्तिनी सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 20

² पंचाशक—प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/18 - पृ. - 7

³ स्थानांगसूत्र - आ. अभयदेवसूरि- 3/1/113

⁴ उपासकदशांग टीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/21 से 27

उपासकाध्ययन में सोमसूरि ने परिग्रह के बाह्य व आन्तरिक— दो भेद किए हैं, फिर बाह्य परिग्रह के दस भेद किए हैं—

1. खेत 2. धान्य 3. धन 4. मकान 5. तांबा—पीतल आदि धातु 6. शय्या 7. आसन 8. दास—दासी 9. पशु एवं 10. भोजन।

आन्तरिक—परिग्रह के चौदह भेद निम्न प्रकार से बताए गए हैं—

1. मिथ्यात्व 2. पुरुषवेद 3. नंपुसकवेद 4. स्त्रीवेद 5. हास्य 6. शोक 7. रति 8. अरति 9. भय 10. जुगुप्सा 11. क्रोध 12. मान 13. माया और 14. लोभ।⁵

तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका में परिग्रह के दो भेद बताए हैं— जंगम परिग्रह व स्थावर परिग्रह।

जंगम परिग्रह— पत्नी, पुत्र—पुत्री, स्वजन—परिजन, परिवार, हाथी, घोड़े, ऊँट, गाय, बैल, भैंस आदि।

स्थावर परिग्रह— क्षेत्र, खेत, वन—उपवन, भवन, जमीन, मकान, मिल, कल—कारखाने आदि।¹

भगवती—आराधना में दस प्रकार के परिग्रह बताए गए हैं— 1. खेत 2. मकान 3. धन 4. धान्य 5. वस्त्र 6. भाण्ड 7. दास—दासी, 8. पशुयान 9. शय्या और 10. आसन।² आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के प्रथम अध्याय में सम्यग्दृष्टि श्रावकों को अणुव्रत लेने की प्रेरणा दी तथा पंचाशक के प्रथम अध्याय की अठारहवीं गाथा में परिग्रह परिमाण—व्रत को सुरक्षित रखने के लिए इतने कार्यों को नहीं करना चाहिए— ऐसा संकेत किया है और व्रत के अतिक्रमण की पांच श्रेणियाँ दर्शाई हैं—

1. क्षेत्रवस्तु की मर्यादा का अतिक्रमण।
2. हिरण्य—सुवर्ण के परिमाण का अतिक्रमण।
3. धन—धान्य के परिमाण का अतिक्रमण।
4. द्विपद—चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण।
5. कुप्य के परिमाण का अतिक्रमण।

⁵ उपासकाध्ययन — सोमदेवसूरि — श्लोक— 432

¹ तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका — प्र. सज्जनश्री — भाग— 3 — पृ. — 20

² भगवती—आराधना — विजयाटीका शिवार्य— 19

पंचाशक-प्रकरण में स्पष्ट किया है कि श्रावक इन पांच प्रकार के परिग्रहों के परिमाण का निर्धारण कर उनकी सीमा का अतिक्रमण नहीं करे। पांचवे अणुव्रत में कहा है कि श्रावक सामान्य या क्षेत्र आदि के परिमाण का अतिक्रमण नहीं करता है, किन्तु यदि कभी किसी कारणवश परिमाण का अतिक्रमण हो गया है, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त व्रतों में कभी-कभी अतिचार लगने के लिए है, पर हर दिन लगने वाले दोषों के लिए प्रायश्चित्त नहीं है। हर दिन व्रतों को दोष लगाना या लगाना अतिचार नहीं है, वह तो अनाचार है, अतः आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में यही कहा है कि श्रावक परिमाण से अधिक परिग्रह संचय नहीं करें।

पंचाशक प्रकरण के अनुसार दर्शाई गई पांच श्रेणियां यहां निम्नानुसार स्पष्ट की जा रही हैं—

1. क्षेत्र-वास्तु योजना— एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से या एक वास्तु (घर) को दूसरे घर से जोड़कर उसके परिमाण का उल्लंघन करना भी अतिचार है।¹

उपासकदशांगटीका में अभयदेवसूरि ने खेती आदि के लिए जितनी भूमि रखी है, उस परिमाण का उल्लंघन करना,² क्षेत्रवास्तु परिमाणातिक्रमण है। चारित्रसार में भी आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही वर्णन है।³

तत्त्वार्थ-सूत्र में भी पंचाशक के अनुसार ही अतिचारों का वर्णन है।⁴

2. हिरण्य-सुवर्ण-परिमाणातिक्रम — पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि परिमाण से अधिक अपनी चांदी और सोना दूसरे को रखने के लिए देना अतिचार है। परिग्रह-परिमाण व्रत का धारक अणुव्रती यही सोचता है कि मुझे मेरे नाम से इतना रखने का नियम है, पर अधिक कमाकर दूसरे के ब्याज में देने का व्रत नहीं है, अथवा किसी के पास नहीं रखने का व्रत मैंने नहीं लिया है, अतः इस प्रकार करने से मेरे व्रत में दोष भी नहीं लगेगा और वह खण्डित भी नहीं होगा, लेकिन यह सोचना शत-प्रतिशत अनुचित है। अधिक कमाकर किसी के पास रख देने पर भी व्रत में दोष तो लगेगा ही,

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/18 - पृ. - 7

² उपासकदांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/49 से 45

³ चारित्रसारश्रावकाचार-संग्रह - चामुण्डाचार्य - भाग- 2 - पृ. - 241

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/24

¹³⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/18 - पृ. - 7

साथ ही व्रत भंग भी होगा— यह मानकर चलना चाहिए, क्योंकि पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट कहा है कि इस तरह दे देने पर भी वह चांदी—सोना उसी का होता है, जो रखने को देता है, अतः इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करें। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तृप्ति अशक्य है। यह कथा प्रसिद्ध है कि सुभूम चक्रवर्ती छः खण्ड को जीत लेने पर भी तृप्त नहीं हो सका। मम्मण सेठ अरबों की सम्पत्ति पाकर भी संतोष का अनुभव न कर सका। रावण को सुन्दर—सुन्दर अप्सराओं के बीच भी तृप्ति नहीं मिल पाई। वास्तव में, जैसे इंधन डालने से अग्नि शांत नहीं होती, उसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति से इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के ही सूत्र है, “सन्तोष—धन”। जब सन्तोष आभूषण बन जाएगा, उस दिन व्यक्ति तृप्त हो जाएगा। फिर वह अपने धंधे में किसी प्रकार की गली नहीं निकालेगा, अर्थात् अनुचित बचाव का प्रयत्न नहीं करेगा। संतोषरूपी धन प्राप्त हो जाने पर उसकी धन जोड़ने की भूख समाप्त हो जाएगी। संतोष जितना कम होगा, संताप उतना अधिक होगा। संतोष में सुख है, इच्छा में दुःख है।

मम्मण सेठ दुःखी था और पुणिया श्रावक सुखी, क्योंकि मम्मण सेठ में इच्छा थी, व पुणिया श्रावक में संतोष था। आवश्यकता का सम्बन्ध शरीर से है, व इच्छाओं का सम्बन्ध मन से, इसलिए आवश्यकता सीमित है, इच्छा असीमित। सीमित की पूर्णता सम्भव है, पर असीम की नहीं, अतः सीमित आवश्यकता के साथ जीने वाला कभी भी व्रतों का अतिक्रमण नहीं करेगा।¹

उपासकदशांगटीका में अभयदेवसूरि ने सोने और चांदी की जितनी मर्यादा निश्चित की है, उसका उल्लंघन करने को हिरण्य—सुवर्ण—परिमाणातिक्रम माना है।² तत्त्वाथ—सूत्र में भी पंचाशक के समान वर्णन है।³

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/18 — पृ. — 7

² उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/49 — पृ. — 45

³ तत्त्वाथ—सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/24

⁴ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/18 — पृ. — 7

⁵ उपासकदशांग टीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/49 — पृ. — 45

3. धन-धान्य का बन्धन— पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि परिमाण से अधिक धन-धान्य आदि का संग्रह करके अलग रख देने से भी धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण होता है।¹ उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि कहते हैं— मणि, मोती, हीरे, पन्ने और धन तथा गेहूं, चावल, जौ, चने आदि धान्य का जो परिमाण किया है, उसका उल्लंघन करना धन-धान्य- परिमाणातिक्रमण है।⁵

4. द्विपद-चतुष्पद कारण— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में द्विपद दास-दासी, पुत्रादि दो पैर वाले प्राणियों एवं गाय इत्यादि चार पैर वाले प्राणियों के गर्भाधान एवं पुंसवन से उनकी संख्या का उल्लंघन होने से द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रमण बताया है। उन्होंने पंचाशक-प्रकरण की टीका में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है जिसके अनुसार यदि व्यक्ति ने अणुव्रत लेते समय 12 महीने के लिए द्विपद-चतुष्पद की संख्या निर्धारित कर ली। उसी बीच किसी का जन्म हो, तो संख्या परिमाण से अधिक हो गई। यदि उसे रखते हैं, तो अतिचार लगता है, अतः अणुव्रतियों के लिए यह संकेत दिया है कि संख्या परिमाण से अधिक न हो, इसलिए अमुक समय के बाद ही गाय इत्यादि का गर्भाधान करना चाहिए, जिससे 12 महीने (निर्धारित अवधि) के बाद ही जन्म हो।¹

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने द्विपद-मनुष्य, दास, दासी, चतुष्पद गाय आदि पशु के सम्बन्ध में परिमाण व्रत स्वीकार करते समय जो सीमा निर्धारित की है, उस सीमा का उल्लंघन करने को द्विपद-चतुष्पद-परिमाणातिक्रमण-अतिचार बताया है, जो पंचाशक के अनुसार ही है।² तत्त्वार्थ-सूत्र में द्विपद-चतुष्पद-अतिचार का ही वर्णन प्राप्त होता है।³ चारित्रसार में पंचाशक के विपरीत

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/18 - पृ. - 7

² उपासकदशांग टीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/49 - पृ. - 45

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/24

⁴ चारित्रसारश्रावकाचार संग्रह - चामुण्डाचार्य - 241

व्याख्या मिलती है। निम्न अतिचार में सेविका स्त्री को दासी और सेवक पुरुषों को दास कहा गया है। यहाँ द्विपद-चतुष्पद शब्द की जगह दास-दासी नाम देकर उसी की चर्चा की गई है।⁴

सामान्यतया, द्विपद का अर्थ दास-दासी और चतुष्पद का अर्थ पशुओं से लेना चाहिए।

5. कुप्यभाव – आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक में परिग्रह-परिमाण के पांचवे कुप्य अतिचार का वर्णन करते हुए कहा है कि गृहोपयोगी वस्तुओं जैसे- गद्दा, रजाई, थाली, परात, कटोरा आदि के परिमाण का उल्लंघन कुप्य-परिमाणातिक्रमण-अतिचार है।¹

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने गृहोपयोगी (घर का सामान), जैसे- कपड़े, खाट, आसन, बिस्तर आदि के सम्बन्ध में किए गए परिमाण के उल्लंघन को कुप्य-परिमाणातिक्रमण अतिचार कहा है।² तत्त्वार्थ-सूत्र में भी कुप्य-प्रमाणातिक्रमण-अतिचार का वर्णन पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही है।³

चारित्रसार में वस्त्र, कपास, रेशम, चन्दन, बर्तन आदि को कुप्य कहकर इनका अतिक्रमण करना कुप्यपरिमाणातिक्रमण-अतिचार कहा गया है।⁴

पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने पांचवें अणुव्रत में परिग्रह-परिमाण-व्रत की चर्चा की है, अतः गृहस्थ-वर्ग को जीवन को अनुकूल बनाने के लिए परिग्रह का परिमाण कर ही लेना चाहिए, शुभ-चिन्तन द्वारा धन की लिप्सा से मन को मुक्त कर परिग्रह परिमाण निश्चित कर प्रतिज्ञा ले ही लेना चाहिए। प्रतिज्ञा लेने पर मन की आकांक्षाएँ कम हो जाती हैं, इच्छाओं पर निरोध हो जाता है।

एक सेठ ने अणुव्रत धारण कर परिग्रह परिमाण कर लिया। उसने बारह महीने के लिए दो लाख की मर्यादा की। उसकी आय एक लाख थी, किन्तु पुण्य ने साथ

¹ पंचाशक-प्रकरण – आ. हरिभद्रसूरि- 1/18 – पृ. – 8

² उपासकदशांगटीका – आ. अभयदेवसूरि- 1/49 – पृ. – 46

³ तत्त्वार्थ-सूत्र – आ. उमास्वाति- 7/24

⁴ चारित्रसारश्रावकाचार संग्रह – चामुण्डाचार्य – भाग- 2 – पृ. – 241

दिया, तो वह अच्छे व्यापारी बन गया। कमाई अधिक होते-होते दो लाख, पांच लाख, दस लाख तक पहुँच गई, पर उसने मर्यादा तो दो लाख की ही थी, अतः सेठ ने दो लाख के अतिरिक्त सारी आय धर्म-कार्य में, जीव-दया में, स्वधर्मी-भक्ति के कार्यों में सद्व्यय करना प्रारम्भ कर दिया। उसने दो लाख से ज्यादा एक भी पैसा निजी उपयोग में नहीं लिया।

परिग्रह-परिमाण से अनेक परोपकार के कार्य हो जाते हैं, क्योंकि इस व्रत से संग्रह-वृत्ति समाप्त हो जाती है। इस व्रत से व्यक्ति अधिक धन होने पर बांटने की प्रवृत्ति करेगा, पर बांधने की प्रवृत्ति नहीं करेगा।

प्रश्न है कि आज के समय में दो लाख, पांच लाख की मर्यादा करने पर गृहस्थ-जीवन का गुजारा नहीं चल सकता, परन्तु परिग्रह-परिमाण में यह कहा गया है कि आपको दो लाख या पांच लाख ही रखना है। कोई भी व्यक्ति पच्चीस लाख रखे, पचास लाख रखे, पचास करोड़ रखे, पर एक बार मर्यादा तो करे, मर्यादा के बाद मर्यादा से अधिक कमाए, तो धर्म-कार्य में लगाने का मन रखे। कई लोगों की इस विषय में सोच होती है कि अधिक कमा लेंगे, तो भाई, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि के नाम कर देंगे, इससे व्रत तो भंग होगा नहीं, पर पूर्व में यह बता दिया गया है कि इससे अतिचार एवं अनाचार कैसे लगते हैं।

व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति होने पर अन्य के नाम करने पर भी उस व्यक्ति का उस सम्पत्ति के प्रति मोह तो रहता ही है और कहीं-न-कहीं मेरापन भी रहता है, अतः इच्छानुसार परिग्रह का परिमाण अवश्य करे। जीवन-पर्यन्त के लिए न भी ले सकें, तो कम-से-कम पांच वर्ष के लिए या एक-दो वर्ष के लिए ही लें, पर लें अवश्य, क्योंकि परिग्रह-परिमाण से धन धूल के तुल्य हो जाता है, आसक्ति टूट जाती है और आत्मा उर्ध्वगति की ओर कूच करती है।

परिग्रह की आसक्ति का परिणाम — परिग्रह मोह का आयतन, अहंकार और काम को बढ़ाने वाला, आरम्भ (हिंसा) व कलह का हेतु तथा दुःखों का मूल है।

पंचाणुव्रतों की उपयोगिता — पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अणुव्रतधारी श्रावक को सम्यक् वचनों द्वारा संदेश दिया कि वह सद्गुरु के सान्निध्य में, परमात्मा की साक्षी में लिए गए अणुव्रतों की रक्षा करता रहे और इन व्रतों की रक्षा के लिए श्रावक उपर्युक्त पांच अणुव्रतों के अतिचारों का त्याग भी करे। श्रावक-जीवन में इन पांच अणुव्रतों का महत्व है। आध्यात्मिक, नैतिक व धार्मिक जीवन जीने में ये पांच अणुव्रत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, क्योंकि अहिंसा के द्वारा ही दीर्घ आयुष्य, आरोग्यता, परस्पर सहयोग, सौभाग्य और कारुण्य-भावना का विकास आदि सम्भव है। सत्य वचनों से छल, कपट आदि दुर्गुणों का नाश होता है, वचन सिद्धि की प्राप्ति होती है, व्यक्ति विश्वासपात्र बनता है। अचौर्य-व्रत द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा होती है, ईमानदारी का गुण पनपता है, व्यक्ति धनवान बनता है, न्याय-नीति के दर्शन होते हैं। ब्रह्मचर्य द्वारा इन्द्रियों को संयमित किया जाता है, शारीरिक-मानसिक शक्तियों का विकास होता है और अपरिग्रह से शोषण की प्रवृत्ति पर अंकुश लग जाता है, आत्मतोष का अनुभव होता है, चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है, अतः श्रावक को इन अणुव्रतों को ग्रहण करना चाहिए और इन्हें ग्रहण करके सम्यक् प्रकार से इनका पालन करना चाहिए।

दिग्ब्रत— इस दिग्ब्रत को सभी आचार्यों ने गुणव्रत माना है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में दिग्परिमाण-गुणव्रत के माध्यम से विशेष निर्देश दिया है कि चातुर्मास आदि के समय विशेष, अथवा जीवन-पर्यन्त ऊपर-नीचे और तिरछे एक सीमा से अधिक नहीं जाने के स्वरूप परिभ्रमण को सीमित करना दिग्परिमाण-व्रत है।¹

उपासकदशांगटीका के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में इससे आगे नहीं जाऊंगा— इस प्रकार दिशाओं की मर्यादा कर लेना दिग्ब्रत है।²

आवश्यक-सूत्र में उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् दिशा का यथा-परिमाण तथा पांच आश्रव-सेवन के त्याग को दिग्ब्रत कहा है।³

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/19 — पृ — 8

² उपासकदशांगटीका — मुनि घासीलाल — पृ — 235

³ आवश्यकसूत्र — आ. भद्रबाहुस्वामी — 6

⁴ रत्नकरण्ड श्रावकाचार — आ. समन्तभद्र — 60

रत्नकरण्डक—श्रावकाचार में दसों दिशाओं की मर्यादा करके पाप—प्रवृत्ति, अर्थात् आस्रव—सेवन के लिए मैं इससे बाहर नहीं जाऊंगा— इस प्रकार मरण—पर्यन्त लिया गया संकल्प दिग्ब्रत कहा गया है।⁴ आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में दिग्परिमाण—अतिचारों का वर्णन करते हुए यह संकेत दिया है कि धारण किए हुए व्रतों को स्मृति में रखना चाहिए, जिससे व्रतों का अतिक्रमण न हो, अतिचार व अनाचार नहीं लगे। प्रवचनसारोद्धार में भी कहा गया है—

“स्मृतिमूल हि सर्व अनुष्ठानं”

अर्थात् ग्रहण किए हुए व्रतों को सदा स्मरण में रखना चाहिए। यह अतिचार सभी व्रतों पर लागू होता है।⁵

दिग्ब्रत में अणुव्रती अपने गमनागमन की दिशाओं की निश्चित दूरी की मर्यादा कर लेता है, जिससे सीमा के बाहर होने वाले पाप—प्रवृत्ति से स्वयं को बचा लेता है। दिशाओं की मर्यादा व्यक्ति की भावना व शक्ति—अनुसार होती है। इसमें ऊपर, नीचे एवं तिरछी दिशा में मर्यादा से आगे जाना, क्षेत्र बढ़ाना एवं क्षेत्र की सीमा को याद नहीं रखना— इन पांच अतिचारों से अवश्य बचना चाहिए।

दिग्ब्रत—परिमाणव्रत— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में दिग्ब्रतपरिमाण—व्रत द्वारा परिभ्रमण को सीमित करने का संदेश दिया और उन्होंने इस व्रत के रहस्य को प्रकट करते हुए कहा कि परिभ्रमण के सीमित होने से वहाँ होने वाली हिंसा से हमारी भागीदारी समाप्त हो जाती है। परिभ्रमण के सीमित होने से हमारी मोहासक्ति कम हो जाती है और व्यर्थ की कल्पनाएँ भी सीमित हो जाती हैं।

महापुरुषों ने संसार के परिभ्रमण के चक्कर को समाप्त कर स्थिरता (मुक्ति) रूप आरोग्य प्राप्त करने के लिए दिग्ब्रतपरिमाण के रूप में परम औषध प्रदान की है। दिग्परिमाणव्रत हमें इस सत्य के निकट ले जाता है कि परिभ्रमण संसार है, स्थिरता मोक्ष, परिभ्रमण श्रम है, स्थिरता विश्राम, परिभ्रमण रोग है, स्थिरता आरोग्य, परिभ्रमण चरम दुःख है, स्थिरता परम सुख है, अतः कम—से—कम दिग्परिमाणव्रत का नियम लेकर व्यर्थ

⁵ प्रवचन—सारोद्धार — आ. नेमिचन्द्रसूरि — द्वार— 6/6 — पृ. — 141

का परिभ्रमण बन्द कर देना चाहिए, जिससे पूर्ण स्थिरता (मुक्ति) की ओर प्रगति हो सकती है।

पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट कहा है कि अणुव्रतों की रक्षा के लिए एवं हिंसादि पापों से बचने के लिए दिग्परिमाणव्रत अवश्य धारण करें एवं उसका सम्यक् प्रकार से पालन करें। यह ध्यान रखें कि कहीं व्रत में दोष न लग जाए, इस हेतु सदा जागरुक रहें। भय व लालच से व्रत दूषित हो जाते हैं, व कभी—कभी भंग भी हो जाते हैं, अतः अतिचारों से बचते रहना चाहिए। जिन दोषों से बचना है, उन दोषों का विवरण आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के प्रथम अध्याय की बीसवीं गाथा में किया है।¹ छठवें व्रत में परिमाण—क्षेत्र के अतिरिक्त त्यक्त—क्षेत्र में दूसरे व्यक्ति द्वारा कोई वस्तु भेजने अथवा मंगाने का त्याग करके उर्ध्वदिशा—परिमाणातिक्रम, अधोदिशापरिमाणातिक्रम और तिर्यग्दिशा—परिमाणातिक्रम तथा क्षेत्रवृद्धि और स्मृति—अन्तर्धान— इन पांच अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

उर्ध्वदिशा—परिमाणातिक्रमण— पंचाशक—प्रकरण के अनुसार ऊपर जाने के लिए जितना क्षेत्र आपने निर्धारित किया है, त्रुटिवश उससे ज्यादा ऊपर चले जाने पर व्रत दूषित हो जाता है। जानबूझकर उस सीमा का उल्लंघन करने पर व्रत भंग हो जाता है।¹⁵⁴

उपासकदशांगटीका में अभयदेवसूरि ने ऊँचाई की ओर जाने की मर्यादा के अतिक्रमण को उर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रमण कहा है।¹

योगशास्त्र की स्वोपज्ञ—टीका में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है— ऊँचे पर्वत, वृक्ष, शिखर पर जाने का जो परिमाण स्वीकृत किया गया है, उसका उल्लंघन करना उर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रमण है।²

¹ वज्जइ उड्ढाइक्कममाणयणप्पेसणो भयविसुद्धं।

तह चेव खेत्तवुड्ढिदं कहिंघि सइअंतरद्धं च॥ - 1/20 - पंचाशक—प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि

¹⁵⁴ पंचाशक प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/20 - पृ. सं. - 8

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/50 - पृ. - 46

² योगशास्त्र स्वोपज्ञविवरणिका - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/97

³ पंचाशक—प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/20 - पृ. - 8

⁴ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/50 - पृ. - 46

अधोदिशा—परिमाणातिक्रमण— आचार्य हरिभद्र ने नीचे जाने के लिए जितना क्षेत्र रखा है, उससे अधिक जाना अधोदिशापरिमाणातिक्रमण है।³

उपासकदशांगटीका के अनुसार नीचे की ओर कूप—खदान आदि में जाने की मर्यादा का उल्लंघन करना अधोदिशापरिमाणातिक्रमण है।⁴

तत्त्वार्थ—सूत्र, चारित्राचार आदि ग्रन्थों में भी पंचाशक—प्रकरण के अनुसार ही कथन किया गया है।⁵

तिर्यग्दिशा—परिमाणातिक्रमण— पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र के अनुसार तिरछी दिशा का परिमाण करके उल्लंघन करना तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रमण है।⁶

उपासकदशांगटीका में भी आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार तिर्यग्दिशा में जाने की मर्यादा के अतिक्रमण को तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रमण कहा है।¹

तत्त्वार्थ—सूत्र में भी पंचाशक—प्रकरण के अनुसार ही तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रमण की व्याख्या है।

क्षेत्रवृद्धि— पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि आने—जाने के लिए निर्धारित क्षेत्र में वृद्धि करना क्षेत्रवृद्धि है। किसी व्यक्ति ने किसी दिशा में सौ योजन आने—जाने की सीमा निश्चित की, किन्तु अपनी आवश्यकतानुसार उससे बाहर के क्षेत्र में जाने हेतु दूसरी दिशा की सीमा कम करके इष्ट दिशा की सीमा में वृद्धि की, तो यह क्षेत्रवृद्धि—अतिचार है।

उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने पूर्व दिशा में जाने के लिए 500 मील की मर्यादा रखी, लेकिन जाने की आवश्यकता है— 1000 मील। उसने उत्तर—दक्षिण से 250—250 मील कम करके पूर्व—दिशा में 500 मील की वृद्धि करके 1000 मील की दूरी

³ (क) तत्त्वार्थ सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/25

(ख) चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 242

⁶ पंचाशक—प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/20 - पृ. - 8

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/50 - पृ. - 46

तय की, तो उस व्रत में अतिचार (दोष) लगता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि उसने अपनी दसों दिशाओं में रखा हुआ कुल क्षेत्र ही तो लिया है, अन्य तो नहीं लिया, फिर उसे अतिचार क्यों लगेगा, अर्थात् व्रत क्यों खण्डित होगा ?

यह सच है कि उसने अपने लिए गए सीमाकरण का कोई उल्लंघन नहीं किया, किन्तु उसकी इच्छा विभिन्न दिशाओं में क्षेत्र की सीमा कम-अधिक करने की हुई ही है, यह स्थिति बगुला-भगत जैसी है। बाहर से व्रतधारी और भीतर से चालाक व्यापारी। जिस दिशा में जाने के लिए जितनी दूरी रखी है, कार्य-सिद्धि के उतनी ही लिए दूरी का उपयोग किया जा सकता है। यदि प्रमादवश, अचानक या भूलवश परिमाण से अधिक उपयोग किया, तो अतिचार लगेगा। जान-बूझकर, अथवा लोभवश क्षेत्र-मर्यादा की कमी-वृद्धि करना अनाचार है। पंचाशक में स्पष्ट कहा गया है कि क्षेत्रवृद्धि नहीं करें एवं अतिचार से बचते रहें।

स्मृत्यन्तर्धान — पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अतिचार से बचने की बात कही है। दिग्परिमाणव्रत को याद रखना, अर्थात् जिस दिशा में आने-जाने की जितनी अवधि रखी है, उसे बराबर याद रखना, स्मृति से विस्मृत न करना, अन्यथा व्रत दूषित हो जाएगा और व्रत दूषित हो जाना ही स्मृत्यन्तर्धान है।¹

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने स्मृत्यन्तर्धान शब्द देकर इसका अर्थ मर्यादा का विस्मृत होना किया है, अर्थात् इस प्रकार सन्देह होना कि मैंने सौ योजन की मर्यादा की है, अथवा पचास योजन की। इसके विस्मृत होने पर पचास योजन से बाहर जाने पर भी दोष लगता है, चाहे मर्यादा सौ योजन की रखी हो।²

तत्त्वार्थ-सूत्र में कहा है कि प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति है। यह जानकर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तर्धान है।³

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि- 1/20 — पृ. — 8

² उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि- 1/50 — पृ. — 46

³ तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वाति- 7/25

⁴ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि- 1/21 — पृ. — 9

⁵ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि- 1/51 — पृ. — 46

⁶ तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वाति- 7/16

भोगोपभोग—परिमाणव्रत— पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने गुणव्रतों की चर्चा करते हुए दूसरे गुणव्रत (भोगोपभोग परिमाण रूपी व्रत) के सम्बन्ध में कहा है।

इस दूसरे व्रत के परिमाण के दो प्रकार बताए गए हैं— 1.

भोजन—सम्बन्धी 2. कर्म—सम्बन्धी।⁴

उपासकदशांगटीका में भी परिमाण के दो प्रकार बताए हैं— 1.

भोजन—सम्बन्धी 2. कार्य—सम्बन्धी।⁵

तत्त्वार्थ—सूत्र में भी परिमाण के दो सम्बन्ध बताए गए हैं— 1.

भोजन—सम्बन्धी 2. व्यापार—सम्बन्धी।⁶

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक में बताया है कि एक बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण करना भोग—परिमाण है और उद्योग—धन्धों का परिमाण करना कर्मरूप उपभोग—परिमाण है। जो वस्तुएँ एक बार काम में आती हैं, उसे उपभोग कहते हैं, तथा जो वस्तुएँ बार—बार काम में आती हैं, परिभोग कहते हैं।

उपभोग, जैसे— रोटी, दाल, फूलमाला आदि।

परिभोग, जैसे— वस्त्र, बिस्तर, पलंग आदि।¹

इसके विपरीत कहीं—कहीं एक बार काम में आने वाली वस्तु को परिभोग एवं बार—बार काम में आने वाली वस्तु को उपभोग कहा गया है।² आचार्य हरिभद्र ने श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में— “उपभुज्यते इति उपभोगः” कहा है। इस निरुक्त के अनुसार एक बार भोगा जाने वाला उपभोग है। इसी प्रकार ‘परिभुज्यते इति परिभोगः’— इस निरुक्ति से बार—बार भोगे जाने वाले पदार्थ को परिभोग कहा है।³ उपासकदशांगटीका में भी

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/21 — पृ. — 9

² उपासकदशांगटीका — आत्माराम — पृ. — 32

³ श्रावकप्रज्ञप्ति — आ. हरिभद्रसूरि — श्लोक— 284 — पृ. — 168

⁴ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 22/38

उपभोग एवं परिभोग की परिभाषा पंचाशक के अनुसार ही है।⁴ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में पांच इन्द्रियों के विषयभूत भोजन, वस्त्रादि एक बार भोगकर छोड़ दिए जाएँ, तो उसे भोग तथा एक बार भोग कर भी पुनः भोगे जाएँ, उसे उपभोग कहा है।⁵ श्वेताम्बर-ग्रन्थों में प्रायः सातवें व्रत को उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहा गया है।⁶ दिगम्बर-ग्रन्थों में प्रायः सातवें व्रत को "भोगोपभोगपरिमाण-व्रत" कहा है।⁷ वैसे नाम में भेद है, परन्तु अर्थ में नहीं। दिगम्बर-ग्रन्थों में एक बार भोगे जाने वाले पदार्थ को 'भोग' एवं बार-बार उपयोग में आने वाले पदार्थों को 'उपभोग' कहा है।

पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अनन्तकाय उदुम्बर (उदुम्बर, वट, प्लक्ष, उम्बर और पीपल) और अत्यंग-अतिशायी भोजन, जैसे- मद्य, मांस, मक्खन, आदि का त्याग करना, शेष भोज्य-पदार्थों की मर्यादा करना, भोजन-सम्बन्धी उपभोग-परिभोग-परिमाण कहा है और हिंसक कार्यों से आजीविका अर्जन के उपायों के त्यागकर्म-सम्बन्धी उपभोग-परिभोग-परिमाण में यह निर्देश दिया है कि यह श्रावक के अणुव्रतों के पालन में विशेष सहयोगी है। उपभोग-परिभोग की वस्तुओं के ग्रहण को सीमित करना ही 'उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है।' इसमें भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण किया जाता है।¹

उपासकदशांगटीका में उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत में इक्कीस वस्तुओं की मर्यादा की है। श्रावकप्रतिक्रमण-सूत्र में छब्बीस प्रकार की वस्तुओं की मर्यादा की है,² इक्कीस तो उपासकदशांगटीका में वर्णित और वाहन, उपानह, शयन, सचित्त एवं द्रव्यविधि की भी मर्यादा का विधान है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में परिग्रह-परिमाणव्रत में दी हुई मर्यादा के भीतर राग और आसक्ति को कृश करने के

⁵ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - आ. समन्तभद्र- 83

⁶ (क) उवासंगदसाओ - आ. अभयदेवसूरि- 1/22/38

(ख) श्रावकप्रज्ञप्ति - आ. हरिभद्रसूरि- 1/284

⁷ (क) रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - आ. समन्तभद्र- 83 - पृ. - 137

(ख) अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति- 6/93

¹ (क) पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/21 - पृ. - 9

(ख) उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/51 - पृ. - 46

² श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्र - अणुव्रत- 7

लिए भोगोपभोगव्रत कहा है।³ आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार में भोग एवं परिभोग को अलग-अलग करके दो अलग-अलग व्रत माने हैं। यहाँ शारीरिक श्रृंगार, ताम्बूल, गंध एवं पुष्पादि का जो परिमाण दिया जाता है, उसे भोग-विरति एवं अपनी शक्ति के अनुसार स्त्री-सेवन एवं वस्त्राभूषण का जो परिमाण किया जाता है उसे परिभोग विरति नामक व्रत माना है।⁴

सर्वार्थसिद्धि में उपभोग-परिभोग के तीन प्रकार बताए गए हैं- 1.

1. दिन-रात, पक्ष, मास, दो मास, छः मास और एक वर्ष आदि।
2. भोजन, वाहन, शयन, स्नान, केसर आदि विलेपन।
3. पुष्प, वस्त्र, आभूषण, काम से वन, गीत-श्रवण आदि।⁵

पंच-प्रतिक्रमणसूत्र में पाक्षिक अतिचार में सातवें व्रत में चौदह प्रकार के भेद बताए हैं।⁶

उपभोग-परिभोग वस्तुओं का परिमाण- पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र द्वारा सातवें गुणव्रत की चर्चा से यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति को भोग-उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर ही लेना चाहिए। विश्व में भोग्य व अभोग्य वस्तुओं की भरमार है, जिनका मनुष्य भोग-उपभोग नहीं कर सकता, अतः परिमाण कर लेने पर असंख्य पदार्थों से विरति हो जाती है। जहाँ वस्तुओं से विरक्ति हुई, वहाँ संसार की रति-आसक्ति कम हो जाती है तथा संसार की रति कम होते ही वस्तुओं की आवश्यकता मर्यादित हो जाती है और मन तनावमुक्त हो जाता है। तनाव से मुक्त मानव ही व्रत की उपयोगिता को सिद्ध कर सिद्धत्व को प्राप्त करने में अग्रसर हो सकता है, अतः आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में पांच अतिचारों का वर्णन करने के पूर्व अनन्तकाय आदि के भक्षण के त्याग का निर्देश दिया है।⁷ अनन्तकाय आदि क्या है ? इन्हें समझकर छोड़ने का संकल्प इस प्रकार से करें-

³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र- 4/82 - पृ. - 137

⁴ वसुनन्दी-श्रावकाचार - आ. वसुनन्दी- 2/7/218

⁵ सर्वार्थसिद्धि - आ. पूज्यपाद- 7/21

⁶ पंच प्रतिक्रमण सूत्र - पाक्षिक अतिचार

⁷ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरी- 1/21 - पृ. - 9

मैं बत्तीस अनन्तकाय-वनस्पति का यथाशक्ति त्याग करता/करती हूँ।

सुरण कण्ड	गिलोय	मूली	कोमल इमली
जमीकन्द	लहसुन	पद बहेड़ा	भूमि फोड़ा
कच्ची हल्दी	गाजर	आलू	खिलोड़ा
शत्तावरी	प्याज	कचालू	वत्थुला भाजी
कच्चा नरकचूर	कोमल फल-फूल-पत्र	रतालू	सुअर वेल
अदरक	थेगी	पिंडालू	पालक भाजी
गंवारपाठा	हरा मोथा	लूणी	कोमल वनस्पति
थोर	अमृतबेल	साजीवृक्ष	वंशकरेला

मैं निम्न बाईस अभक्ष्य का यथाशक्ति त्याग करता/करती हूँ-

बड	पिलखण	गूलर	मांस	मक्खन	ओले	रात्री भोजन
पीपल	कतुंबर	मदिरा	शहद	बरफ	कच्ची	बहुबीजफल
आचर	द्विदल	तुच्छफल	चलितरस			
	पोलवड़े	बैंगन	अजानाफल	अनन्तकाय		

मैं इन चलित रस-वस्तुओं का भी यथाशक्ति त्याग करता हूँ/करती हूँ¹-

रोटी	दाल	श्रीखण्ड	रसगुल्ला	नरम सेव
नरम पूड़ी	सब्जी	रायता	कच्ची चाशनी	नरम भुजिया, पकौड़े
पूरणपोली	दूध	मलाई	एकतार चाशनी हलुआ	की का या भीगी हुई दालें

¹ श्रावक-जीवन - आ. भद्रगुप्तसूरि - पृ. - 190

			मावा	
पापड़ का लोया	खीर	रबड़ी	नरम पापड़	पानी वाली चटनी
जलेबी	इडली-डोसा	—	—	—

मैं अनाज, कठोल आदि का निम्न प्रमाण रखता हूँ। अन्य का त्याग करता/करती हूँ—

अनाज	कठोल	सब्जी	फल	मेवा
अजवायन	मूंग	छीया (दूधी)	आम, जामुन	अखरोट
जीरा	मोठ	करेला, मिर्च	अनार, फालसा	इलायची
धनिया	चना	ककड़ी, अमचूर	अमरुद, नग	काजू
सुआ	तुअर	केर, सांगरी	अनानास, लीची	खजूर
राई	मटर	तुरई, मोगरी	आंवला	खारक, खुरमानी
मिर्ची	मैथी	कुंदरु (टींडोला)	करौंदा, मौसंबी	चिरोंजी (चारौली)
तिल	घवला	टिंडसी, कोकम	केला, सीताफल	पिस्ता
खसखस	उड़द	परवल, गुंदा	खरबूज	बादाम
सरसों	मसूर	टमाटर, पत्तागोभी	तरबूज	मूंगफली (चना, बादाम)
गेहूँ	ग्वार	नींबू, धनिया	रायण, बिजोरा	द्राक्ष, खुरमाली
चावल	वाल	भिण्डी, घिया	नाशपाती,	मनुक्का

		ककड़ी	नारंगी	
ज्वार		सुआभाजी	पपीता, चकोतरा, खुमानी, सेव	सुपारी
बाजरा		मैथी भाजी	चीकू, जामुन	सौंफ
मक्का कौद्रव जौ		चन्दलिया भाजी, सींगफल	शहतूत	लौंग

मैं प्रतिदिन चौदह नियम, अर्थात् भोग-उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा धारण करूँगा/ करूँगी- ऐसा संकल्प लेता हूँ/ लेती हूँ-

सचित्त-	उपानह	कुसुम	विलेपन	स्नान	अपकाय
द्रव्य	तांबूल	वाहन	ब्रह्मचर्य	भात-पानी	तेउकाय
विगय	वस्त्र	रायन	दिशा	पृथ्वीकाय	वायुकाय
		वनस्पतिकाय	त्रसकाय		
	असि	मसि	कृषि		

अतिचार - आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में श्रावक के दूसरे गुणव्रत में भोजन-आश्रित पांच अतिचारों का वर्णन किया है, जो निम्न हैं-

सचित्त, सचित्त-सम्बद्ध, अपक्व, दुष्पक्व और तुच्छ।¹

उपासकदशांग मूल में एवं उसकी टीका में भी आचार्य अभयदेवसूरि ने इसी प्रकार के अतिचारों का कथन किया है,² जो पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/22 - पृ. - 9

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/51 - पृ. - 46

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/30

तत्त्वार्थ—सूत्र में भोजन—सम्बन्धी पांच अतिचारों का वर्णन इस प्रकार का है।³ श्रावकाचार संग्रह में भी भोजन—आश्रित पांच अतिचारों का वर्णन पंचाशक के अनुसार ही है।⁴

पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्रसूरि ने अतिचारों का संक्षेप में ही वर्णन किया है, पर हम उनके द्वारा किए गए संक्षिप्त वर्णन से ही सार को समझने का प्रयास करेंगे।

1. सचित्त— स + चित्त। 'स' अर्थात् सहित, 'चित्त' अर्थात् जीव, इस प्रकार जीव सहित वह सचित्त है। श्रावक को सचित्त आधार का त्यागी होना चाहिए, जबकि पंचाशक में यह स्पष्ट कहा है कि श्रावक सचित्त आहार का त्याग करता है। व्रत को लेकर जो भूल से खाए, उसे यह अतिचार लगता है, अतः श्रावक विवेक रखे, सचित्त आहार नहीं करे, अर्थात् कच्ची सब्जी आदि नहीं खाना चाहिए एवं फल आदि को सुधारने के लिए अड़तालीस मिनट के बाद ग्रहण करना चाहिए, पानी गर्म किया हुआ पीना चाहिए। प्रश्न यह है कि श्रावक को हिंसा करने का निषेध बताया है, फिर पानी आदि गरम करने पर जीवों की हिंसा होती है, तो क्या कच्चा पानी ही पीना चाहिए ?

यह सच है कि यह हिंसा है, पर श्रावक के भाव हिंसा के नहीं हैं, पानी में असंख्य जीव हैं, जहाँ हर क्षण जन्म—मरण की क्रिया चलती रहती है, अतः हिंसा हर पल हो रही है, परन्तु पानी गर्म करने के पश्चात् 9 घण्टे से 12 घण्टे के लिए हिंसा बन्द हो जाती है, अतः श्रावक को हिंसा का अल्पदोष लगता ही है, जिसका प्रायश्चित्त— "मिच्छामि दुक्कडं" है। व्यर्थ की हिंसा से पहले बचें, फिर अर्थ की हिंसा से बचें। अर्थ की हिंसा से बचने की बात तो समझ में आती है, पर अर्थ की हिंसा से बचने का अर्थ क्या है ? इसका तात्पर्य है— दीक्षाग्रहण कर लेना।

2. सचित्त—सम्बद्ध — यदि अचित्त पदार्थ सचित्त से सम्बन्धित है, तो ऐसा आहार नहीं करना चाहिए, जैसे— वृक्ष में आम लगा हुआ है, तो आम को अचित्त समझकर नहीं खाना चाहिए। वृक्ष में गोंद लगा है, तो उसे अचित्त नहीं समझना चाहिए। वृक्ष से विभक्त होने के जघन्य 15 मिनट उत्कृष्ट 40 मिनट बाद वह अचित्त हो जाता है।

³ श्रावकाचार संग्रह — पं. हीरालाल शास्त्री— भाग - 3 - गाथा- 68 - पृ. - 425

3. अपक्व आहार – जो भोज्य-पदार्थ पका नहीं है, अर्थात् कच्चा है, वह 'अपक्व आहार' कहलाता है, जैसे- चना, मटर, ककड़ी, टमाटर आदि पूरे नहीं पके हैं तथा उनका सलाद आदि बनाकर तैयार किया गया है, तो पूरा न पकने के कारण वह अपक्व आहार है, अतः ऐसा आहार भूल से करने पर भी व्रतधारी श्रावक को अतिचार लगता है तथा जानबूझकर करने में अनाचार का सेवन होता है। उपासकदशांगटीका में भी यही बात कही गई है।

4. दुष्पक्व आहार- जो पूर्णतः नहीं पका है, एसा आहार 'दुष्पक्व' कहलाता है, जैसे- छिलके सहित भुट्टा, मटर की फलियाँ, गेहूँ, ज्वार की पौख आदि जो पूरे पकते भी नहीं है एवं उनमें त्रस आदि जीवों की हिंसा की पूरी सम्भावना रहती है, ऐसा आहार बुद्धिमान् व्रतधारी श्रावक नहीं करें।

5. तुच्छ आहार- जो पदार्थ खाने में कम उपयोग वाला एवं फेंकने योग्य अधिक हो, जैसे- सीताफल, गन्ना, बेर आदि ऐसे पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि जिसके खाने में अधिक हिंसा हो, उन पदार्थों का सेवन भी नहीं करना चाहिए, जैसे- खसखस के दाने, शामक के दाने आदि।

कर्म-सम्बन्धी अतिचार- पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्रसूरि ने सातवें व्रत में भोजन-आश्रित अतिचारों का विवेचन करने के पश्चात् कर्म-सम्बन्धी पन्द्रह अतिचारों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार से हैं-

1. अंगार-कर्म 2. वन-कर्म 3. शकट-कर्म 4. भाटक-कर्म 5. स्फोट-कर्म
6. दन्त-वाणिज्य 7. लाक्ष-वाणिज्य 8. रस-वाणिज्य 9. केश- वाणिज्य 10. विष-वाणिज्य
11. यन्त्र-पीलन 12. निर्लान्छन-कर्म 13. दावाग्निदपन 14. जल-शोशण 15. असती-जनपोषण। इन पन्द्रह प्रकार के कर्मों को करना कर्म सम्बन्धी अतिचार है। इन अतिचारों को विशेष रूप से समझ लेना चाहिए।

1. अंगार-कर्म- अग्नि को प्रज्वलित कर कोयला, लोहा, ईट, चूना आदि बनाकर कुम्हार, लुहार, ठठेरा आदि का कार्य करके आजीविका कमाने वालों के कर्म को अंगार-कर्म माना है, अर्थात् जिस व्यापार में भट्टी जलाना पड़ती हो, ऐसा व्यापार श्रावक

के करने योग्य नहीं है, अतः व्रतधारी ऐसे व्यापार का त्याग करे। जैन-आचार्यों ने लुहार, कुम्हार आदि कर्म को अंगार-कर्म में लिया है, पर डॉ. सागरमल जैन के अनुसार जंगल में आग लगाकर कृषियोग्य भूमि तैयार करना भी अंगार-कर्म है।

2. वन-कर्म— लकड़ी काटकर बेचना, वनस्पति, खेती, बाग, बांस, पत्ते, फूल आदि बेचकर तथा चक्की चलाकर आजीविका चलाने वाले को वन-कर्म कहा है, जो श्रावकों के लिए वर्जनीय है।

3. शकट-कर्म— बैलगाड़ी, रथ, मोटर-गाड़ी, रिक्शा आदि बनाकर बेचने को, अथवा उन्हें भाड़े से चलाने को शकट-जीविका मानी है, जो श्रावकों के करने-योग्य नहीं है।

4. भाटक-कर्म— पशु, बैल, अश्व आदि, मकान-जमीन आदि को भाड़े पर देकर व्यापार करने को भाटक-कर्म कहते हैं, जो श्रावक के लिए त्याज्य है।

5. स्फोटक-कर्म— खदान खुदवाना, जमीन को चीरना, सरोवर, कुएँ, सुरंग, खाई आदि को खुदवाना, पत्थर, चट्टान आदि तुड़वाने आदि के व्यापार को 'स्फोटक-कर्म' कहते हैं, जो श्रावक के लिए व्यापार हेतु अनुचित है।

6. दन्त-वाणिज्य— हाथीदांत, उल्लू के नाखून, शंख, कौड़ी, मोती, सिंहादि का चर्म आदि के व्यापार को 'दन्तवाणिज्यकर्म' कहते हैं। यह व्यापार भी श्रावकों के लिए उचित नहीं है।

7. लाक्ष-वाणिज्य— लाख, गोंद, साबुन, खार, चपड़ी, मेनसील, नील, धातकी के फल, छाल आदि का व्यापार लाक्षवाणिज्य है। यह व्यापार श्रावकों के लिए त्याग करने योग्य है।

8. रस-वाणिज्य— मदिरा, मधु, मक्खन, मांस, चर्बी आदि के व्यापार को 'रसवाणिज्यकर्म' कहते हैं। यह व्यापार श्रावकों के लिए वर्जित है।

9. केश-वाणिज्य— दास-दासी, मनुष्य, पशु-पक्षी का, अथवा उनके बालों का क्रय-विक्रय करने को 'केशवाणिज्यकर्म' कहते हैं। यह व्यापार श्रावकों के लिए अयोग्य है।

10. विष-वाणिज्य— शस्त्र, विष, अफीम, भांग आदि मादक पदार्थ तथा यन्त्र, लोहे के शस्त्र आदि के व्यापार को 'विषवाणिज्यकर्म' कहते हैं, जो श्रावकों के लिए व्यापार हेतु उपयुक्त नहीं है।
11. यन्त्रपीलन-कर्म— मिल के यन्त्र, घानी, कोल्हू आदि यन्त्रों द्वारा तिल, सरसों आदि पीलने का धन्धा करना 'यन्त्रपीलन-कर्म' कहलाता है। यह व्यापार श्रावकों के लिए निषेध है।
12. निर्लान्छन-कर्म— मनुष्य, पशु-पक्षी के नाक आदि अंग-उपांग के छेदन-भेदन का व्यापार करना तथा बैल आदि को नपुंसक बनाने के व्यापार को 'निर्लान्छन-कर्म' कहते हैं। श्रावक के लिए यह व्यापार प्रतिषेध किया गया है।
13. दावाग्नि (दवदान)-कर्म— जंगल में आग लगाना, जिससे त्रस जीवों का घात हो सकता हो, ऐसी अग्नि को 'दावाग्नि-कर्म' कहते हैं। यह व्यापार श्रावकों के लिए अनुपयुक्त है।
14. जलशोषण-कर्म— तालाब, झील, सरोवर, कूप, नदी, कुण्ड आदि जलाशयों को सुखाने का व्यापार 'जलशोषण-कर्म' है, अतः श्रावक ऐसा व्यापार न करें।
15. असती जनपोषण-कर्म— व्यभिचार के लिए वेश्या को नियुक्त करना, शिकार आदि के लिए कुत्ते आदि को पालना, मैना, तोता, कबूतर, चिड़िया, मुर्गी, मयूर, बिल्ली, खरगोश को पालना, जुआरी, चोर आदि को व्यापार हेतु पालना, अथवा शौक से पालना तथा दुःशील स्त्रियों को रखना 'असती जनपोषण-कर्म' है। ऐसा व्यापार श्रावकों के लिए निश्चित रूप से मना है।

पंचाशक के अनुसार इन पन्द्रह प्रकार के कर्मों को करने से हिंसा अवश्यम्भावी है और व्रत-पालन में अवरोध है, अतः इन पन्द्रह प्रकार के कर्मदानों का त्याग श्रावक करता है, जिससे उसके व्रत-पालन में अवरोध उपस्थित नहीं होता है। अतः उपभोग-परिभोग-विरमण-व्रत का पालन करने के लिए श्रावक पांच अतिचारों से व पन्द्रह कर्मदानों से बचने का पूर्ण प्रयत्न करे। समग्र जीवन-व्यवहार को संयमित-परिमित करने का यह व्रत है।

जीवन में इन तीनों की अत्यधिक आवश्यकता रहती है— रोटी, कपड़ा, मकान। पेट भरने के लिए रोटी की आवश्यकता है। शरीर को ढकने के लिए कपड़े अनिवार्य हैं और इस शरीर को रखने के लिए मकान की आवश्यकता है।

इस व्रत के द्वारा इन तीनों का नियन्त्रण हो जाता है, अतः श्रावक विवेकपूर्वक इन व्रतों का पालन करते हुए सुख, शान्ति और समाधि प्राप्त कर सकता है।
अनर्थदण्ड—विरमणव्रत— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में तीसरे गुणव्रत अनर्थदण्ड—विरति का प्रतिपादन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में श्रावकधर्मविधि—पंचाशक की तेईसवीं गाथा में तीसरे गुणव्रत अनर्थदण्ड—विरमण की व्याख्या करने के पूर्व अनर्थदण्ड कितने प्रकार का है, इसका प्रतिपादन किया है।

“तथाऽनर्थ दण्डविरतिः अन्यत् स चतुर्विधः अपध्याने।

प्रमादाचरिते हिंस्रप्रदान पापोपदेश च।।¹

अनर्थदण्ड के अपध्यान (अशुभध्यान), प्रमादाचरण (प्रमत्त होकर कार्य करना), हिंसक शस्त्र—प्रदान (हथियार आदि दूसरों को देना) और पापोपदेश (पाप—कर्मों का उपदेश देना)— ये चार भेद होते हैं।

उपासकदशांगटीका में भी अनर्थदण्ड के उपरोक्त चार प्रकार पंचाशक के समान ही वर्णित हैं।² सावयपण्णति में भी इसी प्रकार के भेद देखने को मिलते हैं।³ योगशास्त्र में भी पंचाशक—प्रकरण के अनुसार ही हैं।⁴

दिगम्बर—ग्रन्थों में रत्नकरण्डक—श्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि, सागारधर्माऽमृत आदि में अनर्थदण्ड के पांच भेद किए गए हैं। इनके पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति एवं प्रमादचर्या— ये पांच नाम दिए हैं, जो चार तो पंचाशक के अनुसार ही हैं,⁵ किन्तु इनमें दुःश्रुति नामक एक और भेद बताया गया है, जो पंचाशक आदि में नहीं है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/23 — पृ. — 10

² उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/43 — पृ. — 37

³ सावयपण्णति — आ. हरिभद्रसूरि — गाथा— 289 — पृ. — 173

⁴ योगशास्त्र — आ. हेमचन्द्राचार्य— 3/112

⁵ (क) रत्नकरण्ड श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र — गाथा— 75 — पृ. — 125

(ख) सर्वार्थ सिद्धि — पूज्यपाद— 7/21

सभी आचार्यों ने एवं मनीषियों ने इन सबके त्याग का उपदेश दिया है, जिसे हम विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे—

अपध्यान — अपध्यान का अर्थ है— अशुभध्यान। अशुभध्यान भी एक प्रकार से हिंसा है, जो आत्म के गुणों का घात करता है। अशुभध्यान दो प्रकार का है— 1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान, पर पदार्थों का चिंतन करते हुए इष्ट के वियोग में या अनिष्ट के संयोग में दुःख मानना आर्त्तध्यान है। इसी प्रकार, इन निमित्तों के आधार पर दुःख, शोक, रुदन करना आर्त्तध्यान है। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों से रंजित जीव के क्रूर भाव रौद्रध्यान हैं, साथ ही इनसे सम्बन्धित तथा इनसे प्रेरित होने वाली चित्त की वृत्ति को भी रौद्रध्यान कहते हैं। इन दोनों से होने वाला दुःचिन्तन अपध्यान है। पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने यह निर्देश दिया है कि आजीविका—अर्जन या जीवन—निर्वाह में इनकी आवश्यकता नहीं होती है, अतः अपध्यान अनर्थदण्ड है।¹

उपासकदशांगटीका के अनुसार गृहस्थ अपने खेत, घर, धन—धान्य आदि की रक्षा करता है। उन प्रवृत्तियों के आरम्भ के द्वारा जो उपमर्दन होता है, वह अर्थदण्ड है। अर्थदण्ड के विपरीत निष्प्रयोजन प्राणियों के विघात को अनर्थदण्ड माना है।²

प्रमादाचरण— अपने कर्त्तव्य या अपने द्वारा की जाने वाली क्रिया के प्रति जागरुक नहीं होना प्रमादाचरण है। इसका अर्थ है— प्रमत्त या असावधान होकर कार्य करना।³ उपासकदशांगटीका के अनुसार अपने दायित्व एवं कर्त्तव्य के प्रति अजागरुकता प्रमाद है।⁴ श्रावकप्रज्ञप्ति में आचार्य हरिभद्र ने मद्यादिजनित प्रमाद के वश होकर प्राणियों को जो पीड़ा पहुँचाई जाती है, उसे प्रमादाचरित माना है।⁵ योगशास्त्र में गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, काम—क्रीड़ा में आसक्ति, जुआ एवं मद्य का सेवन, जल—क्रीड़ा, पशुओं को

(ग) सागर धर्माऽमृत — पं. आ. गाधर— 5/6

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि — पृ. — 10

² उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/43

³ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि — पृ. — 10

⁴ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/43 — पृ. — 37

⁵ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका — आ. हरिभद्र — गाथा— 289 — पृ. — 173

⁶ योगशास्त्र — आ. हेमचन्द्राचार्य— 3/78-79-80

⁷ तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका — प्र. सज्जनश्री — भाग— 3 — पृ. — 23

लड़ाना, भोजन, स्त्री, देश, राजा सम्बन्धी निष्प्रयोजन वार्तालाप करना आदि को भी प्रमादाचरण कहा है।⁶ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार अभिमान करना, विषयों में लुब्ध होना, असमय व अधिक निद्रा लेना, विकथा करना आदि प्रमादाचरण हैं।⁷

हिंसक शस्त्र-प्रदान- दूसरों को हिंसा के साधन, अर्थात् हथियार देना हिंसक शस्त्र-प्रदान है।¹ उपासकदशांगटीका के अनुसार हिंसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, अर्थात् चोर, डाकू आदि को हथियार देना हिंसक शस्त्र-प्रदान (हिंसादान) है।²

श्रावकप्रज्ञप्ति, योगशास्त्र में भी इसी प्रकार से बताया गया है कि क्रोधी, चोर आदि के हाथों में शस्त्र देना हिंसादान है।³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि एवं सागारधर्माऽमृत में भी पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही कहा गया है।⁴

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार हिंसा के साधन शस्त्र आदि तलवार, बन्दूक, कटार, पिस्तौल आदि हिंसादि कार्य के लिए अन्य को देना हिंसादान है।⁵

पापोपदेश- जिसमें अधिक हिंसा हो, ऐसा कार्य किसी को बताना, अर्थात् पापकर्मों का उपदेश देना पापोपदेश है।⁶

उपासकदशांगटीका के अनुसार "औरों को पाप-कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा, उपदेश या राय देना, जैसे- किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी बहुत प्राप्त होंगे, ऐसी प्रवृत्ति पापोपदेश है।⁷ योगशास्त्र में

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/23 - पृ. सं. - 10

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि - पृ. - 37

³ (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्र - गाथा- 289

(ख) योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/77

⁴ (क) रत्नकरण्डक श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र - गाथा- 77 - पृ. - 126

(ख) सर्वार्थ सिद्धि - पूज्यपाद- 7/21

(ग) सागार धर्माऽमृत - पं. आ. ण्णर- 5/8

⁵ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

⁶ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/23 - पृ. - 10

⁷ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/43 - पृ. - 37

खेती, पशु-पालन, वाणिज्य एवं आरम्भ कार्यों का उपदेश तथा पुरुष-स्त्री के संयोगरूप विवाह आदि कराने सम्बन्धी कथन को पापोपदेश कहा गया है।¹ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में पापोत्पादक कार्य, तिर्यच को कष्ट पहुँचाना, कृषि, वाणिज्य में भाग लेना एवं निरर्थक उपदेश देना पापोपदेश है।²

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में तिर्यचों को क्लेश पहुँचाना, तिर्यचों का व्यापार करना और आरम्भहिंसा से दूसरों को छलने की क्रियाओं को पापोपदेश कहा है।³ सागारधर्माऽमृत में योगशास्त्र के अनुसार ही वर्णन किया गया है।⁴

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार पापकर्म या दुर्व्यसन की ओर प्रवृत्त करने वाला वचन कहना, सलाह देना, अथवा प्रेरणा देना पापोपदेश है।⁵

अनर्थदण्ड- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में अनर्थदण्ड की परिभाषा करते हुए कहा है-

दण्ड, अर्थात् जिस पाप-कर्म से आत्मा दण्डित होती हो, वह दण्ड कहलाता है। दण्ड दो प्रकार का होता है-

1. अर्थदण्ड और 2. अनर्थदण्ड।

1.अर्थदण्ड- आजीविका-अर्जन आदि के लिए जो पाप-क्रिया की जाए, वह अर्थदण्ड है।

2.अनर्थदण्ड- अकारण ही कोई पाप-कार्य किया जाए, तो वह अनर्थदण्ड है। अपध्यान आदि पापों की आजीविका-अर्जन आदि में आवश्यकता नहीं होती, इसलिए ये अपध्यान आदि अनर्थदण्ड हैं।⁶

उपासकदशांग टीका में अभयदेवसूरि ने कहा है- आवश्यकता या प्रयोजन से जो हिंसा की जाती है, वह अर्थदण्ड और बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती

¹ योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/76

² श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्रसूरि - गाथा- 290 - पृ. - 174

³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र- 76 - पृ. - 126

⁴ सागार-धर्माऽमृत - पं. आशाधर- 5/7

⁵ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

⁶ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/23 - पृ. - 10

है, वह अनर्थदण्ड है।⁷ योगशास्त्र में शरीर आदि के निमित्त होने वाली हिंसा अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन की जाने वाली हिंसा अनर्थदण्ड है।⁸

अनर्थदण्डविरमण-व्रत-अतिचार- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में अनर्थदण्डविरमण-व्रत की चर्चा करते हुए व्रत में लगने वाले अतिचारों का भी वर्णन किया है--

“कंदप्यं कुक्कुड्यं मोहरियं संजुयाहिगरणं च ।

उपभोग परिभोगा इरेगयं चेत्थ वज्जेई ॥”¹

पांच अतिचार इस प्रकार हैं- 1. कन्दर्प 2. कौत्कुच्य 3. मौखर्य 4. संयुक्ताधिकरण 5. उपभोग-परिभोगातिरेक ।

उपासकदशांगटीका में पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही अतिचारों का उल्लेख है।² योगशास्त्र, श्रावकप्रज्ञप्ति में भी यह पंचाशक के अनुरूप ही है।³ चारित्रसार एवं सागार-धर्माऽमृत में पूर्व के तीन नाम ज्यों के त्यों हैं, पर संयुक्ताधिकरण को असमीक्षाधिकरण एवं उपभोग-परिभोगातिरेक को सेन्यार्थाधिकता नाम दिया है।⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र में निम्न अतिचार बताए हैं- कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्षाधिकरण और उपभोगाधिक्य,⁵ जो पंचाशक से कुछ भिन्न हैं।

⁷ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि - पृ. - 37

⁸ योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/74

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/24 - पृ. - 10

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/52 - पृ. - 49

³ (क) योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/114

(ख) श्रावक प्रज्ञप्ति - आ. हरिभद्रसूरि - गाथा- 291 - पृ. - 175

⁴ (क) चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 244

(ख) सागार धर्माऽमृत - पं. आ. ाधर- 5/12

⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/27 - पृ. - 189

कन्दर्प-अतिचार - पंचाशक-प्रकरण के अनुसार विषय-भोग सम्बन्धी रागवर्द्धक वाणी या क्रिया को कन्दर्प-अतिचार कहते हैं।⁶

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा है- काम-वासनाओं को भड़काने वाली कुचेष्टाओं को कन्दर्प-अतिचार कहते हैं,⁷ जो पंचाशक की समानता रखता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना कन्दर्प-अतिचार है।¹ चारित्रसार में राग की तीव्रता से हास्य-मिश्रित अशिष्ट वचनों के बोलने को कन्दर्प कहा है।²

डा. सागरमल जैन के अनुसार कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना अनर्थदण्ड है।³

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार विकारवर्द्धक वचन बोलना हँसी-मजाक करना कन्दर्प-अतिचार है।⁴

कौत्कुच्य- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में हास्यवर्द्धक वाणी अथवा चेश्टा को कौत्कुच्य कहा है।⁵

उपासकदशांगटीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने बहुरूपियों की तरह भद्दी व विकृत चेष्टाएँ करने को कौत्कुच्य कहा है।⁶

चारित्रसार में दूसरे मनुष्य पर शरीर की गलत चेष्टा को दिखाते हुए रागयुक्त हंसी के वचन बोलना या अशिष्ट वचन बोलने को कौत्कुच्य कहा है।⁷

⁶ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/24 - पृ. - 10

⁷ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/52 - पृ. - 49

¹ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/27 - पृ. - 189

² चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 244

³ डा. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ - डा. सागरमल जैन - पृ. - 332

⁴ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/24 - पृ. - 10

⁶ उपासकदशांग टीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/52 - पृ. - 49

⁷ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 244

⁸ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/27 - पृ. - 189

तत्त्वार्थ-सूत्र में परिहास व अनिष्ट भाषण के अतिरिक्त नट, भांड जैसी शारीरिक कुचेष्टाएँ करने को कौत्कुच्य कहा है।⁸

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार हाथ, मुंह, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना अनर्थदण्ड करना है।⁹

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार विकारवर्द्धक चेष्टाएँ करना, हाथ, मुंह, आँख आदि से अभद्र या अश्लील चेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है।¹⁰

मौखर्य- आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण में मौखर्य-अतिचार के विषय में बताते हुए कहते हैं- बिना विचारे जैसे-तैसे बोलना मौखर्य है।¹¹

आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासकदशांगटीका में कहा है- निरर्थक प्रशंसा के पुल बांधना, व्यर्थ बातें बनाना, बकवास करना मौखर्य है।¹

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका व चारित्रसार में अशालीनतापूर्वक असत्य, अनर्थक बकवास को मौखर्य माना है।²

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार अधिक वाचाल होना, अथवा निरर्थक बात करना आदि मौखर्य है।³

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार निर्लज्जता से सम्बन्ध-रहित एवं अधिक बकवाद करना मौखर्य है।⁴

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार बात-बात पर ऊभड़, अश्लील दुर्वचन, गाली देना, अत्यधिक निरर्थक बोलना मौखर्य है।⁵

संयुक्ताधिकरण - आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में कहा है- जीवहिंसा के साधनों को अन्यो को प्रदान करना, जैसे- कुल्हाड़ी, हल इत्यादि संयुक्ताधिकरण हैं।⁶

⁹ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ - डॉ. सागरमल जैन - पृ. - 332

¹⁰ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

¹¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/24 - पृ. - 10

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/52 - पृ. - 49

² (क) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्रसूरि - पृ. - 291

(ख) चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 245

³ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ - डॉ. सागरमल जैन - पृ. - 332

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/27 - पृ. - 189

⁵ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासकदशांगटीका में कहा है— शस्त्र आदि हिंसामूलक साधनों को इकट्ठा करना संयुक्ताधिकरण है।⁷

योगशास्त्र—स्वोपज्ञ—विवरणिका में, जिसके द्वारा जीव—दुर्गति में अधिकृत किया जाता है, उसे अधिकरण कहा गया है तथा हल से जुड़ा फाल, धनुष से संयुक्त बाण आदि को संयुक्ताधिकरण कहा है। इस प्रकार एक अधिकरण को दूसरे अधिकरण से संयुक्त करने को संयुक्ताधिकरण बताया है।¹

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में जो मनुष्य नारक आदि गतियों में अधिकृत किया जाता है, वह अधिकरण कहलाता है। एक वस्तु को दूसरे के साथ जोड़ना संयुक्ताधिकरण है, जैसे— धनुष के साथ बाण।²

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार अपनी आवश्यकता को बिना विचार किए, अनेक प्रकार के सावद्य उपकरण दूसरे को उसके काम के लिए देते रहना संयुक्ताधिकरण है।³

डा. सागरमल जैन के अनुसार अनावश्यक रूप से हिंसा के साधनों का संग्रह करना और उन्हें दूसरों को देना संयुक्ताधिकरण है।⁴

तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका के अनुसार जिन साधनों से हिंसा होती हो, उन्हें साथ में रखना संयुक्ताधिकरण है, यथा— धनुष—तीर, गोलियाँ—बन्दूक, पिस्तौल—कारतूस, हरी सब्जी के साथ चाकू, छुरी आदि।⁵

उपभोग—परिभोगातिरेक — पंचाशक—प्रकरण के अनुसार अपने और अपने स्वजन की आवश्यकताओं से अधिक उपभोग—परिभोग की सामग्री रखना उपभोग—परिभोगातिरेक है।⁶

उपासकदशांगटीका के अनुसार उपभोग—परिभोग सम्बन्धी सामग्री तथा उपकरणों को बिना आवश्यकता के संगृहीत करते जाना उपभोग—परिभोगातिरेक है।⁷

⁶ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/24 — पृ. — 10

⁷ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/52 — पृ. — 50

¹ योगशास्त्र — आ. हेमचन्द्राचार्य— 3/114

² श्रावकप्रज्ञप्तिटीका — आ. हरिभद्रसूरि — पृ. — 291

³ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति — 7 — पृ. — 189

⁴ डा. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ — डा. सागरमल जैन — पृ. — 332

⁵ तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका — प्र. सज्जनश्री — भाग— 3 — पृ. — 29

⁶ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/24 — पृ. — 10

⁷ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/52 — पृ. — 50

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार आवश्यकता से अधिक वस्त्र, आभूषण, तेल, चन्दन आदि रखना उपभोग-परिभोगातिरेक है।⁸

डा. सागरमल जैन के अनुसार आवश्यकता से अधिक उपभोग की सामग्री का संघय करना उपभोग-परिभोगातिरेक है।¹

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार आवश्यकता से अधिक भोग-उपभोग की सामग्री का संग्रह करना उपभोग-परिभोग का अतिक्रमण है।²

अनर्थदण्ड-विरमणव्रत के विषय में तथा उनमें लगने वाले अतिचारों के विषय में अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप से यह दृष्टिगोचर होता है कि अनावश्यक प्रवृत्तियाँ प्रतिदिन हमारी दैनिक-चर्या का अंग बनती जाती हैं, फलतः परिमाण अधिक बन्धन है। प्रयोजन से किया गया कार्य अल्प बन्ध का कारण है और वह अल्प बन्ध प्रायश्चित्त की प्रक्रिया से टूटने की संभावना पूरी रहती है, परन्तु निष्प्रयोजन से किया गया कार्य (चाहे वह मन से हो, वचन से हो, अथवा कर्म से हो) अधिक बन्धन व तीव्र बन्धन का भी कारण है।

आवश्यक कार्य के साथ भी अनावश्यक कार्य चलता ही रहता है, जैसे- भोजन करना आवश्यक कार्य है, लेकिन बहुत से मुनि स्वाद लेकर खाते हैं, तो यह उनके लिए अनावश्यक कार्य हो गया। स्नान आपके लिए जरूरी है, पर स्नान करके ताजगी का, ठण्डक का, गरमाहट का अनुभव कर खुश होना- यह आवश्यक के साथ अनावश्यक बन्धन है, अतः संसार में जो कुछ कार्य करें, उसे शरीर का, परिवार का, समाज का निर्वाह समझकर ही करें, जिससे अनर्थदण्ड से बचकर आत्म-गुणों का प्रकटीकरण कर निर्वाण को प्राप्त करने में सफल बना जा सके।

अनर्थ से बचें- अर्थदण्ड एवं अनर्थदण्ड- दोनों को समझ लेना आवश्यक है। आवश्यक कार्य अर्थदण्ड है और अनावश्यक कार्य अनर्थदण्ड। हालांकि दोनों दण्डपाप की श्रेणी में है, पर श्रावक दोनों से मुक्त होकर जीवन-यापन नहीं कर सकता है, अतः उसके लिए अर्थदण्ड आवश्यक हो गया, अनर्थदण्ड आवश्यक नहीं है, लेकिन व्यक्ति

⁸ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/27 - पृ. - 189

¹ डा. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ - डा. सागरमल जैन - पृ. - 332

² तत्त्वज्ञान-प्रवेशिक - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 23

अर्थदण्ड से ज्यादा अनर्थदण्ड करता है, आवश्यक पाप की अपेक्षा अनावश्यक पाप अधिक करता है। वह अनावश्यक पाप भी मन, वचन एवं काया से करता ही रहता है। व्यक्ति के मस्तिष्क में आवश्यक व अनावश्यक पापों के सम्बन्ध में श्रृंखला होना चाहिए, जिससे वह अनावश्यक पापों से बच सकें एवं आवश्यक कार्य को आवश्यक समझकर ही कर सकें। अधिकांश गृहस्थ पाप-कार्य करते हुए यह ध्यान नहीं रख पाते हैं कि वह कार्य उनके लिए कहाँ तक अनिवार्य है, जैसे- नाटक, सर्कस देखना कहाँ आवश्यक है ? यदि देखना ही है, तो प्रसंगानुसार उसके साथ गुस्सा करना, हंसना, रोना, प्रशंसा करना, गाली देना आदि कहाँ तक आवश्यक है ?

चल-चित्र (सिनेमा), सर्कस ,टी.वी. आदि समूह में भी देखा जाता है। सैकड़ों, हजारों, लाखों लोग इन्हें एक साथ देखते हैं। उसमें मनुष्य, अथवा पशुओं को मारने की, दुःख देने की प्रवृत्ति हो रही है और उसे देखकर लोग खुश हो रहे हैं, एक साथ खुश हो रहे हैं, जिससे सामुदायिक कर्मबन्ध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप बम-विस्फोट, वाहन-दुर्घटना, भूकंप, बाढ़ या अग्नि का उपद्रव, झंझावात, चक्रवात, सुनामी आदि से हजारों, लाखों लोग प्रभावित होते हैं और बड़ी संख्या में एक साथ मारे जाते हैं। इसी कारण मनोरंजन के इन साधनों को सामूहिक रूप से देखने का निषेध किया है और अनर्थदण्ड विरमण-व्रतधारणा करने के लिए कहा गया है।

किसी के गृह-प्रवेश में जाना आवश्यक हुआ, पर वहाँ जाकर, घर बहुत अच्छा बनाया, चित्रकारी बहुत बढ़िया है, खूब अच्छा सजाया है, रंग का समायोजन बहुत ही पसन्द आया आदि निरर्थक प्रशंसा करना अनर्थदण्ड है। गृह-प्रवेश में जाना आवश्यक था, पर निरर्थक प्रशंसा कहाँ आवश्यक थी ?

किसी घर में विवाह के प्रसंग पर गए। सजा हुआ सामान देखा, तो प्रशंसा के पुल बांधने लगे- वाह! ससुराल वालों ने कितना धन दिया है, बहुत ही अच्छे आभूषण दिए हैं, साड़ियाँ कितनी अच्छी है, वेश बहुत बढ़िया है, मेवा-मिठाई की कितनी सुन्दर पैकिंग है, टी.वी.-सेट, डिनर-सेट, वीडियो-सेट, सोफासेट आदि कितने महंगे व आकर्षक हैं। इतनी प्रशंसा करने पर आपको ऐसा लगता है, मानो सबकुछ आपको मिल जाएगा, सामने वाला आपको कह देगा कि ये सब चीज आपको अच्छी लग रही हैं, तो

आप ले जाएँ, लेकिन मिलना तो कुछ भी नहीं है, पर आवश्यक पाप (अनर्थपाप) की गठरी सिर पर अवश्य उठा ली है।

किसी के यहाँ भोज में गए। खाते समय भोज में बनाए गए पकवानों की प्रशंसा या निन्दा करते जा रहे हैं— क्या दहीबड़ा है, क्या रसगुल्ला है, क्या नमकीन ऐसा होता है ? सब्जी तो बिल्कुल बेकार है, आदि। यह अनावश्यक पाप है।

रास्ते पर चल रहे हैं, कितने ही भवन देखते जा रहे हैं। उनकी प्रशंसा एवं बुराई करते चलते जा रहे हैं। बाजार से गुजर रहे हैं और देख-देखकर कहते जा रहे हैं कि यह बहुत अच्छा है, यह बहुत खराब है। घर में सब्जी बनाई, आवश्यक पाप था, पर कैसी बनी ? क्यों अच्छी लगी ? आज सब्जी अच्छी बनी, क्या सब्जी सुधारी है ? क्या आलू की सब्जी बनाई है, मानों अंगुलियाँ भी खा जाओ। क्या मसालेदार करेले बनाए हैं, क्या चटपटी दाल बनाई है, ऐसा लगता है, खाते रहें, ऐसी प्रतिक्रियाएं आवश्यक नहीं थीं। बनाना आवश्यक था, खाना आवश्यक था, पर प्रशंसा कहाँ आवश्यक थी ? दूसरों से प्रशंसा सुनना कहाँ आवश्यक था ? व्यक्ति को चिंतन करना चाहिए कि ऐसा करने से आवश्यक पाप कम होता है, लेकिन अनावश्यक पाप अधिक होता है।

परस्पर किसी को लड़ाना, किसी की लड़ाई देखकर खुश होना, जलती सिगरेट से किसी के शरीर को जलाना, पशु-पक्षी को लड़ते देखकर आनन्द लेना, किसी की निन्दा करना, किसी की चुगली करना, किसी के दोष देखते रहना, अकेले बैठे-बैठे किसी के दोषों की गिनती करते रहना, टी.वी. में कार्यक्रम देखते हुए आनन्द लेते रहना, क्योंकि अधिकांश लोगों को मारकाट, लड़ाई-झगड़े, कुश्ती, युद्ध, फांसी की सजा आदि देखने में मजा आता है। ऐसी घटनाएं देखकर वे हँसते रहते हैं और कहते हैं कि ऐसो को तो ऐसी ही सजा मिलना चाहिए। इहलोक में, अथवा परलोक में हमें भी इसी प्रकार की सजा के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि हमारी ये सारी चेष्टाएं अनर्थ हैं, व्यर्थ हैं। कई लोग धार्मिक स्थल में, मन्दिर, उपाश्रय, स्थानक आदि में पूजा करते समय, सामायिक करते समय, प्रवचन सुनते समय भी चर्चा करते रहते हैं। तेरे घर में काम हो गया ? तेरी बहू कैसी है ? आज उसने क्या सब्जी बनाई ? उस पर साड़ी खूब अच्छी लग रही है, कहाँ से ली ? कितने में ली ? ये घड़ी तो बहुत ही अच्छी है। ये चूड़ियाँ

कहाँ से बनवाई ? कितने तोला की है ? कितने में बनी ? क्या घर का मकान बना लिया ? मकान बनाने में कितना खर्च हुआ है ? तुम्हारे घर में कितनी सब्जी बनती है ? कितने नौकर हैं ? उनका वेतन कितना है ? बहुएँ कितनी बजे उठती हैं ? कितनी बजे सोती है ? इस प्रकार की कितनी ही व्यर्थ की बातें करके व्यक्ति अनर्थदण्ड (अनावश्यक पाप) का दोष का भागीदार बना जाता है।

व्रतधारी में ऐसी बातें करना तो क्या, उन्हें करने की इच्छा भी नहीं होना चाहिए। जिसने व्रत नहीं लिए हैं, वह भी आवश्यक सावधानी रखकर इन अनावश्यक पाप-कर्म से (अनर्थदण्ड) अपने आप को बचा लेगा।

अनर्थदण्ड-विरमणव्रत के पालन में सावधानी- आर्तध्यान नहीं करना चाहिए। कैसा भी संकट आ जाए, मिथ्यात्वी देव-देवियों की शरण में नहीं जाना चाहिए।

शरीर में असाध्य रोग हो जाने पर भी मधु-मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए। युद्ध, कलह आदि करने वालों की प्रशंसा नहीं करना चाहिए। राजकथा, देशकथा, स्त्री-कथन, भक्तकथा नहीं करना चाहिए। हिंसा करके हिंसा के कार्यों की अनुमोदना (सराहना) भी नहीं करना चाहिए।

झूठ बोलकर अभिमान नहीं करना, अर्थात् अपनी चालाकी की प्रशंसा नहीं करना चाहिए। न तो किसी पर झूठा दोषारोपण करना चाहिए और न ही किसी के साथ विश्वासघात करना चाहिए। शर्ते नहीं लगाना, क्योंकि यह भी सट्टे का (जुए का) रूप है। ताश नहीं खेलना चाहिए। झूठे बहीखाता नहीं लिखना चाहिए। मायाचारी नहीं करना चाहिए। झूठी सौगन्ध नहीं खाना चाहिए। मन-गढ़न्त बातें नहीं करना चाहिए।

ऐसा झगड़ा नहीं करना चाहिए, जिसमें न्यायालय तक पहुँचना पड़े। पुनर्विवाह की प्रशंसा नहीं करना चाहिए और न किसी को पुनर्विवाह करने की प्रेरणा देना चाहिए। रावण-वध, होलिका-दहन न स्वयं करना चाहिए और न देखना चाहिए। वनस्पति पर नहीं चलना चाहिए।

पानी को छानकर उपयोग में लेना चाहिए। नदी-सरोवर, समुद्र, तरणताल और कुण्ड आदि में स्नान नहीं करना चाहिए। बिना प्रयोजन के पानी नहीं गिराया जाए,

आँखे नीचे करके चलें, दृष्टि चंचल न करें। अकारण अधिक न बोलें तथा बोलते समय नजर झुकाकर ही रखें।

पाप—कार्य में किसी को प्रोत्साहित न करें— उत्तम कुल में उत्तम धर्म की प्राप्ति होने पर, जिनवाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो अब निष्प्रयोजन पाप—बन्ध से बचना चाहिए। पशुओं के समान यह जन्म कहीं व्यर्थ न हो जाए, इसका ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए।

यदि व्यक्ति पाप छोड़ने में असमर्थ है, तो उसे दूसरों को पाप का उपदेश तो बिल्कुल नहीं देना चाहिए।

तिर्यच जीवों के लिए भी बोलने में विवेक रखना चाहिए, अर्थात् तिर्यचों को दुःख देने का, उन्हें मारने का, उनके कान—नाक आदि छेदने का, कसकर बांधने का, जला देने का, पानी नहीं पिलाने का, भोजन नहीं देने का, नाक—मुँह में छीका बंधवाने का, संतानों से अलग कर देने का, पक्षियों को पिंजरे में डालने का, सर्प, बिच्छु, कानखजूरा, सिंह, व्याघ्र, नेवला, कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि हिंसक जीवों को मारने का, जूं, लीख, चींटी, मकोड़े, मक्खी, मच्छर, तिलचट्टा, खटमल, दीमक आदि को मारने का, जीव—जन्तुओं को मारने के लिए दवा छिड़कवाने का, जीवों को पकड़ने के लिए यन्त्र, जाल आदि बनवाने का उपदेश (आदेश) नहीं देना चाहिए। ऐसा करने से प्रयोजन हिंसा का दोष होता है, अतः अनर्थदण्ड है। इससे बचना चाहिए।

हिंसात्मक साधन देने से बचें — हिंसात्मक साधन किसी को नहीं देना चाहिए, क्योंकि इन साधनों का दुरुपयोग कोई भी, कभी भी कर सकता है।

हिंसात्मक साधन देने पर कोई उनका दुरुपयोग नहीं करेगा— इसका क्या भरोसा ? अतः महापुरुषों ने इसका निषेध ही किया है।

एक सत्य घटना है— दो व्यक्तियों के बीच गहरी मित्रता थी। एक मित्र के पास बन्दूक का लायसेन्स था। दूसरा मित्र उस पहले मित्र के घर गया और कहा— 'मुझे आज शाम बाहर जाना है। जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ चोरों का खतरा है, अतः मुझे तुम्हारी बन्दूक चाहिए, कल आकर लौटा दूंगा।' पहले मित्र ने उसे बन्दूक दे दी। बन्दूक लेकर वह घर आ गया और समय पर अपने ऑफिस चला गया। वहाँ बात दूसरी थी कि

उसकी पत्नी किसी अन्य व्यक्ति के प्रेमजाल में उलझी हुई थी और उस दिन वह अपने प्रेमी के साथ उसका घर छोड़कर जाने वाली थी। उन दोनों का मिलने का समय दोपहर तीन बजे का था। वह मित्र उनके मिलने के समय पर ऑफिस से घर पहुँच गया। वहाँ उन दोनों को देखकर वह आग-बबूला हो गया। फिर क्या था ? उसने बन्दूक उठाई और गोलियाँ चला दी। वे दोनों वहीं पर ढेर हो गए। गोलियों की आवाज सुनकर भीड़ इकट्ठी हो गई, पुलिस भी आ गई और उसे पकड़ कर ले गई। जिसके नाम से बन्दूक का लायसेन्स था, वह भी पकड़ा गया। हत्या में सहयोगी का आरोप उस पर भी लगा और कुछ समय की सजा का वह भी भागीदार हो गया, इसलिए ही हिंसात्मक साधनों को देने का निषेध किया गया है। तलवार, छुरा आदि भी न दें, क्योंकि इन साधनों के द्वारा भी कभी भी कोई दुर्घटना घट सकती है। जिनसे आरंभ-समारंभ अधिक होता हो, वैसे साधन भी नहीं देना चाहिए। अपने आवश्यक पाप के लिए व्यक्ति को ऐसे साधन रखने पड़ते हैं। और वह इन साधनों का दुरुपयोग भी नहीं करता है, परन्तु दूसरों को देने पर वे उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे— यह कौन कह सकता है ? प्रश्न यह उठता है कि पड़ोसी चूल्हा, घट्टी, माचिस, कैंची, चाकू आदि मांगने आएँ, तो उसे देना चाहिए या नहीं ? यदि नहीं देते हैं, तो परस्पर मन-मुटाव व तनाव हो जाएगा ? ऐसी स्थिति में क्या करें ?

अधिक आरंभ के सामान नहीं देना चाहिए। आपमें वह कला होना चाहिए कि सामने वाले को कैसे समझाया जाए ? आप मधुर भाषा में योग्य शब्दों के द्वारा उसे इस प्रकार समझाइए— देखो! तुम जो साधन मांगने आए हो, वह मेरे पास है तो, पर मैंने गुरु महाराज से इन साधनों को नहीं देने का व्रत ले लिया है, अतः व्रतधारी होने के कारण मैं ये साधन नहीं दे सकता/सकती हूँ। इसके अतिरिक्त जो साधन चाहिए, वह आप निस्संकोच मांग लें, मैं अपनी शक्ति के अनुसार आपको वे साधन दे दूंगा/दूंगी। इस व्रत के अनुपालन में जीवदया प्रधान है। आपके साधनों से दूसरे हिंसा न करें, अनावश्यक पाप न करें, अनर्थदण्ड का दोष न लगे, कोई दुर्घटना न घट जाए— इसी लक्ष्य से अधिक आरंभ-समारंभ हिंसात्मक साधन देने को मना किया गया है।

सामायिक-व्रत — पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अणुव्रतों को पुष्ट करने के लिए श्रावकधर्मविधि-पंचाशक में गुणव्रतों का उल्लेख किया है तथा गुणव्रतों को परिपुष्ट करने के लिए शिक्षाव्रतों का प्रतिपादन किया है।

शिक्षाव्रतश्रमण-जीवन जीने की प्रारम्भिक भूमिका है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में शिक्षाव्रतों के चार विभाग किए हैं, जिनका प्रारम्भ सामायिक-व्रत से किया गया है, अर्थात् पंचाशक-प्रकरण के अनुसार शिक्षाव्रत का क्रम इस प्रकार है— 1. सामायिक-व्रत 2. देशावकासिक-व्रत 3. पौषध-व्रत और 4. अतिथि संविभाग-व्रत।¹

उपासकदशांगटीका में भी शिक्षाव्रतों का यही क्रम है, परन्तु संविभाग के स्थान पर यथासंविभाग नाम दिया गया है।²

तत्त्वार्थ-सूत्र में शिक्षाव्रतों के क्रम में भेद है— सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत, अतिथिसंविभागव्रत।³ उसमें उक्त क्रम में देशावकासिकव्रत का उल्लेख नहीं है।

आतुर-प्रत्याख्यान में चार भेद इस प्रकार हैं— भोगों का परिमाणव्रत, सामायिकव्रत, अतिथिसंविभागव्रत और पौषधोपवासव्रत।⁴

श्रावक से श्रमणत्व की ओर जाना ही साधक का लक्ष्य होता है। अणुव्रतों से महाव्रतों की ओर जाना जिनका उद्देश्य है, देशविरति से सर्वविरति की ओर जाना जिनका ध्येय है, आगार से अणगार बनने का जिनका साध्य है, ऐसे अणुव्रती श्रावक शिक्षाव्रत द्वारा श्रावक-जीवन में भी श्रमणत्व बनने का अभ्यास करते हैं।

सामायिकव्रत— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की पच्चीसवीं गाथा में सामायिकव्रत के विषय का प्रतिपादन किया है—

सिक्खावयं तु एत्थं सामाइयमो तयं तुं विण्णेयं ।

सावज्जेयर जोगाण वज्जणा सेवणा रूवं ।।⁵

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि — पृ. — 10,11,12

² उपासकदशांग टीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 50

³ तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/16

⁴ आतुर-प्रत्याख्यान — पृ. — 15

⁵ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/25 — पृ. — 10

अर्थात्, शिक्षाव्रतों में पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। निर्धारित समय तक सावद्य (पापयुक्त) कार्यों का त्याग करना और निरवद्य (पापरहित) प्रवृत्ति करना सामायिकव्रत है।

विशेषावश्यक भाष्य में स्पष्ट कहा है कि— सामाइयम्मि उ कएसमणो इव सावओ हवई, अर्थात् सामायिक के समय में श्रावक श्रमण जैसा होता है।¹

सम्बोधसत्तरी में कहा है—

निंद पसंसासुसमो, समो य माणावमाणं कारीसु।

समसयण परयण मणो सामाइयं संगओ जीओ।।

अर्थात्, निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान, स्वजन और परजन, सभी में जिसका मन समान है, उसी जीव के द्वारा सामायिक, अर्थात् समभाव की सम्यक् साधना होती है।²

विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।

तस्स सामाइयं होई, इह केवलि भासियं।

अर्थात्, जो त्रस और स्थावर— सभी जीवों के प्रति समत्व से युक्त है, उसी की वास्तविक सामायिक है— ऐसा केवलज्ञानियों ने परिभाषित किया है।³ इस प्रकार और कहा है—

जस्स समाणिओ अप्पा, संजमे णिअये तवे।

तस्स सामाइयं होई, इह केवलि भासियं।।

अर्थात्, संयम, नियम और तप में जिसकी आत्मा संलग्न है, उसी की सामायिक वास्तविक है— ऐसा केवलज्ञानियों ने परिभाषित किया है।⁴ पंचाशक—प्रकरण के अनुसार जिससे समभाव की प्राप्ति होती है, वह सामायिक है।

¹ विशेषावश्यक—भाष्य — श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण — गाथा— 2680 — पृ. — 375

² संबोधसत्तरी — गाथा— 15

³ विशेषावश्यक—भाष्य — श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण — गाथा— 2680 — पृ. — 375

⁴ विशेषावश्यक—भाष्य — श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण — गाथा— 2679 — पृ. — 375

प्रतिक्षण होने वाली ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिन-पर्यायों से समता-भाव की उपलब्धि होती है, वह सामायिक है। इसलिए सामायिक में मन, वचन और काय से सभी पापों का त्याग करके स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति करना चाहिए।¹ गृहस्थ-धर्म में सामायिक की साधना करने की प्रेरणा देते हुए विशेषावश्यकभाष्य में कहा है—

सावज्जजोग परिक्खणट्ठा सामाइयं केवलियं पसत्थ।

गिहत्थधम्मा परमंति नच्चा कुज्जा बुधे आय हियं परत्था।।

अर्थात्, सावद्य-योग (पापकर्म) से पूर्णतः मुक्त होने के लिए ही एक प्रशस्त मार्ग सामायिक है और गृहस्थ-धर्म में इसे सर्वोच्च समझकर बुद्धिमान् नर मोक्ष के लिए इस अनुष्ठान को अवश्य करें।²

डॉ. सागरमल जैन ने सामायिक के स्वरूप का कथन करते हुए कहा है— सामायिक समत्व की साधना है। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि में चित्तवृत्ति का समत्व ही सामायिक है। सामायिक के महत्व को दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि आज के युग में जब मानव मानसिक-तनावों की स्थिति में जीवन जी रहा है, सामायिक-व्रत की साधना की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है।

डॉ. सागरमल जैन ने वर्तमान में सामायिक-साधना की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा कि आज सामायिक का स्वरूप वेश-परिवर्तन के साथ बाह्य हिंसक-प्रवृत्तियों से दूर हो जाना — इतना ही है। यह सामायिक का बाह्यरूप तो हो सकता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा नहीं। इस पर चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि आज हमारी सामायिक की साधना में समभावरूपी अन्तरात्मा मृतप्राय होती जा रही है और वह एक रूढ़ क्रिया-मात्र बनकर रह गई है। सामायिक से मानसिक-तनावों का निराकरण और चित्तवृत्ति को शान्त और निराकुल बनाने के लिए कोई उपयुक्त पद्धति अपनाना आज के युग की महती आवश्यकता है।³

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/25 — पृ. — 10

² विशेषावश्यक-भाष्य — श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण — गाथा— 2681 — पृ. — 373

³ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ — डॉ. सागरमल जैन — पृ. — 332

¹ अनुयोगद्वार — आर्यरक्षितसूरि — सूत्र— 27

मनुष्य—जीवन की दुर्लभता तो आज हमारे लिए सुलभ बनी हुई है और ऐसी दुर्लभ सामायिक की साधना का अवसर भी हमारे सामने उपस्थित है। जिसके लिए देवगण भी अपने हृदय में चिन्तन करते हैं कि— मात्र एक मुहुर्त भी सामायिक की प्राप्ति हो जाए, तो हमारा देवतत्व सफल है, जैसे—

सामाइय साभगिं देवावि चिंतति हियय मज्झंमि।

जय होई मुहूत्तमेगे तो अद् देवतणं सहलं।।¹

सामायिक को पाने के लिए जहाँ देव चातक की तरह तरस रहे हैं, वहाँ हम सामायिक का संयोग मिलने पर भी सामायिक के महत्व व लक्ष्य को समझ नहीं पाए, इसी कारण हजारों सामायिक करने पर हमारी भी सामायिक सम्यक्—सामायिक नहीं बना पा रही है। औपचारिक सामायिक की संख्या तो बढ़ गई है, परन्तु समता नहीं बढ़ी नहीं, इसी कारण मानव अपने तनाव को नहीं मिटा पा रहा है, वह समत्व के शिखर पर नहीं चढ़ पाता है, तलहटी से ही शिखर को देखता रहता है।

सामायिक का काल— पंचाशक—प्रकरण में सामायिक करने के समय को लेकर कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, फिर भी सामायिक तीनों काल में करने योग्य है, समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।²

श्वेताम्बर—शास्त्रों में ऐसा कहीं वर्णन पढ़ने को नहीं मिलता है कि सामायिक प्रातः ही करना है, या अपराह्न में नहीं या अपरान्ह करना है, मध्याह्न में नहीं, या अन्य समय में नहीं।³ दिगम्बर—ग्रन्थों में सामायिक तीन बार करने का विधान है— पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न।

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/25 — पृ. — 10

³ (क) अमितगति — आ. अमितगति— 6/87

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेया— 53

⁴ पुरुषार्थ—सिद्धयुपाय — अमृतचन्द्राचार्य— 149

पुरुषार्थ-सिद्धिपाय में इसकी अनिवार्यता दो बार ही बताई है— प्रातःकाल एवं सांध्यकाल, फिर भी अन्य समय में की हुई सामायिक को दोषपूर्ण नहीं माना गया है।¹

सामायिक का स्थान— सामान्यतया सामायिक उपाश्रय या पौषधशाला में ही करना चाहिए, अथवा फिर ऐसे एकान्त एवं पवित्र स्थल में करना चाहिए, जहां मन विचलित न हो।

सामायिक के भेद— शास्त्रों में सामायिक के एक से लेकर अनेक संख्या तक भेद किए गए हैं, परन्तु यहाँ मुख्य रूप से दो भेदों का निरूपण किया जा रहा है, जो हैं— 1. द्रव्य व 2. भाव।

द्रव्य-सामायिक— सामान्यतया सामायिक की वेशभूषा पहनकर उस हेतु निर्धारित बाह्य-क्रिया करना द्रव्य सामायिक है, किन्तु आचार्य हरिभद्र के अनुसार, मिट्टी और स्वर्ण में समान भाव रखना द्रव्य-सामायिक है।

भाव-सामायिक— जो मित्र और शत्रु में क्रमशः राग-द्वेष न रखकर अपने को समस्त सावद्य-क्रिया से दूर रहते हुए स्वयं में रहता है, वही भाव-सामायिक है।¹ यहाँ शंका है कि द्रव्य-सामायिक में मिट्टी और स्वर्ण को समान समझता है तथा भाव-सामायिक में शत्रु और मित्र को समान समझता है। दोनों में समान बुद्धि है, फिर भी द्रव्य व भाव दो भेद करने का अर्थ समझ में नहीं आता है। इसका समाधान दोनों ही व्याख्या से स्पष्ट है कि जो द्रव्यों में स्वर्ण व मिट्टी को समान समझता है, उसका वह समझना सरल है, परन्तु स्वर्ण व मिट्टी को समान समझने वाला शत्रु एवं मित्र को समान समझे, यह आवश्यक नहीं है, इसी कारण द्रव्य व भाव-सामायिक के अर्थ समान होने पर भी उनमें बहुत अन्तर है। चूँकि द्रव्य-सामायिक के परिणाम भाव-सामायिक में सहयोगी हैं, पर भाव-सामायिक नहीं हैं तथा मिट्टी व स्वर्ण के समान समझने वाला शत्रु व मित्र को समान समझे, यह नहीं कह सकते, पर शत्रु व मित्र को समान समझने वाला स्वर्ण व मिट्टी को समान ही समझेगा, यह निश्चित है, अतः

¹ श्रावकाचार-प्रश्नोत्तर — पं. हीरालाल— 18/25

सामायिक द्रव्य व भाव— दोनों भेद से संयुक्त करते हुए सामायिक की उपयोगिता आत्मसात् करें।

सामायिक कितने समय की— हालांकि सामायिक समत्व की साधना है, किन्तु श्रावक सम्पूर्ण रूप से समता में नहीं रह सकता, इसलिए समय की सीमा निर्धारित कर दी गई है। एक सामायिक का समय एक मुहुर्त्त (दो घड़ी), अर्थात् 48 मिनट है।

इसका शास्त्रीय—कारण भी है कि ध्यान—साधना का चरम समय 48 मिनट ही है, क्योंकि चित्त की स्थिरता इससे अधिक काल तक नहीं रहती है। इसी आधार पर एक सामायिक का समय भी दो घड़ी का ही रखा गया है।

सामायिक कैसी हो— सामायिक पुनिया श्रावक की तरह मन, वचन, काया की चंचलता से रहित हो, मन—वचन—काया के बत्तीस दोषों से रहित हो, राजकथा, देशकथा, भक्तकथा, स्त्री (पुरुष) कथा से रहित हो, सावद्ययोग से रहित हो, राग—द्वेष से रहित हो।

सामायिक के उपयोगी उपकरण— धोती, उत्तरसण, आसन, मुखवस्त्रिका, चरवला, माला, पुस्तक, स्थापनाचार्य आदि।

अतिचार— प्रायः सभी ग्रन्थों में सामायिक के पाँच अतिचार माने गए हैं। पंचाशक—प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने सामायिक—व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचारों का कथन किया है। वे पाँच अतिचार निम्न हैं—

मणवयणकाय दुष्पणिहाणं इह जतुओ विवज्जेई।

सइअकरणयं अणवहियस्स तह करणयं चेव।।¹

1. मनोदुष्प्रणिधान 2. वचनदुष्प्रणिधान 3. कायदुष्प्रणिधान 4. स्मृति अकरण 5. अनवस्थितकरण।

उपासकदशांग मूल एवं टीका में भी सामायिक के इन्हीं पाँच अतिचारों का उल्लेख है, जो पंचाशक के अनुसार ही हैं।² तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार सामायिकव्रत के पाँच अतिचार निम्न प्रकार से हैं— 1. कायदुष्प्रणिधान 2. वचनदुष्प्रणिधान 3.

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/25 — पृ. — 10

² उपासकदशांग टीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/53 — पृ. — 50

मनोदुष्प्रणिधान 4. अनादर और 5. स्मृति-अनुपस्थापना, जो नाम व क्रम में पंचाशक से कुछ असमानता रखते हैं।³

1. मनोदुष्प्रणिधान— पंचाशक के अनुसार पाप-युक्त विचार करना मनोदुष्प्रणिधान-अतिचार है।⁴ उपासकदशांगटीका के अनुसार दूषित चिन्तन मनोदुष्प्रणिधान है।⁵ तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश में होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना मनोदुष्प्रणिधान है।¹ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार मन से दुश्चिन्तन करना मनोदुष्प्रणिधान है।² चारित्रसार के अनुसार सामायिक करने में मन को न लगाने को मनोदुष्प्रणिधान बताया गया है।³ योगशास्त्र के अनुसार क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या और कार्य की व्यस्तता से उत्पन्न क्षोभ मन को जिस प्रकार दुष्प्रवृत्त करता है, उसे मनोदुष्प्रणिधान कहते हैं।⁴

2. वचनदुष्प्रणिधान— पंचाशक-प्रकरण के अनुसार पापयुक्त वचन बोलना वचनदुष्प्रणिधान है।⁵

उपासकदशांगटीका के अनुसार वाणी का दुरुपयोग करना, मिथ्या भाषण करना, हृदय को आघात लगे- एसी बात करना वचनदुष्प्रणिधान है।⁶ तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार संस्कार-रहित तथा अर्थरहित एवं हानिकारक भाषा बोलना वचनदुष्प्रणिधान है।⁷

चारित्रसार के अनुसार शब्दों के उच्चारण में और उसके भावरूप अर्थ में अज्ञानकारी और चपलता रखना वचनदुष्प्रणिधान है।⁸

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में सामायिक के उद्यत व्यक्ति को पूर्व में बुद्धि से विचार कर निर्दोष भाषण न करने को वचनदुष्प्रणिधान कहा है।⁹ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/28 - पृ. - 185

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/26 - पृ. - 11

⁵ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/53 - पृ. - 50

¹ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/28 - पृ. - 189

² तत्त्वज्ञान-प्रवेशिक - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 24

³ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 246

⁴ योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/115

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/26 - पृ. - 11

⁶ उपासकदशांग टीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/53 - पृ. - 50

⁷ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/28 - पृ. - 189

⁸ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 246

⁹ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्रसूरि- 3/4

¹⁰ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिक - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 24

के अनुसार वचन से असत्य बोलना एवं हिंसादि कार्यों का आदेश देना वचनदुष्प्रणिधान है।¹⁰

3. कायदुष्प्रणिधान – पंचाशक प्रकरण के अनुसार पापयुक्त कार्य करना कायदुष्प्रणिधान अतिचार है।¹¹ उपासकदशांग टीका के अनुसार देह से हिंसादि कुचेष्टाएं करना कायदुष्प्रणिधान है।¹²

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार हाथ-पैर आदि अंगों के व्यर्थ में बुरी तरह से चलाते रहना कायदुष्प्रणिधान है।¹ चारित्रसार में शरीर के हस्तपाद आदि अंगों को स्थिर नहीं रखना कायदुष्प्रणिधान माना है।² श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में सामायिक-योग्य भूमि को आँखों से न देखकर कोमल वस्त्र से प्रमार्जन नहीं कर उस स्थान का सेवन करना है, उसे कायदुष्प्रणिधान-अतिचार कहते हैं।³ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार चखले से बिना प्रमार्जन किए स्थान में बैठना, पांव आदि पसारना, सामायिक में बिना देखे चलना, रात्रि में चखले से बिना प्रमार्जन चलना कायदुष्प्रणिधान है।⁴

4. स्मृति-अकरण- पंचाशक-प्रकरण के अनुसार प्रमाद के कारण सामायिक नहीं करना या सामायिक का समय भूल जाना स्मृतिअकरण-अतिचार है।⁵

¹¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/26 - पृ. - 11

¹² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/53 - पृ. - 50

¹ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/28 - पृ. - 189

² चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 246

³ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्रसूरि- 3/5

⁴ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिक - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 24

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/26 - पृ. - 11

⁶ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/53 - पृ. - 50

⁷ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/28 - पृ. - 189

⁸ (क) योगशास्त्र - आ. हेमचन्द्राचार्य- 3/116

(ख) श्रावकप्रज्ञप्ति टीका - आ. हरिभद्रसूरि- 3/6

उपासकदशांग की टीका के अनुसार प्रमाद, अजागरुकता, असावधानी स्मृति अकरण है, अर्थात् मैं सामायिक हूँ, या सामायिक कर चुका हूँ, या सामायिक करना है, यह भूल जाना स्मृतिअकरण—अतिचार है।⁶

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार एकाग्रता का अभाव, अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना स्मृति—अनुपस्थान है।⁷

योगशास्त्र—स्वोपज्ञटीका, श्रावकप्रज्ञप्तिटीका आदि में सामायिक मुझे करना है या नहीं करनी है, अथवा मैं सामायिक कर चुका हूँ या नहीं— इस प्रमाद के कारण सामायिक में स्मृति न रहना— यह दोष माना गया है।⁸

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार सामायिक में सामायिक की स्मृति न रहना— यह दोष माना गया है।¹

तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका के अनुसार मेरे सामायिक है— इस बात को भूलकर सावद्य प्रवृत्ति करना स्मृति—अकरण—अतिचार है।²

5. अनवस्थितकरण — पंचाशक—प्रकरण के अनुसार प्रमाद से चित्त की स्थिरता के बिना सामायिक करने को अनवस्थितकरण—अतिचार कहते हैं।³

उपासकदशांगटीका के अनुसार सामायिक के नियतकाल के पूर्ण हुए बिना ही सामायिक—व्रत का पालन कर लेना अनवस्थितकरण—अतिचार है।⁴

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार सामायिक में उत्साह का न होना, अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्ति न होना, अथवा ज्यों—त्यों प्रवृत्ति करना अनादर—अतिचार है। तत्त्वार्थ—सूत्र में अनादर शब्द का प्रयोग किया गया है, जो पंचाशक से पृथक् है।⁵

¹ सर्वार्थसिद्धि — आ. पूज्यपाद— 7/33

² तत्त्वज्ञान—प्रवेशिक — प्र. सज्जनश्री — भाग— 3 — पृ. — 25

³ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/26 — पृ. — 11

⁴ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/53 — पृ. — 51

⁵ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/28 — पृ. — 189

⁶ श्रावकप्रज्ञप्तिटीका — आ. हरिभद्रसूरि— 3/116

⁷ चारित्रसार — चामुण्डाचार्य — पृ. — 246

⁸ तत्त्वज्ञान—प्रवेशिक — प्र. सज्जनश्री — भाग— 3 — पृ. — 25

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका के अनुसार सामायिक को ग्रहण करके शीघ्र वापस समाप्त कर देना या मनमाने ढंग से अनादरपूर्वक सामायिक करना अनवस्थितकरण—अतिचार है। यहाँ हरिभद्रसूरि ने इस अतिचार को पंचाशक—प्रकरण से विशेष रूप से स्पष्ट किया है।⁶

चारित्रसार में भी इसका नाम अनादरपूर्वक दिया जाकर आलस्य, मोह एवं प्रमाद से युक्त होकर या बिना किसी उत्साह के सामायिक करने को अनवस्थितकरण—अतिचार के रूप में प्रतिपादित किया है।⁷

तत्त्वज्ञान—प्रवेशिका के अनुसार सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले सामायिक को पूर्ण कर लेना अनवस्थितकरण अतिचार है।⁸

सामायिक समत्व—योग की साधना है। शान्ति चाहने वाले सभी को यह सामायिक करना चाहिए, फिर चाहे वह धनाढ्य हो या दरिद्र, चाहे श्रावक हो या श्राविका, क्योंकि शान्ति एवं धैर्य पाने का यह अमोघ उपाय है। भौतिक—सुखों की उपलब्धि से शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति तो आध्यात्मिक—आनन्द से मिलती है और आध्यात्मिक सुख सामायिक का ही है।

दो—दो घड़ी के इस अभ्यास से व्यक्ति पूर्ण शान्ति की ओर पहुँच सकता है। ऐसा सरल मार्ग और किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के माध्यम से श्रावक के बारह व्रतों के विषय का प्रतिपादन करते हुए नवम व्रत सामायिक—व्रत को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सामायिक—व्रत को सुरक्षित रखने के लिए सामायिक—व्रत में लगने वाले पांच अतिचारों के वर्जन हेतु दिग्दर्शन दिया है कि सामायिक—व्रतधारी सामायिक के समय सम्पूर्ण रूप से ध्यान रखे कि निम्न अतिचारों के द्वारा सामायिक दूषित न हो जाए। यदि सामायिक

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/27 — पृ. — 11

दूषित हो गई, तो सामायिक का फलशान्ति, समाधि एवं मोक्ष का जो स्वरूप है, वह प्राप्त नहीं हो पाएगा।

देशावगासिकव्रत — आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के श्रावकविधि-पंचाशक की सत्ताइसवीं गाथा में दूसरे शिक्षाव्रत- देशावकासिकव्रत का प्रतिपादन करते हुए बताया है-

दिसिवय गहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जंतु।

परिमाण कर मे यं अवरं खुल होइ विण्णेयं ॥

दिग्व्रत में लिए हुए दिशा-परिमाण की सीमा का निर्धारण जीवन-पर्यन्त के लिए किया जाता है, जैसे- जीवन-पर्यन्त पूर्व दिशा में 1500 किमी से आगे नहीं जाने का नियम लेना। देशावकासिकव्रत में अहोरात्र, दिवस-रात्रि या प्रहर आदि के लिए गमनागमन की सीमा निश्चित की जाती है।¹

उपासकदशांगटीका में देशावकासिकव्रत का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि निश्चित समय-विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा कर उससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक-प्रवृत्ति नहीं करना देशावकासिकव्रत है। यह छठवें व्रत का संक्षेप है। इसमें साधना एक दिन-रात या उससे न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है।¹

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार इस व्रत का मुख्य उद्देश्य आंशिक रूप से गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति प्राप्त करना है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से परिवर्तनप्रिय है। घर-गृहस्थी के कोलाहलपूर्ण और अशान्त जीवन से निवृत्ति लेकर एक शान्त जीवन का अभ्यास एवं आस्वाद करना ही इसका लक्ष्य है। वैसे भी हम सप्ताह में एक दिन अवकाश मनाते हैं। देशावकासिकव्रत इसी साप्ताहिक अवकाश का आध्यात्मिक-साधना के क्षेत्र में उपयोग है और इस दृष्टि से इसकी सार्थकता है।²

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/54 - पृ. - 51

² डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ - डॉ. सागरमल जैन - पृ. - 332

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7 - पृ. - 182

⁴ (क) रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र- 5/12

(ख) चारित्रसार श्रावकाचार-संग्रह - चामुण्डाचार्य - पृ. - 343

(ग) अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति - 78

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी प्रयोजन के अनुसार समय-समय पर क्षेत्र का परिमाण सीमित करके उसके बाहर पाप-प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त होना देशावकासिकव्रत है।³

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार, चारित्रसार, अमितगति-श्रावकाचार, सागारधर्माभूत आदि में दिग्गत में ग्रहण किए गए व्यापक क्षेत्र की मर्यादा का अणुव्रतधारी श्रावकों द्वारा प्रतिदिन संकोच करना देशावकासिकव्रत बताया गया है।⁴

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में, जो लोभ और काम के विकार को शमन करने के लिए पापों को छोड़ने के लिए वर्ष आदि का प्रमाण करके पूर्व में किए गए सर्व दिशाओं के परिमाण का जो फिर से संवरण किया जाता है, उसे देशावकासिकव्रत कहा गया है।⁵

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार परिग्रह परिमाण और दिशा- परिमाण-व्रत के सम्बन्ध में यावज्जीवन के लिए की गई मर्यादा को और अधिक सीमित करने के लिए देशावकासिकव्रत ग्रहण किया जाता है।

दिशा-परिमाण में गमनागमन का क्षेत्र यावज्जीवन के लिए सीमित किया जाता है और यहाँ उस सीमित क्षेत्र को एक-दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है, जिससे उपभोगादि सामग्री की सीमा भी संक्षिप्त हो जाती है। इस प्रकार उसका जीवन पवित्र बनता है।¹

योगशास्त्र के अनुसार दिग्गत में गमनागमन के लिए जो परिमाण नियत किया गया है, उसे दिन तथा रात्रि में संक्षिप्त कर लेना देशावकासिकव्रत है।

इच्छाओं को सीमित करने के लिए इस व्रत का विधान है। यह व्रत प्रथम गुणव्रत-दिग्परिमाणव्रत से सम्बन्ध रखता है। दिग्गत में जिन दिशाओं में जाने का

(घ) सागारधर्माभूत -- पं. आशाधर- 5/5

⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा -- स्वामी कार्तिकेय -- 66,67

परिमाण किया जाता है, वह विराट् और जीवन-पर्यन्त के लिए होता है, परन्तु इस दूसरे शिक्षाव्रत में आंशिक रूप से विशेष मर्यादा निश्चित की जाती है।

देशावकासिक दो शब्दों से मिलकर बना है— देश + अवकाश। देश का अर्थ है— कुछ भाग, अंश और अवकाश का अर्थ है— खुला रखना। कुछ भाग खुला रखकर कोई नियम लेना देशावकासिकव्रत है, अर्थात् बहुत भाग से कुछ भाग की मर्यादा करना, सीमा करना, संक्षिप्त करना देशावकासिक है।

इस व्रत को संवर भी कह सकते हैं। इस व्रत में मन, वचन, काया के गमनागमन की प्रवृत्ति को सीमित करके कर्म आने के रूप आश्रय के द्वारों को बन्द करते हैं। यह बन्द करना ही संवर है और यह संवर ही निर्जरा या मोक्ष का हेतु बनता है, अतः समय-समय पर देशावकासिकव्रत ग्रहण करते रहना चाहिए व पंचाशक के अनुसार देशावकासिकव्रत को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। व्रतधारी श्रावकों का लक्ष्य तो होना ही चाहिए कि गृहस्थ-जीवन के जाल से मुक्त होकर अल्पकाल के लिए निवृत्ति के मार्ग पर चलना, जिसके फलस्वरूप हिंसादि पाप से बचा जा सके।

आचार्य हरिभद्र ने सावयपण्णति में इस व्रत का विशेष खुलासा किया है। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की 319 वीं गाथा में सर्प व विष का उदाहरण देते हुए कहा है कि— जिस प्रकार सर्प का दृष्टिविष, जो पूर्व में बारह योजन परिमाण था, पीछे उसे मान्त्रिक द्वारा क्रम से उतारते हुए एक योजन में स्थापित कर दिया जाता है। इसी प्रकार श्रावक-दिग्व्रत में गृहीत विशाल देश में बहुत कुछ पाप-प्रवृत्ति कर सकता है तथा उसे देशावकासिकव्रत में सीमित कर देने के कारण अधिक पाप-प्रवृत्ति से बच जाता है। दूसरा उदाहरण विष का दिया गया है। जिस प्रकार विषैले किसी सर्प आदि के काट लेने पर उसका विष समस्त शरीर में फैल जाता है, फिर भी मान्त्रिक अपनी मन्त्र-शक्ति द्वारा उसे क्रमशः उतारते हुए केवल अंगुली में स्थापित कर देता है, उसी प्रकार देशावकासिकव्रती दिग्व्रत में स्वीकृत विशाल देश को काल के आश्रय से प्रतिदिन संक्षिप्त करता है। ऐसा करने पर प्रमाद से रहित होने के कारण उसका चित्त भी निर्मल होता है, इसलिए प्रमाद-रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक इस व्रत का निर्दोष रूप से पालन करना चाहिए।

अतिचार — आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में देशावकासिकव्रत में लगने वाले दोषों (अतिचारों) का वर्णन किया है—

वज्जइ इह आणयप्पओग पेसप्प ओगयं चेव ।

सद्दाणुरुववायं तह बहिया पोग्गलक्खेवं ।।

देशावकासिकव्रत में लगने वाले पांच अतिचारों का इस पंचाशक की अट्ठाइसवीं गाथा में वर्णन किया गया है। श्रावकों को प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि इन अतिचारों का त्याग करें। समझने एवं त्याग करने योग्य पांच अतिचार ये हैं— 1. आनयन-प्रयोग 2. प्रेष्य-प्रयोग 3. शब्दानुपात 4. रूपानुपात और 5. पुद्गल-प्रक्षेप।

1. आनयन-प्रयोग— पंचाशक-प्रकरण के अनुसार सीमित क्षेत्र से बाहर की वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर उसे दूसरों को आदेश देकर मंगाना आनयन-प्रयोग—अतिचार है।¹

उपासकदशांगटीका के अनुसार जितने क्षेत्र की मर्यादा की है, उससे बाहर की वस्तुएँ अन्य व्यक्ति से मंगवाना आनयन-प्रयोग—अतिचार है।¹

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार जितने प्रदेश का नियम लिया हो, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर भी संदेश आदि के द्वारा दूसरों से उसके बाहर की वस्तुएँ मंगवा लेना आनयन-प्रयोग—अतिचार है।²

चैत्यवन्दनकुलक के अनुसार नियमित सीमा से बाहर की वस्तु मंगाना या स्वयं वहाँ जाकर ले आना, अथवा नौकर आदि को भेजकर मंगा लेना आनयन-प्रयोग अतिचार है। यहाँ सभी मत पंचाशक के अनुसार ही हैं।³

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/28 — पृ. — 11

¹ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/54 — पृ. — 51

² तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/26 — पृ. — 189

³ चैत्यवन्दनकुलकटीका — रचित श्रीजिनकुशलसूरि — पृ. — 195

⁴ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/28 — पृ. — 12

⁵ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/54 — पृ. — 51

⁶ तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वाति— 7/26 — पृ. — 189

2. प्रेष्य-प्रयोग- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में इस शिक्षाव्रत के दूसरे अतिचार का वर्णन करते हुए कहा है कि सीमित क्षेत्र के बाहर कार्य पड़ने पर दूसरे को भेजना प्रेष्य-प्रयोग-अतिचार है।⁴

उपासकदशांगटीका के अनुसार मर्यादित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र के कार्यों को सम्पादित करने हेतु सेवक पारिवारिक व्यक्ति आदि को भेजना प्रेष्य-प्रयोग-अतिचार है।⁵

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार स्थान-सम्बन्धी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और न दूसरे से ही उस वस्तु को मंगवाना, किन्तु नौकर आदि से आज्ञापूर्वक वहाँ बैठे-बिठाए काम करा लेना प्रेष्य-प्रयोग-अतिचार है।⁶ यह मन्तव्य पंचाशक-प्रकरण से कुछ भिन्नता रखता है।

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार सीमा से बाहर वस्तु को भेजना प्रेष्य-प्रयोग-अतिचार है।⁷

3. शब्दानुपात - पंचाशक-प्रकरण के अनुसार मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को बुलाने के लिए खांसी आदि से संकेत करना शब्दानुपात-अतिचार है।¹

उपासकदशांगटीका के अनुसार मर्यादित क्षेत्र से बाहर का कार्य सामने आ जाने पर ध्यान में आ जाने पर, छींककर, खांसी लेकर या किसी प्रकार का शब्द-संकेत कर पड़ोसी आदि से कार्य कराना शब्दानुपात-अतिचार है।²

⁷ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 25

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/28 - पृ. - 12

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/54 - पृ. - 51

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/26 - पृ. - 189

⁴ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 25

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/28 - पृ. - 12

⁶ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/54 - पृ. - 52

⁷ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/26 - पृ. - 189

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बुलाकर काम करवाने के लिए खांसी आदि द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना शब्दानुपात-अतिचार है।³

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार सीमा से बाहर शब्दादि संकेत करके, स्वयं का होना सूचित करके, अर्थात् मैं यहाँ हूँ- ऐसा ध्यान आकृष्ट कर कार्य करवाना शब्दानुपात-अतिचार है।⁴

4. रूपानुपात- पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने कहा है- मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिए शारीरिक-मुद्रा द्वारा संकेत करना आदि रूपानुपात-अतिचार है।⁵

उपासकदशांगटीका के अनुसार मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए मुँह से कुछ न बोलकर हाथ आदि से संकेत करना रूपानुपात- अतिचार है।⁶

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार किसी तरह का शब्द न करके, आकृति बतलाकर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना रूपानुपात-अतिचार है।⁷

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार सीमा से बाहर रहे हुए व्यक्ति को किसी क्रिया का संकेत करना रूपानुपात-अतिचार है।¹

¹ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 25

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/28 - पृ. - 12

³ उपासकदशांगटीका - आ. अमयदेवसूरि- 1/54 - पृ. - 52

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/26 - पृ. - 189

⁵ तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका - प्र. सज्जनश्री - भाग- 3 - पृ. - 25

5. पुद्गल-प्रक्षेप- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में देशावकासिकव्रत के पांचवें अतिचार का वर्णन करते हुए कहा है कि मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को बुलाने के लिए कंकड़ आदि फेंकना पुद्गल-प्रक्षेप अतिचार है।²

उपासकदशांगटीका के अनुसार मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए कंकड़ आदि फेंककर दूसरों को ईशारा करना पुद्गल-प्रक्षेप -अतिचार है।³

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार कंकड़, ढेला आदि फेंककर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना पुद्गल-प्रक्षेप-अतिचार है।⁴

तत्त्वज्ञान-प्रवेशिका के अनुसार सीमा से बाहर कोई वस्तु फेंककर अपना होना ज्ञात करवाना- इसे पुद्गल-प्रक्षेप-अतिचार कहते हैं।⁵

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में बारह व्रतधारी श्रावकों को निर्देश दिया है कि लिया हुआ यह व्रत दूषित न हो, इस हेतु इन अतिचारों का त्याग करना चाहिए।

पौषध-व्रत- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में पौषध-व्रत की चर्चा करते हुए पौषध की विधि बताई है-

आहार देह सक्कार बंभवावार पोसहोयऽन्नं ।

देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ॥¹

आहार-पौषध, देहसत्कार-पौषध, ब्रह्मचर्य-पौषध और अव्यापार-पौषध ।

आहार-पौषध - आहार का त्याग ।

देहसत्कार-पौषध - शरीर को सुशोभित करने का त्याग ।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूत्रि- 1/29 - पृ. - 12

² पौषधशब्दोद्देश्यादि पर्वसुरुद्धः तत्रपौषधे उपवासः पौषधोपवासः सचाहारादि विशयभेदाच्चतुर्विधः इतितस्य -

ब्रह्मचर्य—पौषध — अब्रह्म का त्याग।

अव्यापार—पौषध — पाप—व्यापार का त्याग।

पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने पौषध के दो भेद किए हैं— 1. देश (अंशतः) और 2. सर्व (पूर्णतः), अर्थात् इनका आंशिक रूप से त्याग करना देशपौषध है और सम्पूर्ण रूप से त्याग करना सर्वपौषध कहलाता है।

पंचाशक के अनुसार इन चार पौषधों में से तीन पौषध, अर्थात् आहार, देहसत्कार और ब्रह्मचर्य में सामायिक हो या न हो, लेकिन चौथे अव्यापार पौषध में सामायिक तो नियम से होती ही है। अव्यापार—पौषध वाला सावद्य व्यापार नहीं करता है, इसलिए यदि वह सामायिक न ले, तो उसके लाभ से वह वंचित रह जाता है।

उपासकदशांगसूत्रटीका में पौषध का अर्थ अष्टमी आदि पर्वतिथि और उपवास का अर्थ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि चार प्रकार के आहार का त्याग— इन दोनों के सम्मिलित रूप को पौषधोपवास कहा गया है।² इसमें उपवास के साथ पापमय कार्यों का भी त्याग किया जाता है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार उपवासपूर्वक विषय—वासनाओं पर नियन्त्रण रखना ही इस व्रत का उद्देश्य है। इसे हम एक दिन के लिए ग्रहण किया हुआ श्रमण—जीवन भी कह सकते हैं।³ श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र में एक दिन—रात के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग, अब्रह्मचर्य सेवन, मणि, सुवर्ण, पुष्पमाला, सुगन्धित चूर्ण, तलवार, हल, मूसल आदि सावद्य योगों के त्याग करने को पौषधोपवास माना है।¹

रत्नकरण्डक—श्रावकाचार में चारों प्रकार के आहार—त्याग को उपवास तथा एक बार भोजन करने को पौषधोपवास कहा है। इस प्रकार एकासनरूप पौषध करने को पौषधोपवास कहा है।² कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार जो पर्व के दिनों में स्नान, विलेपन,

उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 45

³ डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ — डॉ. सागरमल जैन — पृ. — 332

¹ श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र — अणुव्रत — 11

² चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्—मुक्तिः।

स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरितः।।” — रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — समन्तभद्र — पृ. — 109

³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा — उपाध्ये ए. एन. — 57

स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप आदि का परिहार करता है, उपवास एकासन या विकाररहित नीरस भोजन करता है, वह पौषधोपवासधारी कहा जाता है।³

पुरुषार्थ-सिद्धयुपायु में सर्व-सावध कार्यों को छोड़कर सोलह प्रहर व्यतीत करने एवं उस काल में पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन करने को पौषधोपवासव्रत बताया गया है।⁴

उपासकाध्ययन में कहा गया है कि इस दिन विशेष पूजा, क्रिया एवं व्रतों का आचरण कर धर्मकार्य की वृद्धि करना चाहिए। पर्व के दिनों में रसों का त्याग करना, एकासन, एकान्त-निवास, उपवास आदि करना चाहिए।⁵

चारित्रसार, अमितगति-श्रावकाचार और श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में उपासकदशांगसूत्रटीका की तरह ही चारों प्रकार के आहार-त्याग को पौषध कहा है।⁶

योगशास्त्र में पर्व के दिनों में उपवास आदि तप करना, पापमय क्रियाओं का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, शारीरिक-शोभा का त्याग करना पौषधोपवास है।⁷

तत्त्वार्थ-भाष्य में पर्वकाल को पौषध का काल कहते हैं। आहार का परित्याग करके धर्म-साधना के लिए धर्मायतन में निवास करने को पौषध और पर्वकाल में जो उपवास किया जाए, उसे पौषधोपवासव्रत कहते हैं।¹

पौषध की तिथियां— पौषध कौन सी तिथियों में करना चाहिए ? इसकी चर्चा कई आचार्यों ने की है, परन्तु पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने पौषध की तिथियों के विषय में कोई चर्चा नहीं की है। आचार्य हरिभद्र ने श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में अवश्य पौषध की तिथियों का वर्णन किया है।

⁴ पुरुषार्थ सिद्धयुपायु - अमृतचन्द्राचार्य - 157

⁵ उपासकाध्ययन - सोमदेवसूरि - 7/8/19

⁶ (क) चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - 247

(ख) अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति- 7/12

(ग) श्रावकप्रज्ञप्तिटीका - आ. हरिभद्रसूरि- 321/22

⁷ योगशास्त्र - हेमचन्द्राचार्य- 3/85

¹ पौषधोपवास नाम पौषधे उपवासः

पौषधोपवासः पौषधे पर्वव्यनर्थान्तरम् ॥

- पं. खूबचन्द - तत्त्वार्थ-भाष्य- 7/16

श्रावकप्रज्ञप्तिटीका में भी अष्टमी एवं चतुर्दशी को पर्व-तिथि कहा है।² उपासकदशांगसूत्र में अभयदेवसूरि ने द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्वतिथि माना है।³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में भी अष्टमी एवं चतुर्दशी पर्व-तिथियाँ बताई गई है।⁴

योगशास्त्र और तत्त्वार्थभाष्य में अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या को पर्व-तिथि कहा गया है।⁵

इन तिथियों के दिनों में पौषध-व्रत का पालन विशेष रूप से किया जाता है।

अतिचार — आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक-प्रकरण में पौषधोपवासव्रत दूषित न हो, इस हेतु निर्देश किया है कि श्रावक को निम्न बातों का ध्यान रखते हुए अपने पौषधोपवासव्रत को अखण्ड रखे। भूल से भी कहीं पौषधोपवास में दोष न लग जाए, इस हेतु किन दोषों की अधिक सम्भावना रहती है, उनका उल्लेख किया गया है—

अप्पडि दुप्पडि लेहियऽपमज्जसेज्जाइ वज्जई एत्थ ।

संमं च अणणुपालण माहाराईसु सव्वेसु ।।¹

1. अप्रतिलेखित या दुष्प्रतिलेखित शय्या संस्तारक अतिचार ।
2. अप्रमार्जित या दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक-अतिचार ।
3. अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवण-भूमि-अतिचार ।
4. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवण-भूमि-अतिचार ।

² श्रावकप्रज्ञप्तिटीका — आ. हरिभद्रसूरि— 321

³ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 45

⁴ पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु — समन्त भद्राचार्य — रत्नकरण्डक-श्रावकाचार — 106

⁵ (क) योगशास्त्र — हेमचन्द्राचार्य— 3/85

(ख) तत्त्वार्थ-भाष्य— 7/16 — पं. खूबचन्द— 7/16

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/30 — पृ. — 12

² उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/55 — पृ. — 53

³ तत्त्वार्थ-सूत्र — आ. उमास्वति— 7/26 — पृ. — 189

⁴ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/30 — पृ. — 13

5. सम्यक्—अननुपालन—अतिचार।

उपासकदशांगटीका के अनुसार ही पौषधोपवास के पांच अतिचार पंचाशक—प्रकरण में भी उल्लिखित है।²

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम, अनादर एवं स्मृत्युस्थापन अतिचार हैं। इनमें कुछ नाम पंचाशक से भिन्न प्रतीत होते हैं।³

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में पौषधोपवासव्रत में जिन दोषों को लगने पर व्रत दूषित होता है, उन अतिचारों का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक इन अतिचारों से बचें, ताकि पौषधोपवास अखण्डित रह सके, अर्थात् व्रत की सुरक्षा हो सके। आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक—प्रकरण में पौषधोपवास के प्रथम अतिचार का कथन निम्न प्रकार से किया है—

1. अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—शय्या—संस्तारक—अतिचार— शय्या से अभिप्राय है—पलंग, चारपाई, बिस्तर आदि। अपनी आंखों से निरीक्षण किए बिना या अच्छी तरह निरीक्षण किए बिना बिस्तर लगाना, बिस्तर पर सोना इत्यादि अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—शय्या—संस्तार—अतिचार है।⁴

उपासकदशांगटीका के अनुसार शय्या, अर्थात् कम्बल, आसन आदि हैं, जिन्हें देखे बिना या अच्छी तरह देखे बिना शय्यादि का उपयोग करना प्रथम अतिचार है।¹

चारित्रसार के अनुसार बिना देखे, बिना शोधन किए बिस्तर को बिछाने, समेटने आदि को प्रथम अतिचार कहा है।²

¹ उपासकदशांगटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/55 — पृ. सं. — 53

² चारित्रसार — चामुण्डाचार्य — पृ. सं. — 12

³ तत्त्वार्थ सूत्र — आ. उमास्वति— 7/29 — पृ. सं. — 189

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किए बिना ही बिछौना करना या आसन बिछाना प्रथम अतिचार है।³

2. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक-पंचाशक-प्रकरण के अनुसार चखले आदि से साफ नहीं किया हुआ या अच्छी तरह साफ नहीं किया हुआ बिस्तर लगाना, उस पर सोना इत्यादि अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक-अतिचार है।⁴

उपासकदशांगटीका के अनुसार कोमल वस्त्र से प्रमार्जित न किए हुए, बिना पूजे अथवा लापरवाही से पूजे स्थान एवं बिछौने का उपयोग करना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक-अतिचार है,⁵ परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में चारित्रसार, सर्वार्थसिद्धि आदि में इस अतिचार का अर्थ बिना शोधन किए और बिना देखे पूजा के उपकरणों (जिनमें गंध, माला, धूप, वस्त्रादि हैं) से ग्रहण किया गया है।⁶ तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किए बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना अतिचार है। प्रस्तुत अतिचार पंचाशक-प्रकरण के विपरीत है।⁷

3. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-पंचाशक-प्रकरण के अनुसार दीर्घशंका और लघुशंका करने की भूमि को देखे बिना या अच्छी तरह देखे बिना मलमूत्र विसर्जन करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार है।¹

उपासकदशांगटीका के अनुसार भी बिना देखे और बिना शोधन किए भूमि पर मल-मूत्रादि छोड़ने को अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार कहते हैं।²

⁴ पंचाशक प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/30 - पृ. सं. - 13

⁵ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/55 - पृ. सं. - 53

⁶ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. सं. - 12

⁷ तत्त्वार्थ सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/29 - पृ. सं. - 189

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/30 - पृ. - 13

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/55 - पृ. - 53

³ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 12

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/29 - पृ. - 189

चारित्रसार के अनुसार बिना शोधन किए भूमि पर मल-मूत्रादि छोड़ना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार कहते हैं।³

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार आखों से देखे बिना ही एवं कोमल उपकरण से प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किए बिना ही मलमूत्र श्लेष्म आदि का त्याग करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार है।⁴

4. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि- पंचाशक-प्रकरण के अनुसार साफ किए बिना या अच्छी तरह साफ किए बिना मलमूत्र की भूमि का उपयोग करना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार है।⁵

उपासकदशांगटीका के अनुसार भूमि को पूंजे बिना मल मूत्रादि को, विसर्जित करने को अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार कहा है।⁶

चारित्रसार के अनुसार मल-मूत्रादि को पूंजे बिना विसर्जित करना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रश्रवणभूमि-अतिचार है।⁷

5. सम्यक्-अननुपालन - पंचाशक-प्रकरण के अनुसार आहार-पौषध, देहसत्कार-पौषध आदि का शास्त्रोक्त-विधि के अनुसार पालन नहीं करना सम्यक् अननुपालन-अतिचार है।¹

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/30 - पृ. - 13

⁶ उपासकदशांगटीका - आ. अमयदेवसूरि- 1/55 - पृ. - 53

⁷ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 12

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/30 - पृ. - 13

² तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/29 - पृ. - 189

³ उपासकदशांगटीका - आ. अमयदेवसूरि- 1/55 - पृ. - 53

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/29 - पृ. - 189

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार पौषध में उत्साह-रहित होकर ज्यों-त्यों करके प्रवृत्ति करना अनादर-अतिचार है।²

उपासकदशांग के अनुसार पौषध में अशन-पान आदि चारों आहारों का त्याग, शरीर-सत्कार, वेशभूषा का त्याग, मैथून, समस्त सावद्य-व्यापार का त्याग तथा इनका स्मरण नहीं रखने की स्थिति को पौषध सम्यक्-अननुपालन-अतिचार कहा है।³

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार पौषध कब करना और कैसे करना या कब नहीं करना, अथवा मैंने पौषध किया है या नहीं किया है, इत्यादि का स्मरण न रहना अतिचार है।⁴

पौष + ध = पौषध। पौष का अर्थ है- गुण, 'ध', अर्थात् धारण करना। गुणों को धारण करना पौषध कहलाता है। भवरोग को मिटाने के लिए पौषध-प्रकृष्ट औषधि है।

प्रायः सभी सम्प्रदायों में पौषधोपवासव्रत शब्द प्रयुक्त है। पौषध + उपवास, अर्थात् पौषध के साथ उपवास करना, अथवा उपवास के साथ पौषध करना पौषधोपवास है। उपवास का अर्थ है- उप + वास, अर्थात् आत्मा के निकट रहना। उपवास का दूसरा अर्थ है- अनशन, अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिम का त्याग करना। उपासकदशांग में पौषधोपवास के प्रसंग में अतिचारों में पोसहोववासस्स शब्द आया है, जिससे प्रतीत होता है कि पौषध उपवास के साथ ही होता था। कालान्तर में इसके अर्थ में अन्तर आया होगा, अतः आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में पौषध को आहार, शरीर-सत्कार एवं ब्रह्मचर्य- इन तीनों की अपेक्षा से देश व सर्व- दोनों प्रकार बताया, परन्तु व्यापार को सर्वतः से बताया गया। इससे अनुमान लगता है कि आचार्य हरिभद्र ने इस व्रत को सुविधापूर्ण बनाने की दृष्टि से यह परिवर्तन किया है।

यह कहा जाता है कि सामायिक एवं पौषध में श्रावक श्रमण जैसा होता है।

यदि सामायिक व पौषध में श्रावक—श्रमण जैसा होता है, तो पौषध में श्रावक को आहार आदि की छूट होना चाहिए ? क्योंकि साधु भी तो आहार आदि करता है। इस बात को इस प्रकार समझें — पहली बात तो साधु के लिए शरीर—सत्कार का सर्वथा त्याग है। अब्रह्म का सर्वथा त्याग है एवं सावद्य—व्यापार का सर्वथा त्याग है, आहार की छूट है। यह छूट इसलिए है कि साधु जीवन—पर्यन्त के लिए बना होता है। वह एक, दो, आठ या दस दिन, अथवा एक महीने आदि के लिए नहीं बना है, अतः आहार के बिना वह अपनी संयमयात्रा का निर्वाह नहीं कर पाएगा, परन्तु गृहस्थश्रावक 48 मिनट या एक दिन, आठ दिन आदि के लिए पौषध करता है, अतः उसके लिए आहार का त्याग बताया गया है। विद्यार्थी स्कूल में छः घण्टे पढ़ता है, तो उसे एक घण्टे के लिए खेलने एवं खाने की छुट्टी दी जाती है, परन्तु जब एक घण्टा ही पाठशाला में पढ़ता है, तो उसे कोई छुट्टी नहीं दी जाती है। यदि कोई एक घण्टा, अथवा एक दिन के लिए श्रमणवत् बने, तो उसे छूट की क्या जरूरत है ? यदि खाने—पीने की चर्चा में ही रह गए, तो फिर एक दिन पौषध करने का (सावद्य से निवृत्त होने का) अर्थ क्या रहेगा ? पौषधव्रत साधु—जीवन का पूर्व अभ्यास है। यह व्रत लेने वाला श्रावक उस अवधि में साधु के तुल्य है, पर साधु नहीं है, अतः साधु की तरह गोचरी, शयन करने आदि की कल्पनाएं न करें, क्योंकि आहार के साथ निद्रा एवं विकथा भी वर्जनीय है। पौषध में स्वाध्याय व ध्यान करें, परन्तु शयन व विकथा न करें। कई लोगों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे पौषध लेकर सो जाते हैं, खर्राटे लेते रहते हैं, ऐसा लगता है, मानो कितने ही दिनों से सोए नहीं हैं। जबकि पौषध में हमारी आराधना होनी चाहिए और हम विराधना करते हैं। पौषध में पूरे घर व समाज की पंचायत कर लेते हैं। कभी निद्रा, कभी निन्दा, कभी गुस्सा, कभी हंसी— यूं करते—करते पूरा दिन व्यतीत कर देते हैं, परन्तु आत्मा का आनन्द नहीं मिल पाता है, अतः पौषध मौन, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, आलोचनपूर्वक करना चाहिए, जिससे लिया हुआ व्रत सुरक्षित रहे व सफल बनें।

श्रावक पौषध में पूर्णरूपेण विवेक रखें— जिस स्थान पर साधना करना हो, उस स्थल को चरवले (रजोहरण) से प्रतिलेखन करें। यदि प्रतिलेखन नहीं करता है या अच्छी तरह से नहीं करता है, तो अतिचार लगता है। मल मूत्रादि परठने के लिए भूमि को दृष्टि से देखें, क्योंकि भूमि पर छोटे-छोटे जीव-जन्तु आदि हो सकते हैं। यदि भूमि को दृष्टि से देखे बिना पानी, मूत्र आदि परठता है, तो उसे अतिचार लगता है।

पौषध में आसन-संधारा आदि बिछाने के पूर्व संधारे की प्रतिलेखना करे व बिछाते समय भूमि की प्रतिलेखना करे। यदि श्रावक इस प्रकार की विधि नहीं करता है, तो उसे अतिचार लगता है।

पौषध में किसी भी उपकरण को उठाते व रखते समय दृष्टि एवं चरवले (रजोहरण) से प्रतिलेखना करें। यदि इस प्रकार का आचरण नहीं करता है, तो उसे अतिचार लगता है।

पौषध लेने पर याद रखना है कि मैं पौषध में हूँ। मुझे चार, अथवा आठ प्रहर तक सावद्य-क्रिया आदि का त्याग है। मैंने इतने समय में पौषध लिया व इतने समय पर मेरा पौषध पूर्ण होगा। यदि समय आदि स्मरण में नहीं रखता है, भूल जाता है, तो अतिचार लगता है।

पौषधव्रत – मेरी दृष्टि में

पौषधव्रत में चार बातों का पालन करने का विधान है—

1. तपश्चर्या – पौषध के साथ उपवास करना। खरतरगच्छ एवं स्थानकवासी-परम्परा में आज भी यह नियम है कि पौषध में उपवास किया जाता है, परन्तु तपागच्छ-परम्परा में उपवास, आयम्बिल तथा एकासन करने का भी विधान है।
2. शरीर-सत्कार का त्याग – जिस दिन पौषध करना है, उस दिन स्नान नहीं करना चाहिए, शरीर का श्रंगार नहीं करना चाहिए, सादगी वेशभूषा में पौषध करना चाहिए, पौषध में हाथ-पैरों में मेहन्दी नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि यह भी एक प्रकार से शरीर का श्रंगार है। पौषध के दिन आभूषणों से सजकर नहीं जाना चाहिए, क्योंकि शरीर का

श्रृंगार अपने लिए भी ममत्व का कारण है और अन्योँ के लिए भी ममत्व, स्पर्धा, ईर्ष्या आदि का कारण है। पौषध के दिन श्रावक को श्रमण के तुल्य माना है, जिसका उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में मिलता है कि सामायिक में रहा हुआ श्रावक श्रमण के तुल्य होता है, क्योंकि पौषध में सामायिक सन्निहित है।

3. ब्रह्मचर्य का पालन— पौषधव्रत में आठ प्रहर तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यदि चार प्रहर का पौषध है, तो भी शेष समय में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए।

4. अव्यापार— पौषध में रहे हुए श्रावक को किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं करना चाहिए और न व्यापार—सम्बन्धी बातें करना चाहिए। महिलाओं को भी विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि पौषध में रुपयों—पैसों का आदान—प्रदान नहीं करें, अर्थात् साधुवत् रुपयों को हाथ भी नहीं लगाना चाहिए तथा घर की, अथवा तिजोरी (अलमारी) आदि की चाबी भी अपने पास में नहीं रखनी चाहिए। यदि किसी कारणवश चाबी अपने पास रखना भी पड़े, तो पौषध में होने के कारण दूसरों को ताला खोलने के लिए चाबी नहीं देना चाहिए। चाबी नहीं देने का एक कारण यह भी है कि वह, जिसे चाबी दी जा रही है, किसी भी वस्तु का हिंसात्मक के रूप में उपयोग न कर ले।

पौषध करने के चार कारण में— पौषध में निम्न चार कारणों से पाँच अणुव्रतों का पालन करने एवं चार संज्ञा को विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है—

1. आहार—पौषध— अहिंसाणुव्रत के पालन हेतु एवं आहार—संज्ञा पर नियंत्रण करने हेतु आहार—पौषध है ।

2. शरीर—सत्कार पौषध— शरीर के ममत्व के त्याग द्वारा भयसंज्ञा पर विजय प्राप्त करने हेतु शरीर—सत्कार पौषध है ।

3 ब्रह्मचर्य—पौषध— ब्रह्मचर्याणुव्रत—पालन हेतु एवं मैथुन—संज्ञा पर विजय प्राप्त करने हेतु ब्रह्मचर्य—पौषध है ।

4. अव्यापार—पौषध— सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत एवं परिग्रह—परिमाणव्रत पालन हेतु तथा परिग्रह—संज्ञा पर रोकथाम हेतु अव्यापार—पौषध है ।

अतिथि-संविभागव्रत

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में श्रावकधर्मविधि-पंचाशक में बारहवें अतिथि संविभागव्रत के विषय में चर्चा की है ।

अण्णाईणं सुद्धाणं कप्पणिज्जाण देस काल जुतं ।

दाणं जईणं मुच्चियं गिहीण सिक्खावयं भणियं ।।¹

साधुओं को न्याय से प्राप्त निदोष, प्रसंगोचित अन्न पानी औशध आदि का देशकाल के अनुसार उचित मात्रा में दान करना श्रावक का चौथा अतिथि-संविभाग नामक शिक्षाव्रत कहा गया है ।

अतिथि का सामान्य अर्थ किया जाता है- जिसके आने की तिथि निश्चित नहीं है। अतिथि में सामान्यतः सुसाधुओं की गिनती आती है, क्योंकि वे आहार हेतु अप्रत्याशित आते हैं, अर्थात् बिना कहे व बिना निमन्त्रण के आते हैं। उन्हें निमन्त्रण देने पर वे नहीं आते और आने का संकेत भी नहीं करते हैं।

संविभाग - अपने विभाग में से सम् + विभाग, अर्थात् बराबर का विभाग करना संविभाग है, जिसका तात्पर्य यह भी है कि अपने विभाग में से सम्यक् प्रकार से विभाग करके आने वाले अतिथि को आहारादि प्रदान करना अतिथि-संविभाग है ।

वर्तमान में कई स्थानों में प्रचलन है कि श्रावक-श्राविकाएं बारह महीने में एक बार पौषधोपवास करके दूसरे दिन पूरी तैयारी द्वारा एकासन से अतिथि-संविभाग करते हैं और साधुओं को इस प्रकार विनती करते हैं- आज आहार के लिए पधारना है, पात्र पूरे लेकर आना है, गोचरी में सभी चीजें लेना है, क्योंकि जो आप लेंगे, वहीं मैं खाऊंगा/खाऊंगी। इसमें पहली बात, निमन्त्रण द्वारा लिया गया आहार साधुओं के लिये अकल्पनीय है। दूसरी बात, श्रावक श्रमण को बुलाकर आहार-दान करता है, तो श्रावक का अतिथि-संविभाग अधूरा है। तीसरा, साधु-आहार के लिए साधु अपनी इच्छानुसार जो आहार ग्रहण करें, वही आहार आप करें, परन्तु यह आग्रह करके साधु को आहार नहीं बहरावें कि आपको लेना ही होगा, क्योंकि आप नहीं लेंगे, तो मैं नहीं खा

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/31 - पृ - 13

पाऊंगी/पाऊंगा , इतने पदार्थ बनाएँ, यदि मैं नहीं खाऊँ, तो इनके बनाने का कोई अर्थ नहीं । कई बार ऐसा भी होता है कि कई पदार्थ के साधू को त्याग होते हैं, कई पदार्थ शारीरिक-दृष्टि से वर्जनीय होते हैं । ऐसी स्थिति में भी हठाग्रह चलता है , यहां तक कि श्रावक-श्राविका गुस्सा भी करने लगते हैं – यह उचित नहीं है ।

महापुरुषों ने इसे अतिथि-संविभाग नहीं कहा है। अतिथि-संविभाग तो ऐसा होना चाहिए, जैसे- नयसार ने सुसाधुओं को शुद्ध आहार भावोल्लास एवं सद्भावनाओं के साथ दिया, अतः नयसार की तरह साधु को आहार प्रदान करते समय सद्भावना, उल्लास, विवेक एवं समयज्ञ हो, तभी हम सम्यक्त्व के निकट पहुँच सकते हैं एवं हमारा अतिथि-संविभागव्रत सफल हो सकता है ।

उपासकदशांगटीका के अनुसार उचित रूप से मुनि आदि चारित्रसम्पन्न योग्य पात्रों को अन्न वस्त्र आदि यथाशक्ति देना अतिथि-संविभागव्रत है ।¹

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार न्याय से उपार्जित और अपेक्षित भोजन-पानी आदि योग्य वस्तुओं को शुद्ध भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को इस प्रकार दान देना कि उभय पक्ष का हित हो- यह अतिथि-संविभागव्रत है ।²

अतिचार- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में प्रथम अध्याय की बत्तीसवीं गाथा में अतिथि संविभागव्रत में लगने वाले अतिचारों का वर्णन किया है, जिसमें यही रहस्य छुपा हुआ है कि प्रस्तुत व्रत को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त उल्लासभाव अपेक्षित है और जहाँ उल्लासभाव में गिरावट आई, वहीं अतिचार ही नहीं, अनाचार भी हो जाता है, क्योंकि जहाँ कोई कार्य भूल से हो जाए, तो वह अतिचार और कपट-माया करके या जान-बूझकर गलती करके किया जाए, तो वह अनाचार हो जाता है ।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में अतिथि-संविभागव्रत दूषित न हो, इस हेतु निम्न अतिचारों का प्रतिपादन किया है-

सच्चित्तणिक्खवणयं वज्जइ सच्चित्तपिहणयं चेव ।

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1 - पृ. - 54

² तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/16 - पृ. - 182

कालाङ्कमपरववएसं मच्छरिययं चेव ॥¹

1. सचित्त-निक्षेप 2. सचित्त-पिधान 3. कालातिक्रम 4. परव्यपदेश 5. मात्सर्य ।

1. सचित्त-निक्षेप- आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण के अनुसार साधु को देने योग्य वस्तु को नहीं देने की इच्छा से उसमें सचित्त, पृथ्वी, पानी आदि रख देना सचित्त-निक्षेप-अतिचार है ।

उपासकदशांगटीका के अनुसार दान न देने की इच्छा से अचित्त-निर्जीव-संयमी के लेने योग्य पदार्थों में सचित्त-सजीव धान्य आदि में डाल देना, अर्थात् लेने योग्य पदार्थों में सचित्त पदार्थ मिला देना सचित्त-निक्षेप-अतिचार है ।²

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार खाने-पीने की देने योग्य वस्तु को मुनि को काम में न आने जैसी बना देने की बुद्धि से किसी सचेतन वस्तु में रख देना सचित्त-निक्षेप-अतिचार है ।³

2. सचित्त-पिधान- पंचाशक-प्रकरण के अनुसार साधु को देने योग्य वस्तु को नहीं देने की इच्छा से सचित्त पत्तों या फलादि ढंक देना सचित्त-पिधान-अतिचार है ।⁴

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/32 - पृ. - 13

² उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/56 - पृ. - 54

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/31 - पृ. - 190

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/32 - पृ. - 14

उपासकदशांगटीका के अनुसार नहीं देने के भाव से सचित्त वस्तु को अचित्त वस्तु से एवं अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढंक देना सचित्त-पिधान-अतिचार है।¹

चारित्रसार के अनुसार देने योग्य आहार को सचित्त पत्र आदि से ढंकना सचित्त-पिधान-अतिचार है।²

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार देय योग्य वस्तु को सचेतन वस्तु से ढंक देना सचित्त-पिधान-अतिचार है।³

3. कालातिक्रम- आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण के अनुसार भिक्षा नहीं देने की इच्छा से भिक्षा का समय बीत जाने के बाद या उससे बहुत पहले साधु को आहार हेतु निवेदन करना कालातिक्रम-अतिचार है।⁴

उपासकदशांगटीका के अनुसार भिक्षा का समय टालकर भिक्षा देने के लिए तत्पर होना कालातिक्रम-अतिचार है।⁵

चारित्रसार के अनुसार आहार देने के समय का उल्लंघन कर आगे या पीछे आहारादि बनाने को कालातिक्रम बताया गया है।⁶

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार किसी को कुछ देना न पड़े, इस आशय से भिक्षा के समय का उल्लंघन कर आहारादि बनाना कालातिक्रम-अतिचार है।⁷

4. परव्यपदेश- आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-प्रकरण के अनुसार नहीं देने की इच्छा से अपनी वस्तु को दूसरे की है- ऐसा कहना परव्यपदेश-अतिचार है।⁸

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/56 - पृ. - 54

² चारित्रसार-श्रावकसंग्रह - चामुण्डाचार्य - पृ. - 249

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/31 - पृ. - 190

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/32 - पृ. - 14

⁵ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/56 - पृ. - 54

⁶ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 14

⁷ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/31 - पृ. - 190

⁸ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/32 - पृ. - 14

उपासकदशांगटीका के अनुसार नहीं देने के भाव से अपनी वस्तु को पराई बताना परव्यपदेश—अतिचार माना गया है।¹

चारित्रसार के अनुसार अन्य दाता की वस्तु बताकर दान देने को परव्यपदेश—अतिचार कहते हैं।²

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार अपनी देय वस्तु को दूसरे को बताकर, उसके दान से अपने को बचा लेना परव्यपदेश—अतिचार है।³

5. मात्सर्य— आचार्य हरिभद्र के पंचाशक—प्रकरण के अनुसार साधु को कोई वस्तु क्रोध और ईर्ष्या के वशीभूत होकर भिक्षा में देना मात्सर्य अतिचार है।⁴

उपासकदशांगटीका के अनुसार ईर्ष्यावश आहारादि देना, जैसे— अमुक व्यक्ति ने अमुक दान दिया है, तो मैं इससे कम नहीं हूँ— इस भावना से दान देना या क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य कहा गया है।⁵

चारित्रसार में आहार देते हुए भी अनादरभावपूर्वक देना मात्सर्य है।⁶

तत्त्वार्थ—सूत्र के अनुसार दान देते हुए भी आदर न रखना, अथवा दूसरे के दान—गुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए तत्पर होना मात्सर्य—अतिचार है।⁷

अतिथि — जिसके आने की कोई तिथि नहीं, जो कभी भी घर आ सकता है, वह अतिथि है।

अतिथि—सत्कार का महत्व भारतीय—परम्परा में भरपूर है। प्राचीन परम्परा यह थी कि लोग गांव के चौराहों पर जाते थे, यह देखने के लिए कि कोई अतिथि है

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/56 - पृ. - 54

² चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. - 14

³ तत्त्वार्थ—सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/31 - पृ. - 190

⁴ पंचाशक—प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/32 - पृ. - 14

⁵ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/56 - पृ. - 54

⁶ चारित्रसार - चामुण्डाचार्य - पृ. सं. - 14

⁷ तत्त्वार्थ—सूत्र - आ. उमास्वाति- 7/31 - पृ. - 190

क्या ? यदि होते, तो मान-सम्मान से भोजन आदि के लिए उसे अपने घर लेकर आते थे।

जैन-परम्परा के समान ही अन्य परम्परा में भी अतिथि की महिमा का वर्णन प्रसिद्ध है। सूक्ति प्रसिद्ध है— अतिथि देवो भवः, अर्थात् अतिथि देवतुल्य है।

वाल्मिकी रामायण में अतिथि का महत्व इस प्रकार बताया गया है—

यथामृतस्य सम्प्राप्तिः यथा वर्षमनूदके।

यथा सदृशदारेषु पुत्र जन्मा प्रजस्यवै॥

प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदया।

तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने॥¹

जैसे किसी मरणधर्मा मनुष्य को अमृत की प्राप्ति हो जाए, निर्जल प्रदेश में पानी बरस जाए, किसी संतानहीन को अपने अनुरूप पत्नी के गर्भ से पुत्र की प्राप्ति हो जाए, खोई हुई निधि मिल जाए तथा किसी महान् उत्सव से हर्ष की प्राप्ति हो, उसी प्रकार का आपका यहाँ शुभागमन हमारे लिए है— ऐसा मैं मानता हूँ। हे महामुनि ! आपका स्वागत है।

अथर्ववेद में भी कहा गया है—

“कीर्ति च वा एष यशश्चगृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति”, अर्थात् वे गृहस्थ, जो अतिथि से पूर्व भोजन लेते हैं, के घर की कीर्ति और यशस्विता का नाश करते हैं।²

“श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति”, अर्थात् जो अतिथि से पूर्व भोजन करने वाले गृहस्थ हैं, वे घर की श्री और सहमति- भावना को ही विनष्ट करते हैं।

नवै स्वयं तथश्नीयदतिथि यत्न भोजयेत्।

¹ वाल्मिकी-रामायण - बालकाण्ड - अष्टादशसर्ग - गाथा- 50-52 - पृ. - 72

² अथर्ववेद - श्रीराम शर्मा, आचार्य - अतिथिसत्कार - गाथा- 5 - पृ. - 25

³ अथर्ववेद - श्रीराम शर्मा, आचार्य - अतिथिसत्कार - गाथा- 6 - पृ. - 25

⁴ मनुस्मृति - स. श्रीराम शर्मा, आचार्य - गाथा-106 - पृ. - 101

धन्य यशश्चा पुष्पं स्वर्ग्यं वदतिथि पूजनम् ।।³

इसी प्रकार, न वै स्वयं तदशनीयादतिथि यन्न भोजयेत्, अर्थात् जो अतिथि को न खिलाया जा सके, वह स्वयं भी नहीं खाना चाहिए।⁴

श्रावकव्रतों के विवेचन में हरिभद्र का वैशिष्ट्य

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में अतिचारों का विवरण देते हुए कहा है कि श्रावक को इन अतिचारों का त्याग करना चाहिए। पंचशक-प्रकरण के अनुसार श्रावक अतिचारों का त्याग करता है— इस कथन का तात्पर्य यह है कि देशविरति के अखण्ड परिणामों से परिशुद्ध श्रावक के सभी व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करता है, अतः वह किसी अतिचार का सेवन नहीं करता है, इसलिए अतिचार के वर्णन में सभी स्थानों पर अतिचारों का त्याग करता है— ऐसा कहा गया है। श्रावक जब व्रत स्वीकार करता है, तब देशविरति के परिणाम के प्रतिबन्धक कर्मों का उदय नहीं होने के कारण देशविरति का तात्त्विक-परिणाम होता है, इसलिए जीव स्वेच्छा से ही अतिचारों में प्रवृत्ति नहीं करता है। ऐसा माना गया है —

एत्थं पुण अइयारा णो परिसुद्धेसु होति सब्वेसु।

अक्खंड विरइभावा वज्जइ सब्वत्थ तो भणियं ।।33 ।।¹

प्रश्न उठता है कि सभी व्रतों के साथ अतिचार के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु जब व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्रत लेता है, तो फिर वह व्रत-भंग क्यों करेगा ? अर्थात् स्वेच्छा से लिए हुए व्रत को क्यों भंग करेगा ? पर यह आवश्यक नहीं है कि स्वेच्छा से व्रत लेने वाला व्यक्ति कभी भी व्रतों का भंग नहीं करे, यह अवश्य है कि जब व्रत लिए होंगे, तब भावोल्लास होगा, अन्तस् में सत्व होगा ? दृढ़ता के साथ पालन करूंगा— ऐसे भाव होंगे, परन्तु भाव सभी कालों में समान रूप से नहीं रहते हैं, अतः कुछ अवधि के बाद लाभ-हानि के निमित्त या अनुकूल-प्रतिकूल के प्रसंग की

¹ पंचाशक प्रकरण — आ. हरिभद्रसूत्रि— 1/33 — पृ. सं. — 14

³⁹⁰ पंचाशक प्रकरण भूमिका — डॉ. सागरमल जैन — पृ. सं. — 13

स्थिति में व्यक्ति के मन को विचलित भी कर देते हैं और इस स्थिति में व्रतों से विचलित होना ही अतिचार है।

डॉ सागरमल जैन ने पंचाशक-प्रकरण की भूमिका में प्रथम पंचाशक की समीक्षा में कहा है कि व्रत ग्रहण कर लेने के पश्चात् श्रावक के आचरण में शिथिलता आने लगती है, जिसके कारण वह दोष-युक्त हो जाता है, फलतः व्रत से च्युत होने के भय बना रहता है। यह भी है कि व्रत लेने के बाद जब मन डिगता है, तो व्रतबंधन प्रतीत होने लगते हैं, पर फिर भी यदि श्रावक पाप-भीरु है, तो वह मन को पुनः सम्भाल लेता है और व्रत भंग न हो, व्रत दूषित न हो- इस प्रकार के चिन्तन से मन को व्रत में स्थिर करने का पुरुषार्थ करता है।³⁹⁰

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के प्रथम अध्याय श्रावक-धर्मविधि में स्थिर चित्त हेतु प्रेरणा देते हुए निम्न उदाहरण के माध्यम से कहा है-

सम्यक्त्व आदि श्रावक के व्रतों के पालन हेतु उपाय, रक्षण, ग्रहण, प्रयत्न और विषय- इन पांच बातों पर श्रावकों को विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। जिस प्रकार कुम्हार द्वारा दण्ड से चक्र के किसी एक भाग को चलाने से पूरा चक्र घूमता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व आदि व्रतों के निरूपण के साथ ही उपाय, ग्रहण, रक्षण आदि का भी समावेश हो जाता है।

सुत्तादुपायरक्खणगहणपयत्तविसया मुणेयव्वा।

कुभारचक्कभामगदंडाहरणेण धीरेहिं।।34।।¹

उपाय- सम्यक्त्व आदि व्रतों की प्राप्ति का प्रयत्न करना उपाय है।

ग्रहण- सम्यक्त्व आदि व्रतों को स्वीकार करना ग्रहण है।

रक्षण- स्वीकृत सम्यक्त्व आदि व्रतों का सावधानी से पालन करना रक्षण है।

¹पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/34 - पृ. - 14

प्रयत्न— सम्यक्त्व आदि व्रतों को स्वीकार करने के बाद व्रतों की स्मृति रखना— यह प्रयत्न है, साथ ही जिसका प्रत्याख्यान नहीं किया हो, उसका यथाशक्ति त्याग करना भी प्रयत्न है।

विषय— व्रतों के स्वरूप को तथा जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानना— यह विषय—ज्ञान है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में श्रावकों को निर्देश दिया है कि यदि सम्यक्त्व तथा विरति के भाव नहीं भी हैं, तो भी उन व्रतों को लेने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व और विरति के परिणाम के नहीं होने पर भी उन्हें स्वीकार करने के बाद प्रयत्न करने से वे परिणाम होते हैं, क्योंकि परिणामों को रोकने वाले कर्मों का क्षयोपशम होता है और विशिष्ट प्रयत्नों से कर्मों का विशेष क्षयोपशम होता है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में यह भी कहा है कि व्रत ग्रहण करते समय शुभ परिणाम हुए हों और यदि उन परिणामों को रक्षण करने का प्रयत्न नहीं किया जाए, तो अशुभ कर्म के उदय से सम्यक्त्व और विरति के परिणाम भी नष्ट हो जाते हैं—

गहणादुवरि पयत्ता होइ असन्तोऽवि विरइ परिणामो ।

अकुसलकम्मोदयओ पडइ अवण्णाइ लिंगमिह ॥३५॥¹

आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के श्रावकधर्मविधि—पंचाशक में व्रतों को सुरक्षित रखने के लिए श्रावकों को सूक्ष्मतम बातों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

तम्हाणिच्चसतीए बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि ।

पडिवक्खदुगुंछाए परिणइ आलोयणेणं च ॥²

स्वीकृत किए गए व्रतों को सदा स्मरण में रखना चाहिए तथा व्रतों के पालन के प्रति बहुमान के भाव रखना चाहिए, क्योंकि व्रतों के स्मरण एवं व्रतों के प्रति बहुमान के भाव से कभी भी आत्मा व्रतों से विचलित नहीं होगी एवं शुभभाव अशुभभावों में परिवर्तित नहीं होंगे ? साथ ही, यह भी बताया है कि व्रतों के विरोधी मिथ्यात्व आदि के

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/35 — पृ. — 15

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/36 — पृ. — 15

प्रति भी सदैव जुगुप्सा भाव रखना चाहिए। चूंकि अतिचार लगने में मूल कारण मिथ्यात्व है, इसलिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व के अंधकार को मिटाना आवश्यक है, परन्तु इसके पूर्व मिथ्यात्व क्या है— इसे समझना भी आवश्यक है, क्योंकि मिथ्यात्व का सम्बंध आत्मा के साथ अनादि से है, अतः आत्मा का यह बहुत बड़ा दोष है।

प्रश्न उठता है कि जब मिथ्यात्व का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है, फिर इसे दोष क्यों बताया तथा इसे कैसे अलग कर सकते हैं ?

आत्मा के साथ अनादि का सम्बन्ध होने से यह दोष न हो तथा इसे उन्मूलित नहीं किया जा सकता है— ऐसा कोई नियम नहीं है। जैसे मिट्टी और स्वर्ण की खान में अनादिकाल से सम्बन्ध है, जिसके कारण स्वर्ण अशुद्ध बना रहता है, किन्तु यान्त्रिक साधनों से स्वर्ण और मिट्टी को पृथक् भी करते हैं, इसी प्रकार आत्मा के साथ अनादिकाल से रहे हुए मिथ्यात्व को भी आत्मा से अलग किया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि जो जीव अभव्य हैं, उनकी आत्मा से मिथ्यात्व पृथक् नहीं होता है।

प्रश्न है कि अभव्य किसे कहते हैं ? जिसमें असार संसार से विरक्त होने की योग्यता नहीं है, संयम—साधना करने पर भी जिसमें सम्यक् समझ का विकास नहीं है, वह अभव्य है। भव्य वह है, जो मिथ्यात्व को पृथक् करने का प्रयास करता है तथा जिसमें मोक्ष जाने की तीव्र अभिलाषा होती है। अभव्य जीव उसे बाबड़िए मूंग की तरह है, जिसमें सीझने (पकने) की योग्यता ही नहीं है। जब श्रावक सम्यक्त्व सहित व्रतों का ग्रहण करता है, उस समय आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि का जन्म होता है, पर यह शुद्धि पूर्ण रूप से मिथ्यात्व को नष्ट करने में समर्थ नहीं होती है। कभी भी उपशांत—मिथ्यात्व प्रकट हो सकता है, जीव को भ्रमित कर सकता है एवं व्रतों को दूषित कर सकता है। कई लोग व्रतों को दूषित करने पर अपने लिए कहते हैं कि क्या करें ? अशुभ कर्म का उदय है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि यह कथन व्रतों को दूषित ही नहीं, व्रतों को भंग करने की रीति है, परन्तु यह कथन दूसरों के लिए करना चाहिए कि देखो ! इसके ऐसे अशुभ कर्मों का उदय था, जो व्रत को दूषित, अथवा खण्डित कर देता है। इस चिन्तन से हमें किसी के प्रति द्वेष नहीं होगा तथा अपने व्रत दूषित नहीं

होंगे, इसलिए आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक में कहा है कि आपने जो सम्यक्त्व ग्रहण किया है, उसकी स्मृति रखें व मिथ्यात्व से घृणा करें।

श्रावक की दिनचर्या – हरिभद्र की दृष्टि में

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में श्रावक को निर्देश दिया है कि सम्यक्त्व आदि व्रतों के पालन के लिए प्रत्येक दिन प्रयत्न करना चाहिए। व्रतों को सुरक्षित रखने के लिए सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व के स्वरूप की समीक्षा करते रहना चाहिए कि सम्यक्त्व के क्या गुण हैं व मिथ्यात्व के क्या दोष हैं ? क्योंकि सम्यक्त्व के गुणों का चिंतन, अर्थात् स्वयं में सम्यक्त्व के गुणों का प्रवेश और मिथ्यात्व के दोषों का सम्यक् चिंतन स्वयं से दोषों की बिदाई है। जो सम्यक्त्वी जीव सत्य को सत्य व असत्य को असत्य जानता है, उसका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यक्त्व के सहारे ही आत्मा अयोगी—दशा, अर्थात् मोक्ष के शिखर तक पहुंच सकती है, संसार—भ्रमण को सीमित करती है, अर्थात् संसार को अर्द्धपुद्गल—परावर्तकाल तक सीमित कर लेती है, अथवा 9,5,3,2 और 1 भाव में मुक्ति को प्राप्त कर लेती है। मुक्ति प्राप्त करने में यह सम्यक्त्व सहयोगी है। सम्यक्त्व के आने के बाद ही जीव निरंतर उत्थान की दिशा में अग्रसर होता है। सम्यग्दर्शन होने से ही जीव कषाय—भावों को नियंत्रित करता है, सम्यक्त्व द्वारा जीव दुःख में भी सुखानुभूति करता है। सम्यक्त्व द्वारा ही जीव संसार को भंवरे के समान फूल के पराग को लेने की तरह लेता है और उड़ जाता है, अर्थात् संसार के भोगों का उपभोग करता है, पर उससे चिपकता नहीं है। सम्यक्त्वी जीव चिंता से रहित रहता है, जबकि मिथ्यात्वी जीव चिंता से ग्रसित रहता है और संसार के भोगों के रस में मक्खी की तरह चिपक जाता है। मिथ्यात्वी अनेक सुख के साधनों की उपस्थिति में भी दुःखी ही रहता है, निरंतर पतन की ओर ही उन्मुख रहता है। उसमें कषाय—भाव तीव्रतम स्थिति में बने रहते हैं। मिथ्यात्वी का संसार में भ्रमण—काल असीम है। मिथ्यात्वी जीव नरक आदि दुर्गतियों में ही अनन्तकाल तक भ्रमण करता रहता है, मिथ्यात्वी का ज्ञान भी मिथ्या ही होता है। वह सत्य को असत्य, असत्य को सत्य समझता है। अतः हृदय में व्रतों के प्रति बहुमान—भाव रखते हुए इस प्रकार के चिन्तन से सम्यक्त्व आदि व्रतों को स्थिर रखें— 'तीर्थंकर परमात्मा ने कितना अच्छा मार्ग बताया है। हे भगवन् ! जब तक मैं गृहवास में रहूँ, तब

तक मेरे भीतर सम्यक्त्व एवं अणुव्रत आदि की सुवास बनी रहे। भगवन्! आपका मेरे पर अनन्त उपकार है, आपने अनादि से चले आ रहे अनन्त—अनन्त पापों से मुझे बचाकर मेरे जीवन को मर्यादित एवं संयमित कर दिया है।' गृहस्थ को ऐसे अनन्त उपकारी, करुणावतार, जगत्—वत्सल, तीर्थकर परमात्मा की स्तुति, भक्ति, गुणगान करना चाहिए, जिसे पंचाशक—प्रकरण की सैंतीसवीं गाथा में आचार्य हरिभद्र ने इस प्रकार निर्देशित किया है—

तित्थंकर भत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए य।

उत्तरगुणसद्धाए य एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥ 35 ॥¹

तीर्थकर परमात्मा की भक्ति करना चाहिए, क्योंकि तीर्थकर की भक्ति तीर्थकर—गोत्र का बंध करवा देती है, अर्थात् तीर्थकर की भक्ति तीर्थकर—पद की प्राप्ति करवा देती है।

ज्ञातासूत्र के उन्नीसवें¹ अध्ययन के अनुसार अरिहंतों की भक्ति करने से तीर्थकर—गोत्र बंधता है, साथ ही आचार्य हरिभद्र ने गुरु की सेवा का निर्देश करते हुए कहा है कि तीर्थकर भी गुरु के समान ही भव—सागर से जीवन—नैया को पार लगाने में तत्पर रहते हैं। गुरु अज्ञान के अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानांजन द्वारा अन्तर्चक्षु खोल देते हैं। गुरु भीतर से नवनीत की तरह हैं और बाहर से कुम्हार की तरह होते हैं, जो शिष्य को सद्गति से सिद्धगति की ओर ले जाते हैं, अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाते हैं, अतः ऐसे परम उपकारी सद्मार्ग—प्रकाशक षट्काय—रक्षक गुरु की सेवा करना चाहिए तथा उनके गुणों को जीवन में धारण करना चाहिए। मूल एवं उत्तरगुणों का पालन करते हुए तथा उन पर श्रद्धा (विश्वास) रखते हुए उनके पालना में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण की अड़तीसवीं गाथा में² पुनः श्रावकों को प्रेरणा देते हुए कहा है—

एवमसंतोऽवि इमो जायइ जाओऽवि ण पडइ कयाई।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/37 — पृ. — 15

¹ ज्ञातांग—सूत्र — भ. महावीर — अध्ययन— 19

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/38, 41 तक — पृ. — 16,17,18

ता एती बुद्धिमया अपमाओ होइ कायत्वो ॥ 35 ॥

तीर्थकर-भक्ति, गुरुसेवा, व्रत-पालन आदि करने पर भी यदि सम्यक्त्व और व्रतों के धारण करने रूप परिणाम न होने पर भी तदनुरूप परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और ऐसे परिणाम उत्पन्न होने के बाद जाते भी नहीं हैं, इसलिये बुद्धिमान् श्रावकों को व्रतों का स्मरण एवं पालन प्रमादरहित होकर करना चाहिए। जहां प्रमाद होगा, वहां स्मरण और पालन में शिथिलता आ जाएगी, अतः श्रावक को प्रति समय जागृत रहना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के प्रथम पंचाशक की उनचालीसवीं गाथा में बताया है—

एत्थ उ सावयधम्मो पायमणुव्वयगुणव्वयाइं च ।

आवकहियाइं सिक्खावयाइं पुण इत्तराइंति ॥

श्रावक-धर्म के अणुव्रतों और गुणव्रतों का पालन प्रायः जीवन-पर्यन्त होता है, परन्तु शिक्षाव्रतों का पालन कुछ समय के लिए होता है।

प्रश्न है कि अणुव्रतों एवं गुणव्रतों के नियम ग्रहण करने के साथ जीवन-पर्यन्त शब्द क्यों लगाया जाता है ?

यह शब्द इसलिए लगाया जाता है कि ये व्रत कुछ समय (चातुर्मास आदि, अथवा दो महीने आदि) के लिये भी ग्रहण किए जाते हैं, अतः उनकी अधिकतम काख-मर्यादा को सूचित करने के लिए प्रायः यावज्जीवन शब्द का प्रयोग किया जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने संलेखना-व्रत को श्रावक के व्रतों में नहीं लिया है और उसको नहीं लेने का कारण पंचाशक की प्रस्तुत गाथा से स्पष्ट किया है—

संलेहणा य अंतेण णिओगा जेण पव्वयइ कोई ।

तम्हाणो इह भणिया विहिसेसमिभस्स वोच्छामि ॥

किसी भी मुनि के समान अन्त समय में संलेखना लेना सम्यक्त्वी श्रावक के लिए आवश्यक नहीं है, इसी कारण संलेखना का श्रावक के व्रतों में प्रतिपादन नहीं किया गया

है एवं श्रावक को करने योग्य विशेष कर्तव्यों को आगे की गाथाओं में इस प्रकार निर्देश किया गया है –

निवसेज्ज तत्थ सद्धो साहूणं जत्थ होइ संपाओ ।

चेइयहराइं जम्मि य तयण्णसाहम्मिया चेव ।।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक की उक्त गाथा में श्रावकों का इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिलाया है कि जिन स्थानों में साधुओं का आगमन होता हो, जहाँ जिन-मंदिर हो तथा जहाँ स्वधर्मी बन्धु हों, वहीं श्रावक को रहना चाहिए, जिससे श्रावक को साधु-साधवियों की सेवा का भी लाभ प्राप्त हो और स्वधर्मी बन्धु की सेवा का भी अवसर मिले।

आचार्य हरिभद्र ने श्रावक की दिनचर्या का विवरण पंचाशक-प्रकरण में¹ इस प्रकार दिया है—

णवकारण विबोहो अणुसरणं सावओ वयाइं मे ।

जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ।।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक की प्रस्तुत गाथा में श्रावक की दैनिकचर्या पांच नियमों का उल्लेख किया है। श्रावक उठते ही क्या करे ? इसका उसे स्पष्ट निर्देश दे दिया गया है। वह उठते ही पांच कार्य करे—

1. नवकार-मंत्र का स्मरण करते-करते उठे।
2. मैं श्रावक हूँ, मेरे द्वारा सम्यक्त्व एवं अणुव्रत आदि के पालन का नियम लिया गया है— इसका स्मरण करें।
3. फिर, नित्यक्रिया आदि से निवृत्त हों।
4. उसके बाद विधिपूर्वक पूजा करने के पश्चात् चैत्यवन्दन करे।
5. तत्पश्चात् गुरु से विधिपूर्वक प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) करे।

इन पांच नियमों का प्रतिदिन पालन करे।

¹ पंचाशक-प्रकरण – आ. हरिभद्रसूरि- 1/42 – पृ. – 17

² पंचाशक-प्रकरण – आ. हरिभद्रसूरि- 1/43 – पृ. सं. – 17

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की निम्न गाथा में² यह भी स्पष्ट किया है कि चैत्यालय में प्रवेश कैसे करना चाहिए, परमात्मा का बहुमान कैसे करना चाहिए, प्रत्याख्यान किससे ग्रहण करना चाहिए और गुरु के पास जाकर क्या करना चाहिए।

तह चेईहरगमणं सक्कारो वंदणं गुरुसगासे।

पच्चक्खाणं सवणं जहपुच्छा उचियकरणिज्जं।।

1. विधिपूर्वक जिनालय जाना चाहिए एवं जिनालय में विधिपूर्वक प्रवेश करना चाहिए, जिसकी विशेष विधि आगे स्पष्ट की जा रही है।

2. जिन-मंदिर में परमात्मा का सत्कार करना चाहिए।

3. परमात्मा के सम्मुख चैत्यवन्दन (देववन्दन) करना चाहिए।

इसके पश्चात् गुरु के समीप प्रत्याख्यान करना चाहिए। गुरु से आगम का श्रवण करना चाहिए। मुनिजनों से उनके स्वास्थ्य, संयम-साधना आदि के विषय में पूछना चाहिए, क्योंकि स्वास्थ्य आदि के विषय में पूछने से हमारे विनय एवं विवेक का परिचय मिलता है, कर्त्तव्य-परायणता का बोध होता है, श्रावक की सम्यक् भूमिका का ज्ञान होता है। गुरु से उनके स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में पूछने के बाद यदि औषध आदि की आवश्यकता हो, तो उसकी शीघ्र ही व्यवस्था करना चाहिए। यदि सेवा के लिए पूछकर भी सेवा के योग्य व्यवस्था नहीं की, तो वह पूछना भी विनय एवं विवेक का प्रतीक नहीं होता है। सेवा का पूछना विनय का प्रदर्शन तो हो जाएगा, पर वास्तविक विनय का परिचय नहीं होगा, अतः ऐसी स्थिति में आवश्यक औषध आदि की व्यवस्था शीघ्र करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने श्रावकधर्मविधि-पंचाशक की चवालीसवीं गाथा में श्रावक के कर्त्तव्य के क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहा है-

अविरुद्धो ववहारो काले तह भोयणं च संवरणं।

चेइहरागमसवणं सक्कारो वंदणाई य।।¹

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/44 - पृ. - 17

अविरुद्ध व्यापार करना चाहिए, अर्थात् शास्त्र के विरुद्ध व्यापार नहीं करना चाहिए। पन्द्रह कर्मादान तथा अनीति आदि का त्याग करके जिसमें अत्यल्प आरम्भ या पाप हो— ऐसी विधि से व्यापार करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके पश्चात् शास्त्रोक्त—विधि से यथासम्भव भोजन करना चाहिए। इस विषय में कहा गया है कि भोजन समय पर करने से शरीर निरोग रहता है। असमय भोजन करने से धार्मिक साधना में व्यवधान होता है तथा शारीरिक—स्वास्थ्य की भी हानि होती है। भोजन के पश्चात् प्रत्याख्यान करना चाहिए, फिर जिन—मंदिर में जाकर आगम का श्रवण करना चाहिए, पश्चात् जिनमूर्ति के समक्ष चैत्यवन्दन करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण की पैतालीसवीं गाथा में निर्देश दिया है कि यदि मुनिजन वैयावृत्य करते—करते थक गए हों और विशेष कारण से विश्राम करना चाहते हों, तो श्रावकों को चाहिए कि उन्हें विश्राम करने के लिए अवसर दें, उसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान न करें। उनके विश्राम करने में सहयोगी बनें। फिर, नमस्कार—महामंत्र का ध्यान करना चाहिए तथा याद किए गए प्रकरण आदि का पाठ करना चाहिए, अथवा अन्य श्रावकोचित कार्य करना चाहिए। इसके पश्चात् घर जाकर विधिपूर्वक शयन करना चाहिए तथा शयन के पूर्व देव, गुरु धर्म आदि का स्मरण करना चाहिए—

जइविस्सामणमुचिओ जोगो नवकारचित्ताण्णो ।

गिहिगमणं विहिसुवणं सरणं गुरुदेवयाण्णं ।।¹

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण की छियालीसवीं गाथा में श्रावक को विशेष बोध देते हुए कहा है कि अब्रह्म का त्याग करना चाहिए। इसके लिए स्त्री के भोग के कारणरूप पुरुषवेद आदि की निन्दा करना चाहिए। स्त्री के शरीर के वीभत्स स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। वह शरीर अशुचि का सदन है, अशुचि से ही उत्पन्न होता है और अशुचिरूप पदार्थों से ही इसका पोषण होता है। शरीर के भीतर है ही क्या ? वह भी हड्डी, मांस, वीर्य, रक्त, पीप आदि का ही ढांचा है, जो पुरुषों के नौ एवं स्त्रियों के

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/45 — पृ. — 18

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/46 — पृ. — 18

बारह द्वारों से मदिरा के घट की भांति रिस (बह) रहा है। वह शरीर मल से भी अधिक अपवित्र है, केवल अस्थि-पंजररूप है। इस प्रकार के चिन्तन से अब्रह्म से मन ग्लानि से भर जाएगा और ब्रह्मचर्य के प्रति आकृष्ट होकर जीवन संयमित होने लगेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यह भी निर्देश दिया गया है कि अब्रह्म त्याग करने वालों पर आन्तरिक-प्रेम रखना चाहिए, क्योंकि त्यागी एवं संयमी के प्रति प्रेम रखने वाला मोक्ष-मार्ग में गमन करता हुआ मुक्ति के निकट पहुँच जाता है। आचार्य हरिभद्र ने उपदेश के महत्व को बताते हुए कहा है कि भव्य आत्माओं के जिस अज्ञानरूपी अन्धकार को चन्द्र और सूर्य की कान्ति भी दूर नहीं कर सकती है, वह अन्धकार इस अल्प उपदेश को निरन्तर सुने जाने से नष्ट हो जाता है।

अब्बंभे पुण विरई मोहदुगुंछा सत्तत्तचिन्ता य।

इत्थीकलेवराणं तत्तिरएसुं च बहुमाणो।¹

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की सैंतालीसवीं गाथा में पाप-प्रवृत्ति से मुक्त होने के लिए कैसा चिन्तन करना चाहिए, इस विषय में सूचना दी है—

सुत्तविउद्वस्य पुणो सुहुमपयत्थेसु चित्तविण्णसो।

भवटिइणिरुवणे वा अहिगरणोवसमचित्ते वा।¹

रात्रि पूर्ण होने में पर्याप्त समय दोष हो, तभी जाग्रत होकर श्रावक को कर्म, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप का तल्लीनतापूर्वक सम्यक् चिन्तन करना चाहिए, साथ ही संसार के अनित्य-स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए इन क्लेश आदि रूप पापकर्मों से कब और कैसे निवृत्ति होगी— ऐसा चिन्तन शान्तचित्त से करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की अड़तालीसवीं गाथा में संसार की क्षणभंगुरता का एवं क्षण के महत्व का विवेचन करते हुए कहा है—

आउयपरिहाणीए असमंजसचेट्ठियाण व विवागे।

खणलाभदीवणाए धम्मगुणेसुं च विविहेसु।²

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/47 - पृ. - 19

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 1/48 - पृ. - 19

प्रतिक्षण क्षीण हो रही आयु के विषय में चिन्तन करना चाहिए, अंजली के जल के समान आयु व्यतीत होती जा रही है, कब श्वास का धागा टूट जाएगा— इसे कोई नहीं जान पाता है। इस प्रकार का चिन्तन करते हुए प्राणीवध आदि पापकार्यों के विपाक की भी विचारणा करना चाहिए कि प्राणीवध आदि के कार्य का परिणाम कितना दुःखद व दारुण है। उसके साथ ही, सदभावों में होने वाले लाभ के विषय में सोचना चाहिए कि क्षणभर में शुभ अध्यवसायों से जीव अनेक शुभ कर्मों का बन्ध करता है, क्षणभर में अशुभ अध्यवसायों से अनेक अशुभ कर्मों का बन्ध करता है। प्रसन्नचंद्रराजर्षि के जीवन की एक घटना है। जब उन्होंने स्वराज्य पर शत्रु—सेना के आक्रमण की बात सुनी, तो वे मन ही मन युद्ध करने सम्बन्धी सोचने लगे। शत्रु के प्रति द्वेष—अध्यवसाय से क्षणभर में ही उन्होंने नारकी में जाने योग्य कर्मदलिक एकत्रित कर लिए। युद्ध करते हुए उन्हें महसूस हुआ कि सारे शस्त्र समाप्त हो गए। अरे ! शस्त्र समाप्त हो गए, तो क्या हुआ ? मुकुट तो है। ज्यों ही मुकुट लेने के लिए मस्तिष्क पर हाथ गया, तब विचार आया कि अरे ! मैं तो मुनि हूँ। किससे युद्ध कर रहा हूँ ? मुझे तो अपने आत्म—शत्रुओं से युद्ध करना है। बाहर के शत्रु से कैसी लड़ाई ? क्षणभर के इस शुभ चिन्तन से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। क्षणभर के अशुभ परिणामों से नरक आदि भी मिल सकता है एवं क्षणभर के शुभ अध्यवसायों से स्वर्ग एवं अपवर्ग भी मिल सकता है।

इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि एक क्षण में किए गए शुभ—अशुभ चिन्तन का सुखद या दुःखद परिणाम होता है, अतः इस प्रकार के धर्म से होने वाले परलोक—सम्बन्धी विविध लाभों के विषय में चिन्तन करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण की उन्पचासवीं गाथा में कहा है—

बाहगदोसविवक्खे धम्मायरिए य उज्जयविहारे।

एमाइचित्तणासो संवेगरसायणं देइ ॥¹

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/49 — पृ. — 19

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 1/50 — पृ. — 20

शुभ-अनुष्ठान में बाधक रागादि दोषों के निरोध में और सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो- ऐसे धर्मकार्यों में चित्त लगाना चाहिए, अथवा साधुओं के वैराग्यभाव सम्बन्धी विचारणा करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की विचारणा संवेगरूप रसायन देती है, अर्थात् ऐसे चिन्तन से संसार से भय अथवा मोक्ष से अनुराग उत्पन्न होता है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के श्रावक धर्मविधि-प्रकरण के अर्न्तगत प्रथम अध्याय की पूर्णता करते हुए अन्तिम गाथा में कहा है-

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से श्रावक धर्म का अनुष्ठान करने वाले श्रावक का भव-विरह, अर्थात् संसार परिभ्रमण अल्प होने से उसे चारित्र लेने का परिणाम उत्पन्न होता है-

गोसे भणिओ य वि ही इय अणवरयं तु चिट्ठमाणस्स ।

भवविरहबीयभूओ जायइ चारित्तपरिणामो ।।²

इस प्रकार, आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के श्रावकधर्मविधि के माध्यम से श्रावक की दिनचर्या कैसी होना चाहिए, श्रावक का चिन्तन कैसा होना चाहिए, श्रावक को किस प्रकार से सम्यक्त्व एवं व्रत आदि का ग्रहण करके उनका परिपालन करना चाहिए, उसमें देव गुरु एवं धर्म के प्रति कितना समर्पण एवं भक्ति होना चाहिए- ऐसी अनेक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातें बताकर श्रावक को श्रेष्ठ प्रकार से जीवन जीने की प्रेरणा दी है, अतः श्रावक को चाहिए कि वह श्रावक की भूमिका अदा करते हुए संयम के मार्ग में बढ़ने के लिए विशेष रूप से आत्म-शुद्धि के लिए ग्यारह प्रतिमाओं की विधिपूर्वक आराधना करे, जिसका विवेचन आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक के प्रकरण में किया है, जिसका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने श्रावक के द्वादश व्रतों की विवेचना करते हुए न केवल परम्परागत से माने जाने वाले व्रत के स्वरूप का विवेचन किया है, अपितु उस व्रत के स्वरूप की क्या उपयोगिता है- इसकी भी चर्चा की है। न केवल इतना ही, अपितु उस व्रत के सम्बन्ध में जन-समाज में किस प्रकार की भ्रांतियां

प्रचलित हैं, या किस प्रकार की भ्रांतियों का उद्भव होने की संभावना है— इन दोनों पक्षों के लिए गहन चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हरिभद्र का दृष्टिकोण केवल वर्णनात्मक या विवेचनात्मक नहीं है, अपितु उनके पास एक समीक्षात्मक—दृष्टि भी है, जिसके आधार पर वे प्रत्येक व्रत की विशेषताओं की चर्चा करते हुए उसमें जन—सामान्य के क्या आक्षेप हो सकते हैं— इसकी भी विस्तृत चर्चा करते हैं। मात्र इतना ही नहीं, बल्कि उन आक्षेपों का निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है, उसको भी बताने का प्रयत्न करते हैं।

वस्तुतः, आचार्य हरिभद्र की शैली न केवल वर्णनात्मक है, अपितु उनके पास एक समीक्षात्मक दृष्टि भी है। यही कारण है कि उन्होंने श्रावकधर्मविधि—प्रकरण नामक प्रथम पंचाशक में प्रत्येक व्रत के सन्दर्भ में जन—सामान्य के बीच कौन—कौनसे प्रश्न उठ सकते हैं— इसका प्रस्तुतीकरण और समाधान— दोनों ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। संक्षेप में कहें, तो वे प्रत्येक व्रत और उसके अतिचारों की गहन समीक्षा करते हैं और यह बताते हैं कि यदि इन अतिचारों से विमुख होने का प्रयत्न नहीं किया जाए, तो वे हमारी धर्म—साधना को निरर्थक भी बना सकते हैं।

दूसरे, आचार्य हरिभद्र के इस पंचाशक—प्रकरण की यह भी विशेषता है कि इसमें श्रावक के प्रत्येक व्रत और उनमें अतिचारों का समग्रता से वर्णन हो रहा है, फिर भी इतना विशेष है कि हरिभद्र का यह समस्त विवेचन क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित है। इसी प्रकार, श्रावक—धर्म के इस विवेचन में एक व्रती श्रावक की दिनचर्या कैसी होना चाहिए— इसका भी विस्तार से उल्लेख किया है।

हमारी दृष्टि में श्रावकविधि—पंचाशक—प्रकरण एक ऐसा ग्रन्थ है, जो व्यक्तियों को एक नई दिशा दे सकता है, इसलिए यहाँ यह बताना आवश्यक है कि श्रावक धर्म के इस व्रत की प्रासंगिकता क्या है ?

व्रत—व्यवस्था की प्रासंगिकता

जैनधर्म के प्राचीन रूप को ब्राह्मणधर्म में जाना जा सकता है। ब्राह्मण वह कहलाता है, जो ब्रतों का पालन करता है, इसलिए जैनधर्म में श्रावक को ब्रती और साधु को महाब्रती कहा जाता है।

जैनधर्म की जो ब्रत-व्यवस्था है, इसकी क्या प्रासंगिकता है— यह बात आज किसी से भी छिपी नहीं है। श्रावक-धर्म के अणुब्रतों में सर्वप्रथम स्थान अहिंसा का है। इस आणविक युग में अहिंसा ही एकमात्र ऐसा सिद्धांत है, जिसके माध्यम से मानव-जाति के एक अस्तित्व का रक्षण सम्भव है। आज हम देखते हैं कि हिंसा के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने आत्म-रक्षण के लिए शस्त्रों का संग्रह करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आज हमें मानव के मानवीय-मूल्यों पर उतना विश्वास नहीं रह गया है, जितना शस्त्रों पर।

आज हम शस्त्रों के भय के आधार पर शान्ति की स्थापना करना चाहते हैं, किन्तु हम यह स्पष्ट देख रहे हैं कि शस्त्रों के माध्यम से मानव एवं मानवीय-मूल्यों का संरक्षण सम्भव नहीं है। शस्त्र प्रतिपक्षी के मन में भय उत्पन्न करते हैं, अतः अधिक बलशाली शस्त्रों का निर्माण कर कोई भी देश अपनी सुरक्षा की व्यवस्था बताना चाहता है, किन्तु इस सम्बन्ध में आचारांग-सूत्र में भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शस्त्रों में एक से एक भयंकर दूसरे शस्त्रों का निर्माण सम्भव है, किन्तु अहिंसा ही एक ऐसी शक्ति है, जो शस्त्रों की इस दौड़ को समाप्त कर सकती है। इस प्रकार, आज वैश्विक-पर्यावरण में आवश्यकता शस्त्रों की नहीं, अपितु पारस्परिक विश्वास की है।

इसी प्रकार, सत्याणुब्रत की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि आज विश्व में प्रत्येक क्षेत्र में अप्रामाणिकता का बोलबाला है। अप्रामाणिकता हमारे पारस्परिक विश्वास को भंग कर देती है। आज विश्व में सबसे अधिक आवश्यकता पारस्परिक-विश्वास की है और यह विश्वास हमारी सत्यनिष्ठा या प्रामाणिक जीवन-शैली से ही सम्भव है। भगवान् महावीर ने सत्याणुब्रत की व्यवस्था केवल इसलिए की थी कि पारस्परिक-विश्वास का भंग न हो। यही कारण है कि सत्याणुब्रत के अतिचारों की चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि व्यक्ति को पत्नी और मित्र का विश्वास कभी भी भंग नहीं करना चाहिए। किसी की रहस्यमय बातों को, जो उसने विश्वास कर प्रकट कर दी

है, उसे उद्घाटित नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह सत्याणुव्रत का उल्लंघन ही है। श्रावक के अणुव्रतों में तीसरा क्रम अस्तेय—अणुव्रत कर है। आज विश्व में व्यापार के क्षेत्र में और कर—भुगतान के क्षेत्र में जो अप्रामाणिकता बरती जा रही है, उस पर अस्तेय अणुव्रत के द्वारा ही नियन्त्रण किया जा सकता है।

आज हम उपभोक्तावादी संस्कृति में जी रहे हैं और मान रहे हैं कि भोग—उपभोग की साधन—सामग्री का जितना विकास और प्रचुरता होगी, उतनी ही मानव—जीवन की सार्थकता होगी, किन्तु आज हम उपभोक्तावादी संस्कृति के दुष्परिणामों को स्पष्ट रूप से देख रहे हैं कि इस उपभोगवादी जीवनदृष्टि ने केवल व्यक्ति को, अपितु सम्पूर्ण समाज को भी एक दुष्चक्र के घेरे में ग्रसित कर रखा है। जैन—आचार—संहिता में उपभोक्तावादी संस्कृति से बचने के लिए स्वपत्नी—संतोषव्रत, परिग्रह—परिमाणव्रत, दिशा—परिमाणव्रत, उपभोग—परिभोग—परिमाणव्रत— ऐसे चार व्रतों की व्यवस्था की गई है। इन चारों व्रतों की प्रासंगिकता का कुछ निर्देश श्रावकधर्मविधि में भी किया गया है।

जहाँ तक व्यक्ति—साधना का प्रश्न है, उसमें सामायिक, देशावगासिक पौषध और अतिथि—संविभाग—व्रत की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र के पंचाशक—प्रकरण में जो श्रावकधर्मविधि—प्रकरण है और उसमें एक श्रावक के लिए करणीय और अकरणीय का जो विवेचन किया गया है, उसकी प्रासंगिकता स्पष्ट होती है।

उपासक—प्रतिमाविधि— प्रत्येक मानव विकास की ओर बढ़ना चाहता है। फिर वह विकास चाहे आध्यात्मिक हो या भौतिक, ज्ञान के क्षेत्र में हो या व्यापार के क्षेत्र में हो। सभी के मन की एक ही चाह होती है कि उसके जीवन में विकास हो, तो वे विकास के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रहें हैं, किन्तु इस विकास—यात्रा में यह सोचना अवश्य है कि शान्ति और संतोष किसे प्राप्त होता है ? सफलता किसके चरण चूमती है। भौतिक—विकास की चरम सीमा पर भी व्यक्ति बहुत अशान्त और दुःखी है। सुख एवं शान्ति तो आध्यात्मिक—विकास से ही सम्भव है। इस आध्यात्मिक—विकास की यात्रा का

प्रारम्भ सम्यक्त्व अर्थात् सही दिशाबोध से होता है, अतः जैनधर्म में सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही अणुव्रतों को स्वीकार किया जाता है, तत्पश्चात् व्यक्ति गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों को ग्रहण करता है। श्रावक बारह व्रतों का सम्यक् रूप से निरतिचार पालन करते हुए, अन्त में अपने वैराग्य-भाव को परिपुष्ट करने के लिए धन, परिवार, शरीर आदि सम्बन्धी ममत्व-भाव से निवृत्त होकर एकान्त धर्मस्थल में जाकर शास्त्रोक्त-विधि के अनुसार श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं का समाचरण करता है।

प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ—

प्रश्न उठता है कि प्रतिमा किसे कहते हैं ? प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ है—
प्रतिज्ञा—विशेष, तप—विशेष, अभिग्रह—विशेष।

दूसरे अर्थ में

प्र — प्रमाद—विषय—कषायरूपी संसार—समुद्र से ।

ति — तिराने के लिए।

मा — जो व्रतरूपी महायान को चलाने के लिए मांझी है, वही प्रतिमा है।

प्रतिमा स्थित श्रावक श्रमण के समान व्रत-विशेषों का पालन करता है, अर्थात् प्रतिमाओं को धारण करने वाले श्रावक का जीवन श्रमण के तुल्य होता है। आध्यात्मिक विकास के प्रत्येक चरण पर लिए गए नियमों पर अटल रहना ही प्रतिमा है।

प्रतिमाएँ श्रावक-जीवन में की गई साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ हैं, जिस पर क्रम से चढ़ता हुआ साधक आत्म-विकास की अंतिम सीढ़ी तक पहुँचता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के दसवें पंचाशक उपासक-प्रतिमाविधि में भावस्तव का विवेचन किया है। फिर भावस्तव के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करने के पूर्व वे अपने आराध्य का स्मरण मंगलाचरण के रूप में कर रहे हैं—

णमिऊण महावीरं भव्वहियट्ठाएँ, लेसओ किषि।

वोच्छं समणोवासगपडिमाणं सुत्तमग्गेणं।।¹

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/1 — पृ. — 164

² पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/2 — पृ. — 164

भगवान् महावीर को नमस्कार करके मैं भव्य जीवों के हितार्थ श्रावक के अभिग्रह –विशेष रूप प्रतिमाओं के सम्बन्ध में संक्षेप में (दशाश्रुतस्कन्ध नामक) आगम के अनुसार कुछ कहूंगा।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक–प्रकरण में निम्न प्रकार से श्रावक की प्रतिमाओं की संख्या बताई है–

समणोवासगपडिमा एक्कारस जिणवरेहिं पण्णत्ता।

दंसणपडिमादीया सुयकेवलिणा जतो भणियं।²

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने श्रावक की दर्शन–प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं, श्रुत केवली भद्रबाहु ने भी उन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया है।

आचार्य हरिभद्र के पंचाशक–प्रकरण के अनुसार वे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ निम्न हैं–

दंसण–वय–सामाइय–पोसह– पडिया–अबंभ–सच्चित्ते।

आरंभ–पेस–उदिदव्वज्जए समणभूए य।³

1. दर्शन 2. व्रत 3. सामायिक 4. पौषध 5. नियम 6. मैथुन–वर्जन 7. सचित्त–वर्जन 8. आरम्भ–वर्जन 9. प्रेष्य–वर्जन 10. उदिदष्ट–वर्जन 11. श्रमणभूत – ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।

श्रावक की इन ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख समवायांग, उपासकदशांग आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। उपासकदशांग में भी प्रतिमाओं के ग्रहण करने का संकेत है, किन्तु उसमें संख्या का उल्लेख नहीं है।

“आनन्दे, समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपज्जिताणं विहरई।।”¹

परन्तु इन प्रतिमाओं की स्पष्टता उपासकदशांगसूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने प्रत्येक प्रतिमा का स्वरूप वर्णित करके की है।²

³ पंचाशक–प्रकरण – आ. हरिभद्रसूरि– 10/3 – पृ. – 164

¹ उपासकदांगसूत्र – म. महावीर– 1/70 – पृ. – 67

² उपासकदशांगटीका – आ. अभयदेवसूरि – पृ. – 68

दशाश्रुतस्कंध में भी इन प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

आचार्य हरिभद्र ने दशाश्रुतस्कंध में वर्णित ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर ही पंचाशक-प्रकरण में भी ग्यारह प्रतिमाओं का प्रतिपादन किया है। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख एक ही गाथा में किया है-

“दंसणवय सामाइय पोसह सचित्त, राय भते य।

बंभारंभ परिग्गह अणुमण उदिदट्ठ देस विरदोय।।³

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में श्रावक के ग्यारह पद कहकर प्रत्येक का स्वरूप प्रतिपादित किया है।⁴

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में प्रतिमाएँ बारह बताई हैं।⁵ इसके अतिरिक्त अमितगति श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार, सागारधर्माऽमृत में ग्यारह-ग्यारह प्रतिमाओं का ही वर्णन प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा की ग्यारह-ग्यारह प्रतिमाओं का जो वर्णन किया गया है, उनके नाम एवं क्रम में कुछ अन्तर प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर-साहित्य में पंचाशक-प्रकरण के अनुसार ही दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यारम्भपरित्याग, उदिदष्टमत्तत्याग और श्रमणभूत - इस क्रम से नामोल्लेख प्राप्त होते हैं।

जबकि दिगम्बर-परम्परा में रत्नकरण्डक-श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में प्रतिमाओं के नाम और क्रम इस प्रकार हैं-

दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तिविरति, ब्रह्मचर्य, आरम्भपरित्याग, परिग्रहत्याग, अनुमत्तित्याग और उदिदष्टत्याग।¹

³ चारित्रपाहुड - कुन्दकुन्दाचार्य - 22

⁴ रत्नकरण्डकश्रावकाचार - स्वामि समंतभद्र - 1/137 से 147

⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामि कार्तिकेय - गाथा- 24, 27, 28, 29, 70 से 90 तक

¹ (क) अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति - 7/67 से 78

(ख) वसुनन्दिश्रावकाचार - आ. वसुनन्दि - 205 से 213

(ग) सागारधर्माऽमृत - पं. आशाधर- 3/7 से 7/37

उपर्युक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में वर्णित नामों और क्रमों में अंतर होने पर भी इनके स्वरूप में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है, क्योंकि दिगम्बर-साहित्य में जिसे अनुमति त्याग प्रतिमा कहा है, श्वेताम्बर-साहित्य में से प्रेष्यारम्भ-त्याग में ही समाविष्ट कर लिया गया है एवं श्वेताम्बर-साहित्य में जो श्रमणभूत प्रतिमा है, उसे दिगम्बर परम्परा में त्याग नाम दिया गया है। इनमें श्रावक का आचार क्रमशः श्रमण के समान हो जाता है।

इन ग्रन्थों में श्रावक-प्रतिमाओं का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

दर्शन-प्रतिमा का स्वरूप —

दंसणपडिमा णेया सम्मत्तजुयस्स जा इहं बोदी।

कुग्गहकलंकरहिया मिच्छत्तखओवसमभावा।²

यहाँ सम्यक्त्व से युक्त जीवन का शरीर दर्शन-प्रतिमा है। दर्शन प्रतिमाधारी मिथ्यात्व के क्षयोपशम से युक्त होने के कारण कदाग्रह के कलंक से रहित होता है।

यहाँ शंका उठाई गई है कि सम्यग्दर्शन के पालन रूप दर्शन-प्रतिमा होने पर भी यहाँ सम्यक्दृष्टि के शरीर को दर्शन-प्रतिमा क्यों कहा गया है ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने सातवीं गाथा में किया है, अतः हम वहीं से इसका स्पष्टीकरण शुरू करेंगे।

मिथ्यात्व कदाग्रह का कारण होता है। मिथ्यात्व का क्षयोपशम हो जाने पर कारणहीनता के फलस्वरूप कदाग्रह भी नहीं रहता है। जिस प्रकार शरीर में विष व्याप्त ही नहीं है, तो फिर विष का विकार कैसे होगा, क्योंकि विष विकार का कारण विष ही है, उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप कारण के बिना कदाग्रहरूप कार्य भी नहीं होगा।

मिच्छत्तं कुग्गहकारणंति खओवसममुवगए तम्मि।

ण तओ कारणविगलत्तणेण सदि विसविगारोव्व।¹

दर्शन-प्रतिमाधारी श्रावक का स्वरूप —

² पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि- 10/4 — पृ. — 165

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि- 10/5 — पृ. — 165

² पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि- 10/6 — पृ. — 166

होइ अणाभोगजुओण विवज्जयवं तु एस धम्मम्मि ।

अत्थिक्कादिगुणजुत्तो सुहाणबंधी णिरतियारो ।।

दर्शन-प्रतिमा वाला जीव ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से श्रुत-चारित्ररूप धर्म में कुछ अज्ञानी हो सकता है, किन्तु विपरीत अवधारणा वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि वह कदाग्रह से रहित होता है। दर्शन-प्रतिमा का धारक श्रावक आस्तिक्य, अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम - इन पांच गुणों से युक्त होता है, साथ ही शुभानुबंध से युक्त और शंकादि अतिचारों से रहित होता है।²

दर्शन, अर्थात् दृष्टि-व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास के लिए सम्यग्दृष्टि का होना अनिवार्य है। सम्यग्दृष्टि से तात्पर्य है- सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ने प्रथम उपासक-प्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग एवं यथातथ्य-शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया एवं आराधना की।

पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं ।

सम्म काएणं फासेइ, पालेइ, सोहइ, तिरेइ, किहेइ आराहेर ।।³

उपासकदशांगसूत्रटीका में चारित्र आदि शेष गुण नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शन का शंका, कांक्षा आदि पांच दोषों से रहित होकर सम्यक् रूप से पालन करना दर्शन-प्रतिमा कहा है। दशाश्रुतस्कंध में दर्शन-प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार कहा है- क्रियावादी मनुष्य सर्वधर्म रुचि¹ वाला होता है, परन्तु शीलव्रत एवं गुणव्रतों को सम्यक् रूप से धारण नहीं करता है।²

³ उपासकदशांगसूत्र - म. महावीर- 1/70 - पृ. - 67

¹ उपासकदशांगटीका - आ. अभयदेवसूरि- 1/70 - पृ. - 68

² दशाश्रुतस्कंधटीका - आ. अभयदेवसूरि - 6/8 - पृ. - 445

³ समवायांगसूत्रटीका - आ. अभयदेवसूरि- 11/1 - पृ. - 29

⁴ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र- 7/2

⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामी कार्तिकेय - 27

⁶ उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 821

⁷ अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति - 7/67

⁸ वसुनन्दी-श्रावकाचार - आ. वसुनन्दी - पृ. सं. - 205

समवायांगसूत्र के अनुसार उपासक का शंकादि दोषों से रहित निर्मल, सम्यग्दर्शन को धारण करना दर्शन-प्रतिमा है।³

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में अतिचाररहित शुद्ध सम्यग्दर्शन से युक्त संसार, शरीर और इन्द्रियों के भोगों से रहित, पंच परमेष्ठी की शरण को प्राप्त, तात्त्विक-सन्मार्ग को ग्रहण करने वाले को दार्शनिक-श्रावक कहा है।⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसे दूसरा स्थान देकर कहा गया है— जो अनेक त्रस जीवों से भरे हुए मांस-मद्य का सेवन नहीं करता है, वह दार्शनिक-श्रावक है।⁵

उपासकाध्ययन में सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूल गुणों का पालन करने को दर्शनप्रतिमा-धारक बताया है।⁶

अमितगति-श्रावकाचार में पवित्र और निर्मल दृष्टि को हृदय में धारण करना दर्शन-प्रतिमा है।⁷ वसुनन्दि-श्रावकाचार में पांच उदुम्बरों सहित सात कुव्यसनों के त्यागी को दार्शनिक-श्रावक माना है।⁸

इन सभी के मतानुसार यही तथ्य स्पष्ट होता है कि — जो दर्शन-प्रतिमाधारी-श्रावक-आगम-वाक्यों पर दृढ़ श्रद्धा रखता है, शंका, कांक्षा आदि अतिचारों से रहित होता है, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर सम्यक् श्रद्धा न रखता हुआ उनकी आज्ञा का पालन करता है, अभक्ष्य, अनन्तकाय आदि का त्याग एवं सप्तव्यसनों से जो मुक्त होता है, वही सही रूप में सम्यग्दर्शन से युक्त दर्शन-प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के प्रस्तुत पंचाशक की चतुर्थ गाथा में सम्यग्दृष्टि के शरीर को दर्शन-प्रतिमा कहा है, जिसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के प्रस्तुत अध्ययन की सातवीं गाथा में किया है—

बोदी य एत्थ पडिमा बिसिट्ठगुण जीवलोगओ भणिया।

ताएरिसगुणजोगा सुहो उ सो खावणत्थत्ति।।¹

संसारभिनन्दी जीवों की अपेक्षा मोक्षमार्गाभिमुखी जीव विशिष्ट गुण वाले हैं। विशिष्ट गुणवाले मोक्षमार्गाभिमुखी जीवों से दर्शनप्रतिमाधारी अधिक श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे जिज्ञासा को सत्य मानकर उन गुणों से युक्त होते हैं। ये गुण कायिक—रूप होने से, अर्थात् काया से व्यक्त होने से यहाँ प्रतिमा का अर्थ शरीर किया गया है।

व्रत—प्रतिमा का स्वरूप—

एवं वयमाईसुवि दट्ठव्वमिणंति णवरमेत्थवया ।

घेपंतऽणुव्वया खलु थुलगपाण वहविरयादी ।।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के उपासकप्रतिमाविधि के अन्तर्गत व्रत—प्रतिमा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि दर्शन—प्रतिमा की तरह, व्रत आदि अन्य सभी प्रतिमाओं में भी 'प्रतिमा' शब्द शरीर का ही परिचायक है। व्रत—प्रतिमा में स्थूलप्राणातिपात—विरमण आदि पांच अणुव्रत ही स्वीकार किए गए हैं,² जिनका पालन शरीर द्वारा होने के कारण इसे व्रत—प्रतिमा कहा गया है।

उपासकदशांगसूत्र के अनुसार पहली प्रतिमा के यथावत् ग्रहण के बाद क्रमशः दूसरी से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक ग्रहण करने के उल्लेख हैं।

आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं ।

एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दशमं, एक्कारसमं जाव आराहेइ ।³

उपासकदशांगसूत्र की टीका के अनुसार व्रत—प्रतिमा में दर्शनप्रतिमा से युक्त पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन अनुकम्पा—गुण से युक्त होता है।⁴ दशाश्रुतस्कंध में

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/7 — पृ. — 166

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/8 — पृ. — 166

³ उपासकदशांगसूत्र — म. महावीर— 1/71 — पृ. — 67

⁴ उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि— 1/71 — पृ. — 68

¹ दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/9 — पृ. — 445

² रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र— 7/138 — पृ. — 470

³ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 29

(ख) उपासकाध्ययन — आ. सोमदेव — 821

(ग) अमितगति—श्रावकाचार — आ. अमितगति — 7/68

प्राणातिपात—विरमण आदि अणुव्रतों, शीलव्रतों और गुणव्रतों के गृहीत प्रत्याख्यानों और पौषधव्रत का सम्यक् परिपालन व्रत—प्रतिमा है।¹ इसमें सामायिक और देशावकाशिक का सम्यक् प्रतिपालन नहीं होता है। रत्नकरण्डक—श्रावकाचार में माया, मिथ्यात्व और निदान— इन शल्यों से रहित पांच अणुव्रतों एवं सात शीलव्रतों को धारण करने वाले श्रावक को व्रती श्रावक कहा गया है।² कार्तिकेयानुप्रेक्षा, उपासकाध्ययन, अमितगति—श्रावकाचार में बारह व्रतों के अतिचाररहित परिपालन करने को व्रत—प्रतिमा माना है।³

इस प्रकार जब श्रावक सम्यग्दृष्टि से युक्त होता है, तब वह संयम के विकास में भी आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और वह इस व्रत—प्रतिमा में अपनी शक्ति के अनुसार पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं सामायिक—पौषध के अतिरिक्त शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करता है। प्रश्न है कि इस व्रत—प्रतिमा में सामायिक व पौषध का पालन क्यों नहीं करता है ?

सामायिक एवं पौषध प्रारम्भिक—विकास के लिए विधिरूप हैं, अतः इसका अभ्यास श्रावक अलग प्रतिमा के रूप में करता है।

अणुव्रतों की प्राप्ति — आचार्य हरिभद्र ने सम्यक्त्व की प्राप्ति के कितने समय के बाद व्रतों की प्राप्ति होती है— इसकी चर्चा पंचाशक—प्रकरण के उपासकप्रतिमा विधि के अन्तर्गत की है।

सम्मत्तोवरि ते सेसकम्मुणो अवगए पुहुत्तम्मि।

पलियाण होति णियमा सुहाय परिणाम रूवा उ।।⁴

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् उस समय कर्मों की जितनी स्थिति है, उसमें से दो से लेकर नौ पल्योपम तक की स्थिति जब कम हो, तब अणुव्रतों की उपलब्धि अवश्य

⁴ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/9 — पृ. — 166

होती है। अणुव्रत क्षायोपशमिक भावजन्य होते हैं, इसलिए ये आत्मा के प्रशस्त परिणाम हैं।

व्रत-प्रतिमा में गुण-दोषों की स्थिति— आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय में व्रत-प्रतिमा के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए कहा है—

बंधादि असक्किरिया संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं।

अणुकंपधम्मसवणादिया उ पहवति विसेसेण।।¹

इन अणुव्रतों का परिपालन होने पर इन अणुव्रतों के अतिचार रूप बंध-वध आदि अयोग्य आचरण प्रायः नहीं होता है। इस व्रत-प्रतिमा के अन्तर्गत जीवानुकम्पा, धर्मागम-श्रवण आदि शुभ क्रियाएँ अधिकतम होती हैं।

इस प्रकार अतिचाररहित पांच अणुव्रतों के पालन रूप द्वितीय व्रत-प्रतिमा है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार भी इस प्रतिमा में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं दो शिक्षाव्रत ही मान्य हैं, जबकि दिगम्बर-परम्परा के क्रम में बारह ही व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करने का निर्देश प्राप्त होता है।

सामायिक-व्रत— आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के उपासकप्रतिमा विधि में तृतीय सामायिक प्रतिमा का विवेचन करते हुए कहते हैं—

सावज्जजोग परिवज्जणादिरुवं तु होइ विण्णेयं।

सामाइयमित्तरियं गिहिणो परमं गुणट्ठाणं।।²

सावद्ययोग के त्याग और निरवद्ययोग के आचरण को सामायिक कहा जाता है। यह सामायिक आत्मा के प्रशमभाव के लिए की जाती है। सामायिक करता हुआ श्रावक श्रमण के समान ही समत्वयोग की साधना का अनुभव करता है। तीन योग एवं दो करण से

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरी— 10/10 — पृ. — 167

² पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरी— 10/11 — पृ. — 167

सावद्य क्रिया का त्याग करता है। यह सामायिक अल्पकालीन है, अर्थात् मात्र दो घड़ी के लिए होती है।

सामायिक श्रावक के लिए प्रधान गुणस्थानरूप है, अर्थात् श्रावक के देशविरत होने के कारण सामायिक को प्रधान गुणस्थानरूप भी बताया गया है।

प्रश्न उठता है कि सामायिक को प्रधान गुणस्थान क्यों माना गया ?

आचार्य हरिभद्र ने इसका समाधान करते हुए पंचाशक प्रकरण के उपासक प्रतिमाविधि में कहा है—

सामाइयंमि उ कए समणोइव सावओ जतो भणितो।

बहुसो विहाणमस्स य तम्हा एयं जहुत्तगुणं।।¹

सामायिक करता हुआ श्रावक श्रमण के तुल्य होता है तथा श्रमण की तरह ही मोक्ष सुख के परमसाधन रूप समभाव का अनुभव करता है, इसलिए सामायिक को परम गुणस्थान का सम्मान देते हुए श्रावक को बार—बार सामायिक करने की प्रेरणा दी गई है। उपासकदशांगसूत्र की टीका के अनुसार सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करने की स्थिति को सामायिक—प्रतिमा कहा गया है।² दशाश्रुतस्कंध में पूर्वोक्त दोनों प्रतिमाओं के साथ—साथ सामायिक एवं देशावकाशिक—शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालन तो होता है, परन्तु अष्टमी, चतुदर्शी, अमावस्या, पूर्णमासी को परिपूर्ण पौषधवास का सम्यक् परिपालन नहीं होता है, उसे सामायिक—प्रतिमाधारी कहा है।³ रत्नकरण्डक—श्रावकाचार में चार बार तीन—तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथा— जातरूप से अवस्थित होकर खड्गासन एवं पद्मासन से ध्यान करने वाला, मन, वचन, काय की शुद्धि से युक्त, तीनों समय सामायिक करने वाला सामायिक—प्रतिमाधारी कहा है।⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार जो बारह आवर्त सहित चार प्रमाण और दो नमस्कारों को करता हुआ कायोत्सर्ग में अपने

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/12 — पृ. — 167

² उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — प्रथम अध्याय

³ दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/19

⁴ रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र— 7/139 — पृ. — 470

कर्मों के विपाक का चिन्तन करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।¹ उपासकाध्ययन में नियम से तीनों सन्ध्याओं को विधिपूर्वक सामायिक करने को सामायिक-प्रतिमा माना गया है।² वसुनन्दि-श्रावकाचार में स्नानादि से शुद्ध होकर चैत्यालय या प्रतिमा के सम्मुख या पवित्र स्थान में पूर्व या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनधर्म व पंच-परमेष्ठी की जो त्रिकाल वन्दना करता है, उसे सामायिक प्रतिमाधारी कहा गया है।³ सागरधर्माभूत में भी उपासकदशांग-टीका का ही अनुसरण किया गया है।⁴

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के दसवें अध्याय में सामायिक के गुण-दोषों का विवरण करते हुए कहा है-

मणदुष्प्रणिहाणादि ण होंति-एयम्भि भावओ संते ।

सतिभावावट्टिठय कारिया य सामण्णबीयंति ।।⁵

सामायिक के भाव होने पर मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और कायदुष्प्रणिधान नहीं होते हैं, अपितु समत्वभाव में सजगता और अवस्थिति होती है, क्योंकि यह सामायिक सर्वविरति सामायिकरूपी वृक्ष के लिए बीजरूप है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा वर्णित सामायिक-प्रतिमा के अनुसार ही दिगम्बर-परम्परा ने भी सामायिक-प्रतिमा के स्वरूप को स्वीकार किया है, किन्तु दोनों में अन्तर भी है। दिगम्बर-आचार्यों ने इसमें द्वादशावर्त वन्दन, ध्यान आदि को भी जोड़ लिया है।

पौषध-प्रतिमा- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की उपासकप्रतिमाविधि में चतुर्थ पौषध-प्रतिमा के विषय में चर्चा करते हुए कहा है-

¹ कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामी कार्तिकेय - 71-72

² उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 871

³ वसुनन्दी श्रावकाचार - आ. वसुनन्दी - पृ. - 274-275

⁴ सागरधर्माभूत - पं. आशाधर- 7/1

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/13 - पृ. - 168

⁶ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/14 - पृ. - 168

पोसेइ कुसलधम्मे जं ताऽऽहारादिचागणुट्ठाणं ।

इह पोसहोत्ति भण्णति विहिणा जिणभासिएणेव ।⁶

जिस प्रक्रिया से आत्मधर्म का पोषण होता हो, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित है— ऐसी सुविधि से आहार, शरीर—सत्कार, अब्रह्मचर्य, सावद्यव्यापार— इन चारों का त्याग करना पौषधप्रतिमा कहलाता है ।

उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रतिमाओं के साथ जो अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की आराधना करता है, वह पौषध—प्रतिमाधारी है।¹ दशाश्रुतस्कंध में उपर्युक्त तीनों प्रतिमाओं के पालन के साथ चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णमासी एवं अमावस्या के दिन जो परिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करता है, किन्तु एक रात्रि की उपासकप्रतिमा का पालन नहीं करता है, वह पौषधप्रतिमाधारी होता है।² रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अमितगतिश्रावकाचार में प्रत्येक मास के चारों ही पर्व—दिनों में अपनी शक्ति के अनुसार पौषध को नियमपूर्वक करना पौषधप्रतिमा कहा गया है।³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा और वसुनन्दि—श्रावकाचार में बताया गया है कि सप्तमी एवं त्रयोदशी के दिन अपराहन के समय जिनमंदिर में जाकर चारों आहारों का त्याग कर उपवास करना तथा सर्वव्यापारों को छोड़कर रात्रि करना, सवेरे पुनः सारी क्रियाओं को करके उस दिन को शास्त्राभ्यास में व्यतीत करना, पुनः धर्मध्यान में रात बिताकर उषाकाल में सामायिक—वन्दना आदि करके यथावसर तीनों पात्रों को भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करना— इस प्रकार की क्रिया पूर्ण करने वाले श्रावक को पौषधप्रतिमा होती है।⁴ आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक—प्रकरण में पौषध के भेदों को स्पष्ट किया है—

¹ उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 66

² दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/20

³ (क) रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र— 7/140 — पृ. — 471

(ख) अमितगति श्रावकाचार — आ. अमितगति — 7/68

⁴ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 72—75

(ख) वसुनन्दी—श्रावकाचार — आ. वसुनन्दी — पृ. — 281—289

⁵ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/15 — पृ. — 168

⁴⁵² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/16 — पृ. — 168

आहारपोसहो खलु शरीरसक्कारपोसहो चेव ।

बंभव्वावारेसु यं एयगया धम्मवुड्ढित्ति ।।⁵

त्याग की अपेक्षा से पौषध चार प्रकार का है--

1. आहारत्याग-पौषध
2. शरीरसत्कार-त्याग-पौषध
3. अब्रह्मचर्य-त्याग-पौषध और
4. व्यापारत्याग-पौषध ।

इन चार प्रकार के त्याग से पौषधधारी श्रावक धर्म की वृद्धि करता है ।

पौषध में त्याज्य अतिचार- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में उपासक-प्रतिमाविधि के अन्तर्गत पौषध में त्याज्य अतिचारों का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

अप्पडिदुप्पडिलेहियसेज्जासंथारयाइ वज्जेति ।

सम्मं च अणुपालण माहारादीसु एयम्मि ।।⁴⁵²

पौषध-प्रतिमाधारी पौषध में अप्रत्युपेक्षित-दुश्प्रत्युपेक्षित-शय्या-संस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक, अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित-उच्चारणप्रश्रवण-भूमि और अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारणप्रश्रवणभूमि- इन चार अतिचारों का त्याग करता है, साथ ही पौषध का सम्यक् रूप से परिपालन करता है ।

इस प्रकार, गृहस्थ-श्रावक आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होने के लिए अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-दिनों में उपवास करता है एवं पौषध ग्रहण करता है । उस दिन वह सावद्य-क्रिया से उपरत होकर स्वाध्याय, पठन-पाठन, ध्यान, चिन्तन-मनन आदि करता है एवं यह पौषध एकान्त स्थान में, अथवा उपाश्रय आदि धार्मिक-स्थलों में करने हेतु जाता है ।

पौषधप्रतिमा का विधान दोनों परम्पराओं में प्राप्त होता है एवं आचार्य हरिभद्र ने पौषध में आहार, अब्रह्मचर्य आदि का भी त्याग अपेक्षित माना है ।

कायोत्सर्ग-प्रतिमा- कायोत्सर्ग का अर्थ काया का उत्सर्ग करने से है, अर्थात् कुछ समय के लिए काया का मोह छोड़कर आत्मधर्म में स्थित होना कायोत्सर्ग है ।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के उपासक—प्रतिमाविधि के अन्तर्गत कायोत्सर्ग प्रतिमाविधि का विश्लेषण किया है—

सम्मणुव्वयगुणवयसिक्खावयवं थिरो य णाणी य ।

अट्ठमि चउददसीसुं पडिमं ठाएगराईयं ।।

असिणाणवियऽमोई मउलियडो दिवस बंभयारी य ।

रतिं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ।।

कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित होने वाला श्रावक सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों, गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का पालन करने वाला एवं पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का धारक, अचल सत्वधारी और प्रतिमाविधि का ज्ञाता होता है। ऐसा श्रावक अष्टमी और चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों के दिन सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग—प्रतिमा में स्थित रहता है तथा कायोत्सर्ग—प्रतिमाधारी प्रतिमा वर्जित दिनों में स्नान नहीं करता है, रात्रि भोजन नहीं करता है, धोती की गांठ नहीं बांधता है, दिन में सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है और रात्रि में स्त्री—भोग का परिमाण करता है। इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा कहा गया है।^{1,2}

उपासकदशांगसूत्रटीका में सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों और गुणव्रतों का धारक श्रावक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन रातभर कायोत्सर्ग करता है, रात्रिभोजन का त्याग करता है, दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करता है, सांसारिक—प्रवृत्तियों का त्याग करता है, इसी को कायोत्सर्ग—प्रतिमा कहा है।³ दशाश्रुतस्कंध में उपर्युक्त चारों प्रतिमाओं के साथ इसी प्रतिमा में जो प्रतिमाधारी स्नान नहीं करता, रात्रिभोजन नहीं करता, धोती के लांग नहीं लगाता, दिन में ब्रह्मचर्य और रात्रि में मैथुन—सेवन का परिमाण करता है एवं इसे एक दिन से पांच मास तक पालन करता है, उसे नियम प्रतिमाधारी—श्रावक कहा है।⁴

दिगम्बर—परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग या दिवामैथुनत्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है, परन्तु श्वेताम्बर—साहित्य में इसे कायोत्सर्ग या निगम—प्रतिमा में समाविष्ट कर

¹⁻² पंचाशक प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/17+18 — पृ. सं. — 169

³ उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. सं. — 55

⁴ दशाश्रुतस्कंध टीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/20

⁵ (क) रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र— 7/142 — पृ. — 471

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 81

लिया है। रत्नकरण्डक—श्रावकाचार एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य— इन चारों ही प्रकार के आहार को नहीं खाता है। वह रात्रिभोजन—त्याग का प्रतिमाधारी होता है— इस प्रकार कहा है।⁵ उपासकाध्ययन में दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करने को रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा कहा है।¹ वसुनन्दि—श्रावकाचार एवं सागारधर्माऽमृत के अनुसार जो मन, वचन और काया से कृत, कारित एवं अनुमोदित आदि नौ प्रकार से दिन में मैथुन का त्याग करता है, उसके दिवामैथुनत्याग—प्रतिमा होती है।²

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के प्रस्तुत अध्याय में कायोत्सर्ग—प्रतिमाधारी को किस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए, यह बताया है—

सायङ् पडिमाएँ ठिओ तिलोगपुज्जो जिणे जियकसाए।

णियदोसपच्चणीयं अण्णं वा पंच जा मासा।।³

कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी कायोत्सर्ग को अंगीकार करते समय कषायजित और त्रिलोकपूज्य जिनेश्वर परमात्मा का ध्यान करता है, अथवा अपने रागादि दोषों का चिन्तन करते हुए आलोचनारूप ध्यान करता है। इस प्रतिमा का उत्कृष्ट काल पांच महीने का है।

प्रस्तुत प्रतिमा के विश्लेषण में दिगम्बर व श्वेताम्बर—परम्परा में भिन्नता प्रकट होती है। आचार्य हरिभद्र ने पंचम श्रेणी में कायोत्सर्ग को स्थान दिया है एवं कहा है कि अष्टमी, चतुर्दशी को कायोत्सर्ग करना चाहिए, वहीं दिगम्बर— परम्परानुसार इस प्रतिमा का साधक सचित्त वस्तुओं का त्याग करता है।

¹ उपासकाध्ययन — आ. सोमदेव — 821

² (क) वसुनन्दी—श्रावकाचार — आ. वसुनन्दी — पृ. — 296

(ख) सागारधर्माऽमृत — पं. आशाधर— 7/12

³ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/19 — पृ. — 169

अब्रह्मवर्जन-प्रतिमा का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के उपासक-प्रतिमाविधि में पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का पालन करते हुए साधक किस प्रकार छठवीं प्रतिमा को धारण करता है, इसका विवेचन किया गया है—

पुव्वोइयगुणजुत्तो विसेसओ विजिय मोहणिज्जो य ।

वज्जइ अबंभमेगंतओ उ राइपि थिरचित्तो ॥

पूर्व में धारण किए हुए सम्यग्दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषधकायोत्सर्ग— इन पांच प्रतिमारूप गुणों से युक्त और पांचवीं प्रतिमा द्वारा विशेष रूप से काम पर विजय प्राप्त करने वाला श्रावक छठवीं अब्रह्मवर्जन-प्रतिमा में अविचलित चित्तवाला होकर रात्रि में भी काम-वासना का पूर्णरूपेण त्याग करता है।¹

यहाँ विशेष रूप से इस बात को स्पष्ट किया है कि पांचवीं और छठवीं प्रतिमा में कुछ भेद हैं। पांचवीं प्रतिमा में रात्रि में मैथुन-सेवन का सर्वथा त्याग नहीं होता है, जबकि छठवीं प्रतिमा में दिवस व रात्रि में मैथुन-सेवन का सर्वथा त्याग होता है।

आचार्य हरिभद्र ने कायोत्सर्ग-प्रतिमाधारी के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहा है—

सिंंगारकहाविरओ इत्थीएँ समं रहम्मि णो ठाइ ।

चयइ य अतिप्पसंगं तहा विहुसं च उक्कोसं ॥

श्रृंगारिक-कथाएँ त्याग करने वाला, स्त्री के साथ एकान्त में नहीं बैठने वाला, स्त्रियों से प्रत्यक्ष परिचय नहीं करने वाला तथा शरीर के विशेष श्रृंगार एवं वेशभूषा आदि का त्याग करने वाला छठवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक कहलाता है।²

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रतिमा का काल प्रस्तुत अध्याय में इस प्रकार बताया है—

एवं जा छम्मासा एसोऽहिगतो इहरहा दिट्ठं ।

जावज्जीवंपि इमं वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/20 - पृ. - 170

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/21 - पृ. - 170

³ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/22 - पृ. - 170

अब्रह्मवर्जन—रूप प्रतिमाधारी श्रावक श्रृंगार—कथा आदि के त्यागपूर्वक उत्कृष्टता से छः महीने तक अब्रह्म का त्याग करता है। इसके अतिरिक्त, अन्य कुछ श्रावक आजीवन अब्रह्म का त्याग करते हैं। ऐसा इस लोक में देखा गया है। आचार्य हरिभद्र ने यह निर्देश दिया है कि जिसको प्रतिमा का वहन किए बिना ब्रह्मचर्य का पालन करना है, वह छः महीना ही नहीं, अपितु जीवन भर इस व्रत का पालन कर सकता है।³

उपासकदशांगटीका के अनुसार पूर्वोक्त पांचों प्रतिमाओं से युक्त जो साधक मोह को जीतकर, रात्रि एवं दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर, स्त्रियों से संलापादि नहीं कर श्रृंगारयुक्त वस्त्र भी धारण नहीं करता है, वह ब्रह्मचर्य— प्रतिमाधारी—श्रावक कहलाता है। इसका समय कम—से—कम एक—दो दिन व उत्कृष्ट छः मास है।¹ दशाश्रुतस्कंध में कहा है कि ऐसा साधक दिन एवं रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, परन्तु सचित्त का परित्यागी नहीं होता। यह कम—से—कम एक—दो दिन और उत्कृष्ट छः मास तक पालन—योग्य नियम है।² दिगम्बर—परम्परा में ब्रह्मचर्य—प्रतिमा को सातवीं प्रतिमा माना है। इसके स्वरूप को बताते हुए रत्नकरण्डक—श्रावकाचार में मल का बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध से युक्त तथा वीभत्स आकार वाले स्त्री के अंगों को देखकर स्त्री—सेवन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहा है।³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में मन, वचन और काया से सभी प्रकार की स्त्रियों की अभिलाशा नहीं करनी करना ब्रह्मचर्य—प्रतिमा माना है।⁴ उपासकाध्ययन, वसुनन्दि—श्रावकाचार तथा सागाराधर्माऽमृत में मन, वचन और काया द्वारा कृत, कारित और अनुमोदन से स्त्री—सेवन के त्याग को ब्रह्मचर्य—प्रतिमा कहा है।⁵ अमितगति—श्रावकाचार में बताया गया है कि विषय—सेवन से विरक्त—चित्त पुरुष,

¹ उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 66—67

² दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/22

³ रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र— 7/143 — पृ. — 471

⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 83

⁵ (क) उपासकाध्ययन — आ. सोमदेव — 821

(ख) वसुनन्दि—श्रावकाचार — आ. वसुनन्दि — पृ. सं. — 297

(ग) सागाराधर्माऽमृत — पं. आशाधर— 7/16

⁶ अमितगति—श्रावकाचार — आ. अमितगति — 73

स्त्री की गुणरूपी रत्नों को चुराने वाला मानकर मन, वचन व काया से उसका सेवन नहीं करता है, वह ब्रह्मचर्य-प्रतिमाधारी-श्रावक होता है।⁶

प्रस्तुत प्रतिमा में दोनों परम्पराओं में सूक्ष्म भिन्नता है। आचार्य हरिभद्र दिन एवं रात्रि मैथुन-सेवन का त्याग बताते हैं, जबकि दिगम्बर-साहित्य में इस प्रतिमा का क्रम सातवां है, परन्तु हमारा आधार हरिभद्रसूरिरचित पंचाशक-प्रकरण है, इस कारण यहाँ अब्रह्मवर्जनप्रतिमा के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है।

सचित्त-वर्जन-प्रतिमा- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के उपासकप्रतिमाविधि के अन्तर्गत सातवीं सचित्तत्याग-प्रतिमा का विवेचन किया है।

सचित्तं आहारं वज्जइ असणादियं णिरवसेसं।

असणे चाउलउंभिगचणगादी सव्वहा सम्मं।।

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक पूर्ववत् सभी प्रतिमाओं का नियमपूर्वक सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए अशन, पान, खादिम और स्वादिम- इन चार प्रकार के सचित्त-भोजन का त्याग करता है।¹

अशन में चावल, गेहूँ, चना आदि के सचित्त आहार का सम्यक् प्रकार से त्याग करता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने आगे की गाथाओं में स्पष्ट किया है कि सचित्त वर्जन प्रतिमाधारी और किन-किन वस्तुओं का त्याग करता है-

पाणे आउक्कायं सचित्तरससंजुअं तहऽण्णापि।

पंचंबरिकक्कडिगाइयं च तह खाइये सव्वं।।

दंतवणं तंबोलं हरेडगादी य साइये सेसं।

सेसपय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं।।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/23 - पृ. - 171

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/24 - पृ. - 171

सातवीं प्रतिमा वाला श्रावक पान में सचित्त जल का तथा तत्काल पानी में डाले हुए सचित्त (कच्चा) लवण (नमक) आदि के रस से मिश्रित जल का त्याग करता है। स्वादिम में त्रसकायिक जीवों से युक्त सभी प्रकार के उदुम्बर, बरगद, प्लक्ष, काकोदुम्बर, पीपल— ये पांच प्रकार के उदुम्बरों का और ककड़ी आदि का त्याग करता है।²

स्वादिम में दातुन, पान (ताम्बूल), हरड़ आदि सभी प्रकार के सचित्त—स्वादिम का त्याग करता है। पूर्व की छः प्रतिमाओं से युक्त श्रावक सात महीने तक विधिपूर्वक सभी प्रकार के सचित्त—द्रव्यों का त्याग करता है। इसे ही सचित्त त्याग (वर्जन) प्रतिमा कहते हैं।¹

उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा गया है कि पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं का परिपालन करता हुआ, जो समस्त सचित्त—आहार का त्याग कर देता है, वह सचित्ताहारवर्जन—प्रतिमाधारी है।²

दशाश्रुतस्कंध के अनुसार दिन—रात ब्रह्मचर्य के पालन के साथ जो पूर्ण रूप से सचित्त—आहार का परित्याग करता है, वह गृह—आरम्भ का परित्यागी सचित्त—आहारवर्जन—प्रतिमाधारी है।³ इसमें गृहस्थ उस प्रतिमा को एक दिन, दो दिन तथा उत्कृष्ट सात मास तक पालन करता है। दिगम्बर—परम्परा में इसको पांचवें क्रम पर रखा है। इसके स्वरूपगत विभिन्न पहलुओं को दृष्टिगत रखकर यहाँ इसका विवेचन किया जा रहा है। दिगम्बर—परम्परा में इसका सचित्तविरति नाम दिया गया है। रत्नकरण्डक—श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा और वसुनन्दि—श्रावकाचार में जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, कैंर, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्तविरतिप्रतिमा का

¹ पंचा एक प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/25 — पृ. सं. — 171

² उपासकदशांग सूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. सं. — 67

³ दशाश्रुतस्कंध

⁴ (क) रत्नकरण्डक श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र — 141

(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 78,79

(ग) वसुनन्दी श्रावकाचार — आ. वसुनन्दी — पृ. सं. — 295

धारी बताया गया है।⁴ वसुनन्दि-श्रावकाचार में अप्रासुक-जल का त्याग भी इसमें सम्मिलित माना गया है। उपासकाध्ययन में आठवीं प्रतिमा का नाम सचित्त-त्याग किया है। यहाँ सचित्त वस्तु के खाने के त्याग को सचित्त-त्याग-प्रतिमा-कहा है।⁵ अमितगति-श्रावकाचार में जिनवचनों का वेत्ता दयालुचित्त जो पुरुष किसी सचित्त वस्तु को नहीं खाता है, वह साधारण धर्म का पोषक एवं कषायों का विमोचक सचित्तत्यागप्रतिमाधारी कहा गया है।⁶ सागारधर्माऽमृत में चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करने वाला, हरे बीज, सचित्त जल और नमक नहीं खाने वाला सचित्तत्यागी श्रावक माना गया है।⁷

आचार्य हरिभद्र द्वारा विवेचित श्रावक-प्रतिमाओं के सप्तम क्रम में साधक सचित्ताहार का त्याग करता है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के क्रम में इसका क्रम पंचम स्थान पर आता है। दिगम्बर-परम्परा में सप्तम क्रम पर श्रावक ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णतया पालन करता है। श्वेताम्बर-परम्परा में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन छठवें क्रम पर है।

आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा का स्वरूप- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के उपासक-प्रतिमाविधि के अन्तर्गत आरम्भवर्जन-प्रतिमा का विवेचन करते हुए यह बताया है कि आरम्भवर्जन-प्रतिमा किसे कहते हैं-

वज्जइ सयमारंभं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं।

पुव्वप्पओगसोच्चिय वित्तिणिमित्तं सिद्धिलभावो।।

आठवीं प्रतिमा वाला श्रावक कृषि (खेती) आदि आरम्भयुक्त पापकार्य को स्वयं छोड़ देता है, परन्तु सेवक आदि से सावद्य-कार्य करवाने का परित्याग नहीं करता है। प्रतिमा स्वीकार करने के पूर्व उसका आजीविका का जो साधन (कार्य) था, उसे ही

⁵ उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 822

⁶ अमितगति श्रावकाचार - आ. अमितगति - 7/71

⁷ सागारधर्माऽमृत - पं. आशाधर- 7/8

आजीविका के निमित्त उदासीन भाव से सम्पादित कराता है, अर्थात् उस सावद्य-कार्य में उसकी आसक्ति नहीं होती है। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में यही आरम्भवर्जन-प्रतिमा है।¹

उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा गया है कि जो सचित्त-आहार का त्याग करता है, स्वयं आरम्भ व हिंसा नहीं करता है, किन्तु आजीविका के लिए दूसरों से करवाने का त्याग नहीं करता है, वही आरम्भवर्जन-प्रतिमा कहलाती है। इसकी काल-मर्यादा एक-दो या तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास है।² दशाश्रुतस्कंध में भी इसका यही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में हिंसा के कारण भूतसेवा, कृषि तथा वाणिज्य आदि आरम्भ से निवृत्त होने को आरम्भत्याग-प्रतिमा कहा गया है।⁴ उपासकाध्ययन में खेती आदि नहीं करने को आरम्भत्याग बताया है।⁴⁸³ वसुनन्दि-श्रावकाचार में कहा है कि पूर्व में जो थोड़ा बहुत गृह-सम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदा के लिए त्याग करता है, वही आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।⁴⁸⁴

इस प्रतिमा हेतु यह शंका की जाती है कि स्वयं आरम्भ न करके दूसरों से आरम्भ करवाना- यह कहाँ तक उचित है ? अर्थात् स्वयं थोड़ी-सी हिंसा का त्याग करके दूसरों से अधिक हिंसा करवाना- यह तो अनुचित ही है, क्योंकि हिंसा करने वाले तो बहुत कम हैं, लेकिन अहिंसा का विवेक रखने वाले कम हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की ही सत्ताइसवीं तथा अट्ठाइसवीं गाथाओं में इसका समाधान दिया है--

निग्घणतेगंतेणं एववि हु होइ चेव परिचत्ता।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/26- पृ. - 171

² उपासकदशांगसूत्रटीका - आ. अभयदेवसूरि - पृ. - 67

³ दशाश्रुतस्कंधटीका - आ. अभयदेवसूरि - 6/24

⁴ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र - 144

⁴⁸³ उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 821

⁴⁸⁴ वसुनन्दी श्रावकाचार - आ. वसुनन्दी - पृ. सं. - 298

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/27 - पृ. - 172

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/28 - पृ. - 172

एददहमेत्तोऽवि इमो वज्जिज्जंतो हियकरो उ।।¹

भव्वस्साणावीरिय-संफासणभावतो णिओगेणं।

पुव्वोइय गुणजुत्तो ता वज्जति अट्ठ जा मासा।।²

स्वयं की थोड़ी सी हिंसा का त्याग भी उसी प्रकार ही श्रेयस्कर ही है, जिस प्रकार भयानक रोग से ग्रसित व्यक्ति का रोग थोड़ा-सा ही कम हो जाए, तो भी उसके लिए हितकर ही होता है। इस नियम के पालन की मुख्यतः दो विशेषताएं हैं— एक तो जिनाज्ञा का पालन और दूसरा, हिंसात्याग में अपनी आन्तरिक-शक्ति का उपयोग।

पहले की सात प्रतिमाओं से युक्त श्रावक आठवीं प्रतिमा में उत्पत्तापूर्वक आठ माह तक स्वयं आरम्भ का त्याग करता है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार इस प्रतिमा में श्रावक स्वप्रेरित या स्वजनित कर्म (जिनसे आरम्भ होता है) का त्याग कर देता है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में इसके अतिरिक्त गृहस्थ के सभी व्यापार एवं कार्यों से मुक्त होकर जीवन-यापन करता है।

प्रेश्य-वर्जन-प्रतिमा का स्वरूप — आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के उपासकप्रतिमाविधि के अन्तर्गत नवम् प्रतिमाधारी श्रावक किस नियम का पालन करता है एवं प्रेष्यवर्जन-प्रतिमा किसे कहते हैं— इसका विवेचन निम्न गाथाओं में किया है—

पेसेहिऽवि आरंभं सावज्जं करावेइ णो गुरुयं।

अत्थी संतुट्ठो वा एसो पुण होति विण्णे ओ।।

निक्खित्तभरो पायं पुत्तादिसु अहव सेस परिवारे।

थेवममत्तो य तहा सव्वत्थवि परिणओ नवरं।।

लोगव्ववहारविरओ बहुसो संवेगभावियमई य।

पुव्वोदियगुणजुत्तो णव मासा जाव विहिणा उ।।¹

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि — पृ. —

नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक पूर्व प्रतिमाओं का पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा के पालन के नियम का अवधारण करता है, अर्थात् प्रतिमाधारी कृषि आदि आरम्भ का कार्य न तो स्वयं करता है और न नौकर-चाकर आदि से करवाता है। नौकर आदि से आरम्भ-कार्य नहीं करवाने वाला व्यक्ति या तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता है, या फिर जिन-प्रवचन का विशेष विज्ञाता होता है।

उक्त प्रतिमाधारी श्रावक अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियां योग्य पुत्रों, अथवा परिजनों या नौकरों को सौंप देता है तथा धन-धान्य आदि के प्रति भी अल्प ममत्वरूप परिणाम वाला होता है।

प्रेष्यवर्जन-प्रतिमाधारी-श्रावक प्रायः लोक-व्यवहार से विरत होता है, संसार के भोगों से भयभीत होता है, अर्थात् पापभीरु होता है, पूर्व प्रतिमाओं के पालन से युक्त होता है और शास्त्रोक्त-विधि से नौ माह तक इस प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। यह प्रेष्यवर्जनप्रतिमा का स्वरूप है।

उपासकदशांगसूत्रटीका में कहा है कि पूर्ववर्ती प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करता हुआ उपासक इस प्रतिमा में आरम्भ का परित्याग कर देता है, अर्थात् वह स्वयं न तो आरम्भ करता है और न औरों से करवाता है, किन्तु उसे आरम्भ करने की अनुमति देने का त्याग नहीं होता है। अपने उद्देश्य से बनाए गए भोजन का वह परिवर्जन नहीं करता है, उसे ले सकता है। इस प्रतिमा की आराधना की न्यूनतम अवधि एक दिन, दो या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट नौ मास है।¹ दशाश्रुतस्कंध में कहा है कि इसमें गृहस्थ दूसरों से आरम्भ नहीं करवाता है, परन्तु उसके हेतु निर्मित आहार को ग्रहण करता है। यह प्रतिमा कम-से-कम एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट नौ मास की होती है।² रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में दस प्रकार के बाह्य-परिग्रहों में ममत्व को छोड़कर हमारा किंचित् भी कुछ नहीं है- ऐसे निर्ममत्व में जो लीन रहता है तथा देहादि, रागादि समस्त परद्रव्य परपर्यायों में आत्मबुद्धि से रहित होकर, अपने अविनाशी-ज्ञायक भाव में

¹ उपासकदशांगसूत्रटीका - आ. अभयदेवसूरि - पृ. - 70

² दशाश्रुतस्कंधटीका - आ. अभयदेवसूरि - 6/25

³ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र - 145

⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामी कार्तिकेय - 86

⁵ उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 822

स्थिर रहता है, जो भोजन, स्नान, वस्त्रादि कर्मोदय से मिला है, उसे अधिक नहीं चाहता हुआ, संतोषरूप होकर, समस्त बांछा—दीनतारहित हो जाता है, साथ ही जो परिचित परिग्रह है, उससे भी अत्यन्त विरक्त रहता है, वह परिग्रहत्यागी श्रावक नौवें पदवाला होता है।³

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बाहरी और भीतरी परिग्रह को पाप मानकर छोड़ देने को परिग्रहविरत होना कहा है।⁴ उपासकाध्ययन में समस्त परिग्रह के त्याग को परिग्रहविरत प्रतिमा बताया है।⁵ अमितगति—श्रावकाचार में कहा है कि यह परिग्रह रक्षण, उपार्जन, विनाश आदि के द्वारा जीवों को अतिभयंकर दुःख देता है— ऐसा समझकर जो परिग्रह का त्याग करता है, उसी को अपरिग्रही कहा जाता है।⁶ वसुनन्दि—श्रावकाचार व सागारधर्माऽमृत में कहा है कि जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष परिग्रह को छोड़ देता है और उस व्रत में भी ममत्व नहीं रखता है, वह परिग्रहविरत प्रतिमा का धारक है।¹

दिगम्बर—परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा में श्रावक अपरिग्रह को धारण करता है, अर्थात् सांसारिक—गतिविधियों से विमुक्त हो जाता है, परन्तु आचार्य हरिभद्र के अनुसार इस प्रतिमा में साधक प्रेष्यत्याग करता है, अर्थात् आदेश देकर भी आरम्भ आदि के कार्य नहीं करवाता है, किन्तु परिग्रह का त्याग नहीं करता है।

उद्दिष्ट—वर्जन—प्रतिमा का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के उपासकप्रतिमा—विधि नामक पंचाशक में श्रावक की दसवीं प्रतिमा के निम्न स्वरूप का प्रतिपादन किया है—

उद्दिदट्ठकडं भत्तंपि वज्जती किमुय सेससमारंभं ? ।

सो होइ उ खुरमुंडो सिहलिं वा धारती कोई ।।

⁶ अमितगति—श्रावकाचार — आ. अमितगति — 7/715

¹ (क) वसुनन्दि—श्रावकाचार — आ. वसुनन्दी — पृ. — 295
(ख) सागारधर्माऽमृत — पं. आशाधर— 7/23

जं णिहियमत्थजायं पुट्ठो णियएहिं णवर सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहे अह णवि तो बेइ णवि जाणे ।।
जतिपज्जुवासणपरो सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो ।
पुव्वोदियगुणजुत्तो दस मासा कालमासे (णे) णं ।।

दसवीं प्रतिमा में श्रावक अपने लिए बने हुए भोजन का भी त्याग करता है, तो फिर शेष आरम्भ तो क्या और कैसे करेगा ? उक्त प्रतिमाधारी श्रावक सिर के बालों का मुंडन करवा लेता है, लेकिन कोई-कोई सिर पर चोटी (शिखा) भी रखता है ।

उक्त प्रतिमाधारी श्रावक से पुत्रों आदि के द्वारा जब यह पूछा जाता है कि भूमि आदि में धन कहाँ रखा हुआ है, या अन्य कोई कार्य के विषय में पूछा जाता है, तब यदि साधक उस विषय में जानता है, तो बता देता है और यदि नहीं जानता है, तो कह देता है कि मैं नहीं जानता हूँ, अर्थात् पूछने पर धन आदि के सम्बन्ध में सूचना तो दे देता है, परन्तु न अपनी ओर से स्वयं पहल करता है और न ही उसमें रुचि रखता है । दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक साधुओं की उपासना में तत्पर रहता है, जिनभाषित जीवादि सूक्ष्म पदार्थों का नित्य चिन्तन करता रहता है, साथ ही पहले की नौ प्रतिमाओं का पालन भी करता है ।¹

उपासकदशांगसूत्रटीका में पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का अनुपालन करता हुआ उपासक इस प्रतिमा में उद्दिष्ट— अपने लिए तैयार किए गए भोजन आदि का भी परित्याग कर देता है । वह अपने-आपको लौकिक कार्यों से प्रायः हटा लेता है । उस सन्दर्भ में वह कोई आदेश या परामर्श नहीं देता है । अमुक विषय में वह जानता है, अथवा नहीं जानता— केवल इतना-सा उत्तर दे सकता है ।² दशाश्रुतस्कंध में कहा गया है कि जो निरन्तर ध्यान और स्वाध्याय में तल्लीन रहता है, सिर के बालों का शस्त्र से मुंडन कराता है, चोटी— जो गृहस्थ आश्रम का चिह्न है, को रखता है, वह

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/32,33 — पृ. — 173

² उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 70

³ दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/26

⁴ (क) रत्नकरण्डक—श्रावकाचार — स्वामी समन्तभद्र — 146

(ख) सागारधर्मस्मृत — पं. आशाधर— 7/30

⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वामी कार्तिकेय — 88

उदिदष्टभक्त्याग—प्रतिमाधारी श्रावक कहा जाता है।³ रत्नकरण्डक—श्रावकाचार और सागारधर्माऽमृत में कहा है कि जो आरम्भ में परिग्रह में, इस लोक—सम्बन्धी कार्य जैसे विवाह, गृह बनवाना, वाणिज्य, सेवा इत्यादि क्रिया में कुटुम्ब के लोग पूछें, तो भी अनुमति नहीं देता है, तुमने अच्छा किया— ऐसा मन, वचन और काया से प्रकट नहीं करता है, रागादि समबुद्धि वाला होता है, वह श्रावक अनुमतिविरत है।⁴

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो पापमूलक गृहस्थ के कार्यों की अनुमोदना नहीं करता है और गृहकार्यों में उदासीन रहता है, वह अनुमतिविरत प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।⁵ अमितगति श्रावकाचार में धर्म—आसक्त, सर्वपरिग्रह से रहित पापकार्यों में अनुमति नहीं देने वाले को अनुमतित्यागी कहा गया है।⁶

वसुनन्दि—श्रावकाचार में कहा गया है कि स्वजनों एवं परजनों द्वारा पूछे गए गृह—सम्बन्धी कार्यों में जो अनुमोदना नहीं करता है, उसके अनुमतिविरतप्रतिमा होती है।¹

दिगम्बर—परम्परा में इसे अनुमतित्याग नाम दिया गया है, जिसका समावेश श्वेताम्बर—परम्परा में उदिदष्टमत्तवर्जन में कर लिया गया है।

इस प्रकार, उदिदष्टमत्त या अनुमतित्यागप्रतिमा में गृहस्थ सर्व प्रकार के सावद्य—कार्यों को करना या अन्यो से करवाना तथा उनका अनुमोदन करना— इन तीनों का त्याग कर देता है, यहाँ तक कि अपने निमित्त से बनाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करता है, किसी भी प्रश्न का उत्तर हाँ या ना में ही देता है, आहार भी अपने पुत्र या स्वजन के घर पर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गृहस्थ—जीवन में रहते हुए भी वह गृहस्थ—धर्म से उपरत रहता है।

⁶ अमितगति—श्रावकाचार — आ. अमितगति — 7/76

¹ वसुनन्दि—श्रावकाचार — आ. वसुनन्दी — पृ. — 300

श्रमणभूत प्रतिमा का स्वरूप — आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के उपासकप्रतिमाविधि—पंचाशक के अन्तर्गत ग्यारहवीं प्रतिमा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

खुरमुंडो लोएण व रयहरणं उग्गहं व घेतूण ।
 समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासंतो ॥
 ममकारेऽवोच्छिणे वच्चति सण्णायपल्लि दट्ठुं जे ।
 तत्थवि जहेव साहू गेण्हति फासुं तु आहारं ॥
 पुव्वा उत्तं कप्पति पच्छाउत्तं तु ण खलु एयस्स ।
 ओदणभिलिंगसूवादि सब्बमाहारजायं तु ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उस्तरा या हाथों से लोच कर मुण्डित होता है एवं साधु के उपकरण—रजोहरण, पात्र आदि ग्रहण कर श्रमण के समान मन से ही नहीं, अपितु काया से भी संयमधर्म का पालन करते हुए विचरण करता है, परन्तु ममत्वभाव से युक्त होने के कारण अपने सम्बंधियों के यहाँ जाकर साधुवत् ही प्रासुक आहार ग्रहण करता है। आचार्य हरिभद्र ने यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक का अपने प्रियजनों के प्रति मोह का सर्वथा अभाव नहीं होता है, इसलिए उनसे मिलने के लिए जाना चाहे, तो जाता है, किन्तु उनके द्वारा दिया गया अकल्पनीय आहार ग्रहण नहीं करता है। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक को स्वज्ञाति के घर पहुँचने से पूर्व बने हुए भोजन में दाल, चावल आदि पदार्थ लेने योग्य हैं, किन्तु पहुँचने के पश्चात् बनाया हुआ भोजन लेने योग्य नहीं है, क्योंकि गृहस्थ उनके निमित्त से भी दाल—भात आदि अधिक बनाएगा और ऐसी स्थिति में निमित्त की संभावना अधिकांशतया रहती ही है।¹ उपासकदशांगसूत्रटीका के अनुसार पूर्वोक्त सभी नियमों का परिपालन करता हुआ साधक इस प्रतिमा में अपने को लगभग श्रमण या साधु जैसा बना लेता है। उसकी सभी क्रियाएँ एक श्रमण की तरह यतना और जागरूकतापूर्वक होती है। वह साधु जैसा वेश धारण

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 10/35,36,37 — पृ. — 174

² उपासकदशांगसूत्रटीका — आ. अभयदेवसूरि — पृ. — 70

³ दशाश्रुतस्कंधटीका — आ. अभयदेवसूरि — 6/27

करता है, वैसे ही पात्र, उपकरण आदि रखता है, किन्तु मस्तक के बालों को उस्तरे से मुंडवा सकता है और यदि सहिष्णुता या शक्ति हो, तो लूंचन भी कर सकता है। साधु की तरह वह भिक्षा-चर्या से जीवन निर्वाह करता है, इतना अंतर अवश्य है कि साधु हर किसी के यहाँ भिक्षा हेतु जाता है, जबकि यह उपासक अपने सम्बंधियों के घरों में ही जाता है, क्योंकि उनके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध पूरी तरह मिट नहीं पाता है। इसकी आराधना का न्यूनतम काल-परिमाण एक दिन, दो दिन या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट ग्यारह मास है।²

दशाश्रुतस्कंध में कहा है कि श्रमणभूत श्रावक उस्तरे से सिर का मुंडन कराता है। साधु का आचार और मण्डोपकरण धारण कर अनगार-धर्म का काय से स्पर्श करता हुआ विचरता रहता है। त्रस जीवों की रक्षा के लिए पैरों को संकुचित कर लेता है। जातिवर्ग के मोह मात्र से नहीं छूटने के कारण भिक्षावृत्ति उन्हीं के घर जाकर करता है।³ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है कि जो समस्त परिग्रह का त्याग करके, अपने घर से मुनियों के रहने के वन में जाकर, गुरुओं के समीप व्रतों को ग्रहण करके, खण्ड-वस्त्र धारण करके भिक्षा द्वारा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है।⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा और अमितगति-श्रावकाचार में कहा है कि जो गृह छोड़कर नवकोटि से विशुद्ध आहार करता है, वह उद्दिष्ट-त्यागी-श्रावक है।¹ उपासकाध्ययन में बताया है कि जो अपने भोजन के लिए किसी प्रकार की अनुमति नहीं देता है, वह उद्दिष्ट-त्याग-प्रतिमाधारी है।² वसुनन्दि-श्रावकाचार व सागारधर्माऽमृत में इस प्रतिमा

⁴ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार - स्वामी समन्तभद्र - 147

¹ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा - स्वामी कार्तिकेय - 70

(ख) अमितगति-श्रावकाचार - आ. अमितगति - 7/77

² उपासकाध्ययन - आ. सोमदेव - 822

³ (क) वसुनन्दि-श्रावकाचार - आ. वसुनन्दी - पृ. - 301

(ख) सागारधर्माऽमृत - पं. आ. पादर- 7/37-38

के दो भेद किए हैं— एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। क्षुल्लक दो वस्त्र धारण करता है। केश—लुंचन या मुण्डन भी यथाशक्ति करा सकता है, भिक्षा विभिन्न घरों से मांग सकता है।

ऐलक कमण्डल और मोरपिच्छि रखता है, एकमात्र लंगोटी धारण करता है, बाकी सभी आचरण दिगम्बर—मुनि के सदृश ही होता है।³

हरिभद्र के अनुसार इसमें साधक श्रमण के समान जीवन—यापन करता है। दिगम्बर—परम्परा में साधक मुनियों के सम्पर्क में अत्यधिक रहता है एवं कठोर जीवन जीता है। उसका दिगम्बर—मुनि से मात्र यह अन्तर होता है कि वह दो या एक वस्त्र धारण करता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के उपासकप्रतिमा—विधि में श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा का विवेचन करने के पश्चात् उपर्युक्त प्रतिमा का उत्कृष्ट एवं जघन्यकाल का विवरण भी प्रस्तुत किया है—

एवं उक्कोसेण एक्कारस मास जाव विहरेइ।

एगा हादियरेणं एयं सव्वत्थ पाएणं।।

उपर्युक्त प्रकार से श्रावक श्रमण के समान श्रमणाचार का पालन करता हुआ उत्कृष्टता से ग्यारह महीने तक मास, कल्पादिपूर्वक विचरण करें। जघन्य से इस प्रतिमा का काल एक अहोरात्र, दो अहोरात्र और तीन अहोरात्र है। इस प्रकार जितना विचरण कर सके, करे।

'प्रायः' शब्द से शंका होती है, कि प्रायः क्यों कहा गया ? 'प्रायः'— ऐसा कहकर यह ज्ञात करवाया गया है कि अन्तमुहुर्त्त आदि भी जघन्य हो सकते हैं। जघन्यकाल कब होता है, इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह मृत्यु या प्रव्रजित होने पर होता है, अन्यथा नहीं।

ग्यारह प्रतिमाओं का काल—निर्धारण

उपासकदशांग—सूत्र में किसी भी प्रतिमा का कालक्रम निर्धारित नहीं किया गया है।

दशाश्रुतस्कंध सूत्र में— पंचम प्रतिमा में उत्कृष्ट पांच मास की अवधि निर्धारित की है। इसी प्रकार, षष्ठम प्रतिमा में छः मास, सप्तम में सात मास, अष्टम में आठ मास, नवम में नौ मास, दशम में दस मास तथा एकादश में ग्यारह मास की अवधि उत्कृष्ट से निर्धारित की है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में दशाश्रुतस्कंध-सूत्र के अनुसार ही पंचम प्रतिमा से एकादश प्रतिमा का काल निर्धारित किया है।

आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासकदशांगटीका में एक से लेकर ग्यारह तक प्रतिमाओं की संख्या के अनुसार ही मास-क्रम की अवधारणा प्रस्तुत की है।

दिगम्बर-परम्परा में प्रतिमाओं का समय-निर्धारण कहीं भी नहीं किया है, परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा के विवरण में यह अवश्य वर्णन किया है कि श्रावक इस प्रतिमा का पालन आजीवन करता है।

दोनों परम्पराओं का अध्ययन करने पर काल के विषय में विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में दोनों ही साधक के अभ्यास के लिए काल का अवधारण किया गया है, परन्तु दिगम्बर-परम्परा में समय-निर्धारण का कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

एक अन्तर यह भी दिखाई देता है कि श्वेताम्बर-परम्परा में प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक के लिए ग्यारह मास तक की अविध मान ली गई है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में प्रतिमा को आजीवन के लिए ही ग्रहण किया जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के उपासकप्रतिमाविधि के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करने के पश्चात् कहा है कि श्रावक ग्यारह प्रतिमाएँ पूर्ण होने पर आगे किस प्रकार की साधना करे। प्रस्तुत गाथा में इसे ही स्पष्ट किया है—

भावेऊणऽत्ताणं उवेइ पव्वज्जमेव सोपच्छा ।

अहवा गिहत्थभावं उचियत्तं अप्पणो णाउं ।।¹

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/39 - पृ. - 176

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/40,41 - पृ. - 176

प्रतिमाओं की आराधना से अपनी आत्मा को भावित करके अन्त में व्यक्ति अपनी योग्यता का मूल्यांकन करे, यदि साधुत्व के परिपालन की योग्यता है, तो श्रमण-जीवन स्वीकार करे, अन्यथा गृहस्थ-जीवन में रहकर ही साधना करे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि आत्मा को भावित करके दीक्षा क्यों लेना चाहिए ? जिसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की निम्न गाथाओं में किया है-

गहणं पव्वज्जाए जओ अजोगाण णियमतो ऽणत्थो ।

तो तुलिऊणऽप्पाणं धीरा एयं पवज्जंति ।।

तुलणा इमेण विहिणा एतीए हंदि नियमतो णेया ।

णो देसविरइकंडयपत्तीएँ विणा जमे सत्ति ।।²

अयोग्य व्यक्तियों द्वारा दीक्षा स्वीकार करना सामान्यतया अनर्थप्रद है, क्योंकि अयोग्य व्यक्ति दीक्षा लेकर संयम के नियमों का उल्लंघन कर सकता है, और यह उल्लंघन जिनाज्ञा की अवहेलना होगी, जिससे जिन-सिद्धांत की उत्सूत्र-प्ररूपणा की सम्भावना भी बनी रहेगी, इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य अपनी योग्यता की समीक्षा करने के पश्चात् ही प्रव्रजित होते हैं, जिससे जिनाज्ञा का पालन भी सुचारु रूप से हो सके। प्रव्रज्या की योग्यता का परीक्षण प्रतिमागत आचरण से ही होता है, क्योंकि भावपूर्वक देशविरति अंगीकार किए बिना प्रव्रज्या नहीं होती। यदि कोई प्रव्रज्या ग्रहण भी कर ले, तो भी उससे सफलता प्राप्त होने की सम्भावना कम होती है। इस कारण, दीक्षा लेने के पूर्व अपने मन को समत्वभावों से पूर्णतया साध लेना चाहिए, जिससे संयम-मार्ग से विचलित होने की गुंजाईश ही न हो तथा जिनाज्ञा का पालन सम्यक् प्रकार से होता रहे।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की निम्न गाथा में कहा है-

तीए य अविगलाए बज्झा चेट्ठा जहोदिया थाय ।

होसि णवरं विसेसा कत्थति लक्खिज्जाए ण तहा ।।¹

योग्यता-परीक्षणपूर्वक ली हुई दीक्षा को ही परिपूर्ण दीक्षा कहा जाता है, क्योंकि परिपूर्ण दीक्षा में प्रतिलेखना आदि सामाचारी के अनुपालनरूप-चेष्टा आगमों के अनुसार होती है। विशिष्ट कारणों से अपवाद का सेवन करने वाले साधकों में भी सामान्यतया आगमानुसारी क्रिया देखी जाती है, किन्तु स्थूल-दृष्टि वाले जीवों को वह (अपवाद अवस्था वाली क्रिया) सामान्य अवस्था वाली क्रिया की तरह स्पष्ट दिखलाई नहीं देती है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत उपासक-प्रतिमाविधि की निम्न गाथा में प्रतिपादन करते हुए कहा है कि योग्य व्यक्ति द्वारा गृहीत दीक्षा में आगमानुसार क्रिया होने में क्या कारण है-

भवणिव्वेयाउ जतो मोक्खे रागानु णाणपुव्वाओ।

सुद्धासयस्स एसा ओहेणवि वण्णिया समए।।²

सम्यग्ज्ञान होने पर जिन कारणों से संसार से विरक्त होता है, उन्हीं कारणों से मोक्षमार्ग के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, अतः शुद्ध परिणाम वाले श्रावक के लिए ही सम्यक् दीक्षा का स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है।

आचार्य हरिभद्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि शुद्ध परिणाम वाले को चारित्र की उपलब्धि किस प्रकार से होती है ? सिद्धान्त-ग्रन्थों में कहा गया है-

तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ ण होइ पावमणो।

सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु।।³

समण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- स + मण = समण। स अर्थात् सहित, मण अर्थात् मन, अर्थात् जो मन-सहित है, वह समण है।

समण - स- सम्यक्, मण- मन, सम्यक् मन है जिसका, वह समण है।

यहाँ मन को सामान्य मन से नहीं लिया गया है। चूंकि मन तो सामान्य मनुष्य एवं तिर्यच पंचेन्द्रिय आदि सभी में होता है, इसलिए यहाँ सम्यक् गुण-सम्पन्न मन

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/42 - पृ. - 176

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/43 - पृ. - 177

³ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/44 - पृ. - 177

वाले के अर्थ में 'सु-मण' विवक्षित है। जो धर्म-ध्यान, शुक्ल-ध्यानादि गुणों से परिपूर्ण मन वाला हो और जो सकषाय मन वाला न हो, वही वास्तव में समण है।

जो स्व और पर में समान भाव वाला हो, वह समण तथा जो मान-अपमान में समभावपूर्वक व्यवहार करे, वह समण है।

यहाँ समण शब्द की इस प्रकार व्याख्या करने का अर्थ यह है कि वास्तव में संयम के स्वामी, शुद्ध दशारूप सम्यक् परिणाम वाले तथा तप-संयम में रमण करने वाले को ही समणत्व प्राप्त होता है।

पू. सज्जनश्रीजी भगवान् सा. के अनुसार—

“तप-संयम रमणता, ये ही तो है श्रमणता।”¹

यहाँ शंका उत्पन्न हुई कि प्रतिमाधारी श्रावक ही दीक्षा के योग्य है, तो क्या प्रतिमा का पालन किए बिना कोई दीक्षा नहीं ले सकता है ? अर्थात् दीक्षा के योग्य नहीं है ?

प्रस्तुत शंका का समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं—

ता कम्मखओवसमा जो एयपगार मंतरेणावि ।

जायति जहोइयगुणो तस्सवि एसा तहा णेया ॥

एत्तोच्चिय पुच्छादिसु हंदि विसुद्धस्य सति पयत्तेण ।

दायव्वा गीतेण भणियमिणं सव्वदंसीहि ॥

तह तम्मि-तम्मि जोए सुत्तुवओगपरिसुद्धभावेण ।

दरदिण्णाएऽवि जओ पडिसेहो वण्णिओ एत्थ ॥

पव्वाविओ सियत्तिय मुंडावेउ मिच्चाइ जं भणियं ।

सव्वं च इमं सम्मं तप्परिणामेहवति पायं ।²

पूर्व में कहा गया है कि संसार से भयभीत, अथवा उदासीन रहने वाले तथा प्रशस्त परिणाम वाले व्यक्ति को दीक्षा दे सकते हैं। इसी प्रकार, कम आयु के

¹ सज्जनभजनभारती - प्र. सज्जनश्री - पृ. - 74

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/45 से 48 - पृ. - 178

कारण प्रतिमा वहन किए बिना भी यदि कोई ज्ञानावरणीय आदि के क्षयोपशमरूप दीक्षा की योग्यता को जो प्राप्त कर लेता है, तो उसको भी प्रतिमाधारी की तरह दीक्षा दे सकते हैं, अर्थात् प्रतिमा धारण किए बिना भी दीक्षा के योग्य होने पर दीक्षा दे सकते हैं, इसलिए सूत्रों के ज्ञाता गीतार्थ को सदा प्रयत्नपूर्वक पृच्छादि में विशुद्ध जीव को दीक्षा देना चाहिए— ऐसा केवलियों द्वारा भाषित है।

पृच्छादि से तात्पर्य है कि गीतार्थ गुरु को प्रथम बार आए दीक्षार्थी से पूछना चाहिए कि कौन है ? कहाँ से आया है ? दीक्षा क्यों अगीकार करना चाहता है ?

यह सब पूछने पर यदि वह उचित उत्तर देता है, तो उसे प्रव्रज्या (दीक्षा) के स्वरूप को धर्म—कथानकों के माध्यम से समझाना चाहिए। प्रव्रज्या का स्वरूप समझाने के पश्चात्, वह दीक्षा के योग्य है या नहीं— इसकी परीक्षा छः माह तक, अथवा उचित समय तक करना चाहिए। इस प्रकार पृच्छा, धर्म—कथन और परीक्षण से जो योग्य लगे, उसे दीक्षा देना चाहिए— ऐसा केवलियों द्वारा भाषित है।

आगमोपयोग से विशुद्ध भाव वाले गुरु के द्वारा प्रव्रज्या—काल में यदि दीक्षार्थी अयोग्य सिद्ध होता है, तो प्रव्रज्या की शेष क्रियाओं, यथा— मुंडन, छेदोपस्थापनीय, चारित्रप्रदान आदि का निषेध किया गया है।

इस सम्बन्ध में कल्पभाष्य में वर्णित प्रव्रज्यासूत्र का अभिप्राय निम्न है— मान लो यदि अनुपयोग, अर्थात् असावधानी से अयोग्य को दीक्षा दे दी गई हो और बाद में यह पता चले कि जिसे दीक्षा दी गई है, वह अयोग्य है, तो उसका मुंडन नहीं करना चाहिए। यदि आचार्य शिष्यलाभ के कारण मुंडन करते हैं, तो उन्हें जिनाज्ञाभंग का दोष लगता है। यदि मुंडन कर दिया हो, तो प्रतिलेखना आदि साध्वाचार नहीं सिखाना चाहिए, क्योंकि अयोग्य को सिखाने पर दोष लगता है। यदि वे साध्वाचार सिखा भी दिए हैं, तो छेदोपस्थापनीय (बड़ी) दीक्षा नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसे बड़ी दीक्षा देने से दोष लगता है। यदि बड़ी दीक्षा दे भी दी हो, तो उसके साथ मण्डली में बैठकर आहार नहीं करना चाहिए। यदि मण्डल में भोजन करने के पश्चात् भी यह पता चले कि जिसे दीक्षा दी गई है, वह अयोग्य है, तो उसे अपने साथ नहीं रखना चाहिए।

इस प्रकार आगम में 'मुण्डापयितुम' इत्यादि जो कहा गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि पृच्छा आदि से ज्ञात विशुद्ध जीव को ही दीक्षा देना चाहिए, अर्थात् जो परीक्षा में अच्छे परिणाम लाया है, वही दीक्षा के योग्य है। आचार्य हरिभद्र का कथन है कि ऐसी स्थिति में प्रतिमाधारी को ही दीक्षा देना अधिक उचित है। इस तथ्य को आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रकरण में निम्न गाथा के रूप में निर्देशित करते हैं—

जुतो पुण एस क्मो ओहेणं संपयं विसेसेणं ।

जम्मा असुहो कालो दुरणुचरो संजमो एत्थ ॥¹

यद्यपि प्रतिमा-पालन के बिना भी दीक्षा हो सकती है, फिर भी सामान्यतया पहले प्रतिमा का सेवन हो, फिर दीक्षा दी जाए— यही उचित है। आचार्य हरिभद्र ने साम्प्रत (वर्तमान-काल) की परिस्थिति का चित्रण करते हुए कहा है कि वर्तमान-काल में तो यह उचित है कि प्रतिमा सेवन करने के पश्चात् ही दीक्षा के योग्य दीक्षा दी जाए। वर्तमान का समय बड़ा विषम है, और वर्तमान में संयमपालन करना बड़ा दुष्कर है, अतः दीक्षार्थियों को प्रतिमाओं का अभ्यास करवाना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र द्वारा पंचाशक-प्रकरण में उपासक प्रतिमाविधि के अन्तर्गत प्रतिमापूर्वक दीक्षा की योग्यता का जो कथन किया गया है, उसका अन्य दर्शनों ने भी समर्थन किया है।

तं तं तरेसुवि इमो आसमभेओ पसिद्धओ चेव ।

ता इय इह जइयव्वं भवविरहं इच्छमाणेहिं ॥²

अन्य दर्शनों में चार प्रकार के आश्रमों की व्यवस्था है—

1.

ब्रह्मचर्य-आश्रम 2. गृहस्थ-आश्रम 3. वानप्रस्थ-आश्रम और 4. सन्यास-आश्रम।

अन्य दर्शनों में इन आश्रमों की इन प्रतिमाओं के समान ही व्यवस्था की गई है। जैन-दर्शन में साधना के शिखर पर चढ़ने के लिए ग्यारह आश्रम हैं, जबकि अन्य दर्शनों में केवल चार ही आश्रम हैं। आश्रम-व्यवस्था के अनुसार सौ वर्ष की आयु के अन्तर्गत प्रारम्भ के पच्चीस वर्ष की आयु तक साधक ब्रह्मचर्य की साधना से इन्द्रियों को

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/49 - पृ. - 179

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 10/50 - पृ. - 180

एवं मन को संयमित बनाकर तत्पश्चात् गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता है, जहाँ संसार के भोगों में रहकर भी मन को संयमित रखता है तथा मात्र अपने कर्तव्य के निर्वाह के लिए सांसारिक-जीवन को जीता है। इस आश्रम की अवधि भी पच्चीस वर्ष की है। तत्पश्चात् वह वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता है। यहाँ पर साधक संसारदशा में रहकर भी वनवासी की तरह अनासक्त-भाव से जीवनचर्या का निर्वाह करता है। इस आश्रम में भी पच्चीस वर्ष तक साधना कर मन को संन्यास के लिए साधने का प्रयास करता है। तत्पश्चात् शेष जीवन को व्यतीत करने के लिए संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर लेता है, अर्थात् घर का त्याग कर बाहर वनों में, जंगलों में, मठों में, कुटीरों में, कहीं भी रहकर संन्यासी का जीवन जीता है। हर धर्म में मोक्ष के लिए साधना का मार्ग बताया गया है, इसलिए साधक यदि भव से विरह पाना चाहता है, तो उसे प्रतिमापूर्वक दीक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत ग्यारह प्रतिमाओं के विवरणानुसार 66 माह पश्चात् संयम ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि संयम ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं, तो गृहस्थ-जीवन में ही संन्यासीवत् रहना चाहिए।

श्रावक-प्रतिमाओं की प्रासंगिकता- मेरी दृष्टि में

प्रतिमा-धारक साधक को सर्वप्रथम जिनेश्वर द्वारा भाषित जीवादि तत्त्वों के प्रति सम्यक् श्रद्धा होना चाहिए। तीव्रतम क्रोधादि कषायों से रहित हो सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के साथ सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म के प्रति समर्पित होना चाहिए। उसके अनन्तर हृदय में प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ-भाव होना चाहिए, क्योंकि मैत्री एवं करुणा के भाव ही आत्मा के चरित्र को पवित्र बनाते हैं तथा ये दोनों भाव ही सहिष्णुता की कुंजी हैं। मैत्री, प्रमोद एवं करुणा के भावों के बिना सम्यक्त्व की साधना असम्भव है। सम्यक्त्व की पूंजी को पाने के लिए हमारे पास पहले मैत्री, करुणा आदि की कुंजी होना चाहिए, क्योंकि मैत्री और करुणा की कुंजी द्वारा ही श्रावक अपने जीवन का निर्वाह प्रामाणिक नैतिकता और आध्यात्मिकता के साथ कर सकता है।

श्रावक के इस प्रकार के सदभावयुक्त आचरण को दर्शन—प्रतिमा कह सकते हैं। वर्तमान में भी श्रावक इस प्रकार की प्रतिमा का वाहक बनकर जी सकता है।

दूसरी प्रतिमा में श्रावक बारह व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करता है। वर्तमान में भी अनेक श्रावक इस व्रत—प्रतिमा का पालन कर प्रथम कक्षा से द्वितीय कक्षा में प्रवेश करते हैं, तब उनके जीवन में ऐसा संकल्प होना चाहिए— मैं संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करूंगा, मैं अपने स्वार्थ के लिए किसी भी दूसरे प्राणी के हितों का अपलाप नहीं करूंगा, विवेकपूर्वक जीवन—यापन करूंगा एवं ऐसा झूठ भी नहीं बोलूंगा, जिससे मेरी प्रतिष्ठा को आघात लगे एवं मेरी आत्मा दुर्गतिगामी हो जाए। मैं ऐसी चोरी नहीं करूंगा, जिससे परिवार, समाज एवं राष्ट्र में निन्दा का पात्र बनूं तथा कामभोगों का सेवन भी इस प्रकार नहीं करूंगा, जिससे परिवार, समाज एवं राष्ट्र में मुँह दिखाने योग्य ही नहीं रहूँ एवं दुर्गति का मेहमान बन जाऊँ। श्रावक इस प्रकार के संकल्प द्वारा पांच अणुव्रतों का पालन कर सकता है साथ ही गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों को भी धारण कर निर्दोष रूप से उनके पालन का प्रयास कर सकता है। यह साधक गृहस्थ जीवन की दूसरी भूमिका है।

जो श्रावक नैतिक—आचरण की दिशा में आगे कुछ प्रगति करना चाहता है, उसे तीसरी समभाव की साधनारूप सामायिक—प्रतिमा का पालन करने हेतु प्रारम्भ में, अर्थात् इस कक्षा में प्रवेश करने के लिए तीन शल्यों का त्याग करना चाहिए— मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शन शल्य। ये तीन शल्य मानव को मानवता से दूर रखते हैं, अर्थात् मानवता के मौलिक—गुणों को प्रकट नहीं होने देते हैं। श्रावक जब तीसरी कक्षा में प्रवेश करता है, तो विशेष रूप से समत्व की साधना करता है। द्वितीय भूमिका में साधक शिक्षाव्रतों का अभ्यास कभी—कभी करता है, इसलिए सामायिक—व्रत की गहराई में जाने के लिए तीसरी कक्षा में केवल सामायिक—साधना को ही स्थान दिया है, अतः इस प्रतिमा में साधक अधिक—से अधिक सामायिक (समत्व—योग) की साधना करे। सामायिक—प्रतिमा का जो स्वरूप प्राचीनकाल में था, वही स्वरूप से वर्तमान में भी है। श्रावक पारिवारिक व सामाजिक—दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी इस प्रतिमा का आजीवन पालन करते हुए मन को साधने का अभ्यास कर सकता है।

श्रावक की चतुर्थ कक्षा पौषध-प्रतिमा की है। पूर्व में श्रावक अष्टमी-चतुर्दशी को पौषध करते हुए इस प्रतिमा का पालन करते थे, वर्तमान में भी श्रावक पर्वतिथियों में भी इस प्रतिमा का पालन करते हैं।

श्रावक-जीवन की पांचवीं कक्षा कायोत्सर्ग की है। पूर्व में श्रावक इस प्रतिमा का पालन अष्टमी-चतुर्दशी को रात्रि में कायोत्सर्ग की साधना करके करते थे। इस प्रतिमा में कुछ समय तक शारीरिक क्रियाओं का त्याग किया जाता था, अर्थात् शरीर के प्रति मेरापन या ममत्व-भाव से मुक्त होने का अभ्यास किया जाता है। श्रावक इस पांचवीं प्रतिमा का पालन अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में करते हुए कायोत्सर्ग की साधना द्वारा शरीर के प्रति ममत्व को कम कर सकता है।

श्रावक छठवीं भूमिका में जब प्रवेश करता है, तो अब्रह्म-सेवन का परित्याग करता है। वर्तमान में भी यह प्रतिमा सम्भव है कि साधक शरीर की अशुचिता को समझकर इस प्रतिमा के अनुरूप आजीवन अब्रह्म (काम-भोग) के सेवन का त्याग कर सकता है। सातवीं कक्षा में श्रावक सचित्त का त्याग करता है, अर्थात् कच्चा जल, नमक, फल, अनाज एवं कच्ची सब्जी, वनस्पति, फल आदि के सेवन का त्याग करता है। वर्तमान में भी श्रावक इस प्रतिमा का पालन करते हैं।

जैनधर्म एवं वैज्ञानिक-दृष्टिकोण से भी वनस्पति जीवन है, अतः श्रावक को सचित्त का, अर्थात् सजीव वस्तुओं का त्याग करना ही चाहिए। यदि श्रावक अचित्त फल, सब्जी, जल आदि का उपयोग करता है, तो साधु-साध्वी को भी कल्पनीय-आहार उपलब्ध हो सकता है।

आठवीं कक्षा में आरम्भ-त्याग की बात बताई गई है, जिसका तात्पर्य है-सभीप्रकार के व्यापार आदि से मुक्त होकर आत्म-साधना करना। ऐसी साधना वर्तमान में चाहे दुरुह हो, किन्तु श्रावक के लिए सम्भव है। इसमें श्रावक योग्य पुत्रादि से सांसारिक-कार्य करवाता है और स्वयं संसार के व्यापार का परित्याग कर वीतराग के मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ संसार के प्रति रहे हुए राग को कम करने का अभ्यास करता है।

नौवीं कक्षा में साधक अन्यो को भी आदेश देकर किसी भी प्रकार के सांसारिक कार्य नहीं करवाता है। वर्तमान में भी कुछ श्रावक अवश्य ही इस नियम का पालन करते हैं, अर्थात् संसार के सावध-कार्य से मुक्त होकर, आत्मदर्शी बनकर निर्लिप्त भाव से आत्म-साधना करते हैं। यह भूमिका निवृत्ति-मार्ग में बड़ा हुआ प्रथम चरण है।

दसवीं कक्षा में प्रवेश प्राप्त करने वाला साधक अपने लिए बने हुए भोजन का त्याग कर देता है, मुंडन करवाता है, भूमि, तिजोरी आदि में रखे हुए धन-धान्य आदि के विषय में पुत्रादि के पूछने पर मात्र हाँ या ना में प्रत्युत्तर देता है, परन्तु स्वयं सांसारिक-कार्यों में किसी भी प्रकार की रुचि नहीं रखता है, बल्कि उनके प्रति उदासीन रहता है। वर्तमान में भी कुछ श्रावक इस नियम का पालन करते हैं, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है।

ग्यारहवीं कक्षा के साधक की चर्या साधुवत् होती है, अन्तर इतना ही रहता है कि साधु भिक्षा के लिए शुद्ध सात्विक-आहार करने वाले किसी भी जाति के व्यक्ति के घर जा सकते हैं, जबकि इस प्रतिमा का साधक अपने प्रिय स्वजाति जन के घर पर आहार लेने जाता है। वर्तमान में श्रावक इस नियम का भी पालन एक दिन के लिए करते हैं। इसे गोचरी पौषध या दयाव्रत कहा जाता है। इस प्रतिमा में साधक गृहस्थ-जीवन के मोहपाश को तोड़ने के लिए साधुवत् चर्या का पालन करता है और अपने संसार के परिभ्रमण को कम करने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत प्रतिमाओं का सांगोपांग अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इन प्रतिमाओं का पालन वर्तमान में भी सम्मत है। वर्तमान-काल में भी श्रावक इन नियमों का सुचारु रूप से पालन कर सकता है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि इन प्रतिमाओं की व्याख्या करते हुए दिगम्बर व श्वेताम्बर-परम्परा में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं आया है कि श्राविकाएँ इन प्रतिमाओं का पालन नहीं कर सकती हैं, अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि श्राविकाएँ भी इन नियमों का पालन कर सकती हैं। यहाँ प्रश्न यह भी उठता है कि श्रावक को ही इन प्रतिमाओं को ग्रहण करने का अधिकार है, श्राविकाओं को नहीं, क्योंकि इन प्रतिमाओं के प्रतिज्ञा-पाठ में श्रावक शब्द का ही प्रयोग किया गया है, यदि

श्राविकाओं को इनके ग्रहण का अधिकार होता, तो श्राविका शब्द का भी प्रयोग अवश्य होता ?

आपका यह कथन सत्य है कि इनके प्रतिज्ञा-पाठों में श्राविका शब्द का प्रयोग नहीं है, परन्तु मेरा प्रश्न यह है कि जहाँ भी महापुरुषों ने उपदेश दिया, नियम बताए, सम्बोधित किया, वहाँ साधु, अथवा श्रावक शब्द का ही प्रयोग है। भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करके कहा कि क्षणभर भी प्रमाद मत कर, चन्दन-बाला को नहीं, तो क्या यह उपदेश साधु ही ग्रहण करे, साध्वी नहीं ? अणुव्रत आदि को ग्रहण करने में आनन्द का नाम ही आया है, तो क्या, श्राविकाएँ उनको ग्रहण न करें। स्वयं आनन्द ने अपनी पत्नी को भी अणुव्रत आदि ग्रहण करने हेतु भेजा था, अतः मेरा मानना है कि इन प्रतिमाओं को श्रावक व श्राविकाएँ— दोनों ग्रहण कर सकते हैं, श्राविकाओं के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि पौषध आदि प्रतिमा में धोती के गाँठ नहीं लगाना एवं उत्तरवस्त्र धारण करने की बात आती है, तो स्त्री इस प्रकार कैसे कर सकती है ? स्त्री भी एक वस्त्र धारण कर सकती है। दिगम्बर-परम्परा में आर्यिका एक साड़ी ही बिना गाँठ के धारण करती है, इस प्रकार से स्त्री भी एक साड़ी में साधना कर सकती है। इन प्रतिमाओं को पालन करने के लिए किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मन जब संसार से विरक्त बन जाए, तब ही इस प्रकार की साधना में स्वयं को जोड़ देना चाहिए।

-----अध्याय तृतीय समाप्त-----

चतुर्थ अध्ययन : पंचाशक प्रकरण में मुनिधर्म

1. जिनदीक्षाविधि – जिनदीक्षा के अयोग्य और योग्य कौन ?
2. साधुधर्मविधि
3. साधुसमाचारीविधि
4. पिण्डविधानविधि
5. शीलांगविधानविधि
6. आलोचनाविधि
7. प्रायश्चित्तविधि
8. स्थितास्थित कल्पविधि
9. भिक्षुप्रतिभाकल्पविधि

तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

चतुर्थ—अध्याय

पंचाशक—प्रकरण — मुनि—आचार

आचार्य हरिभद्र ने जिस प्रकार गृहस्थ—धर्म का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया, उसी प्रकार वे मुनिधर्म का भी सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

मुनिधर्म की इस विवेचना में सर्वप्रथम मुनिधर्म में प्रवेशरूप जिनदीक्षा का विवेचन करते हैं और इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट करते हैं कि कौन व्यक्ति जिनदीक्षा के योग्य है और कौन अयोग्य ? इस पंचाशक में उन्होंने यही बताने का प्रयत्न किया है कि जिनदीक्षा ग्रहण करने वाले को केवल शिरो—मुंडन एवं वेश—परिवर्तन ही नहीं करना होता है, अपितु इसके लिए चित्त की दुष्प्रवृत्तियों का मुंडन करना भी आवश्यक है। मिथ्यात्व एवं काम—क्रोध आदि को दूर किए बिना व्यक्ति जिनदीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता, अतः जिनदीक्षाविधि—पंचाशक में हरिभद्र सर्वप्रथम यह स्पष्ट करते हैं कि कौन व्यक्ति जिनदीक्षा का अधिकारी है और कौन व्यक्ति जिनदीक्षा का अधिकारी नहीं है। इस सम्बन्ध में हरिभद्र ने आगमिक—परम्परा के अनुसार ही जिनदीक्षा ग्रहण करने योग्य और अयोग्य व्यक्ति की चर्चा की है। इसके पश्चात्, इस पंचाशक में वे परम्परा से चली आ रही दीक्षाविधि का उल्लेख करते हैं। ज्ञातव्य है कि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में जिनदीक्षा में योग्य कौन है और अयोग्य कौन है— इसकी विस्तृत चर्चा तो मिलती है, किन्तु दीक्षाविधि का स्पष्ट विवेचन वहाँ नहीं मिलता है। यही कारण रहा होगा कि आचार्य हरिभद्र ने जिनदीक्षाविधि—पंचाशक में तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण विधि—विधान का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन का मानना है कि यह सम्पूर्ण दीक्षाविधि चाहे जैन—परम्परा का अनुसरण करती हो, परन्तु हिंदू तांत्रिक—परम्परा का इस पर स्पष्ट प्रभाव है और इस विधि के द्वारा ही यह निश्चित किया जाता है कि कौन व्यक्ति दीक्षा के योग्य है और कौन नहीं। इस सन्दर्भ में हमने विस्तार से चर्चा की है।

मुनिधर्म के सन्दर्भ में पंचाशक—प्रकरण में जिन—जिन विषयों की चर्चा की है, उनमें जिनदीक्षाविधि के पश्चात् साधुधर्मविधि और साधुसामाचारीविधि प्रमुख है। ग्यारहवें साधुधर्मविधि—पंचाशक में यह बताया गया है कि साधु सर्व—विरति चारित्र को

ग्रहण करता है। इसी प्रसंग में आचार्य हरिभद्र ने सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात— इन पांच चारित्रों की विस्तार से चर्चा की है। जैन-परम्परा में यह माना जाता है कि सामायिक और छेदोपस्थापन—चारित्र ही वर्तमान युग में प्रचलित हैं। वर्तमान में में परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म—संपराय और यथाख्यात—चारित्र का अभाव पाया जाता है। इसी साधुधर्मविधि में आचार्य हरिभद्र ने शांति—मार्दव—आर्जव आदि दस मुनिधर्म की चर्चा की है और इसी सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र गुरुकुलवास को अधिक महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं। इस पंचाशक के अन्तर्गत मुख्य रूप से निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से मूलगुणों और उत्तरगुणों की भी चर्चा की गई है और इसी चर्चा में पंच—समिति और तीन गुप्तिरूप अष्ट—प्रवचन माता की भी चर्चा की है और यह माना जाता है कि इन अष्ट प्रवचन—माताओं का परिपालन ही साधुधर्म का प्राण है।

मुनि—आचार के प्रसंग में आचार्य हरिभद्र साधुसामाचारीविधि का विवेचन करते हैं। इस विधि के अन्तर्गत मुनिधर्म की साधना करने वाले व्यक्ति की मिच्छाकार आदि दस प्रकार की सामाचारी का उल्लेख किया गया है और यह भी बताया गया है कि दसविध समाचारी का पालन करके ही मुनि अपने मूलगुणों और उत्तरगुणों की रक्षा कर सकता है।

मुनि को अपना जीवन जीने के लिए आहार की आवश्यकता है। उसे किस प्रकार से आहार ग्रहण करना चाहिए— इसकी विशद जानकारी हेतु पिंड—विधानविधि नामक पंचाशक की योजना की है। इसमें मुख्य रूप से उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह, एषणा के दस और आहार—ग्रहण के पांच— ऐसे सैंतालीस दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

इसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र मुनिधर्म के अन्तर्गत अठारह हजार (18,000) शीलांगों का वर्णन करते हैं और यह बताते हैं कि शीलांगों का पालन ही मुनिधर्म का पालन है। शीलांगों की साधना में अतिक्रम हो सकता है, अतः आचार्य हरिभद्र ने मुनिधर्म के अन्तर्गत ही आलोचना और प्रायश्चित्त— ऐसे दो पंचाशकों की रचना की है। इसमें आलोचना—पंचाशक के अन्तर्गत आलोचना के योग्य कौन है ? किसके समक्ष आलोचना

की जाना चाहिए और आलोचना का स्वरूप क्या है ? आदि व्रतों की विशद चर्चा की है। इस प्रसंग में अग्रिम प्रायश्चित्तविधि का विवेचन किया गया है। यद्यपि यह ज्ञातव्य है कि आलोचना, प्रायश्चित्त का ही एक रूप है, फिर भी आचार्य हरिभद्र ने आलोचना और प्रायश्चित्त—दोनों का स्वतन्त्र रूप से विवेचन इसलिए किया है कि आलोचना के साथ-साथ प्रायश्चित्त-विधान पर भी गम्भीर चर्चा की जा सके। प्रायश्चित्तविधि-पंचाशक में उन्होंने मुख्य रूप से दस प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन किया है। इसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र ने कल्पविधि और भिक्षुप्रतिमाविधि का भी विवेचन किया है। जहाँ कल्पविधि में दस प्रकार के स्थित और अस्थित-कल्पों का विवेचन है, वहीं भिक्षुकल्पविधि में मुख्य रूप से बारह प्रकार की प्रतिमाओं का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने इस पंचाशक-प्रकरण में मुनिधर्म के लिए लगभग नौ पंचाशकों का निर्माण किया है। इन नौ पंचाशकों की विशेषता यही है कि परम्परागत मुनि-आचार के विवेचन के साथ-साथ आचार्य हरिभद्र ने अपने युग की स्थिति के अनुसार मुनि-आचार की समीक्षा भी की है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि पंचाशक में मुनिधर्म का एक सम्यक् और विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, जो परम्परागत विवेचनों की अपेक्षा विशिष्ट है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने मुनि-आचार के सभी पक्षों का समावेश करने का प्रयत्न किया है, तथापि जैन-आगमों एवं आगमिक-व्याख्याओं में मुनिधर्म का जितना विस्तृत विवेचन मिलता है, उसकी अपेक्षा यह संक्षिप्त ही कहा जाएगा, फिर भी उन्नीस पंचाशकों के इस महाग्रन्थ में नौ पंचाशक मुनि-आचार से ही सम्बन्धित हैं। आगे हम इसी आधार पर हरिभद्र के मुनि-आचार की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

पंचाशक-प्रकरण में जिनदीक्षाविधि— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के द्वितीय जिनदीक्षाविधि-पंचाशक के अन्तर्गत मुमुक्षुओं के दीक्षा-सम्बन्धी विधि-विधानों के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करने के पूर्व अपने आराध्य के चरणों में नमन अर्पण करते हुए प्रथम गाथा में⁰¹ लिखते हैं—

⁰¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/1 — पृ. — 21

भगवान् महावीर को मैं नमस्कार करके भव्य जीवों के बोध के लिए आगमों से उद्धृत, नय से युक्त जिनदीक्षाविधि को संक्षेप में कहूँगा।

जिनदीक्षा—प्रव्रज्या — जिनदीक्षा को प्रव्रज्या भी कहते हैं। जिनदीक्षा वैराग्य की विशिष्ट भूमिका है, जिससे मुमुक्षु सांसारिक कामनाओं से मुक्त होकर, अर्थात् राग—द्वेष से विरक्त होकर अतीत में हुए ज्ञात—अज्ञात अपराधों की क्षमायाचना कर सभी के प्रति मैत्रीभाव से युक्त होकर एवं मोह को तोड़कर मात्र गुरु—चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर दे तथा गुरु की आज्ञा प्राप्त कर समभाव की साधना करने की प्रतिज्ञा करे, इसे ही जिनदीक्षा अथवा प्रव्रज्या कहते हैं।

प्रतिज्ञा किए हुए

व्रतों को

ज्यों के त्यों

यावत्जीवन पालन करना, प्रव्रज्या है।

दी गई क्षाम्यभाव की शिक्षा को स्वीकार करना, वह दीक्षा है।

आचार्य हरिभद्र ने दीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दूसरी गाथा में कहा है—

दीक्षा का स्वरूप — दीक्षा मुंडन को कहते हैं, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने सिर के मुंडन को मुंडन न कहते हुए चित्त के मुंडन को मुंडन कहा है, अर्थात् चित्त से मिथ्यात्व, मोह, क्रोध आदि दोषों को निष्कासित कर देना वास्तव में मुंडन है, क्योंकि जिसमें क्रोध, मोह आदि कषाय की तीव्रता है, ऐसा व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी नहीं है। ठाणांगसूत्र के अनुसार मुण्ड (जयी) के पांच—पांच प्रकार करते हुए दस भेद बताए हैं²— श्रोतेन्द्रिय—मुंड, चक्षुरिन्द्रिय—मुंड, घ्राणेन्द्रिय—मुंड, जिह्वेन्द्रिय—मुंड और स्पर्शनेन्द्रिय—मुण्ड। अन्य पांच प्रकार से— क्रोध—मुण्ड, मान—मुण्ड, माया—मुंड, लोभ—मुंड और शिरो—मुंड। मुंडित सिर के साथ—साथ चार कषायों के एवं पांच इन्द्रियों के विषयों के त्याग से ही साधु मुण्डित

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/2 — पृ. — 21

² गणांगसूत्र — म. महावीर स्वामी — स्थान— 5 — गाथा— 177

कहलाता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत गाथा में चित्त के मुण्डन पर विशेष बल दिया है, क्योंकि जिनदीक्षा (जैनदीक्षा)—विधि में चैतसिक—विकारों का त्याग अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यदि कषायों का त्याग नहीं किया, तो चैतसिक—परिवर्तन कि बिना दीक्षामात्र बाह्य वेश—परिवर्तन हो जाएगी

द्रव्यानुयोगी देवचन्द्रजी ने आंतरिक—विषय—कषाय का त्याग किए बिना बाह्य—क्रिया के त्याग को द्रव्यलिंग ही बताया है।¹

दीक्षा का काल— आचार्य हरिभद्र के अनुसार दीक्षा का समय जीवन का अंतिम पुद्गल—परावर्तनकाल है। तीसरी गाथा में वे बताते हैं²—

वास्तविक दीक्षा शुद्ध स्वभाव वाले तथा उत्तरोत्तर आत्म—विशुद्धि से युक्त जीव को उसके अंतिम पुद्गल—परावर्तनकाल में ही प्राप्त होती है। प्रश्न है कि यदि अंतिम पुद्गल—परावर्तन में दीक्षा होती है, तो क्या सभी दीक्षा लेने वाले का समय अंतिम पुद्गल—परावर्तनकाल ही है ?

इसका समाधान तो पूर्व में ही मिल गया, अर्थात् प्रस्तुत अध्याय की दूसरी गाथा से स्पष्ट है कि चित्त—मुण्डन ही वास्तविक दीक्षा है। मस्तक—मुण्डन की दीक्षा तो अंतिम पुद्गल—परावर्तन के पहले भी हो सकती है, पर चित्त—मुण्डन की दीक्षा तो अंतिम पुद्गल—परावर्तनकाल में ही होती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत परावर्तनकाल में यह भी बताया है कि वास्तव में दीक्षा का अधिकारी कौन है ? अर्थात् दीक्षा किसे देना चाहिए ?

चौथी गाथा में³ वे बताते हैं—

जिसे संयम के प्रति अनुराग है, जो लोक—व्यवहार में निषिद्ध कार्यों के प्रति उदासीन है, अर्थात् उनका त्याग कर दिया है तथा जिसे सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त

¹ पंचप्रतिक्रमण—बाह्यक्रिया सब त्याग जन्म में द्रव्यलिंग घर लिनो—श्रीमद् देवचन्द्रजी

² पंचाशक—प्रकरण—आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/3—पृ.—22

³ पंचाशक—प्रकरण—आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/4—पृ.—22

⁴ पंचाशक—प्रकरण—आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/5,6—पृ.—22,23

हुआ हो, वही दीक्षा का अधिकारी है। दीक्षा के प्रति अनुराग आदि के विषय में विशेष रूप से प्रतिपादन करते हुए उन्होंने पांचवीं एवं छठवीं गाथा में¹ कहा है—

पयतीए सोऊण व दट्ठूण व केइ दिक्खिए जीवे ।

मग्गं समायरंते घम्मियजण बहुमए निच्चं ॥

चारित्रमोहनीय—कर्मों के क्षयोपशम से स्वतः जिनदीक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, अथवा वैराग्य—प्रतिपादक प्रवचन श्रवण कर, अथवा दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मार्ग का अनुसरण करने वाले श्रमण को देखकर, अथवा रत्नत्रय के उपासक श्रावक की साधना को देखकर जो मन में चिन्तन करता है कि इस भव—समुद्र को पार कराने में समर्थ दीक्षारूपी महायान को कब और कैसे प्राप्त करुंगा— ऐसा चिन्तन ही दीक्षा के प्रति अनुराग बढ़ाता है। यह दीक्षा सांसारिक सुख की अपेक्षा से रहित है, अर्थात् यह दीक्षा सुख की आकांक्षा से निरपेक्ष है एवं जीवन—पर्यन्त के लिए होती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि दीक्षा के प्रति जब अनुराग उत्पन्न हो गया हो, तो यह अनुराग इतना दृढ़ होना चाहिए कि विघ्नों का अभाव हो या विघ्नों का आगमन हो, लेकिन दीक्षा के प्रति आन्तरिक—अनुराग कम नहीं होना चाहिए, अर्थात् स्खलित नहीं होना चाहिए, तब ही दीक्षा के प्रति सही अनुराग होता है। इस प्रकार कौन दीक्षा की योग्यता को प्राप्त कर सकता है, इसे आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रकरण की सातवीं गाथा में¹ स्पष्ट किया है। आचार्य लोक—विरुद्ध कार्यों के विषय में प्रतिपादन करते हुए आठवीं से दसवीं गाथाओं में² कहते हैं—

किसी की भी निन्दा करना लोक—विरुद्ध है, फिर गुण—सम्पन्न लोगों की निन्दा तो और भी अधिक लोक—विरुद्ध है। सरल चित्त वाले साधकों द्वारा की गई धर्मारोधना का उपहास करना, अथवा लोक—सम्मान्य राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी इत्यादि का

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/7 — पृ. — 23

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/8. 9. 10 — पृ. — 23,24

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/11 — पृ. — 24

अपमान करना, अथवा उनकी निन्दा करना लोक-विरुद्ध कार्य है। आचार्य हरिभद्र का कहना है कि अधिकांश लोग जिस व्यक्ति के विरुद्ध हों, ऐसे व्यक्ति के संसर्ग में रहना भी लोक-विरुद्ध कार्य है, जैसे— किसी व्यक्ति के जीवन में शराब, जुआं आदि का व्यसन तो नहीं है, पर फिर भी यदि वह शराब पीने वालों के अथवा जुआं खेलने वालों के साथ सम्पर्क रखता है, अथवा उनके साथ उठता-बैठता है, तो उसका यह कार्य लोक-विरुद्ध कार्य है। देश, जनपद, ग्राम, कुल आदि में प्रचलित सदाचार का अतिक्रमण करना, कुल की मर्यादा के विरुद्ध वस्त्र पहनना, शरीर के अंगों का प्रदर्शन करना लोक-विरुद्ध कार्य है। देश, काल, वैभव आदि का विचार किए बिना अनुचित दान तथा अपने तपादि को अहंकार-भाव से लोगों के सामने प्रकट करना भी लोक-विरुद्ध कार्य है। शिष्टजनों के प्रति दुष्ट लोगों द्वारा दी गई आपत्तियों को देखकर प्रसन्न होना, अथवा उन विपत्तियों को दूर करने में समर्थ होने पर भी विरोध नहीं करना इत्यादि को भी लोक-विरुद्ध कार्य जानना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत ग्यारहवीं गाथा में¹ सदगुरु की प्राप्ति के सूचक कुछ उपाय बताए हैं—

स्वप्न में ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त गुरु का संयोग होना; जल, अग्नि, गद्दे आदि को पार कर जाना, पर्वत, वृक्ष, शिखर आदि पर चढ़ जाना, सर्पादि हिंसक-जीवों से आत्मरक्षा कर लेना आदि सदगुरु-प्राप्ति के सूचक माने जाते हैं।

आचार्य हरिभद्र जिनदीक्षाविधि-पंचाशक में दीक्षा के अधिकारी आदि का वर्णन करते हुए यह भी लिखते हैं कि दीक्षार्थी जहाँ दीक्षा लेता है, उस स्थान की शुद्धि भी होना चाहिए।

दीक्षास्थल की शुद्धि की विधि— बारहवीं से लेकर बाईसवीं तक की गाथाओं में यह विधि वर्णित है।²

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/12 से 22 - पृ. सं. - 24 से 27

आचार्य हरिभद्र ने स्थलशुद्धि के लिए मुद्रा आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया है। मुक्ता सूक्ति के समान हाथ की मुद्रा बनाकर वायुकुमार आदि देवताओं का अपने-अपने मन्त्रों से आह्वान करना चाहिए। फिर उन-उन देवताओं के सत्कार-सम्मान के लिए भूमिशुद्धि-रूप परिमार्जन अथवा जल-सिंचन करना चाहिए। वायुकुमार आदि देवताओं का आह्वान करने के पश्चात् यह कल्पना करना चाहिए कि मेरे निमंत्रण से वायुकुमार का आगमन हुआ है और मेरे आमंत्रण से वायुकुमार देव समवसरण की भूमि शुद्ध कर रहे हैं, इस प्रकार से चिंतन करते हुए दीक्षास्थल का प्रमार्जन एवं परिशोधन करना चाहिए। तत्पश्चात्, मेघकुमार का आह्वान करके समवसरण के चारों ओर भूमि पर सुगंधित जल का छिड़काव करना चाहिए, जिससे धूल आदि नहीं उड़ सके। इसके पश्चात्, बसन्त, ग्रीष्म आदि छः ऋतुओं का आह्वान करके सुगंधित द्रव्यों एवं पुष्पों की वृष्टि करना चाहिए। इस प्रक्रिया के पश्चात् अग्निकुमार देवों का आह्वान करने का विधान है। इन्हें आह्वान करके धूप जलाना चाहिए। यहाँ पर अन्य आचार्यों के मतों को भी प्रकट किया है कि अग्निकुमार देव का नाम न लेकर सभी सामान्य देवताओं का आह्वान करके धूप खेना चाहिए। इसके पश्चात्, वैमानिक, ज्योतिष एवं भवनवासी देवताओं का आह्वान करके रत्न, सुवर्ण, रजत जैसे रंग वाले तीन प्राकार बनाना चाहिए, क्योंकि भगवान् के समवसरण में वैमानिक-देवादि अन्तर, मध्य और बाह्य- ये तीन प्रकार के क्रमशः रत्न, सुवर्ण और रजत के प्राकार बनाते हैं।

व्यन्तर-देवों का आह्वान करके उन प्राकारों के द्वारादि के तोरण, पीठ, देवछन्द, पुष्करिणी आदि की रचना करवाई जाती है। पुनः, चैत्यवृक्ष, सिंहासन, छत्र, चक्र, ध्वज इत्यादि की रचना की जाती है।

इसके पश्चात्, समवसरण में जिस प्रकार चारों दिशाओं में भगवान् होते हैं, उसी प्रकार समवसरण में चारों ओर त्रिभुवन गुरु (भगवान्) के बिंबों की उत्कृ ट चन्दन के ऊपर स्थापना करनी चाहिए, साथ ही समवसरण में जिनबिम्ब के दक्षिण-पूर्व भाग में गणधरों की, गणधरों के पीछे मुनियों की, मुनियों के पीछे वैमानिक-देवियों की तथा उनके पीछे साध्वियों की स्थापना करना चाहिए।

इसी प्रकार, पश्चिम-दक्षिण दिशा में भवनपतियों, व्यन्तरों तथा ज्योतिषियों की देवियों की स्थापना करने का निर्देश दिया है तथा भवनपति-व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवताओं की स्थापना केवल पश्चिमोत्तर की ओर करने के लिए निर्दिष्ट किया है। वैमानिक-देव, मनुष्य और स्त्रियों की स्थापना पूर्वोत्तर दिशा की ओर करने का संकेत किया है तथा यह भी निर्दिष्ट किया है कि इन सबकी स्थापना उसी जाति के देवता के शरीर के वर्ण के अनुसार करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने तिर्यच प्राणियों के लिए निर्देश दिया है कि हाथी, घोड़ा, सिंह, मृग, सर्प, नेवला आदि प्रमुख तिर्यच प्राणियों को समवसरण में द्वितीय प्राकार में स्थापना करना चाहिए। तीसरे प्राकार में देवताओं को विमानों को रखने तक का निर्देश दिया है।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने प्रव्रज्या के पूर्व नन्दी-रचना की विधि का विवरण दिया है, जिसमें उन्होंने स्थलशुद्धि का भी प्रतिपादन मन्त्रोच्चारण के साथ किया है। स्थापनाविधि आचार्य हरिभद्र के पंचाशक-जिनदीक्षाविधि के अनुसार ही है।¹ आचार-दिनकर में स्थलशुद्धि हेतु विशेष विवरण नहीं है, इतना ही निर्देश दिया गया है कि पौष्टिक-कर्म करना चाहिए।²

दीक्षार्थी का समवसरण में प्रवेश- आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के द्वितीय जिनदीक्षाविधि पंचाशक में दीक्षार्थी किस प्रकार समवसरण में प्रवेश करे- इस विधि को निम्न तेईसवीं एवं चौबीसवीं गाथाओं में³ प्रस्तुत किया है-

दीक्षार्थी को द्रव्य एवं भाव से योग्य एवं शुद्ध बनकर शुभ-मुहूर्त में बहुमानपूर्वक अपनी समृद्धि के अनुसार रचित समवसरण में प्रवेश करने का निर्देश दिया है। तत्पश्चात् जिनेश्वर परमात्मा के गुणों के प्रति तीव्र श्रद्धा वाले उस दीक्षार्थी को संक्षेप में जिनशासन की विधि बतलाने का निर्देश दिया है तथा वह विधि भी बताई गई है। दीक्षार्थी से कहा जाता है कि तुम्हारी अंजलि में पुष्प दिया जाएगा। पुष्प देने के बाद

¹ विधिमार्ग प्रपा - जिनप्रभुसूरि - नन्दीविधि- 12 वां द्वार

² आचार दिनकर - वर्धमानसूरि - प्रव्रज्याविधि

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/23 एवं 24 - पृ. - 27

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/25 - पृ. - 28

तुम्हारी आँखें बन्द कर दी जाएंगी एवं तुम्हें वह पुष्प प्रभु परमात्मा की प्रतिमा पर प्रक्षेपण करना है। इस प्रकार कहते हुए विधिपूर्वक दीक्षार्थी को समवसरण में प्रवेश करवाने का निर्देश दिया गया है। समवसरण में प्रवेश करने के पश्चात् दीक्षार्थी की गति शुभ है, अथवा अशुभ— इसका विवरण आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की पच्चीसवीं गाथा में किया है—

दीक्षार्थी के हाथों में सुगंधित पुष्प देकर उसकी आँखों को श्वेत वस्त्र से आवर्त्त कर निर्भीक होकर जिन—परमात्मा पर पुष्प फेंकने के लिए निर्देश दिया जाता है। फेंकने पर यदि पुष्प समवसरण में गया हो, तो दीक्षार्थी की गति शुभ है और यदि पुष्प समवसरण के बाहर गया, तो यह समझना चाहिए कि दीक्षार्थी की गति अशुभ है।

दीक्षार्थी की शुभ—अशुभ गति पर विचार करने के सम्बन्ध में कई प्रकार के मत—मतान्तर हैं, जिनका उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने नामोल्लेख किए बिना पंचाशक के इस द्वितीय प्रकरण की छब्बीसवीं गाथा में¹ किया है—

यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि दीक्षार्थी द्वारा, अथवा अन्य किसी के द्वारा शुभ—अशुभसूचक सिद्धि—वृद्धि शब्दों के उच्चारण के आधार पर या क्रिया करते समय दीक्षार्थी द्वारा 'इच्छाकारेण तुम्हे दंसणपडियं समत्तसामाइयं वा आरोवेह' आदि शब्दों के उच्चारण के आधार पर दीक्षार्थी की गति—अगति की जानकारी होती है।

कुछ आचार्यों का कहना है कि दीक्षा देने वाले आचार्य के मन—वचन—काययोग की प्रवृत्ति के आधार पर दीक्षार्थी को शुभ—अशुभगति का ज्ञान हो सकता है। आचार्य का मन क्रोध, लोभ, मोह एवं भय से रहित हो, अर्थात् प्रसन्न हो, क्रियादि में उच्चारित वाणी अस्खलित हो, तो दीक्षार्थी की गति शुभ है, अन्यथा अशुभ है। कुछ आचार्यों का मानना है कि दीप, चन्द्र एवं तारों का तेज अधिक हो, तो दीक्षार्थी की गति शुभ है, अन्यथा अशुभ गति है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि दीक्षा के बाद दीक्षार्थी के शुभ योगप्रवृत्ति से शुभगति और अशुभ योगप्रवृत्ति से अशुभगति होती है। विधिप्रपा के अनुसार दीक्षार्थी के हाथों से पुष्प के बदले अक्षत् उछालने का वर्णन है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/26 — पृ. — 28

यदि वे अक्षत् समवसरण में जाएं, तो दीक्षार्थी योग्य एवं बाहर जाएं, तो वह अयोग्य होता है।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार भी दीक्षार्थी की परीक्षाविधि उपर्युक्त प्रकार से ही बताई गई है, अन्तर केवल इतना है कि पुष्प की जगह अक्षत् भी अर्पण किए जाते हैं।²

योगप्रव्रज्याविधि के अनुसार शास्त्रों में यह विधि है, इसे स्वीकार किया गया है, पर इस विधि को तर्कसंगत नहीं माना गया है। उनका मानना है कि यह विधि तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि लक्ष्य का ध्यान नहीं रख पाने के कारण यदि चावल बाहर गिरते हैं, तो लोगों के सामने दीक्षार्थी उपहास का पात्र बनता है, उसके मन में वहम भी रह जाता है, वह हीन भावों से भर जाता है। इस कारण वर्तमान में यह विधि नहीं कराई जाती है। कई पुराने लोगों द्वारा यह कहा जाता है कि महाराज ! आप यह विधि क्यों नहीं कराते ? वास्तव में यह नहीं कराने का विधान भी शास्त्र-आधारित ही है। विधिमार्गप्रपा का यह विधान द्रष्टव्य है—

‘जे पुण परंपरागय सावय कुलप्पसूया तेसिं परिक्खा करेणन नियमो’, अर्थात् जो परंपरागत श्रावक-कुल में जन्मा है, उसके लिए परीक्षा का नियम नहीं है।¹

श्रमणधर्म के अन्तर्गत गुरुदीक्षा देने के पूर्व या बड़ी दीक्षा देने के पूर्व परीक्षा लें— यह विवरण धर्मसंग्रह-सारोद्धार में प्राप्त है एवं दीक्षार्थी द्वारा अक्षत् उछालने की विधि भी प्राप्त है, परन्तु शुभगति या अशुभगति की परीक्षा के लिए है— ऐसा कोई विवरण प्राप्त नहीं है।²

आचार्य हरिभद्र ने दीक्षार्थी की योग्यता व अयोग्यता के निर्णय हेतु सत्ताईसवीं गाथा में³ चर्चा की है—

² विधिमार्ग प्रपा — जिनप्रभुसूरि — 13 प्रव्रज्याविधि — पृ. — 97

¹ योग-प्रव्रज्याविधि — संपादक, उपाध्याय मणिप्रभसागर — भूमिका — पृ. — 8, 9

² श्रमणधर्म, धर्मसंग्रह सारोद्धार — महोपाध्याय मानविजयजी — भाग- 2 भूमिका — पृ. — 19, 50

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/27 — पृ. — 29

समवसरण के बारह पुष्प गिरने पर शंकादि अतिचारों की आलोचना एवं अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म को स्वीकार करने—रूप विधि करवाने का निर्देश दिया है। पुनः पुष्पपात की विधि निम्नानुसार कराना चाहिए। यदि पुष्प समवसरण में गिरा, तो दीक्षार्थी को दीक्षा के योग्य घोषित कर देना चाहिए, यदि पुष्प समवसरण के बाहर गिरा, तो पूर्ववत् शंकादि की विधि करवाना चाहिए। यदि इस बार पुष्प समवसरण में गिरा, तो दीक्षा देना चाहिए और यदि बाहर गिरा, तो दीक्षार्थी को अयोग्य समझकर मधुर शब्दों में दीक्षा देने हेतु मना कर देना चाहिए।

वर्तमान में ऐसी विधि किसी भी सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं है। दीक्षार्थी की योग्यता के अतिरिक्त साथ रहने पर उसके स्वभाव एवं व्यवहार को देखकर भी यह निर्णय कर लिया जाता है कि दीक्षा देना है या नहीं। कई साधु—साध्वी संयम के प्रतिकूल स्वभाव को देखकर भी उसकी अयोग्यता का निर्णय नहीं कर पाते एवं दीक्षा दे देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप कई बार स्वयं के लिए, समुदाय एवं सम्प्रदाय के लिए तथा शासन के लिए खतरनाक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के द्वितीय पंचाशक की अट्ठाईसवीं गाथा में¹ दीक्षार्थी की दीक्षा की योग्यता का निर्णय करने के बाद गुरु के द्वारा करने योग्य विधि को निम्न रूप में दर्शाया है—

समवसरण में पुष्पपात की परीक्षा से दीक्षार्थी की योग्यता निश्चित हो गई हो, तो ऐसा निर्णय होने के बाद सर्वप्रथम गुरु दीक्षार्थी को सम्यग्दर्शन आरोपण— की विधि करवाए, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आरोपण ही जिनदीक्षा की प्रारम्भिक भूमिका है। सम्यग्दर्शन—आरोपण के पश्चात् सम्यक्त्व के आचार का प्रतिपादन करे, तत्पश्चात् दीक्षाविधि का वर्णन करना चाहिए। दीक्षार्थी की मुखकृति की प्रसन्नता अथवा उदासीनता का अवलोकन करने के लिए दीक्षार्थी की इस प्रकार प्रशंसा करना चाहिए— तुम धन्य ही नहीं, धन्योत्तम हो, जो तुम्हें जिनशासन मिला एवं जिनशासन में जिनदीक्षा का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। धन्य हो तुम, जो इस अल्पवय में संसार के भोगों को तिलांजलि देकर

¹ पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/28 - पृ. सं. - 29

² पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/29 - पृ. सं. - 30

मोक्ष के राजमार्ग पर चलने के लिए उद्धृत हो गए हो। वास्तव में तुम साधना के मार्ग पर चलकर साध्य पाने के योग्य हो आदि। यह विधि सम्पूर्ण होने के पश्चात् अब शिष्य गुरु को आत्म-निवेदन करता है, जिसका वर्णन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की उनतीसवीं गाथा में² प्रस्तुत किया है—

शिष्य गुरु को तीन प्रदक्षिणा करके सम्यग्दर्शन से युक्त शुद्ध अन्तःकरण से गुरु से इस प्रकार नम्र निवेदन करता है— मैं आपके प्रति पूर्णतः समर्पित हूँ, अर्थात् मैं अपने मन को आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आप मेरे जैसे अज्ञानी को भव-समुद्र से तिराने में परम सहयोगी हैं, आप मेरे जीवन-उत्थान के पथ प्रदर्शक हैं। इस प्रकार, गुरु के अनन्य उपकार को मानते हुए दीक्षार्थी अपने गुरु के प्रति अपनी दृढ़ आस्था को प्रकट करता है।

आत्म-निवेदन का महत्त्व— आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण की तीसवीं गाथा में¹ आत्म-निवेदन का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—

भव-विशुद्धि से दृढ़ हुई गुरुभक्ति आत्मोत्कर्षक की हेतु है। यह आत्म-समर्पण उत्कृष्टतम दान है। भाव-विशुद्धि से दृढ़ हुई भक्ति के अभाव में धर्म केवल बीजरूप है।

आचार्य हरिभद्र ने आत्म-निवेदन के महत्त्व को बताते हुए आत्म-निवेदन के कारण को भी एकतीसवीं गाथा में² स्पष्ट किया है—

यह आत्म-समर्पण हर कोई नहीं कर सकता है। उत्तम पुरुष ही यह आत्म-समर्पण कर सकता है। अयोग्य पुरुष तो किसी के द्वारा किए जा रहे आत्म-निवेदन का श्रवण भी नहीं कर सकता है, फिर वह आत्म-समर्पण तो क्या करेगा ? अतः, आत्म-अनुवेदन करने वाला शिष्य ही योग्य है, इसलिए विशुद्धभाव सहित आत्म-अनुवेदन (आत्म-समर्पण) उत्तम पुरुष के आचरण का अंग होने से वह अहम्

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/30 — पृ. सं. — 30

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/31 — पृ. सं. — 30

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/32 — पृ. सं. — 31

विसर्जनरूप विशुद्ध-भाव को ही उत्पन्न करता है, इसलिए वह उत्कृष्ट दान भी होता है। इसमें वह सब कुछ तो गुरुचरणों में समर्पित कर देता है।

आचार्य हरिभद्र ने बत्तीसवीं गाथा में¹ कथन किया है कि यदि गुरु को आत्म-समर्पण वाला शिष्य मिलता है, तो गुरु को शिष्य-सन्तानों के विषय में अधिकरण-दोष नहीं लगता है।

गुरु ममत्व-रहित होता है, अतः दीक्षित शिष्य के परिणामों की विशुद्धि के लिए जिज्ञासा के अनुरूप ही प्रवृत्ति करता है। यदि शिष्य गुरु के प्रति समर्पित न हो और उसे दीक्षित कर दिया हो, तो गुरु के हर हितकारी वचन उसके लिए क्लेश के ही हेतु होते हैं, अतः शिष्य का गुरु के प्रति समर्पित होना अत्यंत आवश्यक है, जिससे गुरु-शिष्य के बीच कोई भी प्रवृत्ति क्लेश का हेतु न बने तथा गुरु-शिष्य भी परस्पर सहयोग से संयम-आराधना में एक-दूसरे के शुभ निमित्त (हेतु) बनते रहें।

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत अध्याय की तैंतीसवीं गाथा में¹ गुरु के दायित्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

दीक्षाविधि समाप्त होने पर गुरु को नवदीक्षित की मनःस्थिति पढ़ लेना चाहिए। नूतन दीक्षित की धर्म के प्रति अभिरुचि में जिस प्रकार भी वृद्धि होती है, गुरु को उसी प्रकार उस दीक्षित को दान, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि का उपदेश देने का प्रयत्न करना चाहिए। जो गुरु शिष्य की भावनाओं का भी ध्यान रखता है और उसकी भावना के अनुसार उस शिष्य को धर्म की ओर भी प्रेरित करता है, तो यह बात गुरु के गीतार्थ होने की द्योतक है।

आचार्य हरिभद्र चौतीसवीं गाथा में² दीक्षा प्रदान करने के योग्य शिष्य के विषय में कहते हैं—

दीक्षित होने वाला शिष्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से युक्त होना चाहिए एवं बाह्य भौतिक-पदार्थों से निस्पृह होकर आगमानुसार देव, गुरु, धर्म के

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/33 - पृ. सं. - 31

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/34 - पृ. सं. - 31

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/35 - पृ. सं. - 32

प्रति प्रीतियुक्त होना चाहिए। इन गुणों से युक्त होने पर ही शिष्य गुरु को अपनी दीक्षा हेतु आत्म-निवेदन कर सकता है, अन्यथा उससे आत्म-निवेदन में प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

गुरु भी सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान आदि गुणों से युक्त एवं तत्त्वत्रय के प्रति प्रीति वाला होना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित पंचाशक के द्वितीय पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा के अनुसार¹ दीक्षा उन्हीं को प्राप्त होती है, जो भाग्यवान् हैं, अर्थात् वे परम धन्य हैं, जिन्हें यह दीक्षा प्राप्त होती है और वे धन्योत्तम हैं, जो श्रमणाचारों के नियमों का प्रतिज्ञापूर्वक पालन करते हैं, साथ ही उन्हें भी धन्य माना है, जो दीक्षार्थी एवं दीक्षा का सम्मान करते हैं और वे भी धन्य हैं, जो दीक्षा से द्वेष नहीं करते।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित पंचाशक प्रकरण के द्वितीय पंचाशक की जिनदीक्षाविधि के अन्तर्गत छत्तीसवीं गाथा में¹ दीक्षा के पश्चात् दीक्षित के लिए करने योग्य विधि का प्रतिपादन किया है—

दीक्षित होने वाले को संघ के साधु-साध्वी आदि को यथाशक्ति एषणीय वस्त्र, पात्र, अन्न, पेय इत्यादि का दान देना चाहिए। दान की यह प्रवृत्ति आन्तरिक श्रद्धा एवं मोक्ष की अभिलाषा से होनी चाहिए। आचार्य हरिभद्र का मानना है कि दान की यह विधि पारम्परिक-रीतियों और अपने वैभव के अनुसार अनिवार्य रूप से करना ही चाहिए। इसके साथ ही जनोपचार, अर्थात् स्वधर्मी बन्धुओं का भी उचित सम्मान करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने सैंतीसवीं गाथा में² वास्तविक दीक्षा के लक्षण भी बताते हुए कहा है—

दीक्षा के पश्चात् दीक्षित शिष्य को स्वयं ही सद्गुणों के ग्रहण करने में, सहवर्तियों के प्रति प्रेम करने में, तत्त्वज्ञान के अध्ययन में तथा गुरु के प्रति भक्ति में वृद्धि करनी चाहिए, साथ ही दीक्षापूर्वक गृहीत लिंग का त्याग नहीं करना चाहिए, अर्थात् मन, वचन और काया से सम्यक्चारित्र के नियमों का सम्यक् प्रकारेण पालन करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/36 - पृ. - 32

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 2/37 - पृ. - 32

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि यदि इस प्रकार की योग्यता जिस दीक्षित शिष्य में दिखलाई दे, उसे ही वास्तविक रूप में दीक्षित समझना चाहिए, अर्थात् उस दीक्षित की दीक्षा ही वास्तविक दीक्षा है। इन लक्षणों के अभाव में दीक्षित की दीक्षा मात्र दिखावा है, अर्थात् व्यर्थ है, अतः हर दीक्षित शिष्य को अपने गुणों में वृद्धि करना चाहिए। यह वृद्धि ही उसे क्रम से वीतराग अवस्था तक ले जाती है, जो संसार के दुःखों से मुक्ति और मोक्ष के परम सुख को प्राप्त करवाती है।

आचार्य हरिभद्र गुणों की वृद्धि के कारण को भी स्पष्ट करते हुए अड़तीसवीं गाथा में³ कहते हैं—

दीक्षा स्वीकार करने के परिशुद्ध भावों से भी कर्मों का क्षयोपशम होता है और यह कर्मों का क्षयोपशम ही पूर्व में प्राप्त किए हुए सम्यग्दर्शन आदि गुणों में वृद्धि करता है। चूंकि इन गुणों की वृद्धि का कारण विशुद्ध भाव ही है, अतः जहाँ कारण होगा, वहाँ कार्य अवश्य होगा ही। कार्य के अनुरूप का संयोग होते ही कार्य पूर्ण होता है।

इसी बात को श्रीमद्देवचन्द्रजी ने स्वरचित चौबीसी में निरूपित किया है—

जे—जे कारण जेहनूं रे, सामग्री संयोग।

मिलतां कारज नीपज रे, कर्त्ता तणे प्रयोग।।

जिस कार्य का जो कारण है, वह कारण तथा वैसी सामग्री प्राप्त होने पर कार्य की निष्पत्ति होती है।

आचार्य हरिभद्र ने साधर्मिक—वात्सल्य की अभिवृद्धि के कारण को प्रतिपादित करते हुए उनचालीसवीं गाथा में¹ कहा है कि—

दीक्षित होने की भावना वाले साधक में धर्म के प्रति अत्यन्त सम्मान के भाव होते हैं और वह साधर्मिकों की सेवा को महत्त्व देने वाला होता है। इसी कारण दीक्षित व्यक्ति में भी साधर्मिकों के प्रति स्नेहभाव की वृद्धि होती रहती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की चालीसवीं गाथा में² ज्ञान की अभिवृद्धि का हेतु बताया है—

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/38 — पृ. — 33

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/39 — पृ. — 33

सुविहित आचार का परिपालन करने से प्रायः सभी कर्मों का क्षयोपशम होता है, अतः ज्ञानावरणादि घाति कर्मों का भी नाश होता है, जिससे नियमतः ज्ञान में वृद्धि होती है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण के जिनदीक्षाविधि पंचाशक में गुरुभक्ति में अभिवृद्धि के कारण को प्रकाशित करते हुए इक्तालीसवीं गाथा में^३ कहा है—

गुरु कल्याण—सम्पदा के दाता हैं, अर्थात् दीक्षारूपी इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख—सम्पदा को प्राप्त करने में निमित्तभूत हैं, क्योंकि दीक्षा—सम्बन्धी आचार—विचार का पालन गुरु के मार्गदर्शन से ही होता है, अतः गुरु महान् हैं, गुरु कृपालु हैं, गुरु परोपकारी हैं— इस प्रकार गुरु की भक्ति अवश्य करना चाहिए। ऐसे सुचिन्तन व शुभ प्रवृत्ति से ही गुरुभक्ति में अभिवृद्धि होती है।

इस प्रकार के गुणों में अभिवृद्धि होने के परिणामस्वरूप दीक्षा का प्रभाव व फल कैसा होता है ? इसका वर्णन आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में प्रस्तुत किया है। जिनदीक्षा—विधि में बयालीसवीं गाथा में^१ वे लिखते हैं—

इस प्रकार गुरुभक्ति आदि गुणों में अभिवृद्धि होने के कारण महासत्वशाली दीक्षित शिष्य का कल्याण होता है। वह इन गुणों का सम्यक् प्रकार से आचरण करता हुआ क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध बनकर महाव्रतारोपणरूप छंदोपस्थापनचारित्र को भी प्राप्त कर लेता है, क्योंकि सर्वविरति के योग्य बनने पर ही छंदोपस्थापनचारित्ररूप बड़ी दीक्षा दी जाती है। शिष्य जब सामायिक—चारित्र में इन गुणों की वृद्धि कर लेता है, तो उसे सर्वविरति के योग्य मान लिया जाता है और बड़ी दीक्षा दे दी जाती है, अन्यथा उसे पुनः गृहस्थ—जीवन में भेजा जा सकता है, अतः गुरुभक्ति आदि गुणों में उत्तरोत्तर वृद्धि अवश्य करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने सर्वविरतिचारित्र का महत्व तैंतालीसवीं गाथा में^२ इस प्रकार से बताया है—

^२ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— २/४० — पृ. — ३३

^३ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— २/४१ — पृ. — ३३

^१ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— २/४२ — पृ. — ३४

^२ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— २/४३ — पृ. — ३४

इस प्रकार सर्वविरतिरूप चारित्र के प्राप्त होने पर वह भूतकाल में आचरित मिथ्या आचारों की निन्दा करके, उनसे गृह्य करके, वर्तमान में उन मिथ्या आचारों का सेवन नहीं करके और भविष्य में इन मिथ्याचारों का सेवन नहीं करूंगा— ऐसा प्रत्याख्यान करके दीक्षित आत्मा उत्तरोत्तर विकास करता हुआ जीवन्मुक्ति का अनुभव करते हुए सर्वकर्मों का मूलोच्छेद करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के द्वितीय पंचाशक जिनदीक्षाविधि के अन्तर्गत सम्यक्त्व से लेकर सर्वविरति तक का विवरण देकर, अन्त में जिनदीक्षाविधि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए चवालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

आगम के अनुसार, इस दीक्षाविधि का चिन्तन करने से भी आत्मा सकृदबन्धक और अपुनर्बन्धक—रूप कदाग्रह का जल्दी ही त्याग करती है। जो जीव यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त हो गया हो, परन्तु ग्रन्थि को नहीं तोड़े और एक बार पुनः कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करे तो वह सकृदबन्धक है तथा जो जीव यथाप्रवृत्ति—करण को प्राप्त हो गया हो, लेकिन पुनः उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करे और ग्रन्थियों को तोड़े, तो वह जीव अपुनर्बन्धक है। सुकृदबन्धक एवं अपुनर्बन्धक जीवों में जब तक ग्रन्थि—भेद नहीं हुआ है, तब तक कदाग्रह की सम्भावना रहती है, लेकिन अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों में कदाग्रह नहीं होता है।

जिनदीक्षाविधि — मेरी दृष्टि में— सम्यक्त्व से सर्वविरति तक का कथन सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद सर्वविरति से सिद्धगति का वर्णन आचार्य हरिभद्र ने जिनदीक्षाविधि के प्रसंग में ही किया है।

जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित दीक्षाविधि अपनी—अपनी परम्परानुसार चलती है, परन्तु वास्तव में वीतराग की वाणी में यही सिद्ध होता है कि दीक्षा लेने वाला व्यक्ति अपने गुरु के प्रति समर्पित होना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व—आरोपण—विधि उन्हें ही कराई जाती है, जो देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धावान् हो। जो शिष्य गुरु के प्रति समर्पित है, वह शिष्य ही परीक्षा में सही उत्तर सकता है, फिर उसकी विशेष परीक्षा करने की

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 2/44 — पृ. — 34

कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जब मन ही गुरु-चरणों में अर्पित कर दिया हो, तो गुरु की आज्ञा का पालन करने में वह पीछे नहीं रह सकेगा। जो गुरु ने कह दिया, वह शिष्य को मान्य रहेगा और वह कहीं भी ऐसा कार्य नहीं करेगा, जो लोक-विरुद्ध हो, अथवा निन्दित हो, या जिनदीक्षा के विरुद्ध हो।

अतः, शिष्य की योग्यता उसके मन के समर्पण के भावों से ही जानी जाती है। शिष्य को सर्वप्रथम मन को ही समर्पित कर देना चाहिए। मन समर्पित होते ही गुरु के प्रति अनुराग, भक्तिश्रद्धा का आविर्भाव हो जाएगा, सेवा आदि के गुणों में अभिवृद्धि होगी। मन को समर्पित करने वाला शिष्य दीक्षा के अयोग्य न होने के कारण सर्वविरति का भी अधिकारी हो जाता है एवं सर्वविरति वाला कर्मों का क्षय कर मुक्ति का वरण कर लेता है।

पंचाशक-प्रकरण में साधुधर्मविधि

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत साधुधर्मविधि-पंचाशक में सर्वविरति-स्वरूप साधुधर्म का विवेचन करने हेतु सर्वप्रथम गाथा में¹ मंगलाचरण द्वारा भगवान् महावीर को नमस्कार करते हैं-

मोक्षफल के हेतुभूत सम्यक् परममंगल कल्याणकारी वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके भाव-प्रधान साधुधर्म का संक्षेप में विवरण कर रहे हैं। यहाँ पर आचार्य ने साधुधर्म को भाव-प्रधान कहा है, जिसका कारण है कि श्रावक-धर्म में द्रव्य की प्रधानता होती है और साधुधर्म में भावों की प्रधानता होती है। इस कारण, साधुधर्म को भाव-प्रधान कहा गया है।

साधु का स्वरूप-

चारित्तजुओ साहू तं

आचार्य हरिभद्र के अनुसार, जो चारित्र से युक्त है, वह साधु है।²

उत्तराध्ययन के अनुसार, जो समत्व की साधना करता है, वह श्रमण है।³

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/1 - पृ. - 181

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/2 - पृ. - 181

³ उत्तराध्ययन - म. महावीर- 25/32

⁴ संवेगरंगशाला - श्री जिनचन्द्रसूरि - गाथा- 7888

संवेगरंगशाला के अनुसार, शरीर के प्रति ममत्वभाव का नहीं होना सांसारिक पदार्थों की इच्छा नहीं करना, विषय, कषायों से उपरत रहना साधुता है। वस्तुतः, जो इन्द्रियों का विजेता है, वही साधु कहलाता है।¹

मुख्य रूप से चारित्र के दो भेद बताए गए हैं— देशचारित्र और सर्वचारित्र, क्योंकि जो भी तीर्थकर होते हैं, वे तीर्थ—स्थापना के समय इन दो प्रकार के चारित्रों की ही प्ररूपणा करते हैं।

देशचारित्र से जो युक्त है, वह गृहस्थ है और सर्वचारित्र³⁹ से जो युक्त है, वह साधु है। सर्वचारित्र के पांच प्रकार हैं, जो साधुधर्मविधि पंचाशक की तीसरी और चौथी गाथा में¹ निम्न प्रकार से हैं—

1. सामायिक—चारित्र 2. छेदोपस्थापन—चारित्र 3. परिहारविशुद्धि—चारित्र 4. सूक्ष्मसम्पराय—चारित्र 5. यथाख्यात—चारित्र। ये पांच प्रकार के चारित्र समस्त जीवलोक में प्रसिद्ध हैं, जिनका आचरण करके साधु परमपद मोक्ष को प्राप्त करते हैं। आगे सर्वचारित्र के इन पांच भेदों का वर्णन किया जा रहा है—

सामायिक—चारित्र— स + आय + इक, जिसमें समता का लाभ हो, वह सामायिक है, अर्थात् जिस अनुष्ठान से दर्शन—ज्ञान—चारित्र का लाभ हो, वह सामायिक—चारित्र है। सामायिक—चारित्र का अर्थ है— सर्वसावद्य लोगों से विरत होना। इसके दो भेद हैं— इत्वरिक—चारित्र और यावत्कथिक। इत्वरिक का अर्थ है— अल्पकालीन और यावत्कथिक का अर्थ है— यावज्जीवन। इत्वरिक—सामायिक से तात्पर्य है— बड़ी दीक्षा से पूर्व का चारित्र। यह चारित्र भरत एवं ऐरावत—क्षेत्र में प्रथम व अंतिम तीर्थकर के समय में होता है। यावत्कथिक—सामायिक यावज्जीवन का चारित्र है। यह चारित्र भरत एवं ऐरावत के मध्य के प्रत्येक तीर्थकर के काल में एवं महाविदेह क्षेत्र में होता है, क्योंकि वहाँ छेदोपस्थापनीय—चारित्र नहीं होता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 11/3, 4 — पृ. — 181, 182

छेदोपस्थापनीय-चारित्र- जिस चारित्र में पूर्व दीक्षा-पर्याय का छेद (समाप्त) कर पांच महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, वह छेदोपस्थापनीय-चारित्र है।
छेदोपस्थापनीय-चारित्र दो प्रकार का होता है- सातिचार और निरतिचार।

सातिचार- जिस मुनि के अहिंसा आदि मूल गुणों का घात हो चुका हो, उसे पुनः व्रत धारण करवाना सातिचार-छेदोपस्थापनीय-चारित्र है।

निरतिचार- इत्वर-सामायिक वाले नवदीक्षित मुनि को पांच महाव्रत आरोपण करवाना, अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाते समय उस तीर्थ-सम्बन्धी महाव्रतों को पुनः ग्रहण करना निरतिचार-छेदोपस्थापनीय है।

परिहारविशुद्धि-चारित्र- जिस चारित्र में गण से पृथक रहकर तप-विशेष के द्वारा कर्मों की निर्जरा, अर्थात् आत्मविशुद्धि की जाती हो, वह परिहारविशुद्धि-चारित्र है।

सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र- संपराय-संसार में परिभ्रमण कराने वाले कषायों में जब मात्र लोभ का सूक्ष्म अंश, अर्थात् देहासक्ति शेष रह जाती है, अर्थात् जिस चारित्र में केवल सूक्ष्म लोभ का उदय हो, वह चारित्र सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र है। प्रस्तुत चारित्र के भी दो भेद हैं- विशुद्ध्यमान और संक्लिश्यमान्।

विशुद्ध्यमान-चारित्र- उपशम-श्रेणी एवं क्षपक श्रेणी से चढ़ने वाले का चारित्र विशुद्ध्यमान् सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र है।

संक्लिश्यमान्-चारित्र - उपशम श्रेणी से गिरने वाले का चारित्र संक्लेश्यमान् -सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र है।

यथाख्यात-चारित्र- यथार्थ-चारित्र, अर्थात् जैसा भगवान् ने कहा है, वैसा ही चारित्र होना यथाख्यात-चारित्र है, जिसे अकषाय-चारित्र भी कह सकते हैं, क्योंकि इस चारित्र में कषाय की चारों चौकड़ी समाप्त हो जाती हैं। यथाख्यात-चारित्र के भी दो भेद होते हैं- छादमस्थिक और कैवलिक।

छादमस्थिक- उपशांतमोह और क्षीणमोह-गुणस्थानवर्ती साधकों का चारित्र छादमस्थिक-यथाख्यात-चारित्र कहलाता है।

कैवलिक- संयोगी-केवली और अयोगी-केवली का चारित्र कैवलिक -यथाख्यात-चारित्र कहलाता है।

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत पांचवी गाथा में¹ सामायिक-चारित्र के स्वरूप का ही विवेचन कर रहे हैं। छेदोपस्थापनीय आदि भेद सामायिक के ही विकास की अवस्था से हैं, इसलिए इस प्रकरण में सामायिक का ही विवेचन किया गया है, छेदोपस्थापनीय आदि चारित्रों का नहीं।

सामायिक का स्वरूप—

आचार्य हरिभद्र के अनुसार, तृण एवं स्वर्ण में, शत्रु और मित्र में, अर्थात् चाहे निर्जीव पदार्थ हों, चाहे सजीव पदार्थ हों— सबमें एक समान भाव अर्थात् समभाव रखना ही सामायिक है। राग-द्वेष से रहित और उचित प्रवृत्ति से युक्त मन का होना ही उत्तम सामायिक है। प्रवर्तिनी श्री सज्जनश्री के अनुसार, जिसमें सम रागद्वेष रहित भावों की आय हो, अर्थात् लाभ हो, उसे सामायिक कहते हैं।¹

केवलमुनि के अनुसार, सावद्य कर्मों का त्याग कर धर्मध्यान करना सामायिक है।²

मुनि भद्रगुप्तसूरि के अनुसार, राग-द्वेष कम होना, उसका नाम है— सम और विशुद्धि का लाभ होना, उसका नाम है— आय, जिनसे मिलकर बना है— सामायिक।³

अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार, त्रस-स्थावर आदि प्राणियों के प्रति समभाव धारण करना सामायिक है।⁴

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रकरण की छठवीं गाथा के द्वारा⁵ कहा है कि सामायिक ज्ञान और दर्शन के अभाव में नहीं होगी—

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/5 - पृ. - 184

¹ द्वादशपर्वव्याख्यान - प्र. सज्जनश्री - पृ. - 112

² तत्त्वार्थ-सूत्र - केवलमुनि - पृ. - 323

³ प्रशमरति भाग- 2 - भद्रगुप्तसूरि वरजी - पृ. - 76

⁴ अनुयोगद्वारसूत्र - म. महावीर- 599/128 - पृ. - 454

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/6 - पृ. - 184

⁶ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/7 - पृ. - 184

सामायिक के होने पर ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शन के बिना सामायिक नहीं हो सकती है। ज्ञान-दर्शन के बिना सामायिक में श्रद्धा भी नहीं होती है, अतः ज्ञान-दर्शन से युक्त सामायिक करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रकरण की सातवीं गाथा में^१ कहते हैं—

विशिष्ट श्रुतरहित चारित्रवान् को भी ज्ञान और दर्शन तो होता ही है। ज्ञान-दर्शन के बिना सामायिक नहीं होती है। इस विषय को ग्रन्थों में प्रसिद्ध उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि जड़ बुद्धि वाले माषतुष मुनि आदि को भी गुरु के प्रति निष्ठारूप ज्ञान और उस ज्ञान के अनुरूप दर्शन होता है, अर्थात् ऐसे मुनियों (शिष्यों) का गुरु के प्रति समर्पणभाव ही उनका ज्ञान और दर्शन है— ऐसा केवली भगवान् के द्वारा भाषित है, क्योंकि गुरु के प्रति समर्पण से ही ज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है।

माषतुष मुनि की बुद्धि जड़वत् थी, अतः गुरु के द्वारा पाठ देने पर भी उन्हें याद नहीं होता था, इसलिए गुरु ने शिष्य के कर्मक्षय के लिए छोटा-सा सूत्र दिया कि वत्स इसे याद करो। मा रुष-मा तुष, अर्थात् न रोष करना है, न तोष होना है, जिसका तात्पर्य है— अनुकूल में न राग करना है और न प्रतिकूल में द्वेष करना है, परन्तु शिष्य इस छोटे-से सूत्र को भी कंठस्थ नहीं कर पाया और न शुद्ध बोल पाते। या मा रुस-मा तुस करते-करते वह शिष्य मा शतुष कहने लग जाता। गुरु फिर शुद्ध पाठ बताते, लेकिन शिष्य द्वारा वह पाठ फिर अशुद्ध हो जाता, पर फिर भी शिष्य परेशान नहीं हुआ, उसने गुस्सा भी नहीं किया कि गुरुजी ने कैसा सूत्र दिया है, जो याद ही नहीं होता। वह गुस्सा कैसे करता, क्योंकि वह तो गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित था और इसी समर्पण-भाव ने उस शिष्य को केवलज्ञान दे दिया। अतः, गुरु के प्रति समर्पण होना अतिआवश्यक है।

साधुधर्म का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की आठवीं तथा नौवीं गाथा में^१ साधुधर्मविधि-पंचाशक के अन्तर्गत साधुधर्म का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं—

^१ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/8, 9 - पृ. - 185

प्रतिलेखन आदि शुभ अनुष्ठानों का पालन करना साधु का धर्म है, अर्थात् प्रतिलेखन आदि के पालन से ही चारित्र-धर्म का यथार्थ रूप से पालन होता है। यह अनुष्ठान ध्यान करना चाहिए, हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार का विधि और प्रतिषेधपूर्वक आगमानुसार आचरण होना चाहिए— यही जिनाज्ञा का सार है।

प्रश्न उपस्थित किया गया है कि श्रुताध्ययन के बिना कोई शुभ अनुष्ठान का पालन कैसे कर सकता है ? जिसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने किया है कि गुरुकुलवास से शुभ अनुष्ठान का पालन कर सकता है। पुनः, प्रश्न उपस्थित किया गया कि अगीतार्थ गुरुकुलवास से शुभानुष्ठान का पालन कैसे कर सकता है ? पंचाशक-प्रकरण की प्रस्तुत गाथा में ही इसका समाधान दिया गया है कि अंगीतार्थ गुरुकुलवास में गीतार्थ की आज्ञा का पालन करने के कारण अगीतार्थ होकर भी गीतार्थ-तुल्य है। गुरुकुल में रहे हुए अगीतार्थ के लिए शुभ अनुष्ठान का पालन करना दुष्कर नहीं है। पुनः, प्रश्न उपस्थित किया गया कि अगीतार्थ गीतार्थ की आज्ञा का पालन कैसे कर सकता है ? साधुधर्मविधि पंचाशक प्रकरण में इसका भी समाधान प्रस्तुत किया गया है कि अगीतार्थ इतना जानता है कि मेरे गुरु आगम के ज्ञाता हैं और मेरे लिए हितकारी हैं, यही ज्ञान अगीतार्थ को गीतार्थ की आज्ञा-पालन के योग्य बता देता है। इसी कारण, वह शुभ अनुष्ठानों का पालन करता है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की दसवीं एवं ग्यारहवीं गाथा में स्पष्ट किया है कि अगीतार्थ किस प्रकार से शुभ अनुष्ठान कर सकता है—

चारित्र से चारित्री मार्गानुसारी बनता है, अर्थात् मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला होता है। मार्गानुसारी होने के कारण गुरु के प्रति तथाविध ज्ञान, अर्थात् मेरे गुरु आगम के ज्ञाता हैं, मेरे लिए हितकारी हैं, मेरे कल्याण की उन्हें चिंता है— इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के कारण ही गुरु की आज्ञा-पालन आदि हितकारी कार्यों में उसकी प्रवृत्ति होती है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अन्धे व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार अन्धा अपने सहयोगी के मार्गदर्शन के अनुसार अपने गंतव्य तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार मार्गानुसारी अगीतार्थ चारित्री भी

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/10, 11 - पृ. - 186

गुरु-आज्ञा के अनुसार शुभ अनुष्ठानों में प्रवृत्ति करता है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति नेत्र वाले के कथानुसार चलकर नेत्रवान् की तरह भयंकर जंगल पार कर लेता है, उसी प्रकार अगीतार्थ भी गुरु-आज्ञा का पालन आदि से गीतार्थ कीह तरह संसार रूपी जंगल को पार कर लेता है।

आज्ञा प्रधान शुभ अनुष्ठान ही साधुधर्म है। इस विषय में आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की बारहवीं गाथा में² आगम वचनानुसार इसी बात को प्रमाणित किया है, जो इस प्रकार है—

जिसको आप्त-वचनों में रुचि हो, उसी को चारित्र प्राप्त होता है, क्योंकि आप्त-पुरुषों की आज्ञा से ही चारित्र की उपलब्धि होती है— ऐसा आगमवचन है। आज्ञा में चलने वाले को अज्ञान नहीं होता है, फिर भी यदि किसी विषय में अज्ञानतावश कोई असत् प्रवृत्ति हो जाए, तो उसे सरलता से समझाया जा सकता है। इस प्रकार, आज्ञा में रुचि रखने वाले जीव को प्रज्ञापना के द्वारा चारित्र प्राप्त होता है, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि आज्ञा-प्रधान शुभानुष्ठान धर्म है। कहा भी है— 'आणाए धम्मो', अर्थात् आज्ञा ही धर्म है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण के साधुधर्मविधि में साधु के लिए क्या आज्ञा है, इसका उल्लेख तेरहवीं गाथा में¹ किया है—

मुनि के लिए यह प्रकृष्ट जिन-आज्ञा है कि गुरुकुलवास का त्याग नहीं करना चाहिए। आचारांग के प्रथम सूत्र में भी सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि 'सुयं मे आउसं तेणंभगवया एवं मक्खायं'। हे आयुष्यमान् जम्बू ! गुरुकुलवास में रहते हुए मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है।

गुरुकुल का महत्व— आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रकरण में चौदहवीं, पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं गाथाओं में² गुरुकुल के महत्व का वर्णन किया है।

गुरु के सान्निध्य का त्याग करने से भगवान् की आज्ञा का त्याग होता है और भगवान् की आज्ञा होने पर इहलोक और परलोक— दोनों का त्याग होता है, क्योंकि

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/12 - पृ. - 186

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/13 - पृ. - 187

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/14, 15, 16 - पृ. - 187

गुरुकुल का त्याग करने वाले को उभयलोक से विरुद्ध प्रवृत्ति करने से कोई रोकने वाला नहीं होता है। चारित्र के फल की प्राप्तिस्वरूप, अर्थात् शीघ्र मोक्ष को पाने वाले साधुओं के लिए गुरु-सान्निध्य का त्याग साधुधर्म के अनुकूल नहीं है। क्योंकि आगम वचन हैं, गुरु-सान्निध्य प्राप्त करने वाला वह साधु श्रुतज्ञान आदि का पात्र बनता है और दर्शन और चारित्र में अत्यन्त दृढ़ होता है, अतः ऐसे साधुओं को धन्य माना गया है, जो गुरु-सान्निध्य का परित्याग नहीं करते हैं, क्योंकि गुरु-सान्निध्य में ही चारित्र का पूर्ण पालन होता है और क्षमा आदि गुणों की वृद्धि होती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन सत्रहवीं एवं अठारहवीं गाथाओं में¹ किया है—

गुरुकुल में रहने वाले मुनियों का यथाशक्ति आज्ञा-पालन से चारित्र का सम्पूर्ण पालन होता है। गुरु-सान्निध्य में रहते हुए यदि अस्वस्थता के कारण प्रतिलेखन आदि अनुष्ठानरूप बाहरी चारित्र अपूर्ण रह जाते हैं, तो भी भाव से चारित्र पूर्ण होता है, अतः गुरुकुलवास में रहने वाले का पूर्णतया चारित्र-पालन होता है, इसलिए गुरुकुलवास का त्याग नहीं करने का निर्देश देने के लिए कुलवधुओं आदि का दृष्टांत दिया गया है। जिस प्रकार कुलवधुएँ अनेक प्रतिकूलताओं के पश्चात् भी ससुराल (पति) गृह का त्याग नहीं करती हैं, उसी प्रकार साधु को भी अनेक प्रतिकूलताओं के उपस्थित होने पर भी गुरुकुलवास नहीं छोड़ना चाहिए तथा जिस प्रकार माता-पिता अपनी पुत्री को अनेक गुणों से समृद्ध करके कुलीन व्यक्ति से विवाह कर देते हैं, उसी प्रकार गुरु भी अपने शास्त्रज्ञ शिष्य को आचार्य बना देते हैं। गुरुकुल में विवेकपूर्वक रहने वाले साधुओं के क्षमा आदि धर्म की भी वृद्धि होती है।

क्षमादि धर्म— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण में साधुधर्मविधि-पंचाशक के अन्तर्गत क्षमादि दस प्रकार के धर्म का वर्णन प्रस्तुत उन्नीसवीं गाथा में² किया है—

1. क्षान्ति— क्रोध-निग्रह
2. मार्दव-मृदुता
3. आर्जव-सरलता
4. मुक्ति-लोभत्याग
5. तप-अनशन आदि
6. संयम-पृथ्वीकायादि जीवों का संरक्षण
- 7.

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/17, 18 - पृ. - 188

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/19 - पृ. - 189

सत्य— सत्य वचन बोलना 8. शौच— भावशुद्धि 9. आकिंचन्य— परिग्रह का त्याग 10. ब्रह्म— ब्रह्मचर्य— ये दस साधु के धर्म हैं।

आचारांग में आठ धर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें 1. क्षांति 2. विरति 3. उपशम 4. निवृत्ति 5. शौच 6. आर्जव 7. मार्दव 8. लाघव— पंचाशक से भिन्न प्रकार से हैं।³ ठाणांगसूत्र के पांचवे स्थान के चौतीसवें सूत्र के अनुसार निर्ग्रन्थों के लिए पांच स्थान सदा वर्णित किए गए हैं— 1. क्षांति 2. मुक्ति 3. आर्जव 4. मार्दव और 5. लाघव। पैतीसवें सूत्र में पुनः पांच स्थान वर्णित किए हैं— 1. सत्य 2. संयम 3. तप 4. त्याग 5. ब्रह्मचर्यवास।¹ इस प्रकार, उसमें भी दस धर्म उल्लेखित हैं।

प्रवचन—सारोद्धार के अनुसार, दशयति—धर्म पंचाशक—प्रकरण के अनुसार ही हैं।²

तत्त्वार्थ—सूत्र में निम्न दशधर्म का उल्लेख है, जो पंचाशक से कुछ भिन्नता रखता है तथा उनके क्रम में भी परिवर्तन है, जो इस प्रकार है— क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य। पंचाशक में शौच के स्थान पर मुक्ति है तथा त्याग के स्थान पर शौच है।³

1. क्षमा— दशविधधर्म में सर्वप्रथम क्षमाधर्म है। क्रोध को शान्त करने के लिए ही क्षमाधर्म का महत्त्व है। क्षमा से तात्पर्य है कि मान—कषाय को क्षय कर देना। चूंकि मान—कषाय के कारण ही क्रोध का आविर्भाव होता है, अतः क्षमा रखना ही श्रमणत्व और श्रावकत्व का लक्षण है।

2. मार्दव— मार्दव का अर्थ है— नम्रता। मान—कषाय को उपशांत करने के लिए ही मार्दवधर्म है, अर्थात् स्वयं कितना भी ज्ञानी हो, तपस्वी हो, धनवान् हो, परन्तु अभिमान न करके नम्रता रखने वाला ही मार्दवधर्म का आराधक है।

³ आचारांग—सूत्र — भगवान् महावीर— 1/6/5

¹ ठाणांगपूउद्देशा 1 — सूत्र— 34, 35 — पृ. — 553, 554

² प्रवचन—सारोद्धार — खतिमददवऽज्जव मुत्तितव संजमे य बौद्धवे।

सच्चं सोयं आकिचणं च नमं च जइधम्मे।।553।। — पृ. सं. — 252

³ तत्त्वार्थ—सूत्र — आ. उमास्वाति— 9/6 — पृ. — 208

3. **आर्जव**— आर्जव का अर्थ है— सरलता। सरलता ही मुक्ति का सोपान है। सरलता को अपनाने के लिए माया-कषाय पर विजय प्राप्त करना होगी। आत्मशुद्धि सरल स्वभाव वालों को ही होती है, अतः सरलता के लिए कपट का त्याग करें।
4. **मुक्ति**— मुक्ति का अर्थ है— लोभत्याग, अर्थात् संतोष। तृष्णा का त्याग करना ही संतोष है। अच्छी-बुरी, जैसी भी सामग्री प्राप्त हो जाए, या कम-अधिक वस्तु प्राप्त हो, फिर भी संतोष धारण करना मुक्तिधर्म है।
5. **तप**— अनशन आदि तप के द्वारा निकाचित कर्म का भी क्षय हो जाता है। प्रायः सभी तीर्थंकर परमात्मातप द्वारा ही दीक्षा, कैवल्य व निर्वाण को प्राप्त करते हैं। तप के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति शीघ्र होती है, अतः सभी को अपनी शक्ति छिपाए बिना सम्यक् तप की साधना करना चाहिए।
6. **संयम**— पृथ्वीकायादि जीवों की रक्षा करना एवं अपनी इन्द्रियों को एवं मन को नियंत्रित रखना संयम है। इन्द्रियों का असंयम चारित्र को निःसार बना देता है, अतः चारित्र-निर्मलता के लिए इन्द्रियों एवं मन का संयम तथा पृथ्वीकायादि जीवों का संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है।
7. **सत्य**— सत्य बोलना सत्यधर्म है, क्योंकि सत्य बोलने वाले के वचन कभी निरर्थक नहीं होते हैं। असत्य कथन करने वाला संसार में किसी का विश्वासपात्र नहीं बन सकता है, अतः सदा सत्य बोलना चाहिए।
8. **शौच**— शौच का अर्थ है— भावविशुद्धि या पवित्रता। मन को अच्छे विचारों से पवित्र रखना शौच है। अच्छे विचारों को लाने के लिए उत्तम शास्त्रों का सदैव स्वाध्याय करना चाहिए। मन की पवित्रता के लिए सत्संगति आवश्यक है।
9. **आकिंचन्य**— आकिंचन्य का अर्थ है— अपरिग्रह, अर्थात् परिग्रह का त्याग। लोभवश वस्तु, पात्र आदि का संग्रह करना पाप है, अतः निस्पृह होकर जीवन जीना आकिंचन्यधर्म है।
10. **ब्रह्मचर्य**— इसका अर्थ है— अब्रह्म का त्याग। यह गुण तो सर्व आत्माओं का प्राण है। सम्पूर्ण साधना का आधार इस धर्म की निर्मलता पर निर्भर है। ब्रह्मचर्य की

पवित्रता सुरक्षित रखने के लिए नववाड़ आदि नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

गुरुकुलवास में रहकर प्रतिदिन सूत्र अर्थ का ज्ञान ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि गुरु के पास अध्ययन करना ही ग्रहिणी-शिक्षा है तथा प्रतिदिन संयम की क्रियाओं का अभ्यास करना आसेविनी-शिक्षा है। इस प्रकार, इन दोनों शिक्षा को ग्रहण करने के लिए गुरु-सान्निध्य में रहना ही क्षमा आदि दशविधधर्म की आराधना है।

दशधर्म का पालन करने वाले ही सच्चे साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका हैं। इन दशधर्म का पालन करने वाला मोक्ष का वरण शीघ्र करता है।

इन दस साधुधर्म का विशुद्ध रूप से पालन गुरुकुलवास के अभाव में असम्भव है, अतः आचार्य हरिभद्र पंचाशक प्रकरण की बीसवीं गाथा में¹ लिखते हैं-

गुरुकुलवास का त्याग होने पर इन क्षमा आदि दस साधुधर्मों का पालन अच्छी तरह से नहीं हो सकता है, अर्थात् इन धर्मों में पूर्णता प्राप्त नहीं होती है, अतः इन धर्मों के पालन के विषय में सदैव निपुण (चतुर) बुद्धि से चिन्तन करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण में प्रस्तुत अध्ययन की इक्कीसवीं गाथा के अन्तर्गत¹ गुरुकुलवास के त्याग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

क्षमा आदि गुणों के अभाव में गुरुकुलवास का त्याग स्वतः हो जाता है तथा गुरुकुलवास (गुरुसान्निध्य) के त्याग से ब्रह्मचर्य की गुप्ति नहीं रहती है। ब्रह्मचर्य-गुप्ति से तात्पर्य है- सहवर्ती मुनियों का सहयोग, ब्रह्मचर्य-गुप्ति के अभाव में ब्रह्मचर्य नहीं रह सकता है। इस प्रकार, दूसरे तप-संयम आदि भी मुनियों के सहयोग के अभाव में नहीं रह सकते हैं, अतः इन दशधर्मों को यथारूप रखने के लिए गुरुकुलवास का त्याग नहीं करना चाहिए तथा गुरुकुलवास में रहने के लिए इन दशधर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/20 - पृ. - 189

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/21 - पृ. सं. - 189

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/22 - पृ. सं. - 190

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/23 - पृ. सं. - 190

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के प्रस्तुत अध्ययन की बाइसवीं गाथा में गुरुकुलवास का महान् लाभ बताते हुए लिखा है—

गुरुकुल में वास करने वाला गुरु की सेवा करने से सद्अनुष्ठानों में सहयोगी बनता है, जिससे उसमें कर्म—निर्जरा—रूप महान् लाभ प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई लखपति वणिक् पुत्र अपने धन के बीसवें भाग से भी व्यापार करे, तो उसे बहुत लाभ होता है, उसी प्रकार महान् गुरु की मात्र सेवा से बहुत लाभ होता है।

यदि गुरुकुल का त्याग कर दिया जाता है, तो महान् लाभ के स्थान पर महान् अनर्थ की प्राप्ति होगी। गुरुकुलवास के त्याग से अनर्थ—प्राप्ति का विवरण आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की तेईसवीं गाथा में³ प्रस्तुत किया है—

गुरुकुलवास का त्याग करने में वैयावृत्य, तप, ज्ञान आदि गुणों का व्याघात होने से दोष लगता है और गुरु की उपासना नहीं करने से संविग्नो को सामाचारी में दक्षता प्राप्त नहीं होती है, इसलिए वह गुरुकुलवासत्यागी सूत्रार्थ—ग्रहण, प्रतिलेखन आदि से लेकर दूसरों को दीक्षा देने तक विविध अनुष्ठानों में विधिरहित प्रवृत्ति करता है, जिससे उसे दोष लगता है।

गुरुकुलवास के बिना वह गीतार्थ की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता है। गुरुकुलवास के बिना यदि वह गीतार्थ की तरह प्रवृत्ति भी करता है, तो वह दोष का भागी बनता है। मरीचि ने गुरुकुलवास का त्याग करके ही अपना संसार बढ़ाया, क्योंकि गुरुकुलवास के अभाव में वह उत्सूत्र—प्ररूपणा, अभिमान आदि अनेक दुर्गुणों का स्वामी बन गया था। इसी कारण, कहा गया है कि बुद्धिमान् गुरु का त्याग भूलकर भी न करें। उस गुरु के त्याग का निर्देश अवश्य दिया गया है, जिसमें सम्यक् गुरुगुणों का अभाव हो। जिस गुरु ने गुरु बनने में जिस सम्यक् ज्ञान और सद्अनुष्ठानों की आवश्यकता है, उन्हें स्वीकार नहीं किया है, तो उसे उस गुरु के रूप में स्वीकार न करें और यदि कर लिया हो, तो उस गुरु का यथाविधि शीघ्र त्याग कर देना चाहिए। साथ ही, यह भी निर्देश किया है कि अन्य सद्गुरु की खोज कर गुरु—सान्निध्य अवश्य प्राप्त कर लेना

चाहिए, परन्तु एकाकी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि एकाकी रहने पर क्षमादि गुणों का ह्रास होगा और स्वच्छन्दवृत्ति का प्रवेश हो जाएगा, जिससे न तो गीतार्थ की योग्यता प्राप्त हो सकेगी और न ही कर्म-निर्जरा हो सकेगी।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की चौबीसवीं गाथा में¹ सच्चे गुरु की शरण ग्रहण करने का ही सुझाव दिया है।

आचार्य हरिभद्र ने साधुधर्मविधि-पंचाशक के अन्तर्गत दशवैकालिकसूत्र के अनुसार विशिष्ट एकाकी साधु के विचरण की चर्चा की है, परन्तु सामान्य साधु की अपेक्षा से समूह में विचरण के विधान की बात पच्चीसवीं एवं छब्बीसवीं गाथाओं में² कही है।

आगम के अनुसार, अपने से अधिक गुणों वाले या समान गुणों वाले यदि किसी मुनि का सहयोग न मिले, तो अपनी बुद्धि से आगमानुसार चिन्तन करते हुए एकाकी विचरण करना चाहिए। आगम में गीतार्थ के एकाकी विचरण को पाप का त्याग करने वाला कहा गया है, परन्तु अगीतार्थ का एकाकी विचरण पाप के त्याग का हेतु नहीं हो सकता है। अज्ञानी क्या कर सकता है ? इस आगम-वचन से उपर्यक्त बात सिद्ध होती है कि एकाकी विचरण की आज्ञा उन्हीं के लिए है, जो गीतार्थ है, क्योंकि गीतार्थ मुनि एकाकी विचरण करने पर भी जिनाज्ञा के विरुद्ध कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, किन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो क्षमा आदि गुणों से परिपक्व नहीं है, जो अज्ञानी एवं अगीतार्थ है, उसके एकाकी विचरण से जिन-शासन की अवहेलना ही होती है, अतः गीतार्थ मुनि ही कारणवशात् एकाकी विचरण कर सकते हैं, अन्य नहीं।

इसी बात को सिद्ध करते हुए आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत साधुधर्मविधि-पंचाशक की सत्ताईसवीं, अठाईसवीं, उनतीसवीं और तीसवीं गाथाओं में¹ लिखते हैं—

जात और अजात के भेद से कल्प दो प्रकार का होता है। ये दोनों पुनः समाप्त-कल्प और असमाप्त-कल्प के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/24 - पृ. - 190

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/25, 26 - पृ. - 191

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/27 से 30 - पृ. - 191

गीतार्थ की निश्रावाले अगीतार्थ साधु का विचरण जातकल्प है तथा गीतार्थ की निश्राहित अगीतार्थ साधु का विचरण अजातकल्प है, अर्थात् गुरु के द्वारा दिए गए निर्देशानुसार श्रुतज्ञान को प्राप्त योग्य साधु-समुदाय के साथ विहार जातकल्प है तथा श्रुतज्ञान को प्राप्त नहीं करने वाले अयोग्य साधु-समुदाय के साथ विहार अजातकल्प है। पूर्ण संख्या वाले समाप्तकल्प है और अपूर्ण संख्या वाले असमाप्तकल्प हैं।

चातुर्मास के अतिरिक्त शेष काल में पांच साधुओं का विहार समाप्तकल्प है, उससे कम साधुओं का विहार असमाप्तकल्प है। चातुर्मास में सात साधु रहें, तो समाप्तकल्प और इससे कम रहें, तो असमाप्तकल्प कहलाता है। चातुर्मास में सात साधुओं के साथ रहने का विधान इस कारण है कि कदाचित् कोई साधु बीमार हो जाए, तो उसकी पर्याप्त सेवा कर सके।

जो साधु असमाप्तकल्प वाले और अजातकल्प वाले हैं, अर्थात् अपूर्ण संख्या वाले और अगीतार्थ हैं, उनका सामान्यतः कोई भी अधिकार नहीं होता है, अर्थात् ऐसे अयोग्य साधु जिस क्षेत्र में विचरण करते हैं, वह क्षेत्र और उस क्षेत्र से प्राप्त होने वाले शिष्य एवं आहार, वस्त्रादि पर उनका अधिकार नहीं होता है, इसलिए ऐसे अयोग्य साधुओं को स्वतन्त्र विचरण की आज्ञा नहीं है, अर्थात् उनके विचरण का निषेध किया गया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि एकाकी विहार सभी साधुओं के लिए नहीं, अपितु विशिष्ट साधुओं के लिए ही है, क्योंकि विशिष्ट साधुओं का एकाकी विचरण हानिकारक नहीं होता है, अर्थात् उनका पतन सम्भव नहीं है, परन्तु सामान्य साधुओं के, अर्थात् अगीतार्थ साधुओं के एकाकी विचरण में अधिकांशतः पतन की सम्भावना बनी रहती है। इस कारण ऐसे साधुओं को एकाकी विचरण नहीं करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने एकाकी विचरण करने वालों को दोषपूर्ण ही बताया है, जिसका विवरण एकत्तीसवीं गाथा में¹ दिया गया है—

एकाकी विचरण करने वालों को अनेक दोष लगते हैं, जैसे— स्त्री-सम्बन्धी दोष। एकाकी साधु को गृह में आया देखकर परित्यक्ता, विधवा, अथवा अपरिणिता स्त्री

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/27 से 31 - पृ. - 192

विषय—सेवन की इच्छा अभिव्यक्त कर सकती है, अतः ऐसी परिस्थिति में यदि साधु सामने वाले की इच्छा पूरी करता है, तो संयम से पतित होता है और यदि इच्छा पूरी नहीं करता है, तो वह स्त्री उसे समाज में कलंकित और अपमानित कर सकती है, अतः अपने संयम को सुरक्षित रखने के लिए साधु को एकाकी विचरण नहीं करना चाहिए। प्रश्न उपस्थित होता है कि साध्वी के लिए विहार की विधि क्या है ?

यदि साधु को भी एकाकी विचरण की आज्ञा नहीं है, तो साध्वी को एकाकी विचरण की आज्ञा कैसे हो सकती है ? अतः किसी के लिए भी एकाकी विचरण संयम के पतन का हेतु है। एकाकी विचरण से पशुओं आदि का भी भय हो सकता है, अर्थात् कुत्ते आदि के द्वारा काटने की भी सम्भावना हो सकती है। एकाकी विचरण से साधु के प्रति द्वेष रखने वाला व्यक्ति कभी भी किसी भी प्रकार का भी आक्रमण कर सकता है।

एकाकी विचरण करने वाला साधु भिक्षा की गवेषणा भी सुचारु रूप से नहीं कर सकता है, अतः उसे भिक्षा भी दोषयुक्त ही प्राप्त होगी।

एकाकी विचरण करने वाले साधु के पांचों महाव्रतों में भी दोष लगना सम्भव है—

भिक्षा शुद्ध न मिलने के कारण प्रथम महाव्रत भंग होता है तथा प्राणातिपातविरमण—महाव्रत की विराधना सम्बन्धी प्रश्नों को पूछने पर वह निश्चक जवाब नहीं दे पाता है, अतः मृषावाद—दोष भी लगता है। गृहस्थ के यहाँ खुली वस्तु देखने पर लेने की इच्छा होने पर अदत्तादान का दोष लग सकता है तथा स्त्री आदि को देखने पर रागभाव उत्पन्न होने पर अब्रह्म—सेवन तथा परिग्रह दोष लगता है, इसलिए उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए साधुओं को एकाकी विहार की आज्ञा आप्त—पुरुषों ने नहीं दी है, अतः अपने संयम में दोष न लगे, इसलिए एकाकी विहार नहीं करना चाहिए। यद्यपि आगम में गीतार्थ को एकाकी विहार करने की आज्ञा दी गई है, किन्तु अन्य साधुओं को एकाकी विहार न करने की आज्ञा न देकर उन्हें गीतार्थ की निश्चा में ही विचरण करने

की आज्ञा दी गई है। परमात्मा द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का निरूपण आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की बत्तीसवीं एवं तैंतीसवीं गाथाओं के अन्तर्गत¹ किया है—

जिनेश्वर परमात्मा ने गीतार्थ के लिए एकाकी विहार करने का निर्देश दिया है, तो दूसरी ओर अगीतार्थ के गीतार्थ की निश्रा में विहार करने का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त, तीसरे कोई विहार का निर्देश नहीं दिया गया है। एकाकी विहार सम्बंधी आज्ञा आगम-वचनानुसार गीतार्थ (विशिष्ट) साधु के लिए है, सामान्य साधुओं के लिए नहीं। गीतार्थ साधु के लिए भी एकाकी विहार की आज्ञा तब है, जब उसे संयम हेतु कोई सहयोगी साधु न मिले। अगीतार्थ के लिए सदैव अन्यो के साथ ही विहार करने की आज्ञा है, इसलिए प्रबुद्ध साधुओं को दशवैकालिक-सूत्र के— 'न वा लभेज्जा'— इस सूत्र का अर्थ समझना चाहिए व स्मरण में रखना चाहिए कि अन्य सहयोगी का संयोग न मिले, तो ही गीतार्थ साधु के लिए एकाकी विहार मान्य है, अन्यथा नहीं। अगीतार्थ तो गीतार्थ की निश्रा में ही विचरण करे एवं गीतार्थ भी अन्य सहयोगी साधुओं का संयोग न मिलने के कारण ही एकाकी विहार करें, अन्यथा नहीं।

यहाँ विशेष शब्द का अर्थ स्पष्ट होना भी अति आवश्यक है, क्योंकि विशेष अर्थ के बिना सूत्रों के रहस्य को हर कोई नहीं समझ सकता है और अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझे बिना ही सत्य को समझना अति दुष्कर है। इसी सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की चौतीसवीं गाथा में¹ कहा है—

जिस सूत्र में जैसा कहा गया है, उसका वैसा ही अर्थ करना होता, शब्दानुसार ही अर्थ करना होता और उसके भावार्थ की कल्पना ही नहीं करनी होती, तो दृष्टि-सम्पन्न श्रुत के भद्रबाहु स्वामी आदि के द्वारा कालिक-सूत्रों की रचना करने के पश्चात् भी निर्युक्ति आदि की रचना क्यों की गई होती ? केवल किसी भी सूत्र के शब्दार्थ से उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, अपितु उसका भावार्थ भी समझना पड़ता है, इसलिए आचार्य भद्रबाहु स्वामी आदि ने सूत्रों पर निर्युक्ति की रचना की है, अतः इस

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 11/32, 33 — पृ. — 193

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 11/34 — पृ. — 194

कथन के द्वारा आचार्य हरिभद्र यह स्पष्ट करते हैं कि शब्दार्थ से ही अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, अपितु उसके भावार्थ को भी ग्रहण करना चाहिए। आचार्य हरिभद्र ने गुरु का महत्व बताते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि गुरु कौन है ?

वास्तव में गुरु वही है, जो आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित गुरु के गुणों को आत्मसात् करता है, अर्थात् इन गुणों को धारण करता है। यदि गुरु में गुणों का अभाव है, तो वह गुरु बनने के योग्य नहीं है, क्योंकि जब गुरु में गुरु की योग्यता का अभाव ही है, तो वह शिष्य-परम्परा में अनुशासन, संयम आदि की आचरणा कैसे कर सकेगा ? अतः उस गुरु को, जो गुरु के गुणों से रहित है, गुरु नहीं माना जा सकता है। यही बात स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की पैंतीसवीं गाथा में¹ स्पष्ट की है—

जो गुरु मूल गुणों से रहित है, उनको ही गुरु के गुणों से रहित जानना चाहिए, न कि गुणों से रहित, साथ ही, विशिष्ट उपशम, शारीरिक-वर्ण आदि उत्तरगुणों से रहित गुरु को। यदि गुरु मूलगुणों से युक्त है, तो वह गुरु है। उत्तर गुणों से युक्त अथवा रहित हो— ऐसी स्थिति में गुरु को गुरु कहने में कोई बाधक तत्त्व सम्मुख उपस्थित नहीं होता है, परन्तु गुरु को गुरु कहने में बाधक तत्त्व मूलगुणों का अभाव ही है। इसके लिए आचार्य हरिभद्र ने चण्डरुद्राचार्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है। चण्डरुद्राचार्य अत्यन्त क्रोधी थे, पर मूलगुणों से युक्त थे, अतः गीतार्थ शिष्यों ने भी उनका त्याग नहीं किया था। वे गुरु का पूर्ण रूप से सम्मान भी करते थे। वास्तविकता यही है कि यदि गुरु मूलगुणों से युक्त है और उत्तरगुण न भी हो, तो उस गुरु का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि शिष्य गुरु के मूलगुणों से युक्त होने पर भी गुरु के उग्र स्वभाव को देखकर गुरु को अगीतार्थ समझ लेता है, अथवा परित्याग कर देता है, तो वह शिष्य कृतघ्न कहलाता है, क्योंकि कृतज्ञ शिष्य कभी भी ऐसे सदगुरु का परित्याग नहीं करता है। इसी सन्दर्भ में, आचार्य हरिभद्र साधुधर्मविधि-पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में² कथन करते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/35 - पृ. सं. - 194

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/36 - पृ. सं. - 194

मनुष्य-लोक में जो उत्तम और कृतज्ञ प्रकृति के हैं, वे ऐहिक और पारलौकिक-कल्याण के पात्र हैं, इसलिए वे उभयलोक में हितकर गुरु की अवज्ञा नहीं करते हैं, अर्थात् वे गुरु के सान्निध्य का त्याग नहीं करते हैं। यदि शिष्य सद्गुरु का त्याग करता है, तो वह संघ में, समाज में, देश में निन्दा का पात्र बनता है। जिस प्रकार पुत्र के द्वारा माता-पिता का त्याग करने पर पुत्र को निन्दा व हंसी का पात्र बनना पड़ता है, उसी प्रकार गुरु का त्याग करने वाला शिष्य भी लोगों की दृष्टि में हंसी का पात्र बनता है, अतः शिष्य को गुरु का परित्याग नहीं करना चाहिए तथा लोकनिन्दा का पात्र भी नहीं बनना चाहिए, क्योंकि निन्दा का पात्र बना हुआ शिष्य कहीं भी सम्मान नहीं पा सकता है। जिस प्रकार सड़ी हुई कुतिया को कोई भी अपने निकट नहीं आने देता है, अथवा एक पागल व्यक्ति को लोग अपने निकट नहीं आने देते हैं, दूर से ही पत्थर फेंकते हैं, वैसे ही निन्दित शिष्य को कोई भी अपने पास नहीं रखना चाहता है तथा दूर से ही उसे तिरस्कृत कर बहिष्कृत कर देते हैं। ऐसे ही निन्दा के पात्र बने हुए शिष्य के विषय में आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत सैंतीसवीं एवं अड़तीसवीं गाथाओं में¹ वर्णन किया है-

जो साधु उत्तम और कृतज्ञ न होने के कारण गुरु की अवज्ञा करते हैं, वे साधु नहीं हैं, क्योंकि वैसे साधु पाप के अल्पबहुत्व (गुरुकुलवास और एकाकी विहार के लाभालाभ) को अच्छी तरह जानते नहीं हैं। वे अनेक साधुओं के साथ रहने में अशुद्ध आहार और परस्पर स्नेह आदि के दोष का सेवन करते हैं। वे निर्दोष भिक्षा आतापना, मासक्षमण आदि अनुष्ठान अपनी मति के अनुसार करते हैं। ऐसे गुरु की अवज्ञा करने वाले साधुआगम से भी निरपेक्ष प्रवृत्ति करने वाले होने के कारण जिन-शासन को निन्दा का पात्र बनाते हैं और गुरु की अवज्ञा करने से स्वतः भी क्षुद्र होते हैं।

ऐसे साधु प्रायः एक बार भी ग्रन्थि का भेद नहीं करते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि हाने के बावजूद यदि एक बार भी ग्रन्थिभेद किया होता, तो ऐसी अनर्थ प्रवृत्ति नहीं करते। वे अज्ञानता से मासक्षमण आदि दुष्कर तप आदि भी करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि तापसों की भांति वे जिनाज्ञा से रहित होने के कारण साधु नहीं हैं- इस विषय को शास्त्र में दिए गए कौए के उदाहरण से जानना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/37, 38 - पृ. - 195

वह कौए का उदाहरण इस प्रकार है— स्वादिष्ट, शीलत व सुगंधित पानी वाले तालाब के किनारे कुछ कौए बैठे थे। उनमें से कुछ कौए प्यास लगने पर पानी की खोज करने लगे और वे मृगतृष्णा के सरोवरों की ओर जाने लगे। उस समय किसी कौए ने उन्हें टोका और उसे तालाब में ही पानी पीने को कहा, जहाँ पर वे बैठे थे। कुछ ने उसी तालाब में पानी पिया और अन्य अनेक उसकी अवज्ञा करके मृगतृष्णा की ओर गए, जहाँ पानी न मिलने के कारण वे मृत्यु को प्राप्त हो गए और जिन्होंने उस तालाब का पान पिया, वे जीवित रह गए।

उपर्यक्त उदाहरण को प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रकार घटित किया जा सकता है कि सुंदर तालाब के समान गुरुकुल गुणों का स्थान है। कौओं के समान धर्मार्थी जीव है। पानी के समान चारित्र है। गुरुकुल से बाहर रहना मृगतृष्णा-सरोवर के समान है। कौओं को शिक्षा देने वाले समझदार कौए के समान गीतार्थ हैं। चारित्र के योग्य और धर्मरूप धन को पाने वाले जो थोड़े से साधु गुरुकुल में रहे, वे तालाब का पानी पीने वाले कौओं के समान हैं।

इस प्रकार के उदाहरण से शिष्य को समझना चाहिए कि गुरुकुल में रहने वाला ही सम्मान का पात्र होता है, अतः उसे गुरुकुल का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो गुरु की आज्ञा नहीं मानते हैं, उनकी दशा मृगतृष्णा के सरोवर की ओर गए हुए कौओं के समान होती है। ज्ञातव्य है कि गुरुकुल के त्यागी शिष्य को कोई भी सम्मान नहीं देता है। यदि कोई गुरुकुलवास का त्याग करने वाले गुरुद्रोही को सम्मान देता भी है, तो वह भी शासन-द्रोही, गच्छद्रोही, गुरुद्रोही हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र साधुधर्मविधि-पंचाशक के अन्तर्गत प्रस्तुत उनचालीसवीं गाथा में¹ कहते हैं—

गुरुकुल का त्याग करने वाले शिष्य का सम्मान करना उन्मार्ग का पोषण करना है, अर्थात् अनुमोदन करना है। जो संघ, समाज एवं स्वयं के लिए अनिष्टकर है, इसलिए गुरुकुल में रहे हुए जिनाज्ञा या गुर्वाज्ञा का पालन करने वालों का ही सम्मान

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/39 - पृ. - 196

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/40 से 43 - पृ. - 196

करना चाहिए, क्योंकि जिनाज्ञा का पालन करने वाला शिष्य ही संयम का आराधक होता है, संयम के प्रति सदैव रुचिवाला होता है तथा गुरु की कृपा का पात्र होता है।

आचार्य हरिभद्र भी जिनाज्ञा में रहने वाले साधुओं के स्वरूप को बताते हुए चालीसवीं से तिरालीसवीं तक की गाथाओं में^१ प्रस्तुत विषय का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं—

तीर्थंकर की आज्ञा में रहने वाले साधु पांच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं, साधुधर्म के प्रति अनुरागी होते हैं, धर्म में दृढ़ होते हैं, इन्द्रियों और कषायों के विजेता होते हैं, गम्भीर होते हैं, बुद्धिमान होते हैं, शिक्षा के योग्य और महासत्त्व वाले होते हैं। वे उत्सर्ग और अपवाद को जानने वाले तथा यथाशक्ति उनका पालन करने वाले होते हैं, विशुद्ध भाव वाले होते हैं। वे स्वाग्रह से मुक्त होकर आगम के प्रति सम्मान-भाव वाले होते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल काल आदि में प्रतिबंध से रहित सभी गुणाधिक जीवों, दुःखी जीवों और अविनीत जीवों पर क्रमशः मैत्री, प्रमोद और करुणा-भाव होते हैं और जो माध्यस्थ-भावना वाले होते हैं, वे अवश्य जिनाज्ञा की आराधना करने की इच्छा वाले होते हैं। आगम से परमार्थ के स्वरूप को जानने वालों को, हमेशा सम्यक् चारित्र का परिपालन करने वाले साधुओं को सभी नए एवं शास्त्रानुसार साधु के रूप में जानना चाहिए।

ज्ञान और दर्शन के बिना चारित्र का कोई अर्थ नहीं है। तत्त्वार्थ-सूत्र में^१ यही बात कही गई है—

‘सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः’, अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मिलकर ही मोक्षमार्ग के साधन हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन का कितना महत्व है। चारित्र के बिना ज्ञान और दर्शन हो सकते हैं, परन्तु ज्ञान और दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता है, साथ ही यह भी सत्य है कि चारित्र के बिना मुक्ति भी नहीं है। चारित्र ही मुक्ति का प्रदाता है, अतः चारित्रशुद्धि अति आवश्यक

^१ तत्त्वार्थ-सूत्र – आ. उमास्वाति- 1/1

है। चारित्र की शुद्धि के लिए दर्शन एवं ज्ञान अति आवश्यक हैं। दर्शन और ज्ञानादि की चर्चा आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के साधुधर्मविधि-पंचाशक की चवालीसवीं एवं पैतालीसवीं गाथाओं में किया है-

ज्ञान और दर्शन के होने पर चारित्र अवश्य होता है, इसलिए जो चारित्र-गुण में स्थित हैं, उनमें ज्ञान और दर्शन के अस्तित्व का बोध स्वतः ही हो जाता है। जहाँ विशुद्ध चारित्र होता है, वहाँ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं, क्योंकि निश्चय और व्यवहार-नय की अपेक्षा से शास्त्र में कहा गया है कि निश्चयनय की दृष्टि से चारित्र का घात होने पर ज्ञान और दर्शन का भी घात हो जाता है और व्यवहार-नय की दृष्टि से चारित्र का घात होने पर ज्ञान व दर्शन का घात हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। उपर्युक्त कथन के अनुसार अनन्तानुबन्धी- कषाय के उदय से चारित्र का विघात होने पर ज्ञान और दर्शन का भी विघात होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय-कषाय के उदय से चारित्र का विघात हो, तो भी ज्ञान और दर्शन का विघात नहीं होता है, क्योंकि उनका उदय दर्शन का विघातक नहीं है।

धर्मसंग्रह-सारोद्धार में भी प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। निश्चयन मत से चारित्ररूप आत्मस्वभाव का विघात होने पर ज्ञान और दर्शन का भी विघात माना गया है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से तो चारित्र का विघात होने पर भी दर्शन और ज्ञान का विघात हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। अनन्तानुबन्धी के उदय से चारित्र का घात होने पर दर्शन और ज्ञान का भी घात होता है और अप्रत्याख्यानावरण के उदय

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/44, 45 - पृ. सं. - 197

¹ धर्मसंग्रह सारोद्धार - मानविजयजी - भाग- 2 - गाथा- 127

² उपदे माला - धर्मदासगणि - गाथा- 512 - पृ. सं. - 365

से चारित्र का ही घात होता है, दर्शन तथा ज्ञान का नहीं। धर्मसंग्रह-सारोद्धार का यह कथन पंचाशक के तुल्य ही है।¹

उपदेशमाला में भी निश्चयनय-मत एवं व्यवहारनय-मत की व्याख्या पंचाशक के अनुसार ही की गई है।²

निश्चयनय के अनुसार, यह कहा गया है कि चारित्र के नष्ट होने पर दर्शन एवं ज्ञान भी विलुप्त हो जाता है, पर व्यवहारनय से यह बात मान्य नहीं है, अतः निश्चयनय के द्वारा आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत छंयालीसवीं गाथा में³ यह स्पष्ट किया है—

निश्चयनय के अनुसार, जो आप्त-वचन को नहीं मानता है, उससे बढ़कर और कौन मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, अर्थात् आप्तवचन को नहीं मानने वाला ही सबसे बड़ा मिथ्यादृष्टि (मिथ्यात्वी) है, क्योंकि आप्तवचनानुसार चारित्र-आराधना नहीं करने वाले को दर्शन और ज्ञान नहीं होता है। श्रद्धा एवं सम्यग्ज्ञान न होने के कारण वह मिथ्यादृष्टि है, परन्तु इतना ही नहीं, वह अपने असद् आचरण से दूसरों को भी जिन-प्रवचन के प्रति शंका आदि उत्पन्न करवाने में निमित्त बनता है, जिससे भी उसका मिथ्यात्व प्रगाढ़ होता रहता है।

आचार्य हरिभद्र ने व्यवहारनय के मत का भी स्पष्टीकरण निम्न सैंतालीसवीं एवं अड़तालीसवीं गाथाओं में¹ किया है—

जिस प्रकार निश्चयनय के अनुसार चारित्र का विघात होने पर दर्शन एवं ज्ञान का विघात अवश्य होता है, उसी प्रकार व्यवहारनय के अनुसार अनन्तानुबंधी-कषाय के कारण पृथ्वी को जीव न मानकर उसका आरम्भ करने रूप मिथ्या अभिनिवेश से चारित्र का भी विघात होता है, साथ ही दर्शन और ज्ञान का भी विघात होता है। प्रतिषिद्ध पृथ्वीकाय आदि सम्बन्धी आरम्भ करने से चारित्र का, अश्रद्धा से दर्शन का और अज्ञानता से ज्ञान का घात होता है, किन्तु किसी प्रकार के अभिनिवेश के बिना अनाभोग आदि के कारण विपरीत प्रवृत्ति होने से चारित्र का घात होने पर भी दर्शन और ज्ञान का

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/46 - पृ. सं. - 198

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/47, 48 - पृ. - 198

घात नहीं होता है, क्योंकि चारित्र के विपरीत प्रवृत्ति करने पर भी जीव में पश्चाताप जैसी प्रवृत्ति होने के कारण दर्शन और ज्ञान का स्वरूप रहता है और जो अनाभोग आदि के कारण निषिद्ध आचरण करते हैं, वे पश्चाताप भी करते हैं। पश्चाताप, प्रायश्चित्त और संवेग, दर्शन और ज्ञान के कार्य हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनाभोग से चारित्र का घात होने पर भी दर्शन और ज्ञान का घात नहीं होता है।

इस विषय में हम यह मान सकते हैं कि दोनों पक्ष से की गई बात अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य सिद्ध होती है।

निश्चयनय से आप्तवचन को नहीं मानने के कारण, अर्थात् मन व काया की क्रिया एक समान बताने के कारण मिथ्यात्व की बात कही है, व व्यवहारनय से क्रिया निश्चयनय की है और अध्यवसाय में पश्चाताप होने के कारण चारित्र का घात बताया है, पर वह दर्शन वह दर्शन व ज्ञान का नहीं।

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत साधुधर्मविधि-पंचाशक में भावसाधु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उनपचासवीं गाथा में¹ कहते हैं-

प्रस्तुत अध्ययन में गुरुकुलवास के गुणों का विशद वर्णन किया है कि गुरु किस प्रकार मूलगुणों से युक्त होते हैं, क्योंकि गुरु ने गुरुकुलवास में रहकर अपनी योग्यता को प्रकट कर लिया है, आदि। इस प्रकार, जो गुरुकुलवास-रूप गुणों से युक्त है, जिसमें सुविहीत साधु के वसतिशुद्धि आदि लक्षण भी दिखाई देते हैं तथा औपपातिकसूत्र के अनुसार कमलपत्र आदि के अनुरूप जिसमें अनासक्तभाव है, उसे भावसाधु समझना चाहिए।

सुविहीत साधु के लक्षण निम्न प्रकार से हैं-

- (1) वसतिशुद्धि- वसति का प्रमार्जन आदि सही प्रकार से करना, अर्थात् स्त्री, पशु आदि से रहित वसित में रहना।
- (2) विहारशुद्धि- शास्त्रोक्त मासकल्प आदि विधि से विहार करना।
- (3) स्थानशुद्धि- उचित स्थान में कायोत्सर्ग करना।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/49 - पृ. सं. - 199

- (4) गमनशुद्धि— युगप्रमाण दृष्टि रखकर चलना।
- (5) भाषाशुद्धि— विचार करके बोलना।
- (6) विनयशुद्धि— आचार्य आदि के प्रति विनीत होना।
- (7) कमलपत्र की तरह का अर्थ है— कमलपत्र की तरह निरपेक्ष (निर्लेप) होना।
- (8) कांसे के बर्तनों की तरह स्नेहरहित (मोह-रहित) होना।
- (9) शंख की तरह निरंजन, अर्थात् बिल्कुल श्वेत होना।
- (10) कछुए की तरह इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना,
आदि गुणों से युक्त साधु, भावसाधु कहलाने योग्य है।

इसी प्रकार सूयगडांग, प्रवचन-सारोद्धार पुष्पमाला, धर्मसंग्रह सारोद्धार आदि में भी सुविहीत साधु के लक्षण बताए गए हैं।

साधुधर्म का फल — जो साधु भाव साधुत्व से युक्त है, अर्थात् आप्तवचनों के अनुसार जिस साधु की द्रव्य एवं भावरूप प्रवृत्ति है, वह द्रव्य एवं भाव— दोनों दृष्टि से साधु है। वस्तुतः, भावसाधु ही गुणस्थानों की श्रेणी में चढ़ता हुआ अयोगी-गुणस्थान का स्पर्श कर शैलेषीकरण करता है एवं सिद्धत्व को प्राप्त करता है, अतः साधु अपने स्वरूप को द्रव्य तक ही सीमित नहीं रखे, अपितु भावसाधुत्व में प्रवेश करके भावसाधक के स्वरूप में स्थित हो जाए, जिससे साधुधर्म का फल प्राप्त कर सके। इस फल को साधु कैसे प्राप्त कर सकता है, इसी का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की पचासवीं गाथा में¹ कहा है—

उक्त गुणों वाला भावसाधु स्वयं संविग्न होता है, दूसरों के मन में अपने उपदेश और अच्छे आचरण से संवेग, अर्थात् वैराग्यभाव उत्पन्न करता है, ऐसा साधु दुराग्रहों से रहित होने से जल्दी ही शाश्वत सुख वाले मोक्ष को प्राप्त करता है।

भावसाधुधर्म का फल मोक्ष ही है, क्योंकि मोक्ष-फल पाने के पश्चात् और कोई फल पाना शेष नहीं रहता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 11/50 - पृ. - 200

² प्रवचन-सारोद्धार - आ. नेमीचन्द्र - द्वार- 105 - भाग- 1 - गाथा- 780

प्रवचन-सारोद्धार में भी जात और अजात— ऐसे दो प्रकार के कल्पों का विधान है और इन दोनों में से प्रत्येक के समाप्तकल्प और असमाप्तकल्प, ये दो-दो भेद किए हैं।²

प्रवचन-सारोद्धार के अनुसार— गीतार्थ का विहार जातकल्प और अगीतार्थ का विहार अजातकल्प है। शेष काल में पांच साधुओं के समुदाय में विहार करना समाप्तकल्प और इससे कम साधुओं के समुदाय में रहना असमाप्तकल्प बताया है।

चातुर्मासकाल में सात साधुओं के समुदाय को समाप्तकल्प कहा है और इससे कम साधुओं के समुदाय को असमाप्तकल्प बताया है। असमाप्तकल्पी और अजातकल्पी के अधिकार में वस्त्र, पात्र आदि कोई भी वस्तु नहीं होती है।³

प्रवचन सारोद्धार में जात-अजात की विधि आचार्य हरिभद्र रचित पंचाशक के अनुसार ही है।

प्रवचन-सारोद्धार में विहार के दो स्वरूप बताए हैं— गीतार्थ-विहार और गीतार्थमिश्रविहार। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के विहार जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निषिद्ध हैं।¹

वर्तमान में विहार का स्वरूप अधिकांशतः जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा के विपरीत ही दिखाई देता है।

गुरुकुल का महत्व — गुरुकुलवास में शिष्य सम्यग्ज्ञान का पात्र बनता है, दर्शन और चारित्र में अचल बनता है, सरलता में उत्तरोत्तर वृद्धि करता है, क्रिया में अप्रमादी होता है, तप आदि अनुष्ठानों में रुचि उत्पन्न करता है, गुणानुरागी होता है, गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला होता है, अर्थात् गुरु-आज्ञा का आराधक होता है, गुरुकृपा का भाजन होता है। वास्तव में वही शिष्य प्रज्ञावान् होता है, जो जीवनपर्यन्त गुरु-सान्निध्य का त्याग नहीं करता है और प्रतिदिन गुरु की आज्ञानुसार दैनिक-क्रियाएं करता है। गुरुकुल में रहकर ही आराधक क्षमादि गुणों में वृद्धि कर सकता है, क्योंकि गुरु-सान्निध्य

³ प्रवचन-सारोद्धार — आ. नेमीचन्द्र — द्वार— 105 — भाग— 1 — गाथा— 781, 82

¹ प्रवचन सारोद्धार — आ. नेमीचन्द्र — द्वार— 103 — भाग— 1 — गाथा— 770

के अभाव में उसे भूल बताने वाला कौन होगा ? गुरु, शिष्य की भूलों को देखता है, पर दोषदृष्टि से नहीं, अपितु भूलों को बताने या सुधारने के लिए उन भूलों को देखता है। शिष्य की भूल को देखने व बताने से गुरु एक सफल कुम्भकार के रूप में होते हैं, जो ऊपर से तो चोट मारते हैं और अन्दर उसे सहेजना चाहते हैं। गुरुकुलवास में ही क्षमादि गुण बीज—रूप से अंकुरित ही नहीं होते, अपितु विकसित भी होते हैं, क्योंकि क्षमादि गुणों के बीज को गुरु ही हितजल से सिंचन करते हैं, अन्य नहीं, अतः गुरुकुलवास (गुरुसान्निध्य) में ही क्षमादि गुणों की वृद्धि होती है एवं धर्मरूपी फल की भी प्राप्ति होती है, अर्थात् गुरुकुलवास में ही कर्म—निर्जरा होती है और यही निर्जरा ही तो फल है। जैसे वृक्ष से फल का अलग होना भी उपलब्धि है, वैसे ही आत्मा से कर्म का अलग होना उपलब्धि है। यह उपलब्धि गुरुकुलवास में ही है।

वृक्ष, पौध, माली की देखरेख में ही सुरक्षित रहते हैं एवं विकसित होते हैं, अन्यथा उनका तहस—नहस होना निश्चित है, वैसे ही गुरु की देखरेख में शिष्य के गुणों का विकास होता है, अन्यथा विनाश होता है, क्योंकि गुरुकुल के अभाव में शिष्य का अनर्थ अवश्य है।

सूत्रकृतांग के अनुसार— गुरुकुलवास करने वाले साधक का सर्वांगीण जीवन—निर्माण एवं विकास तभी हो सकता है, जब वह गुरुकुलवास में अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति एवं चर्या को गुरु के अनुशासन में करे। अप्रमत्त होकर अपनी भूल सुधारता हुआ बाह्य—आभ्यन्तर तप, संयम तथा क्षमा, मार्दव आदि श्रमणधर्म का अभ्यास करे। गुरुकुलवासकालीन शिक्षा में अनुशासन, प्रशिक्षण, उपदेश, मार्गदर्शन, अध्ययन, अनुशीलन आदि प्रक्रियाओं का समावेश है।¹

पंचाशक प्रकरण में साधुसामाचारीविधि—

सामाचारी का अर्थ— परस्पर साधुओं के साधुओं का आचार का परिपालन सामाचारी है।

¹ सूत्रकृतांग — गुरुकुलवासी द्वारा शिक्षा—ग्रहणविधि— 585 — पृ. —431, 434

² उत्तराध्ययन — म. महावीर— 26/1/2

उत्तराध्ययन के अनुसार 'सर्व दुःख विमोक्षणि', अर्थात् जो समस्त दुःखों से विमुक्त कराने वाली है, वह सामाचारी है।²

ओघनिर्युक्ति-टीका के अनुसार, 'समाचरणं समाचारः। शिष्टाचरितः क्रियाकलापस्तस्य भावः'— सम्यक् आचरण समाचार कहलाता है, अर्थात् शिष्ट आचारित क्रियाकलाप, उसका भाव है— सामाचारी।³

उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति के अनुसार, मुनियों का पारस्परिक संघीय-व्यवहार सामाचारी है।⁴

आचार्य हरिभद्र ने बारहवें पंचाशक में साधुसमाचारीविधि का वर्णन किया है। साधुसमाचारी का अर्थ है— साध्वाचार के पालन-योग्य नियम। साधुसमाचारी को चवाल-सामाचारी भी कहते हैं, जो दस प्रकार की है। उस सामाचारी का वर्णन करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र प्रथम गाथा में⁵ भगवान् महावीर को नमन करके साधुओं की इच्छाकार आदि दस सामाचारी के महान् अर्थ को संक्षेप में कहूंगा— इस प्रकार की अभिव्यक्ति की है।

आचार्य हरिभद्र अपने इष्ट को नमस्कार करके साधु समाचारीविधि का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए प्रस्तुत पंचाशक की द्वितीय एवं तृतीय गाथाओं में¹ दस सामाचारी के निम्न प्रकारों का उल्लेख करते हैं—

1. इच्छाकार 2. मिथ्याकार 3. तथाकार 4. आवश्यकी 5. निषीधिका 6. आपृच्छना 7. प्रतिपृच्छना 8. छन्दना 9. निमन्त्रणा और 10. उपसम्पदा— सामाचारी के ये दस प्रकार हैं। यहाँ सामाचारी के इन दस भेदों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

1. इच्छाकारी-सामाचारी— आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ गाथाओं में² इच्छाकारी-सामाचारी का प्रतिपादन प्रस्तुत किया है।

³ ओघ निर्युक्तिटीका -

⁴ उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति -

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/1 - पृ. - 201

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/2, 3 - पृ. - 201

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/4, 5, 6 - पृ. - 202, 203

अन्य से कोई कार्य करवाना हो, अथवा अन्य का कोई कार्य करना हो, तो इस प्रकार कहना चाहिए— यदि आपकी इच्छा हो, तो मेरा यह कार्य करें, अथवा आपकी इच्छा हो, तो मैं आपका यह कार्य करूँ, क्योंकि किसी की भी इच्छा के प्रतिकूल काम करना या कराना बलात्कार है, जो आप्तवचनों के विरुद्ध है। तप, रोग आदि विशेष परिस्थितियों में अन्यों से कोई काम करवाना हो, अथवा दूसरों का कोई कार्य करना हो, तो उसकी अनुमति लेना चाहिए। इसमें भी रत्नाधिक से काम नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि वे ज्येष्ठ व पूज्य होते हैं तथा छोटों में भी नवदीक्षित मुनियों का कार्य करना चाहिए, उनसे कार्य नहीं कराना चाहिए, क्योंकि वे नए हैं तथा सामाचारी से अनभिज्ञ हैं। उनका कार्य भी उनसे पूछकर करना चाहिए, जिससे उनकी संयम में स्थिरता एवं सबके प्रति सद्भावना बनी रहे।

प्रस्तुत कथन में मुख्य रूप से चार बातें कही गई हैं—

- (1) अकारण अन्यों से कार्य नहीं करवाना चाहिए, न दूसरों का काम करना चाहिए।
- (2) सामने वालों की इच्छा के बिना दूसरों से काम करवाना या दूसरों का काम करना नहीं चाहिए।
- (3) रत्नाधिक से काम नहीं करवाना चाहिए।
- (14) नवदीक्षित का कार्य करना चाहिए।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि दूसरों से कार्य क्यों नहीं करवाना चाहिए ? जिसका स्पष्टीकरण आचार्य हरिभद्र ने ही कर दिया है कि कार्य करने की शक्ति हो, तो स्वयं कार्य करना चाहिए, दूसरों से कार्य नहीं करवाना चाहिए। दूसरों से नहीं होने योग्य उनके कार्य को स्वयं को करना पड़े, जैसे— वस्त्र सीना आदि, तो वे कार्य भी अन्यों से इच्छाकार के द्वारा अनुमति प्राप्त करके करना चाहिए तथा दूसरे साधुओं को भी मना किए बिना उस कार्य को कर देना चाहिए। ऐसा करने से दोनों की साधुता शुद्ध बनती है, क्योंकि इससे वीर्याचार का पालन होता है। दूसरों का कार्य नहीं कर पाने या कप पाने की स्थिति में इच्छाकार-सामाचारी का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् दूसरे का कार्य न कर सकने की स्थिति हो, तो 'आपके कार्य को करने की मेरी इच्छा तो है, परन्तु

आपका यह कार्य करने में मैं असमर्थ हूँ— ऐसा कहना चाहिए और यदि कार्य करने की क्षमता हो, तो स्वीकार कर लेना चाहिए, अर्थात् कार्य कर देना चाहिए। दूसरों से कार्य करवाने की स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो इच्छाकार—समाचारी का उपयोग करके कार्य करवाना चाहिए, परन्तु रत्नाधिकार से नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि वे पूज्य होते हैं। यदि रत्नाधिक के योग्य कोई कार्य हो, तो उनकी इच्छापूर्वक करवाना चाहिए।

इच्छाकार—समाचारी का पालन करने वाला साधक कभी भी कलह का कारण नहीं बनता है और न स्वयं में कलह उत्पन्न करता है। तीर्थकरों ने इच्छाकार—समाचारी से परस्पर सद्भाव एवं शान्त रहने की प्रक्रिया बताई है कि यदि साधक इच्छाकार स्वयं के लिए व अन्यो के लिए उपयोग करे, तो किसी को भी एक—दूसरे के लिए असद्भाव उत्पन्न नहीं होगा तथा संयम का पालन सुचारु रूप से आगमानुसार होगा तथा लोक में भी निन्दा के पात्र नहीं होंगे, साथ ही लोगों में भी संयम की रुचि उत्पन्न होगी और वे संयमार्थियों की अनुमोदना करते रहेंगे, अतः समुदाय का हर साधक आप्तपुरुषों द्वारा प्रतिपादित इच्छाकार—सामाचारी का उपयोग करें।

इच्छाकार—समाचारी का फल— प्रस्तुत समाचारी के पालन का परिणाम सुखदायक है। इसमें साधक अत्यन्त आनन्द की अनुभूति स्वयं करता है और दूसरों को करवाता है। सबके मन को जीतने का उसका प्रयास सफल होता है। सभी की दृष्टि में वह आदरणीय एवं कृपापात्र बनता है। सभी उसके साथ रहना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा मनुष्य ही क्या, देवगण भी करते हैं, अर्थात् इच्छाकारी—समाचारी से साधक सभी के लिए प्रिय बन जाता है, जो जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है, अतः इच्छाकार—सामाचारी का प्रयोग हर कार्य में करना चाहिए।

इसी सन्दर्भ में, आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की सप्तम गाथा में इच्छाकार—सामाचारी का फल प्ररूपित किया है। इस प्रकार, इच्छाकार—सामाचारी का पालने करने में 'किसी पर बलात्कार नहीं करना चाहिए।' इससे आप्तजनों की आज्ञा का पालन होता है। इस आज्ञा—पालन के निम्न लाभ होते हैं—

1. पराधीनताजनक कर्मों का नाश होता है।
2. उच्च गोत्रकर्म का बन्ध होता है।

3. लोक में जैन-शासन के प्रति लोगों का सम्मान बढ़ता है।¹

साधुओं की मर्यादा — आचार्य हरिभद्र ने अष्टम गाथा में स्पष्ट किया है कि साधुजन अपनी मर्यादा में रहें। बलात् कोई कार्य करना या करवाना साधु का आचार नहीं है, क्योंकि इससे दूसरों को कष्ट होता है और पराधीनताजनक कर्मों का बन्ध होता है। दूसरों से कार्य करवाने या करने की आवश्यकता होने पर नवदीक्षित एवं रत्नाधिक के प्रति इच्छाकार-सामाचारी का प्रयोग करना चाहिए, जिससे परस्पर कलह, अथवा अप्रीति न हो, फिर भी अपवाद-मार्ग में आज्ञा दी जा सकती है व बल का प्रयोग भी किया जा सकता है। यदि शिष्य किसी भी बात को स्वीकार करने में तैयार न हो, अथवा जिन-सिद्धान्त-विरुद्ध या लोक-विरुद्ध कार्य करता हो, तो ऐसी स्थिति में, अर्थात् अपवादमार्ग में शिष्य को कठोर आदेश दिया जा सकता है— यह जिनाज्ञा है, जिसका वर्णन आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की नौवीं गाथा में³ करते हैं—

कल्याण और उपदेश के योग्य साधु को अनुपयोग के कारण स्खलित होने पर उलाहना देना भी उचित है, अर्थात् उसे बलपूर्वक भी संयममार्ग में लाना उचित है। आचार्य हरिभद्र ने आज्ञा एवं बलपूर्वक व्यवहार के साथ भी यह ध्यान रखने का निर्देश दिया है कि इतना अधिक उलाहना भी न दें, जिससे योग्य बनने के स्थान पर अयोग्य बन जाए, साथ ही यह भी बताया गया है कि अयोग्य व्यक्ति को तो उलाहना देना ही नहीं चाहिए। वास्तव में, जो साधक इच्छाकार-सामाचारी के अनुसार परस्पर व्यवहार करता है, तो वह परम शान्ति का अनुभव करता है एवं समुदाय में पूर्ण रूप से शान्ति का वातावरण फैलाता है, जिससे शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

2. मिथ्याचार-सामाचारी— परस्पर व्यवहार में कहीं भी, किसी भी प्रकार से भूल हो जाए, अथवा संयमाराधना करते हुए किसी भी जीव के साथ अपराध हो जाए, अथवा विराधना हो जाए, तो शीघ्र ही मिथ्या दृष्टकृत कर लेना चाहिए, जिससे अपराध नहीं बढ़ते

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/7 — पृ. सं. — 203

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/8 — पृ. सं. — 204

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/9 — पृ. सं. — 204

हैं एवं परस्पर असदभावनाएं एक-दूसरे के प्रति नहीं बढ़ती हैं। इसी मिथ्याकार-सामाचारी का विवेचन आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत अध्याय की दसवीं गाथा में करते हैं-

समिति, गुप्ति आदि रूप चारित्र के व्यापार में प्रवृत्त जीव से यदि कोई छोटी-बड़ी गलती हुई हो, तो यह गलत है- ऐसा जानकर उसका मिथ्या दृष्टकृत देना चाहिए, अर्थात् उससे क्षमा-याचना करना चाहिए, क्योंकि मिच्छामि दुक्कडं देने से भावों में सरलता का वास होता है और यह सरलता ही मुक्ति का प्रथम सोपान है। सरलता के अभाव में जीव की आध्यात्मिक-प्रगति रुक जाती है, अतः सरलता का होना आवश्यक है और यह सरलता का प्रवेश हमारे भीतर तब ही हो सकता है, जब हम बड़ी से बड़ी अथवा छोटी से छोटी भूल करने पर सामने वाले से तुरन्त 'मिच्छामिदुक्कडं' कर लेते हैं। यही बात आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की एकादश गाथा में² प्रस्तुत करते हैं-

यह मेरी गलती थी, ऐसा गलती फिर नहीं करूंगा- ऐसे तीव्र और शुभभाव से मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिए, क्योंकि मिथ्यादुष्टकृत देने से कर्मक्षय होता है।

यहाँ तीव्र शब्द का अभिप्राय यह है कि जितने दुर्भावपूर्वक भूल की हो, उससे अधिक शुभभाव से मिथ्या दुष्टकृत देना चाहिए, तभी कर्मक्षय होता है। ऐसा तीव्र भावोत्कर्ष मिच्छामिदुक्कडं पद का अर्थ जानने पर होता है।

आचार्य हरिभद्र ने मिच्छामिदुक्कडं पद का अर्थ प्रस्तुत पंचाशक की द्वादश और त्रयोदश गाथाओं में¹ प्रस्तुत किया है-

मिच्छामिदुक्कडं- पद में मि, च्छा, मि, दु, क्क और डं- ये छः अक्षर हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं-

मि - मृदुता (नम्रता)।

च्छा - दोषों का छादन करना (फिर नहीं होने देना)

मि - मर्यादा में।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/10 - पृ. - 204

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/11 - पृ. - 205

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/12, 13 - पृ. - 206

- दु — दुष्कृत करने वाली आत्मा की निन्दा करता हूँ।
 कक — मैंने पाप किया, इसका स्वीकार करना।
 डं — उपशम से पाप को लांघ जाता हूँ।

इसका सामूहिक अर्थ इस प्रकार है—

काया और भाव से नम्र बनकर भूल फिर से नहीं करूंगा— ऐसे भाव से युक्त होकर मैं दुष्कृत करने वाली आत्मा की निन्दा करता हूँ एवं मैंने जो पाप किया, उसे स्वीकार करता हूँ और उपशमभाव से पूर्वकृत पापों से रहित बन जाता हूँ— यह मिच्छामिदुक्कड़ पद के अक्षरों का संक्षिप्त अर्थ है।

3. तथाकार—सामाचारी—

तथाकार का अर्थ होता है— जैसा कहा गया, वैसा करना, अर्थात् आदेश को 'तहत्ति' कहकर स्वीकार करना चाहिए। जो गुरु—आज्ञा में प्रवृत्त होता है, वह कभी भी संयम से स्खलित नहीं होता है तथा मिथ्यात्व के दोषों से स्वयं को बचा लेता है, अतः प्रज्ञाशील शिष्य को सदा गुरु—आज्ञा को 'तहत्ति' कहकर स्वीकार करते रहना चाहिए। इसी प्रकार का निर्देश आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की चतुर्दश गाथा में¹ दिया है—

कल्प और अकल्प में पूर्ण ज्ञान वाले, पांच महाव्रतों का यथोचित पालन करने वाले तथा संयम और तप से परिपूर्ण मुनियों के सम्मुख निःशंक होकर तथाकार करना चाहिए, अर्थात् 'आप जो कहते हैं, वह यथार्थ है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ—' इसके सूचक 'तहत्ति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। तहत्ति शब्द का प्रयोग कहाँ करना चाहिए, इसका भी निर्देश आचार्य हरिभद्र निम्न पन्द्रहवीं गाथा में² देते हैं—

सूत्र की वाचना सुनते समय, आचार—सम्बन्धी उपदेश के समय और सूत्रार्थ के व्याख्यान के समय गुरु के सम्मुख निःशंक रूप से तहत्ति कहना चाहिए।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/14 — पृ. — 206

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/15 — पृ. — 206

प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि उक्त प्रकार के गुरु के अभाव में हो, तो क्या करना चाहिए, अर्थात् तहत्ति कैसे कहना चाहिए ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत सोलहवीं गाथा में³ किया है—

पूर्वोक्त ज्ञान आदि गुणों से रहित गुरु यदि कुछ कहे, तो स्थिति को जानकर तहत्ति कहना भी चाहिए और नहीं भी कहना चाहिए। गुरु के जो वचन युक्तियुक्त हों, उनके लिए तहत्ति कहना चाहिए, जो युक्तियुक्त न हों, उनके लिए नहीं कहना चाहिए, अथवा संविग्न-पाक्षिक, अथवा गीतार्थ युक्तियुक्त या युक्तिरहित कुछ भी कहे, तो तहत्ति कहना चाहिए, किन्तु अगीतार्थ के वचन में तहत्ति नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानता के कारण असत्य वचन भी कह सकता है। यदि गीतार्थ की आज्ञा को तहत्ति कहकर स्वीकार नहीं किया जाता है, अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया जाता है, तो शिष्य को मिथ्यात्व का भाजन बनना पड़ता है, क्योंकि गुरु जो आज्ञा दे रहे हैं, वह परमात्मा के वचन हैं, यदि उन सत्य जिन-वचनों का नहीं मानना ही मिथ्यात्व है। यही बात आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक के अन्तर्गत सप्तदश गाथा में⁴ वर्णित की है—

संविग्न (भवभीरु) गुरु यह जानता है कि दुर्भाषित आगमविरुद्ध उपदेश देने से कटु फल मिलता है, जैसा मरीचि के भव के मिथ्या उपदेश का फल भगवान् महावीर को मिला था, इसलिए वह कभी भी आगमविरुद्ध उपदेश नहीं देते हैं। अतएव संविग्न और संविग्नपाक्षिक गुरु के वचन के लिए निःशंक होकर 'तहत्ति' कहना चाहिए। उनके लिए तहत्ति न कहना मिथ्यात्व है।

प्रस्तुत सामाचारी का पालन करने वाला साधक कभी भी संयम के विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं कर सकता है तथा हर कार्य करने में निश्चिन्त रहता है, क्योंकि जो कार्य वह कर रहा है, वह गुरु की आज्ञा से ही कर रहा है। यदि उसमें गलती भी हो जाए, तो उसके निवारण की जिम्मेदारी गुरु पर ही होती है, अतः हर समय गुरु की आज्ञा को 'तहत्ति' कहकर ही स्वीकार करते रहना चाहिए।

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/16 - पृ. - 206

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/17 - पृ. - 207

4. आवश्यकी-सामाचारी का स्वरूप- साधु के लिए हर क्षेत्र की मर्यादा नियत है। साधु अकारण कहीं भी भ्रमण न करे, अर्थात् बिना कार्य अपने स्थान से बाहर नहीं जाए। आवश्यक कार्य होने पर ही उसे 'आवस्सही' शब्द का प्रयोग करते हुए बाहर जाना चाहिए। केवल आहार, विहार, निहार और जिनालय जाने आदि आवश्यक कार्यों के लिए ही गमनागमन करना चाहिए, अन्यथा एक स्थल में ध्यान, स्वाध्याय, आदिरूपचारित्र की आराधना करना चाहिए। इसी बात को आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की अष्टादश गाथा में¹ कहा है-

ज्ञानादि कार्य के लिए गुरु की आज्ञा से आगमोक्त ईर्या-समिति आदि का विधिपूर्वक पालन करते हुए वसति से बाहर निकलते हुए साधु की आवश्यकी शुद्ध जानना चाहिए, क्योंकि उसमें आवश्यकी शब्द का अर्थ घटित होता है।

किस कार्य के लिए बाहर जाना चाहिए, इसका भी स्पष्ट उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने उन्नीसवीं गाथा में² किया है-

यहाँ साधु के जो कार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साधक हों, वे कार्य तथा भिक्षाटन आदि के कार्य आवश्यक कार्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कार्य अकार्य हैं, इसलिए ज्ञानादि के साधक कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए बाहर जाने वाले साधु की आवश्यकी शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें आवश्यकी शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है।

निष्प्रयोजन बाहर जाने पर साधु आवस्सहि शब्द का प्रयोग करता है, तो उसे मिथ्याभाषण का दोष लगता है, जो कर्मबन्ध का हेतु है, क्योंकि आवस्सहि कहने का तात्पर्य इससे है कि मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ, पर जब निष्कारण बाहर जा रहा हो और आवस्साही शब्द कहता हो, तो यह मिथ्या भाषण हुआ, जो साधु के दूसरे व्रत को खण्डित करता है, अतः साधु निष्कारण बाहर नहीं जाए। निष्कारण बाहर जाने का निषेध करने का यह भी कारण है कि इससे संयम-विराधना, स्वाध्याय में

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/18 - पृ. - 207

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/19 - पृ. - 207

व्याघात तथा इसमें कर्मबंधरूप दोषों का आवागमन होता है, अतः निरतिचार संयम पालन करने का इच्छुक साधु गुरु-आज्ञा में रहकर ही प्रवृत्ति करे, जिससे संयम-आराधना, स्वाध्याय आदि सुचारु रूप से हो सके तथा गमनागमन से होने वाले कर्म-बन्धन आदि दोषों से बचा जा सके।

यही बात आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की बीसवीं से इक्कीसवीं गाथाओं में¹⁰⁶ वर्णित करते हैं—

निष्कारण बाहर जाने वाले साधु की आवश्यकी निरर्थक होने से शब्दोच्चारण मात्र है। मात्र शब्दोच्चारणरूप आवश्यकी मृषावाद होने के कारण कर्मबन्ध का कारण है। यह तथ्य निपुण पुरुषों को आगम से जानना चाहिए। इसे सामायिक-निर्युक्ति में विस्तार से कहा गया है, जो इस प्रकार से है—

जिस साधु के कायादियोग प्रतिक्रमण आदि सभी आवश्यकों से युक्त हैं, उस साधु की गुर्वाज्ञापूर्वक बाहर जाते समय आवश्यकी शुद्ध है, क्योंकि वैसे साधुओं की प्रवृत्ति में आवश्यकी शब्द का अर्थ घटित होता है। इसके विपरीत साधु की आवश्यकी अशुद्ध है, मात्र शब्दोच्चारणरूप है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति में आवश्यकी शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है।

5. नैषधिकी-सामाचारी— नैषधिकी का अर्थ होता है— निषेध करना, त्याग करना, अतः प्रस्तुत सामाचारी आवश्यकी-सामाचारी के अनुरूप ही है। जिस प्रकार—सेवा, आहार, औषध आदि के लिए वसति (उपाश्रय) से बाहर निकलते समय आवस्सहि शब्द का उच्चारण किया, उसी प्रकार आवश्यक कार्य पूर्ण कर उपाश्रय में प्रवेश करते समय निसीहि शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिसका तात्पर्य यह है कि मैं आवश्यक कार्य पूर्ण करके आ गया हूँ, अब आवागमन की क्रिया का त्याग करता हूँ, निषेध करता हूँ। इस प्रकार कहने पर जिनाज्ञा का पालन होता है एवं गुरु-आज्ञा का सम्मान होता है तथा गुरु-आशातना के दोष से भी बच जाते हैं, क्योंकि उपाश्रय में प्रवेश करते समय निसीहि नहीं बोलने पर हैं, तो गुरु की अवहेलना होती है, क्योंकि गुरु को उसके आगमन का ध्यान नहीं होता है और यही अवहेलना गुरु की आशातना है।

¹⁰⁶ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/20, 21 - पृ. सं. - 208

यही बात आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण के साधु-सामाचारीविधि पंचाशक की बाईसवीं, तेईसवीं तथा चौबीसवीं गाथाओं में¹⁰⁷ कही है-

जिस प्रकार ज्ञानादि कार्य के लिए वसति से बाहर निकलते समय आवश्यक-सामाचारी है, उसी प्रकार देव-गुरु के अवग्रह, अर्थात् स्थान में प्रवेश करते समय निषीधिका-सामाचारी है, अर्थात् देव-गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय अशुभ व्यापार के त्याग का सूचक 'निसीहि' शब्द बोलना चाहिए। अशुभ व्यापार का त्याग करने पर ही उस 'निसीहि' शब्द का अर्थ घटित होता है। अशुभ व्यापार का त्याग नहीं करने वाले के लिए निषीधिका (निसीहि) शब्द संगत नहीं है, क्योंकि उसमें निसीहि शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है, अतः अवग्रह में प्रवेश के समय अशुभ व्यापार का त्याग करना और उसके सूचक 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करना नैषेधिकी है।

गुरु की अवग्रहभूमि का परिभोग हमेशा ऐसी सावधानीपूर्वक किया जाए कि आशातना न हो, तभी ही वह अभीष्ट फलदायी होता है, अन्यथा फलदायी नहीं होता है तथा कर्मबन्ध का कारण बनता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गुरु जहाँ बैठे हों, उस स्थान के चारों ओर शरीर-प्रमाण गुरु का अवग्रह है और देव का अवग्रह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। उत्कृष्ट अवग्रह चारों ओर साठ हाथ-परिमाण मध्यम नौ से लेकर उन्साठ हाथ के परिमाण और जघन्य नौ हाथों से भी कम परिमाण का होता है।

आशातनारहित सावधानीपूर्वक गुरुदेव के अवग्रह का परिभोग इष्ट फलदायी होता है, इसलिए जब सुश्रावक भी समवसरण में जाते हैं, तब महेन्द्रध्वज, चामर आदि को तथा जब मंदिर में जाते हैं, तब शिखर, कलश आदि को देखते ही अपने हाथी, अश्व या पालकी से नीचे उतर जाते हैं- ऐसा सुना जाता है, इसलिए साधु को भी गुरु-अवग्रह में जाते समय सावधानी रखना चाहिए।

¹⁰⁷ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/22, 23, 24 - पृ. सं. - 208, 209

निसीहि भावपूर्वक होना चाहिए, क्योंकि कोई भी क्रिया करें, तो उसमें भावों की प्रमुखता होती है। भाव के अभाव में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ क्रिया भी उसी प्रकार व्यर्थ हो जाती है, जिस प्रकार अभव्य जीव दीक्षा लेकर गौतम स्वामी जैसा चारित्र पालता है, पर भाव के अभाव में श्रेष्ठ चारित्र भी मुक्ति का कारण नहीं बनता है। यही बात योगी आनन्दघन ने अनन्तनाथ भगवान् की स्तुति करते समय कही है—

देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहे ।

किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ॥

शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करि,

छारपर लीपणो तेह जाणो ॥¹

आचार्य हरिभद्र ने भी प्रस्तुत पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत साधुसामाचारी-विधि पंचाशक में नैषेधिकी-सामाचारी का वर्णन करते हुए पच्चीसवीं गाथा में भाव-प्रधान निसीहि के विषय में स्पष्ट किया है—

जो साधु सावद्ययोग से रहित है, उसी की निषेधिका भावपूर्वक होती है। सावद्ययोग सहित साधु की 'निसीहि' शब्दोच्चारण मात्र है।

6. आपृच्छना-सामाचारी- रत्नत्रय की साधना से कोई भी कार्य गुरु को पूछकर करना चाहिए, चाहे कार्य छोटा हो या बड़ा, परन्तु गुरु से बिना पूछे यदि कोई भी कार्य किया जाता है, तो वह स्वच्छंद-वृत्ति है। स्वच्छंद-वृत्ति साधु के लिए उन्मार्ग की द्योतक होती है, अतः हर कार्य गुरु को पूछकर ही करना चाहिए, जिससे किसी की भी दृष्टि में हम गलत एवं स्वच्छंद नहीं होंगे ? स्वच्छंद साधु कर्मबन्धन के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता है, इसी वास्तविकता को आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में¹ वर्णित किया है—

¹ सज्जनजिनवंदनविधि - श्री आनन्दघनजी - अनन्तनाथस्तवन - पृ. - 177

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/25 - पृ. - 210

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/26 - पृ. - 210

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/27, 28, 29 - पृ. - 210, 211

ज्ञान आदि से सम्बन्धित कार्य गुरु, अथवा गुरु के समान स्थविर आदि से पूछकर करना आपृच्छना-सामाचारी है। ऐसा गुरु की आज्ञापूर्वक कार्य करना श्रेयस्कर और कर्म-निर्जरा का हेतू है।

कोई भी कार्य गुरु से पूछकर करने पर वह श्रेयस्कर क्यों होता है ? जब किसी भी कार्य को करने में हमारे पास बुद्धि-वैभव है, फिर पूछने की क्या जरूरत है ? अपने मन से कोई काम क्यों नहीं कर सकते हैं ? इस पर हरिभद्र कहते हैं कि जहाँ यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरे पास बुद्धि-बल है, फिर मुझे गुरु को पूछने की क्या आवश्यकता है, छोटे-छोटे कार्यों को पूछना मूर्खता है। यह विचार ही अहंकार का प्रतीक है और अहंकार कभी भी किसी के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसी कारण निर्देश दिया गया है कि सर्व कार्य गुरु से पूछकर ही करना चाहिए। गणधर गौतम स्वामी जैसे, जो चार ज्ञान से युक्त थे, वे भी कोई कार्य गुरु से पूछे बिना नहीं करते थे, अतः गुरु से पूछकर कार्य करना ही श्रेयस्कर माना गया है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की सत्ताइसवीं, अट्ठाईसवीं एवं उन्तीसवीं गाथाओं में किया है।

गुरु अथवा गुरु को मान्य स्थविर आदि वस्त्रप्रक्षालनादि कार्यों की विधि के ज्ञाता होते हैं। वस्त्रप्रक्षालनादि करते समय उनसे इसकी विधि जानने को मिलती है। वस्त्रप्रक्षालनादि की विधि सवयं जान लेने से उस विधि से कार्य करने पर जीवरक्षा होती है। जीवरक्षा होने से गुरु और जिन के प्रति विश्वसनीयता बढ़ती है। ऐसी विश्वसनीयता शुभभाव है। कार्य में प्रवृत्ति करने वाले का शुभभाव मंगलरूप गुरु से पूछकर कार्य करने से अच्छी तरह कार्यसिद्धि होने पर वर्तमान भव में पापकर्मों का नाश होता है और पुण्य का बन्ध होता है तथा आगामी भव में शुभगति और सद्गुरु का लाभ होता है। इससे वांछित कार्यों का प्रशस्त अनुबन्ध होता है और इसी प्रकार अन्य सभी कार्यों की सिद्धि होती है।

गुरु या गुरु के समान स्थविर से पूछे बिना कार्य करने पर उपर्युक्त सभी लाभों के विपरीत परिणाम होता है, इसलिए साधु को प्रत्येक कार्य करने से पूर्व आपृच्छना, अर्थात् गुरु की अनुमति प्राप्त करना चाहिए। उन्मेष, निमेष, श्वासोच्छ्वास

आदि सामान्य कार्य बार-बार पूछना असम्भव होने के कारण बहुवेलादि के आदेश से पूछ लिया जाता है।

7. प्रतिपृच्छा—सामाचारी— प्रतिपृच्छा से तात्पर्य है कि गुरु ने जिस कार्य का आदेश दिया है, उस कार्य को पुनः पूछकर करना चाहिए, क्योंकि ऐसी सम्भावना बन सकती है कि गुरु ने पूर्व में जब कोई कार्य करने का आदेश दिया था, उस समय वह कार्य हितकर अथवा लाभदायक होगा ? अथवा वह कार्य अन्य किसी से करवा लिया होगा ? अथवा अब उस कार्य को नहीं करवाना होगा ? या वही कार्य इस समय करना अहितकर भी हो सकता है, अतः पुनः पूछकर प्रतिपृच्छा—सामाचारी का पालन करना चाहिए। यही बात आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में साधुसामाचारीविधि—पंचाशक की तीसवीं से बत्तीसवीं तक की गाथाओं में¹ इस प्रकार कही है—

गुरु के द्वारा पहले कहे गए कार्य को प्रारम्भ करते समय 'आपने जो कार्य पहले करने को कहा था, उसे मैं करने जा रहा हूँ— ऐसा फिर से पूछना प्रतिपृच्छा—सामाचारी कहलाता है।

शिष्य के द्वारा पुनः पूछे जाने पर गुरु दूसरा कार्य करने को कह सकते हैं, या पहले से कहे हुए कार्य का निषेध कर सकते हैं, या उस कार्य को बाद में करने को कह सकते हैं, या दूसरा शिष्य करेगा— ऐसा कह सकते हैं, या दूसरे साधु ने उसे कर लिया है— ऐसा कह सकते हैं, या पहले कहे हुए कार्य के विषय में कुछ नई सूचनाएँ दे सकते हैं। प्रतिपृच्छा करने के लिए ऐसे अनेक कारण होते हैं।

कहे हुए कार्य को करने हेतु जाते समय साधु को यदि अपशकुन के कारण वापस आना पड़े, तो भी उसे इस विधि का प्रयोग करना चाहिए। एक बार वापस आना पड़े, तो आठ उच्छ्वास (एक नवकार) के बराबर कायोत्सर्ग करना चाहिए। दूसरी बार वापस आना पड़े, तो सोलह उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिए। तीसरी बार वापस आना पड़े, तो सहयोगी के रूप में बड़े साधु को साथ ले जाना चाहिए। तीन बार वापस आना पड़े, तो फिर से गुरु से पूछना चाहिए। यही प्रतिपृच्छा—सामाचारी है।

¹ पंचाशक—प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/30, 31, 32 – पृ. – 211, 212

प्रतिपृच्छना—सामाचारी के सम्बन्ध में जिन—आचार्यों का मतभेद है, उस मतान्तर का प्रकाशन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की तैत्तिरीय गाथा में¹ किया है—

कुछ आचार्यों का कहना है कि पहले गुरु ने जिस काम को करने से मना कर दिया था, उस काम को करने की आवश्यकता पड़ने पर गुरु से फिर से पूछना प्रतिपृच्छना—सामाचारी है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि गुरु ने जिस काम को अनुचित हाने के कारण मना कर दिया, उसे करने के लिए फिर से पूछने में दोष क्यों नहीं है ?

समाधान— इसमें दोष नहीं है, क्योंकि धर्मव्यवस्था उत्सर्ग और अपवाद से है। उत्सर्ग से जो कार्य पहले करने योग्य नहीं था, वह परिस्थिति—विशेष में करने लायक हो सकता है, इसलिए पहले मना किए गए कार्य को करने के लिए भी गुरु से फिर से पूछा जा सकता है, इसमें दोष नहीं है।

8. छन्दना—सामाचारी— आहार, वस्त्र, पात्र आदि लाने के बाद गुरु एवं सभी साधुओं को भावपूर्ण नम्र विनती करना कि मैं आहार आदि लेकर आया हूँ, आप इसे ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत करें। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत साधुसामाचारीविधि पंचाशक की चौत्तीसवीं गाथा में² छन्दना—सामाचारी के विषय में इस प्रकार कथन किया है—

सर्वप्रथम भिक्षा में लाए हुए भोजनादि हेतु गुरु की आज्ञा से बाल, ग्लान, आदि को योग्यता के अनुसार निमन्त्रण देना छन्दना—सामाचारी है। मंडली में भोजन नहीं करने वाले विशिष्ट प्रकार के साधु को ही इस सामाचारी का पालन करना होता है।

किस प्रकार के साधुओं को छन्दना—सामाचारी करना चाहिए, इसका प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत साधुसामाचारीविधि की पैंतीसवीं गाथा में¹ किया है—

जो आत्मलब्धिक हो, जो अट्ठम आदि विशिष्ट तप करता हो, पारणा करने वाला हो, जो असहिष्णुता के कारण मण्डली से अलग भोजन करने वाला हो, उस साधु

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/33 — पृ. — 212

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/34 — पृ. — 213

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/35 — पृ. — 213

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/36 — पृ. — 213

के लिए छन्दना-सामाचारी का पालन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दूसरे साधु की मण्डली में ही एकाशन करते हैं, इसलिए उनके पास पहले से लाया हुआ भोजन न होने से उन्हें छन्दना-सामाचारी का पालन आवश्यक नहीं होता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया है कि आत्मलब्धिक आदि साधुओं को छन्दना-सामाचारी का पालन क्यों करना होता है ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत साधुसामाचारीविधि पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में प्रस्तुत किया है।

दूसरे साधुओं की ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती हो, तो आत्मलब्धिक आदि साधुओं को यह छूट है कि वे अपनी आवश्यकता से अधिक आहार लाएं। निमन्त्रण करके देने और लेने से दोनों को अभीष्ट-फल की प्राप्ति होती है, किन्तु वे दोनों अति गम्भीर और धैर्यवान् होने चाहिए।

छन्दना सामाचारी के पालन करने वालों को अप्रतिपाति-लाभ की प्राप्ति होती है, अर्थात् कर्म-निर्जरा अत्यधिक होती है, जिसका वर्णन आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत साधुसामाचारीविधि-पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा में³ किया है।

छन्दना करने से कोई साधु आहार ग्रहण करे, तो भी निर्जरा होती है और ग्रहण न करें, तो भी निर्जरा होती है। इसी प्रकार, छन्दना न करने से कोई साधु आहार ले, तो भी कर्मबन्ध होता है और न ले, तो भी। इसमें भाव कारण है। शास्त्रानुसार, शुद्धभाव निर्जरा का कारण है और अशुद्ध भावबन्ध का कारण है, इसलिए छन्दना करने से साधु आहार ले या न लें, लेकिन यदि उसका भाव शास्त्रानुसार शुद्ध है, तो निर्जरा होगी और अशुद्ध है, तो बन्ध होगा।

9. निमन्त्रण-सामाचारी- आहार हेतु जाने के पूर्व साधुओं को निवेदन करना कि मैं आहार लेने जा रहा हूँ, आपके लिए भी लेकर आऊंगा, अथवा कोई साधु सेवा आदि में लगे हों, तो भी निमन्त्रण दें कि मैं आप लोगों के लिए आहार ले आता हूँ। इस

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/37 - पृ. - 214

सामाचारी के स्वरूप का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की अड़तीसवीं गाथा में¹ किया है।

स्वाध्याय आदि में मन की एकाग्रता भंग हो, तो साधुओं को वस्त्र-परिकर्म आदि कार्य करना चाहिए। यदि ऐसा कोई काम शेष न हो, तो गुरु से पूछकर अन्य साधुओं को उनके लिए आहार लाने के लिए निमन्त्रण देना चाहिए, अर्थात् उनसे कहना चाहिए कि मैं आप लोगों के लिए आहार लेने जाता हूँ।

साधुओं को वैयावृत्त आदि किसी न किसी कार्य में लगे रहना चाहिए, जिससे अप्रमत्तदशा बनी रहे, क्योंकि प्रमादपूर्ण जीवन आत्मा का शत्रु है। प्रमाद ही अनन्त संसार है, प्रमाद ही दुःखों का अम्बार है, प्रमाद ही जन्म-मरण की प्रक्रिया है, प्रमाद ही हिंसा है और यही हिंसा नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियों का द्वार है, अतः साधक हर समय शुभ एवं शुद्ध प्रवृत्ति के मार्ग में बढ़ता रहे, इसी उद्देश्य को आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत साधुधर्मविधि-पंचाशक की उनचालीसवीं एवं चालीसवीं गाथाओं में² निम्नानुसार स्पष्ट किया है—

मनुष्यभव, जिनवचन एवं धर्म में पुरुषार्थ दुर्लभ है, इसलिए इन तीनों को पाकर धर्मकार्य में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

साधुओं की कार्य मणियों के उत्पत्तिस्थान में गए हुए निर्धन के रत्नग्रहण के समान है। जिस प्रकार रत्न की खान में गए हुए निर्धन की रत्नों को लेने की इच्छा अविच्छिन्न होती है, उसी प्रकार चारित्रसम्पन्न साधु की वैयावृत्त आदि करने की सतत इच्छा होती है। साधुओं के कर्तव्यों का फल भविष्य में मिलता है, जबकि रत्नों का फल तो वर्तमान में मिलता है, किन्तु वर्तमान से भविष्य में अधिक होता है, इसलिए वर्तमानकालिक रत्नों की प्राप्ति से अधिक महत्वपूर्ण भविष्यकालिक साधुकर्तव्य है। साधुकर्तव्यों के साधन (मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, आर्यजाति आदि) अनित्य हैं— यह स्पष्टतया जानना चाहिए। किसी कारणवश गुरु को पूछे बिना निमन्त्रित कर दिया हो, तो क्या करें

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/38 — पृ. — 214

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/39, 40 — पृ. — 214

? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की साधुसामाचारीविधि पंचाशक की इकतालीसवीं गाथा में¹ किया है--

गुरु से पूछे बिना, गुरु को छोड़कर अन्य साधुओं को निमन्त्रण दे दिया हो, तो आहार लाने के पहले गुरु से अवश्य पूछ लेना चाहिए। इससे बाकी के साधुओं को किया गया निमन्त्रण निर्दोष हो जाता है।

प्रश्न उपस्थित किया गया कि यदि निमन्त्रण के बाद गुरु से पूछने पर वे यदि लाने की आज्ञा न दें, तो निमन्त्रण निष्फल हो जाएगा, ऐसी स्थिति में हम निर्दोष कैसे रहेंगे ?

समाधान- आहारादि दानरूप वैयावृत्य बाह्य से नहीं करने पर भी भाव से किया है। पुनः, गुर्वाज्ञा पालन में भी महान् लाभ है। गुरु भी अनावश्यक मना नहीं करेंगे, वे महत्वपूर्ण कारण होने पर ही मना करेंगे, इसलिए निमन्त्रण के पश्चात् भी गुरु से पूछने से वह निमन्त्रण निर्दोष हो जाता है।

पुनः, प्रश्न उपस्थित होता है कि गुरु को पूछने पर यदि गुरु ने मना किया हो, तो जिन मुनियों को आहार हेतु निमन्त्रण दिया गया, उनका क्या होगा ?

समाधान- जिन्हें निमन्त्रण दिया है, उन्हें गुरु-आज्ञा बता देना चाहिए कि गुरु ने मुझे आहार लाने के लिए मना कर दिया, अतः मुझे क्षमा करें।

10. उपसम्पदा-सामाचारी- ज्ञान, विनय, चारित्र और तप आदि की वृद्धि, रक्षण, पालन और विशेष संवर्द्धन के लिए अन्य गच्छ के आचार्य की निश्चास्वीकृत करना उपसम्पदा कहलाती है, अर्थात् स्वगच्छ में विशिष्ट ज्ञान, ध्यान, योग आदि प्रक्रिया कराने के लिए कोई न हो, तो ही अन्य गच्छ में जाना चाहिए, उपसम्पदा लेनी चाहिए, अन्यथा नहीं। यदि अनबन के कारण, स्वेच्छा से, स्वछंदता से जाते हों, तो यह अनुचित है, अतः विशिष्ट साधना के लिए स्वगच्छ का त्याग कर उपसम्पदा ग्रहण करें, अन्यथा स्वगच्छ का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि उपसम्पदा ग्रहण की हो, तो विशिष्ट साधना के

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/41 - पृ. - 215

विशेषज्ञ होने के पश्चात् पुनः स्वगच्छ में आ जाएं, जिससे स्वयं की, गुरु की, समुदाय की अवहेलना तथा निन्दा न हो।

भेद—प्रभेद—रूप में इस सामाचारी की चर्चा आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की बयालीसवीं तथा तिरालीसवीं गाथाओं में¹ की है—

ज्ञानादि के लिए गुरु से भिन्न आचार्य के पास जाकर आत्मसमर्पणपूर्वक उनके पास रहना उपसम्पदा—सामाचारी है। इसके तीन प्रकार बताए गए हैं— (1) ज्ञान—सम्बन्धी (2) दर्शन—सम्बन्धी (3) चारित्र—सम्बन्धी। ज्ञान—सम्बन्धी और दर्शन—सम्बन्धी उपसम्पदा भी पुनः तीन—तीन प्रकार की है तथा चारित्र—सम्बन्धी उपसम्पदा दो प्रकार की है। ज्ञान—सम्बन्धी उपसम्पदा के सूत्र—सम्बन्धी, अर्थ—सम्बन्धी और सूत्रार्थ—सम्बन्धी— ये तीन भेद हैं। इन तीनों भेदों के परावर्तन, अनुसन्धान और ग्रहण— ये तीन उपभेद हैं। इस प्रकार, ज्ञान—सम्बन्धी उपसम्पदा के कुल (3 x 3 = 9) नौ भेद हैं। दर्शन—प्रभावक सम्मतितर्क आदि ग्रन्थों की अपेक्षा से ये ही नौ भेद दर्शन अर्थात् श्रद्धान—सम्बन्धी उपसम्पदा के भी हैं।

सूत्र— अर्थसूचक वाक्य, अर्थ— सूत्र का व्याख्यान, परावर्तन— भूले हुए सूत्रादि को याद करना, अनुसन्धान— किसी ग्रन्थ के अमुक भाग के विस्मृत/नष्ट हुए भाग को याद करके उस स्थल पर जोड़ना, ग्रहण— नए सूत्र का अध्ययन करना।

चारित्र—सम्बन्धी उपसम्पदा के वैयावृत्य और तप— ये दो भेद हैं। इन दोनों भेदों के कालपरिमाण की अपेक्षा से यावत्कथिकी और इत्वरकालिका— ये दो भेद हैं। वैयावृत्य और तप के लिए अन्य आचार्य के पास आजीवन रहना यावत्कथिकी और थोड़े समय के लिए रहना इत्वरकालिका—उपसम्पदा है।

उपसम्पदा की विधि— यह अन्य आचार्य की निश्रा में जाने की विधि है। उपसम्पदा कैसे होती है और किस विधि से उपसम्पदा ग्रहण करना चाहिए, इसका

¹ पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/42, 43 - पृ. सं. - 216

सारपूर्ण विवरण आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के साधुसामाचारी-विधि पंचाशक की चवालीसवीं गाथा में¹ किया है।

(1) सन्दिष्टः सन्दिष्टस्य— गुरु की आज्ञा से गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के पास जाना।

(2) सन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य— गुरु की आज्ञा से गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के अलावा अन्य आचार्य के पास जाना।

(3) असन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य— गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के पास गुरु की आज्ञा के बिना जाना, अर्थात् गुरु ने कुछ समय के लिए जाने से मना किया हो, फिर भी जाना।

(4) असन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य— गुरु की आज्ञा के बिना गुरु द्वारा निर्दिष्ट आचार्य के अतिरिक्त अन्य आचार्य के पास जाना।

इसमें प्रथम विकल्प शुद्ध है, क्योंकि इससे श्रुतज्ञान का विच्छेद नहीं होता है।

परावर्तन आदि पदों का अर्थ— आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की पैतालीसवीं तथा छियालीसवीं गाथाओं में उपसम्पदा के भेदों के परावर्तन आदि भेदों की व्याख्या की है।

पूर्वअधीत श्रुत के विस्मृत हो जाने पर पुनः याद करना 'परावर्तना' है। पहले अध्ययन किए हुए ग्रन्थ का कोई भाग यदि विस्मृत हो गया हो, या अध्ययन करते समय कोई भाग छूट गया हो, तो उसका फिर से अध्ययन करके उसे उस श्रुत के साथ जोड़ देना 'अनुसन्धान' है।

जिसका अध्ययन नहीं किया हो— ऐसे नए श्रुतज्ञान या दर्शन-प्रभावक ग्रन्थों का सूत्र, अर्थ या सूत्रार्थपूर्वक अध्ययन करना 'ग्रहण' है। चारित्र के वैयावृत्य-सम्बन्धी और तप-सम्बन्धी— ये दो भेद हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/44 — पृ. — 216

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/45, 46 — पृ. — 217

अपने गण को छोड़कर दूसरे गण में ज्ञानार्जन के लिए जाने की बात तो ठीक है, किन्तु वैयावृत्य और तप के लिए दूसरे गण में क्यों जाना चाहिए ? इसके निम्न कारण हैं—

- (1) अपने गच्छ के साधुओं में आचार का प्रमादरहित पालन न होता हो।
- (2) अपने गण में दूसरे साधु वैयावृत्य करने वाले हों, जिससे स्वयं को वैयावृत्य करने का लाभ न मिलता हो।
- (3) अपने गण में दूसरे साधु भी तप करने वाले हो, जिससे स्वयं तप करें, तो सेवा करने वाले न मिलें।

इन कारणों से वैयावृत्य और तप करने के लिए दूसरे गण में जाना चाहिए।

चारित्र-उपसम्पदा में अनेक विकल्प— आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की सैंतालीसवीं गाथा के माध्यम से¹ चारित्र-सम्बन्धी उपसम्पदा के अनेक विकल्पों का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है।

वैयावृत्य सम्बन्धी तथा विकृष्ट एवं अविकृष्ट तप-सम्बन्धी उपसम्पदा में इत्वर और यावत्कथिक आदि विकल्प करना चाहिए। दूसरे गच्छ से वैयावृत्य करने के लिए आने वाले के इत्वर (अल्पकालिक) या यावत्कथिक (आजीवन)— ये दो विकल्प होते हैं। जिस गच्छ में आया हो, उस गच्छ के आचार्य की वैयावृत्य करने वाला हो या न हो— ऐसे दो विकल्प भी होते हैं। उस गच्छ में आचार्य का वैयावृत्य करने वाला हो, तो इत्वर हो या यावत्कथिक हो— ये दो विकल्प भी हो सकते हैं।

वैयावृत्य में उपसम्पदा स्वीकार करने की विधि निम्नवत है—

1. आचार्य का वैयावृत्य करने वाला कोई अन्य न हो, तो आगन्तुक इत्वर हो या यावत्कथिक— जो भी हो, स्वीकार करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/47 - पृ. - 218

2. वैयावृत्य करने वाला हो और वह यावत्कथिक हो और नवागन्तुक भी यावत्कथिक हो, तो दोनों में जो लब्धिसम्पन्न हो, उस आचार्य को अपने पास रखकर वैयावृत्य करना चाहिए और दूसरे को उपाध्याय आदि को सौंप देना चाहिए।
3. यदि दोनों लब्धिसम्पन्न हों, तो जो पहले से पास में हो, उसे अपने पास रखना चाहिए और नवागन्तुक को उपाध्याय आदि के पास भेज देना चाहिए।
4. यदि नवागन्तुक को उपाध्यायादि के पास जाना स्वीकार्य न हो और पहले वाला उनके पास जाने हेतु सहमत हो, तो पहले वाले को उपाध्यायादि के पास भेजकर नवागन्तुक को अपने पास रखना चाहिए।
5. यदि पहले वाला उपाध्यायादि के पास जाने को तैयार न हो, तो नवागन्तुक को वापस भेज देना चाहिए।
6. पहले वाला यदि यावत्कथिक हो और आगन्तुक इत्वर हो, तो भी इसी प्रकार निर्णय करना चाहिए। इसमें इतना अवश्य हो सकता है कि पहले वाले को प्रेम से समझाकर कहें कि आगन्तुक अल्प समय के लिए आए हुए हैं, इनके रहने तक आराम करें, इस पर भी यदि वह तैयार न हो, तो आगन्तुक को वापस कर देना चाहिए।
7. यदि पहले वाला इत्वर हो और आगन्तुक यावत्कथिक हो, तो पहले वाले को उपाध्यायादि को सौंप देना चाहिए और आगन्तुक को अपने पास रखना चाहिए।
8. यदि दोनों इत्वर हों, तो एक को अपने पास रखना चाहिए और दूसरे को उपाध्यायादि के पास भेज देना चाहिए।

तप—सम्बन्धी उपसम्पदा स्वीकारने के विकल्प— तपस्वी भी इत्वर और यावत्कथिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। मृत्यु के समय आमरण अनशन करने वाला यावत्कथिक है। इत्वर तपस्वी के विकृष्ट और अविकृष्ट— ये दो भेद हैं। अट्ठम आदि तप करने वाला विकृष्ट तपस्वी होता है और छट्ठ तक तप करने वाला अविकृष्ट तपस्वी होता है।

दोनों प्रकार के तपस्वियों से आचार्य इस प्रकार कहें— यदि तुम पारणा के समय शिथिल हो जाते हो, तो तप छोड़कर वैयावृत्य आदि में उद्यम करो।

कुछ आचार्यों का कहना है कि विकृष्ट तपस्वी यदि पारणा के समय शिथिल हो जाता हो, तो भी स्वीकार कर लेना चाहिए। मासक्षमण—तप करने वाले या

यावत्कथिक तपस्वी को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, किन्तु उन्हें स्वीकार करने के पहले आचार्य को अपने गच्छ से पूछना चाहिए। इससे सामाचारी भंग नहीं होती है।

उपसंहार— महापुरुषों ने श्रमण-वर्ग के लिए श्रमण-धर्म का सुचारु रूप से पालन हो सके, इस हेतु दशविध सामाचारी की संयोजना की है, जिसका वर्णन पंचाशक प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने अड़तालीसवीं गाथा में¹ किया है।

इसी प्रकार दशविध सामाचारी का वर्णन उत्तराध्ययन के अन्तर्गत छब्बीसवें अध्ययन में भी प्राप्त है², जो इस प्रकार है— 1. आवश्यकी 2. नैषधिकी 3. आपृच्छना 4. प्रतिपृच्छना 5. छन्दना 6. इच्छाकार 7. मिथ्याकार 8. तथाकार 9. अभ्युत्थान एवं 10. उपसम्पदा। यह क्रम पंचाशक से थोड़ा भिन्न है तथा इसमें निमन्त्रणा के स्थान पर अभ्युत्थान-सामाचारी का प्रयोग है, जिसका भावार्थ है कि गुरु-आचार्य अथवा स्थविर के आगमन पर अपने आसन से उठकर सामने जाकर उनका सत्कार करना तथा पधारने की विनती करना अभ्युत्थान-सामाचारी है।

सामाचारी का फल— आचार्य हरिभद्र ने सामाचारी-पालन के परिणाम को बताते हुए उन्पचासवीं गाथा में³ कहा है—

चरण-करण (मूलगुण और उत्तरगुण) में उपयोगी इस सामाचारी का अच्छी तरह पालन करने वाले साधु अनेक भवों के संचित कर्मों को क्षीण कर देते हैं।

उत्तराध्ययन के अनुसार, सामाचारी का आचरण करने वाला संसार-सागर से पार हो जाता है।⁴

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/48 - पृ. - 219

² उत्तराध्ययन - म. महावीर - गाथा- 2-3-4 - पृ. - 436

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 12/49 - पृ. - 220

⁴ उत्तराध्ययन-सूत्र - म. महावीर- 26/53 - पृ. - 454

¹ श्रमण-सर्वस्व - प्र. सज्जनश्री - पृ. - 31

पुत्र गहिण्ण छंदण णिमंतणा होअगहिण्णं

² आवश्यक-निर्युक्ति - श्री भद्रबाहु - 697

श्रमणसर्वस्व के अनुसार, इस परम पवित्र साधु-सामाचारी का विशुद्ध पालने करने वाले साधु-साध्वी अनेक भवों में संचित ज्ञानावरणीयादि कर्मों का नाश करते हैं।¹

आवश्यकनिर्युक्ति में भी दशविध सामाचारी का वर्णन प्राप्त है, जो पंचाशक के तुल्य है।²

प्रवचन-सारोद्धार में भी सामाचारी का प्रतिपादन पंचाशक के अनुसार ही है।³

धर्मसंग्रह-सारोद्धार में भी दशविध सामाचारी की व्याख्या पंचाशक के अनुसार ही है।⁴

श्रमणसर्वस्व में भी दशविध सामाचारी-स्वरूप का प्रतिपादन प्राप्त है, सामाचारी का क्रम पंचाशक के अनुरूप ही है, परन्तु छन्दना-सामाचारी के भावार्थ में अन्तर है। इसमें छन्दना-सामाचारी का अर्थ किया है कि साधु गुरु-आज्ञा में विचरण करें, क्योंकि स्वतन्त्रता साधुजीवन को नष्ट करने के कारण में निमित्तभूत है, जो पंचाशक से भिन्न अर्थ रखता है। अन्य सभी ग्रन्थों में छन्दना-सामाचारी का अर्थ पंचाशक के समान है, परन्तु छन्द शब्द के अर्थ से प्रतीत होता है कि छन्दना-सामाचारी का भावार्थ श्रमणसर्वस्व के अनुसार भी सही है⁵, क्योंकि छन्द शब्द के कई अर्थ निकलते हैं, जैसे- निमन्त्रण देना, अनुज्ञा देना, चाहना, सम्मति देना, इच्छा, अभिलाषा, अधीनता, स्वछन्दता आदि⁶, अतः इस अपेक्षा से छन्दना-सामाचारी का भावार्थ यहाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकता है।

छन्दना और निमन्त्रण-सामाचारी का अर्थस्वरूप समान माना गया है, अर्थात् परस्पर दोनों का सम्बन्ध आहार, वस्त्रादि-सेवा से है। छन्दना से तात्पर्य है-

³ प्रवचन-सारोद्धार - आ. नेमीचन्द्र - भाग- 1 - गाथा- 760-761 - पृ. - 419

⁴ धर्मसंग्रह-सारोद्धार - महो. मानविजयजी - भाग- 2 - गाथा- 104, 105

⁵ श्रमणसर्वस्व - प्र. सज्जनश्री - दशविध-सामाचारी - पृ. - 28

⁶ संक्षिप्त प्राकृतिहिन्दी कोश 'छ वर्ग' - सम्पादक- डॉ. क. आर. चन्द्र - पृ. - 329

आहार लाने के बाद अन्य मुनियों को विनती करना, जबकि निमन्त्रण का क्रम इससे भिन्न है। इसमें, मैं आपके लिए आहारादि लेकर आऊंगा— यह कहकर आहारादि लाता है, अतः इन दोनों का यह क्रम पूर्वापर सही प्रतीत नहीं होता है कि आहार ग्रहण हेतु विनती पूर्व में करें व पश्चात् आहार लेकर आऊंगा— यह निमन्त्रण दे, अतः पहले निमन्त्रण—सामाचारी होना चाहिए, फिर छन्दना—सामाचारी होना चाहिए। श्रमणसर्वस्व के अनुसार क्रम सही प्रतीत होता है, क्योंकि छन्दना का अर्थ गुरुआज्ञा में विचरण करने का है एवं निमन्त्रण का अर्थ साधुओं को आहार हेतु विनती करना है।

सामाचारी—पालन नहीं करने का परिणाम— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत साधुसामाचारीविधि—पंचाशक की अन्तिम पचासवीं गाथा में¹ प्रतिपादित किया है—

जो साधु महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट शुद्ध सामाचारी का सम्यक्तया पालन नहीं करते हैं और अपने आग्रहों से ग्रस्त होकर लोक में विहार करते हैं, उनके वे अनुष्ठान संसार—सागर से मुक्त होने में सहयोगी नहीं बनते हैं।

दशविध सामाचारी का सम्यक् प्रकार से परिपालन करने वाले निम्न विशेषताओं को प्राप्त करते हैं—

इच्छाकार—सामाचारी से	विनम्रता
मिथ्याकार—सामाचारी से	समता
तथाकार—सामाचारी से	सरलता
आवस्सही—सामाचारी से	एकाग्रता
नैषेधिकी—सामाचारी से	गुरु के प्रति आदरभाव
पृच्छना—सामाचारी से	अहम् का विसर्जन
प्रतिपृच्छना—सामाचारी से	नम्रता, सरलता, श्रमशीलता
छन्दना—सामाचारी से	अतिथि सत्कार के भाव
निमन्त्रण—सामाचारी से	सेवा के भाव

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 12/50 — पृ. — 220

पिण्डविधानविधि

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण में मुनि—आचार से सम्बंधित जिन पंचाशकों की रचना की है, उनमें से एक पिण्डविधानविधि पंचाशक भी है। इसमें मुख्य रूप से तीन शब्द हैं—पिण्ड, विधान और विधि।

पिण्ड अर्थात् भोजन, आहार।

विधान अर्थात् नियम, आचार—संहिता।

विधि अर्थात् पद्धति, प्रवृत्ति, रीति, तरीका, ढंग, प्रकार आदि।

साधु के आहार सम्बन्धी आचार की पद्धति जिसमें है, वह पिण्डविधानविधि है। यदि साधु आहार—शुद्धि का ध्यान रखे, तो विचार एवं आचार की शुद्धि स्वतः हो जाएगी, क्योंकि आहारशुद्धि के साथ आचार—विचार की शुद्धि जुड़ी हुई है। आहार शुद्धि है, तो ही शुद्धाचार है। आहारशुद्धि से व्यवहारशुद्धि होती है तथा व्यवहार पक्ष की शुद्धि से निश्चयपक्ष की शुद्धि होती है। यदि व्यवहार ही शुद्ध नहीं हुआ, तो निश्चय भी शुद्ध कैसे होगा, अतः व्यवहार शुद्ध होने पर ही निश्चय भी शुद्ध होता है।

आहार की गवेषणा में शुद्ध आहार न भी मिले, तो साधु क्रोध नहीं करे तथा यही समझे कि मेरे तप में वृद्धि हो रही है और यह तप मेरे लिए कर्म—निर्जरा का हेतु होगा और यही कर्म—निर्जरा मेरी मुक्ति में निमित्तभूत है। इस प्रकार का चिन्तन शुद्ध आहार की प्राप्ति के अभाव में उत्तेजना या चित्त—विक्षोभ पैदा नहीं होने देगा, अतः संयम—यात्रा के निर्वाह हेतु आहार की गवेषणा निर्धारित समय तक बिना क्रोध अवश्य करना चाहिए।

पिण्डविधानविधि — पिण्डविधानविधि का अर्थ है— भोजन-ग्रहणविधि या भिक्षाचर्या की विधि या आहार की विधि।

भोजन ग्रहण करते समय आहार की गवेषणा करना, शुद्धता का ध्यान रखना आवश्यक है। श्रमण-परम्परा में जो आहार दोषों से रहित है, वही शुद्ध आहार है।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि पंचाशक में पिण्डविधान का वर्णन करने के पूर्व प्रथम गाथा के द्वारा¹ चरमतीर्थाधिपति भगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

मैं भगवान् महावीर को नमस्कार करके गुरु के उपदेश के अनुसार श्रमणों के योग्य भक्तपान आदि ग्रहण सम्बन्धी पिण्डग्रहणविधि को संक्षेप में कहूँगा।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की दूसरी गाथा में² यह निर्देश दिया है कि आहार के दोषों को टालकर आहार की गवेषणा करना शुद्ध पिण्डविधानविधि है। शरीर है, तो आहार की आवश्यकता होगी। चूँकि आहार के बिना यह शरीर जीवों की रक्षा एवं संयम-यात्रा का निर्वाह नहीं कर पाएगा, अतः आवश्यकतानुसार शरीर के लिए आहार आवश्यक है, परन्तु परमात्मा का आदेश है कि साधक अपने निमित्त बना आहार ग्रहण न करें, जो अपने लिए नहीं बना हुआ हो— ऐसे शुद्ध आहार की गवेषणा करें। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र कह रहे हैं कि गुरुजनों ने पृथ्वीकायिक आदि जीवों के संरक्षणरूप संयम-पालन एवं शरीर-रक्षा के लिए शुद्ध आहार (पिण्ड) का विधान किया है। जो उदगम आदि दोषों से रहित आहार है, वही शुद्ध है— ऐसा जानना चाहिए।

उदगम आदि दोषों की संख्या— आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि-पंचाशक के अन्तर्गत तीसरी गाथा में³ उदगम आदि दोषों की संख्या बताई है कि किस-किस प्रकार

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/1 — पृ. सं. — 221

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/2 — पृ. सं. — 221

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/3 — पृ. सं. — 221

से श्रमण को आहार ग्रहण के समय दोष लगते हैं, जिन्हें समझकर आहार ग्रहण करे, जिससे इन दोषों से स्वयं को बचाकर संयम-यात्रा का पालन शुद्धरीति से कर सके। उद्गम-दोष सोलह, उत्पादन-दोष सोलह और ऐषणा-दोष दस- इस प्रकार से ब्यालीस दोष होते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय की चौथी गाथा में¹ उद्गम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है-

उद्गम का अर्थ- उद्गम शब्द का अर्थ है- उत्पत्ति, अर्थात् आहार बनाने आदि में लगने वाले दोषों को उद्गम-दोष कहा गया है। साधु के लिए आहार बनाना, रखना, उद्घाटित करना आदि आहार के उद्गम-दोष हैं।

उद्गम के पर्यायवाची नाम हैं- उद्गम, प्रसूति, प्रभव आदि। इन सबका एक ही अर्थ है- उत्पन्न होना।

उद्गम के सोलह दोष- आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पिण्डविधानविधि के अन्तर्गत पांचवीं एवं छठवीं गाथाओं में² सर्वप्रथम भिक्षाचर्या के उद्गम-दोषों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है-

1. आघाकर्म 2. औददेशिक 3. पूतिकर्म 4. मिश्रजात 5. स्थापना 6. प्राभृतिका 7. प्रादुष्कर 8. क्रीत 9. अपमित्य 10. परावर्तित 11. अभिहृत 12. उद्भिन्न 13. मालापहृत 14. आच्छेद 15. अनिसृष्ट और 16. अध्यवपूरक- ये सोलह उद्गम के दोष हैं।

ये गृहस्थ द्वारा लगने वाले दोष हैं, अर्थात् साधु को लक्ष्य में रखकर दाता के द्वारा किए जाने वाले ये दोष हैं, जिन्हें उद्गम-दोष कहते हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/4 - पृ. सं. - 221

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/5, 6 - पृ. सं. - 222

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/7 - पृ. सं. - 223

आधाकर्म का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि—पंचाशक की सातवीं गाथा में^३ आधाकर्म विषय का प्रतिपादन किया है कि साधु को लक्ष्य में रखकर आहार बनाना, अर्थात् साधु के लिए सचित्त—अचित्त आहार को बनाना, जैसे— सचित्त, फल, सब्जी, बीज आदि को अचित्त बनाना एवं अचित्त चावल, आटा को पकाना आधाकर्म—दोष कहलाता है।

आधाकर्म, अर्थात् जिस भोजन को बनाने में आधा निमित्त साधु का होता है और आधा स्वयं का होता है। साधु आधा निमित्त होने के कारण यह दोष आधाकर्म—दोष कहलाता है।

अधःकर्म का एक अर्थ हिंसा भी है। साधु ने हिंसा का त्रिविध प्रकार से त्याग किया है, अतः यदि गृहस्थ ने स्वयं साधु के लिए आहार बनाया हो, तो भी साधु को हिंसा के अनुमोदन का दोष तो लगता ही है।

अनुमोदना तीन प्रकार की है—

- (1) अधिकार होने पर भी पापकर्म का निषेध नहीं करने से अनिषेध—अनुमोदना।
- (2) पाप—प्रवृत्ति से तैयार की गई वस्तु का उपभोग करने से उपभोग—अनुमोदना।
- (3) पाप करने वालों के साथ रहने पर सहवास—अनुमोदना।

जिस प्रकार चोरी नहीं करने वाला भी चोरी करने वाले चोर को घर में रखने एवं चोर के साथ रहने पर सजा का पात्र बनता है, उसी प्रकार पाप न करने पर भी पाप करने वालों के सहवास से पाप की अनुमोदना का दोष लगता है।

इस प्रकार, यदि गृहस्थ साधु के उद्देश्य से हिंसा करता है, तो साधु को भी अनुमोदना का पाप लगता ही है। दूसरे, यदि साधु कहकर करवाए, तो करवाने का भी पाप लगता है, क्योंकि जैन—दर्शन में करना, करवाना और अनुमोदना करना— तीनों को ही समान माना है, पाप में भी तीनों समान हैं व पुण्य में भी तीनों समान ही हैं। उत्तराध्ययन में कहा है—

औददेशिक-दोष- साधु को भिक्षा देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन औददेशिक-दोष है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत आठवीं गाथा में औददेशिक-दोष के स्वरूप की चर्चा की है।

औददेशिक-दोष के तीन प्रकार बताए हैं-

1. उदिदष्ट-औददेशिक, 2. कृत-औददेशिक तथा 3. कर्म-औददेशिक।

(1) उदिदष्ट-औददेशिक- दुष्काल बीत जाने पर आकस्मिक रूप से मुनियों के आ जाने पर गृहस्थ अपनी पत्नी से कहें कि उसे अब साधुओं आदि को भिक्षा देना है, इस उद्देश्य से वह स्त्री अधिक भोजन बनाए, तो वह औददेशिक-दोष है। इसमें साधु को हमेशा भिक्षा देने का उद्देश्य होने से इसे उदिदष्ट-औददेशिक कहा जाता है।

(2) कृत-औददेशिक- विवाहादि के अवसर पर भोजनोपरान्त अवशिष्ट भात आदि को दही आदि स्वादिष्ट वस्तु के साथ मिलाकर भिक्षा में दिया जाए, तो वह कृत-औददेशिक-दोष है।

(3) कर्म-औददेशिक- आटा, बेसन आदि अग्नि पर सेंककर, गुड़ आदि मिलाकर देना, अथवा मिठाई बनाकर देना कर्म-औददेशिक-दोष है। अचित्त को पकाने में भी अग्निकाय आदि की हिंसा तो होती ही है। साधु के उद्देश्य से युक्त होने के कारण यह दोष कर्म-औददेशिक कहा जाता है। इन तीनों के चार-चार उपभेद होते हैं- उद्देश्य, समुद्देश्य, आदेश और समादेश।

इन भेदों का अर्थ पिण्ड-निर्युक्ति के अनुसार है।¹

उद्देश- समस्त भिक्षाचारों, पाखण्डियों एवं श्रमणों के उद्देश्य से बनाया गया आहार उद्देश कहलाता है।

समुद्देश- अन्य परम्परा के साधु के निमित्त से बनाया गया आहार समुद्देश कहलाता है।

आदेश- श्रमणों के निमित्त बनाया गया आहार आदेश कहलाता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/8 - पृ. - 224

¹ पिण्डनिर्युक्ति - आचार्य भद्रबाहुस्वामी - गाथा- 219

समादेश— निर्ग्रन्थों के लिए बनाया गया आहार समादेश कहलाता है।

इस प्रकार, उद्दिष्ट, कृत और कर्म के चार-चार भेद की अपेक्षा से बारह भेद औद्देशिक-दोष के हैं।

पूति और मिश्रदोष का स्वरूप—

पूतिकर्म — शुद्ध आहार में अशुद्ध आहार मिलाकर पूरे आहार को शुद्ध बनाना पूतिकर्म है।

मिश्रजात — गृहस्थ और साधु— दोनों के मिश्रित उद्देश्य से बनाया गया भोजन मिश्रजात है।

आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि—पंचाशक के अन्तर्गत नौवीं गाथा में¹ पूतिकर्म एवं मिश्रजातकर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

आधाकर्मिक आहार के एक अंश से भी युक्त आहार पूतिदोष से युक्त होता है। पूतिदोष उपकरण और भक्तपान के भेद से दो प्रकार का है। आधाकर्मिक चूल्हा आदि उपकरणों के संयोग से शुद्ध आहार पूतिदोष वाला बनता है। आधाकर्मिक आहार—पानी से मिश्रित शुद्ध आहार—पानी, पूतिदोष वाला बन जाता है।

पहले से गृहस्थ और साधु— दोनों के लिए एक साथ भोजन बनाया हो, तो वह गृहिसंयतमिश्र नामक मिश्रजात-दोष है। मिश्रजात के भी गृहियावदर्थिक और गृहिपाखण्डिमिश्र— ये दो दोष जानना चाहिए। गृहस्थ और याचक— दोनों के लिए पहले से बनाया गया भोजन गृहियावदर्थिक है तथा गृहस्थ और पाखण्डी, अर्थात् अन्य परम्परा के श्रमण के लिए बनाया गया भोजन गृहिपाखण्डिमिश्र-दोष से युक्त है।

स्थापन और प्राभृतिका—दोष—

आचार्य हरिभद्र ने प्राभृतिका—दोष के भेद—प्रभेदों का वर्णन प्रस्तुत अध्याय की दशवीं गाथा में² किया है—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/9 — पृ. — 224

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/10 — पृ. — 225

स्थापना-दोष- साधु को देने के लिए निर्धारित समय तक आहार निकालकर अलग रखना स्थापना-दोष है। साधु द्वारा मांगे जाने पर साधु को देने के लिए दूध-दही आदि रखना स्थापनादोष है।

प्राभृतिका-दोष साधुओं के आगमन के कारण निश्चित किए गए समय से पहले भोज आदि का आयोजन करके साधु को भिक्षा देना प्राभृतिका-दोष है। प्राभृतिका-दोष के उत्खण्डन और अवषण्डन- ये दो भेद हैं। इन दोनों के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा से भी दो-दो भेद हैं। इस प्रकार प्राभृतिका के सूक्ष्म उत्खण्डन, सूक्ष्म अवषण्डन, बादर उत्खण्डन तथा बादर अवषण्डन- ये चार भेद होते हैं।

(1) सूक्ष्म-उत्खण्डन- (थोड़ा विलम्ब से) सूत कातते समय माँ से उसका बालक खाना मांगे, तो भिक्षा के लिए आ रहे साधु को देखकर जब साधु आ जाए, उसके पश्चात् माँ अपने बालक को खाना दे, तो साधु के कारण बालक को थोड़ी देर खाने से वंचित रखने के कारण सूक्ष्म उत्खण्डन-दोष लगता है।

(2) सूक्ष्म-अवषण्डन- (थोड़ा पहले) सूत कातती हुई स्त्री साधु के आने पर उनको भिक्षा देने के साथ-साथ बालक को भी खाना दे दे, ताकि फिर उसके लिए अलग से न उठना पड़े, तो थोड़ा पहले खाना देने से सूक्ष्म अवषण्डन-दोष लगता है।

(3) बादर-उत्खण्डन- आने वाले साधुओं को दान देने का लाभ होगा, इसलिए भोज आदि समारोह का कार्यक्रम पूर्व निर्धारित समय से न करके विलम्ब से करना।

(4) बादर-अवषण्डन - साधु विहार कर जाएंगे, तो उनको दान देने का लाभ नहीं मिल पाएगा, इसलिए उन कार्यक्रमों को पूर्व निर्धारित समय से पहले करना।

प्रादुष्करण और क्रीतदोष का स्वरूप -

प्रादुष्करण-दोष- साधु को भिक्षा देने के लिए भोजन को खुला रख देना प्रादुष्करण-दोष है।

क्रीत-दोष- साधु के लिए खरीद कर वस्तु देना क्रीत-दोष है। आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की ग्यारहवीं गाथा में प्रस्तुत दोषों की चर्चा करते हैं-

घर का दरवाजा नीचा होने के कारण घर में अंधेरा हो, तो साधु को आने पर प्रकाश के लिए खिड़कियों को खोलना और दीप जलाना आदि प्रादुष्करण-दोष हैं, क्योंकि ऐसा करने से जीव-हिंसा होती है। साधु के लिए पैसे से खरीदकर भिक्षा देना क्रीत-दोष है। यह चार प्रकार का होता है- स्वद्रव्य, परद्रव्य, स्वभाव और परभाव।

(1) **स्वद्रव्य-क्रीतदोष-** रूपपरावर्तिनी गुटिका, अथवा रक्षा हेतु कोई पदार्थ आदि देकर आहरादि प्राप्त करना स्वद्रव्य-क्रीतदोष है।

(2) **परद्रव्य-क्रीतदोष-** गृहस्थ द्वारा साधु के लिए क्रय किया हुआ आहार परद्रव्य-क्रीत-दोष है।

(3) **स्वभाव-क्रीतदोष-** धर्मकथा, जाति, कुल, तप, आतापना आदि के आधार पर भिक्षा ग्रहण करना स्वभाव-क्रीत-दोष है।

(4) **परभाव-क्रीतदोष-** धर्मकथा आदि से प्रभावित करके, अथवा पटादि दिखाकर आहार ग्रहण करना परभाव-क्रीतदोष है।

प्रामित्य और परावर्तित-दोष का स्वरूप

प्रामित्य-दोष- आहरादि उधार लेकर साधु को भिक्षा देना प्रामित्यदोष है।

परावर्तित-दोष- खाद्य पदार्थों को अदल-बदल कर साधु को भिक्षा देना परावर्तित-दोष है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन पिण्डविधानविधि- पंचाशक की बारहवीं गाथा में¹ किया है।

साधु को दूसरे से उधार लेकर देना प्रामित्य-दोष है। साधुओं का गौरव हो और अपनी लघुता न दिखे, इसके लिए अपने कोदों आदि हल्की वस्तु दूसरे को देकर उससे उत्तम चावल आदि लेकर भात बनाना और साधु को देना परावर्तित-दोष है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/11 - पृ. - 226

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/12 - पृ. - 226

अभिहृत और उदिभन्न-दोष का स्वरूप-

अभिहृत-दोष- साधु को देने के लिए अपने स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया गया आहार अभिहृत-दोष है।

उदिभन्न-दोष- साधु के लिए बन्द थैली आदि खोलकर तथा अलमारी, कोठी, कोठरी आदि का ताला, सांकल आदि खोलकर आहार देना उदिभन्न-दोष है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत दोषों का वर्णन पिण्डविधानविधि की तेरहवीं गाथा में¹ किया है।

स्वग्राम, अर्थात् साधु जिस ग्राम में रहते हों, उसके अतिरिक्त दूसरे ग्राम आदि से आहार लाकर साधु को देना अभिहृत-दोष है।

गोबर आदि से लीपकर बन्द किए गए डेहरी आदि के लेप को खोलकर या जो अलमारी प्रतिदिन नहीं खुलती है, उसे खोलकर साधु को आहारादि देना उदिभन्न-दोष है।

मालापहृत और आच्छेद्य-दोष का स्वरूप-

मालापहृत-दोष- साधु को देने के लिए ऊपरी मंजिल से, अथवा टाण्ड, छींका या अलमारी आदि के ऊपर से आहार लाकर बहराना मालापहृत-दोष है।

आच्छेद्य-दोष- साधु को देने के लिए पुत्रादि को दी हुई वस्तु को वापिस ले लेना आच्छेद्य-दोष है।

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की चौदहवीं गाथा में² प्रस्तुत विषय की चर्चा करते हैं।

साधु को देने के लिए ऊपरी मंजिल या भूमिगत कमरे से आहारादि निकालकर दें, तो यह मालापहृत-दोष कहलाता है।

मालिक, नौकर, बालक आदि की किसी भी वस्तु को जबर्दस्ती लेकर साधु को दें, तो आच्छेद्य-दोष होता है। इसके गृहस्वामी, नृप और चोर के आधार पर तीन भेद हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/13 - पृ. - 226

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/14 - पृ. - 227

गृहस्वामी-विषयक-दोष- घर के स्वामी की इच्छा के बिना स्वामी के हिस्से का आहार भी दे देना गृहस्वामी-विषयक-दोष है।

राजा-विषयक-दोष- आहार के लिए गए मुनि को देखकर राजा अपने परिवार से खाद्यवस्तु हठात् लेकर साधु को बहसाए, तो यह राजा-विषयक-दोष है।

चोर-विषयक-दोष- किसी से छीनकर मुनि को भिक्षा देना चोर-विषयक आच्छेद्य-दोष है।

अनिसृष्ट और अध्यवपूरक-दोष का स्वरूप-

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि- पंचाशक की पन्द्रहवीं गाथा में¹ उद्गम-दोषों का वर्णन करते हुए कहा है-

अनेक लोगों के सामूहिक अधिकार वाले भोजनादि को सबकी अनुमति के बिना कोई एक दे दे, तो अनिसृष्ट-दोष लगता है।

अपने लिए खाना आदि पकाने की शुरुआत करने के पश्चात् उस भोजन-सामग्री में साधु को देने के लिए और सामग्री मिला लेना अध्यवपूरक-दोष है, जैसे- दूध में पानी मिला देना, दाल में पानी मिला देना, पकाते हुए चावल में और चावल डाल देना, आदि।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि- पंचाशक की सोलहवीं गाथा में,² कौनसे दोष विशुद्धकोटि के हैं और कौनसे दोष अविशुद्धकोटि के हैं, इसका प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार है-

आधाकर्म और औद्देशिक-विभाग के अन्तिम तीन भेद हैं- 1. समुद्देश-कर्म 2. आदेश-कर्म 3. समादेश-कर्म तथा मिश्रजात और अध्यवपूरक के दो भेद पाखण्डी और यति तथा बादर-भक्तपानपूति और बादर-प्राभृतिक- इन मूल छः भेदों के दस भेद अविशुद्धकोटि के हैं, शेष सभी दोष विशुद्धकोटि के हैं।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/15 - पृ. - 227

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/16 - पृ. - 227

विशेष— यदि दूषित आहार, शुद्ध आहार में पड़ जाए, बाद में उस दूषित आहार को निकाल लिया, तो भी बाकी का आहार अशुद्ध ही रहे, शुद्ध नहीं बने, तो यह अविशुद्धकोटि का दोष है। यदि दूषित आहार शुद्ध आहार में पड़ने के बाद उसमें से सम्पूर्ण दूषित आहार निकाल लिया जाए और शेष शुद्ध आहार शुद्ध बने, तो वह विशुद्धकोटि का दोष है, अर्थात्—

- (1) जिन दोषों से दूषित आहार अलग कर देने पर शेष आहार कल्पनीय हो जाता है, वे दोष विशुद्धकोटि के हैं।
- (2) जिन दोषों से दूषित आहार अलग कर देने पर भी शेष आहार कल्पनीय नहीं बनता, वे दोष अविशुद्धकोटि के हैं।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की सत्रहवीं गाथा में¹ उत्पादन शब्द के अर्थों एवं उसके पर्यायवाची शब्दों के स्वरूप का निर्देश किया है—

उत्पादन शब्द का अर्थ है— प्राप्त करना।

सचेतन और अचेतन आदि वस्तु की अपेक्षा से उत्पादन अर्थात् आहार की प्राप्ति दो प्रकार की है, परन्तु यहाँ गृहस्थ के घर से आहार को प्राप्त करने का प्रकरण है, अतः उत्पादन—दोष गृहस्थ के घर आहारप्राप्ति से सम्बन्धित है।

उत्पादन को सम्पादन और निर्वर्तना भी कहते हैं, अर्थात् ये दोनों शब्द एक ही अर्थ को प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि पंचाशक के अन्तर्गत अठारहवीं एवं उन्नीसवीं गाथाओं में² उत्पादन के दोषों का विवरण दिया है, वह इस प्रकार है—

1. धात्री 2. दूती 3. निमित्त 4. आजीव 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोध 8. मान 9. माया 10. लोभ 11. पूर्व—पश्चात् संस्तव 12. विद्या 13. मंत्र 14. चूर्ण 15.

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/17 — पृ. — 228

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/18, 19 — पृ. — 228

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/20, 21, 22, 23, 24 — पृ. — 228, 229

योग और 16. मूलकर्म— से सोलह दोष उत्पादन के हैं, जो साधु के द्वारा आहार गृहस्थ से आदि प्राप्त करते समय में लगते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि—पंचाशक के अन्तर्गत बीसवीं से लेकर चौबीसवीं गाथाओं में³ उत्पादना के सोलह दोषों का विवरण किया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि किस प्रकार साधु आहार लेते समय इन दोषों को लगाता है, जिससे संयम दूषित होता है तथा ये दोष संयम से पतन के कारण बनते हैं। इन दोषों को लगाकर यदि साधु भिक्षा ग्रहण करता है, तो यह स्पष्ट आभास हो जाता है कि साधु जिह्वा का लोलुप है, संयम का आकांक्षी नहीं है, क्योंकि रसना का लोलुप साधु ही इस प्रकार की प्रवृत्ति करेगा और गृहस्थ को प्रसन्न करके आहार ग्रहण करेगा, अन्यथा वह अपनी साधना एवं संयम के बल पर संयम—रक्षा हेतु पर्याप्त शुद्ध आहार की गवेषणा कर ही लेगा। यदि साधु गृहस्थ—वर्ग को प्रसन्न करके आहार ग्रहण करता है, तो वह किसी नाटककार आदि से कम नहीं है। नाटक आदि करने वाले अपनी आजीविका के लिए लोगों को प्रसन्न करके धन एकत्रित करने के लिए भिन्न—भिन्न प्रकार से नृत्य करते हैं, जिससे जनता प्रसन्न होकर इन पर धन न्यौछावर कर दे।

जैन—कथानकों में वर्णन आता है कि इलापुत्र एक लड़की को पाने के लिए किस प्रकार राजा को प्रसन्न करके धन का इच्छुक बना हुआ था। एक भिखारी किस प्रकार धन की लालसा में सेठ लोगों की प्रशंसा कर, अथवा उन्हें आशीर्वाद आदि देकर प्रसन्न करके धन पाना चाहता है। भाट—चारण आदि राजा—महाराजा की विरुदावलि आदि सुना—सुनाकर प्रसन्न कर धन प्राप्त करना चाहत हैं। क्या साधु इस प्रकार गृहस्थ—लोगों को प्रसन्न करके आहार ग्रहण करे ? क्या साधु का स्तर इन नाटककारों आदि के समकक्ष है कि साधु भिक्षा लेने के लिए गृहस्थ की प्रशंसा कर अथवा उसका भविष्य आदि बताकर गृहस्थ को प्रसन्न कर आहार ग्रहण करे। साधु को इन उत्पादन—दोषों से बचकर ही आहार ग्रहण करना चाहिए। उत्पादना के दोष इस प्रकार से हैं—

- (1) **धात्री**— बालक का पालन-पोषण करने वाली स्त्री धात्री कहलाती है। धात्रीकर्म करके साधु के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना धात्री-दोष है।
- (2) **दूती**— गृहस्थों के पारस्परिक-समाचार कहकर भिक्षा प्राप्त करना दूती-दोष है।
- (3) **निमित्त**— भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सुखदुःखादि सम्बन्धी कथन करके भिक्षा प्राप्त करना निमित्त-दोष है।
- (4) **आजीव**— जीवन-निर्वाह हेतु साधु द्वारा जाति, कुल आदि के कर्म और शिल्प का आश्रय लेना, या उन्हें किसी भी प्रकार से गृहस्थ को बतलाकर जीवन-निर्वाह करना आजीव-दोष है।
- (5) **वनीपक**— (याचक) साधु के द्वारा गृहस्थ से साधु-जीवन की प्रशंसा करके आहार की याचना करना वनीपक-दोष है।
- (6) **चिकित्सा**— रोग के निवारण द्वारा गृहस्थ को प्रसन्न करके आहार प्राप्त करना चिकित्सा-दोष है। यह दो प्रकार का होता है— सूक्ष्म और बादर। रोग की दवा बतलाना या वैद्य को बतलाना सूक्ष्म चिकित्सा-दोष है और स्वयं दवा करना बादर-चिकित्सा-दोष है।
- (7) **क्रोधपिण्ड**— भिक्षा नहीं देने पर ये साधु क्रोध करेंगे, इस भय से दिया गया आहार क्रोधपिण्ड है।
- (8) **मानपिण्ड**— परिवारजनों की अवमानना करके साधु के मांगने पर आहार देना और इसके लिए स्वाभिमान का अनुभव करना मानपिण्ड है।
- (9) **मायापिण्ड**— वेश-परिवर्तन आदि से गृहस्थ को धोखा देकर उससे आहार लेना मायापिण्ड है। इस विषय में आषाढभूति का दृष्टान्त है।
- (10) **लोभपिण्ड** — आहार के लालच से अनेक घरों में जाकर आहार ग्रहण करना लोभपिण्ड-दोष है। इसमें सिंहकेसरिया-मोदक प्राप्ति के इच्छुक मुनि का दृष्टान्त है।
- (11) **पूर्वपश्चात्-संस्तव**— आहार देने के पहले और पश्चात् दाता की प्रशंसा करना पूर्वपश्चात्संस्तव-दोष है।
- (12) **विद्या-मंत्र-चूर्ण-योगप्रयोग**— विद्या, मंत्र, चूर्ण और योग का प्रयोग करके आहार प्राप्त करना क्रमशः विद्याप्रयोग, मंत्रप्रयोग, चूर्णप्रयोग और योगप्रयोग-दोष है।

(16) मूलकर्म— जिससे दीक्षापर्याय का मूल से छेदरूप आठवां प्रायश्चित्त आए, ऐसे गर्भपातादि व्यापार कर भिक्षा देना व्यापार—मूलकर्म—दोष है।

ये उत्पादाना—दोष साधु की असावधानी से उत्पन्न होते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि—पंचाशक की पच्चीसवीं गाथा में¹ एषणा शब्द का अर्थ प्रतिपादित किया है— एषणा शब्द का अर्थ एवं पर्यायवाची निम्न हैं—

एषणा शब्द का अर्थ है— खोजना, ढूँढना।

एषणा अनेक वस्तुओं की होती है, परन्तु यहाँ एषणा शब्द आहार से सम्बन्धित है।

एषणा के पर्यायवाची नाम हैं— एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा और ग्रहण।

एषणा के दोष इस प्रकार से हैं—

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि— पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में¹ एषणा के निम्न दस दोषों का उल्लेख किया है—

एषणा के दोषों के नाम—

1. शंकित 2. व्रक्षित 3. निक्षिप्त 4. पिहित 5. संहृत 6. दायक 7. उन्मिश्र 8. अपरिणत 9. लिप्त और 10. छर्दित— ये दस दोष एषणा के हैं, जो दोनों पक्ष से आहार लेते समय व देते समय लगने वाले दोष हैं।

साधु व गृहस्थ— दोनों आहार लेते समय एवं देते समय विवेक रखें, तो इन दोषों से बचा जा सकता है। साधु दोषों से बचकर आहार लेता है, तो संयम का पालन शुद्धतापूर्वक होता है और गृहस्थ विवेक रखते हुए दोषी आहार साधु को न बहराए, तो साधु के शुद्धाचार में सहयोगी बनता है। गृहस्थ को भोजन बनाते समय पूर्ण विवेक रखना चाहिए। गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाए तथा गृहस्थ भोजन बनाते समय साधु को किंचित भी याद न करे एवं भोजन करते समय साधु को भूले भी नहीं। गृहस्थ भोजन बनाने के लिए समय की पूर्ण मर्यादा रखे। गृहस्थ जीवन—पर्यन्त रात्रि—भोजन का

¹ पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/25 - पृ. - 230

¹ पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/26 - पृ. - 231

² पंचाशक—प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/27, 28, 29 - पृ. - 231

त्याग करता है, तो साधु के लिए शुद्ध आहार की गवेषणा में शुभ निमित्त बनता है, क्योंकि जब गृहस्थ रात्रिभोजन का त्यागी है, तो उसके गृह में भोजन स्वतः समय पर बन जाएगा, तो दोनों ओर से दोषों से बचा जा सकता है, अतः गृहस्थ को भी अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहना चाहिए, साथ ही वह साधु को भी पूर्ण रूप से जागरूक रहकर विशुद्ध गवेषणा करनी ही चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि--पंचाशक की सत्ताइसवीं से लेकर उनतीसवीं तक की गाथाओं में एषणा के दोषों के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

1. शंकित-दोष का स्वरूप- आहार में आधाकर्मादि दोष होने की शंका हो, तो वह आहार शंकित-दोष वाला कहा जाएगा अथवा जिस आहार में जिस दोष की शंका हो, उस आहार को लेने से यह दोष लगता है।
2. म्रक्षित-दोष का स्वरूप- सचित्त पानी, पृथ्वी आदि से युक्त आहार लें, तो म्रक्षित-दोष लगता है।
3. निक्षिप्त-दोष का स्वरूप- सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना निक्षिप्त-दोष है।
4. पिहित-दोष का स्वरूप- (ढंका हुआ) जो आहार सचित्त वस्तु आदि से ढंका हो, उसे लेना पिहित-दोष है।
5. संहत-दोष का स्वरूप- जिसमें पहले सचित्त वस्तु रखी गई हो, ऐसे बर्तन में रखकर साधु को आहार देना संहत-दोष है।
6. दायक-दोष का स्वरूप- भिक्षा देने के लिए अयोग्य बालक आदि भिक्षा दें, तो दायक-दोष लगता है। निम्नलिखित जीवभिक्षा देने के अयोग्य हैं-

1. अव्यक्त - आठ वर्ष से कम उम्र वाला।
2. अप्रभु - जो घर का सदस्य न हो।
3. स्थविर - अतिवृद्ध।

4. नपुंसक – जो न स्त्री है और न पुरुष।
5. मत्त – जो नशे में हो।
6. क्षिप्तचित्त – जो धन-हानि के कारण पागल हो गया हो।
7. दीप्तचित्त – शत्रुओं से बार-बार हारकर निराश हो गया हो।
8. यथाविष्ट – जिसे कोई भूतप्रेत सताता हो।
9. करछिन्न – जिसके हाथ कट गए हों।
10. चरणछिन्न – जिसके पैर कट गए हों।
11. अंधा – जिसको आँखों से न दिखाई देता हो।
12. निगडित – जिसके हाथ या पैर में जंजीर लगी हो।
13. कोढ़ी – कुष्ठ का रोगी।
14. गर्भवती स्त्री – जो संतान को जन्म देने वाली हो।
15. बालवत्सा – जो छोटे बच्चों वाली हो।
16. से 18. अनाज आदि छानने वाली, पीसने वाली और भूनने वाली स्त्री।
19. सूत कातने वाली।
20. रुई पींजने वाली।

7. उन्मिश्र-दोष का स्वरूप— सचित्त बीज, कंद आदि मिश्रित आहार उन्मिश्र है।

8. अपरिणत-दोष का स्वरूप— आहारादि पूर्णतया अचित्त न हुआ हो— ऐसा आहारादि ग्रहण करना अपरिणत-दोष है।

9. लिप्त-दोष का स्वरूप— अखाद्य वस्तु लगा भोजन लेने से लिप्त-दोष लगता है।

10. छर्दित-दोष का स्वरूप— आहारादि को नीचे बिखेरते हुए देना छर्दित-दोष है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्धपिण्ड (आहार) परमार्थ से किसे प्राप्त होता है ?

इसका समाधान आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की तीसरी गाथा में¹ करते हैं-

बयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार जिनेन्द्रदेवों ने साधुओं के लिए मान्य किया है। आहार-विशुद्धि परमार्थ से पिण्डविशुद्धि के अतिरिक्त भी अन्य क्रियाओं, जैसे- प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि में लीन रहने से ही होती है। प्रतिलेखना आदि क्रियाओं से रहित मुनि यदि बयालीस दोषों का त्याग करे, तो भी परमार्थ से शुद्ध पिण्ड नहीं होता है, क्योंकि मूलगुणों के बिना उत्तरगुण व्यर्थ हैं।

मूलगुण-उत्तरगुण का पालन करते हुए जो साधु शुद्धपिण्ड को ग्रहण करता है, वही साधु वास्तव में साधु है। मूलगुण निश्चय को शुद्ध करता है और उत्तरगुण व्यवहार को शुद्ध करता है। उत्तरगुण से अन्य लोगों के लिए अनुमोदना के निमित्त बनते हैं, व्यवहार शुद्ध होता है, तो ही लोगों का चिन्तन शुद्ध बनता है कि ये साधु कितना कठोर संयम पाल रहे हैं। यदि मूलगुण न हों, तो यह चिन्तन भर के लिए शुभ है, पर साधु के लिए तो अशुभ ही होगा, क्योंकि मूलगुणों का अभाव है और मूलगुणों के अभाव में उत्तरगुण व्यर्थ हैं। एक तरह से उत्तरगुण हमारे लिए प्रदर्शन होगा, मात्र दिखावा होगा ? अतः मूलगुण और उत्तरगुण- दोनों का परस्पर संयोग ही परम शुद्धता को प्राप्त करवाता है। इस विषय का आगम से समर्थन आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की एकतीसरी गाथा में¹ किया है।

सम्यक् प्रत्युपेक्षण, प्रमार्जन और सूत्रार्थ-पौरुषी करने के बाद भिक्षा का समय होने पर स्थित होकर अनासक्त-भाव से विधिपूर्वक आहार की गवेषणा करना चाहिए तथा साधु को पृथ्वी पर युगप्रमाण (साढ़े तीन हाथ) आगे दृष्टि डालकर चलना चाहिए और बीज, हरितकाय, प्राणी, सचित्त जल और सचित्त मिट्टी से बचकर चलना चाहिए, अर्थात् वनस्पति आदि पर नहीं चलना चाहिए। उपर्युक्त क्रियाओं में लीन रहने

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/30 - पृ. - 232

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/31 - पृ. सं. - 233

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/32 - पृ. सं. - 233

वाले साधु का पिण्ड शुद्धपिण्ड होता है। साधु को विशुद्ध पिण्ड ही लेना चाहिए। अशुद्ध पिण्ड लेने से साधुत्व नहीं रहता है।

साधु अपने साधुत्व को बनाए रखने के लिए विशुद्धपिण्ड को समझे, क्योंकि विशुद्धपिण्ड को जाने बिना साधुत्व का पालन दुष्कर है। जब मार्ग का ही पता नहीं है कि कौन-सा मार्ग कहाँ जा रहा है, तो वह अपने लक्ष्य पर किस मार्ग से पहुँचेगा। जिस प्रकार अपने लक्ष्यस्थान पर पहुँचने के लिए मार्ग की जानकारी आवश्यक है, उसी प्रकार साधुत्व को टिकाए रखने के लिए पिण्ड की विशुद्धि को जानना आवश्यक है, अतः आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में विशुद्धपिण्ड को जानने के उपाय बताए हैं।

जिस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, उसका ज्ञान करने के लिए अतीत-अनागत-वर्तमानकाल सम्बन्धी कायिक, वाचिक एवं मानसिक-विचारणा करना चाहिए। विचारणा इत्यादि से परोक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार, प्रस्तुत प्रकरण में भी उपयोग-शुद्धि, दर्शन, प्रश्न आदि से आहार के दोषों का ज्ञान हो सकता है।

भिक्षा शब्द का अर्थ — भिक्षा शब्द दो अक्षरों से मिलकर बना है— भि + क्षा ।

भि — भिन्न-भिन्न घरों से गवेषणापूर्वक

क्षा — क्षाम्यभाव से क्षमाश्रमण द्वारा लिया गया आहार।

भिक्षा का अर्थ श्रमण द्वारा लिए गए आहार के स्वरूप में ही घटित माना गया है।

एक भिखारी के लिए भी भिक्षा शब्द का प्रयोग किया जाता है, पर उसके सन्दर्भ में यह प्रयोग अनुचित है, क्योंकि भिखारी तो वह है, जो भिन्न-भिन्न घरों से क्षाम्यभाव से रहित होकर भीख मांगता है। वह न मिलने पर क्रोध भी करता है, गालियाँ देता है, अभिशाप भी दे देता है, अतः इसे किस प्रकार भिक्षा कह सकते हैं ?

एक भिखारी किसी के घर मांगने गया, वह यह ध्यान नहीं रखेगा कि इस घर में भोजन कितने प्रमाण का है, कितना भोजन लेना चाहिए, कैसा भोजन लेना चाहिए,

किस ढंग से भोजन लेना चाहिए। इस प्रकार के विवेक के अभाव में एक भिखारी की भीख भिक्षा नहीं हो सकती है। भिक्षा शब्द साधु के लिए ही उपयुक्त है, यही बात आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की चौतीसवीं गाथा में बताते हैं।

जिस प्रकार पिण्डविशुद्धि का वास्तविक अर्थ यति के आहार-ग्रहण में घटित होता है, उसी प्रकार भिक्षा शब्द का भी वास्तविक अर्थ यति की भिक्षा में ही घटित होता है, क्योंकि भिक्षा शब्द का अर्थ अनियतप्राप्ति (अलग-अलग घरों में से उन घरों की रसोई के परिमाण के अनुसार) है। दूसरों के द्वारा लाकर दी गई भिक्षा में अनियतप्राप्ति अर्थ घटित होना आवश्यक नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत 'पिण्डविधानविधि-पंचाशक' की चौतीसवीं से छत्तीसवीं तक की गाथाओं में अन्य मतों की मान्यता का भी चित्रण किया है।

अन्य मत वाले यह मानते हैं कि निर्दोष पिण्ड असम्भव है, अतः यहाँ दूसरों की मान्यता का प्रतिपादन कर रहे हैं कि दूसरे कहते हैं कि श्रमण, साधु, पाखण्डी और यावदर्थिक के लिए किए गए औददेशिक-मिश्रजात आदि आहार का त्याग करने से भिक्षाकुलों में भिक्षा के लिए घूमा ही नहीं जा सकता, उसमें भी विशिष्ट कुलों में तो कदापि नहीं, क्योंकि इस आर्यदेश में स्मृतिग्रन्थों का अनुसरण करने वाले गृहस्थ आहार बनाने सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य के लिए करते हैं, अर्थात् प्रायः सभी लोग श्रमण को भिक्षा देने से होने वाले पुण्य के लिए भोजन तैयार करते हैं। इसकी सिद्धि स्मृतिवचन 'गुरुदत्त शेषं भुज्जीत', (अर्थात् गुरु को देने से बचा हुआ भोजन करना चाहिए)- इस शास्त्रनीति से होती है, इसलिए गृहस्थों के घरों में इस साधु के लिए यह भोजन देना चाहिए, इस प्रकार विशेष (श्रमण को देने के संकल्प-विशेष) से ही आहार तैयार होता है, जबकि साधु की भिक्षा अकृत-असंकल्पित है। विशेष रूप से (साधु को देने के संकल्प

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/33 - पृ. - 234

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/34, 35, 36 - पृ. - 234

से) बनाया हुआ भोजन दोष वाला होता है, यह युक्तियुक्त है, किन्तु असंकल्पित गुणवाली भिक्षा युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा आहार होता नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा में¹ उपर्युक्त मत का समाधान किया है, जो इस प्रकार है-

गृहस्थ ने अपने आहार के अतिरिक्त श्रमण के लिए अलग आहार बनाने का संकल्प करके आहार बनाया हो, तो ऐसे औद्देशिक, मिश्रजात आदि आहार का साधु को त्याग करना चाहिए, किन्तु श्रमण को देने के संकल्प से रहित मात्र अपने लिए आहार बनाया हो, तो ऐसा आहार त्याज्य नहीं है। यदि गृहस्थ ने अपने ही आहार में से श्रमण को देने का संकल्प किया हो, तो ऐसे आहार में औद्देशिक आदि दोष नहीं लगते हैं, इसलिए उसका त्याग नहीं किया जाता है।

पुनः, प्रश्न उपस्थित किया गया कि गृहस्थ केवल अपने लिए भोजन बनाए, यह असम्भव है ? अर्थात् वह अपने भोजन के साथ श्रमण आदि के लिए भी भोजन बनाता ही है, अतः आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि की अड़तीसवीं गाथा में¹ इस प्रश्न का समाधान दिया है।

सभी गृहस्थ केवल पुण्य के लिए आहार बनाते हों- ऐसा नहीं है। कुछ मात्र अपने परिवार के लिए ही आहार बनाते हैं, क्योंकि कुछ विशिष्ट लोगों के घरों में सूतक (जन्म, मृत्यु) के समय भी अन्य दिनों की तरह ही आहार बनता है, अन्य दिनों से कम नहीं बनता है, क्योंकि सूतकादि के समय दान नहीं दिया जाता है। यदि सामान्य दिनों में दान देने के संकल्प से अधिक भोजन बनाया जाता, तो सूतकादि के समय कम भोजन बनना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए सिद्ध हुआ कि कुछ घरों में अपने परिवार को जितना चाहिए, उतना ही आहार बनता है और उसी में से दान भी दिया जाता है।

यहाँ छत्तीसवीं गाथा में उठाए गए प्रश्न का समाधान सैंतीसवीं एवं अड़तीसवीं गाथाओं में किया गया है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/37 - पृ. - 235

आचार्य हरिभद्र द्वारा पिण्डविधानविधि की उनचालीसवीं गाथा में^२ पैतीसवीं गाथा में उठाए गए प्रश्न 'गृहस्थ पुण्य के लिए ही आहार बनाते हैं'— इसका समाधान किया गया है।

जिनके घरों में प्रतिदिन एक ही परिमाण में रसोई बनती है— ऐसे गृहस्थों के घरों में श्रमणों को आहार देकर पुण्य कमाने का ध्येय ही नहीं होता है, अपितु ऐसे लोग साधु को जो आहार दिया जा सके, वही हमारे लिए उचित है— ऐसे भाव वाले होते हैं। वे साधु के लिए अधिक आहार बनाने के भाव से रहित होते हैं और इसलिए आहार दूषित नहीं बनता है।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि यदि गृहस्थ साधु को दान देने के भाव रखता हो, तो दान देने के उस भाव से क्या आहार दूषित नहीं होगा ?

दान देने के भावमात्र से आहार दूषित नहीं बनता है, क्योंकि गृहस्थ दान देने के भाव के समय वह कोई आरम्भ की क्रिया नहीं कर रहा होता है, अतः दान देने के भावमात्र से आहार दूषित नहीं होता है। इसकी सिद्धि आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि की चालीसवीं गाथा में^१ की है—

जिस प्रकार केवल ज्ञान की प्राप्ति के भाव के कारण श्रमण द्वारा कोई आरम्भरूप क्रिया नहीं होती है, केवल श्रद्धा का भाव होता है, इसी प्रकार दान के प्रशस्त मानसिक—व्यापार से निर्मित पिण्ड दूषित नहीं होता है। जिस प्रकार दान के समय साधु को वन्दन करने से पिण्ड दूषित नहीं बनता है, उसी प्रकार केवल दान—सम्बन्धी भाव होने से भी पिण्ड दूषित नहीं होता है।

उपर्युक्त विषय का समर्थन आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि पंचाशक की एकतालीसवीं गाथा में^३ किया है।

^१ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/38 — पृ. — 235

^२ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/39 — पृ. — 236

^१ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/40 — पृ. सं. — 236

^२ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/41 — पृ. सं. — 236

^३ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/42 — पृ. सं. — 237

साधु को दान देते समय गृहस्थ का जीवहिसारूप अप्रशस्त व्यापार से रहित केवल दान-भाव आहार को दूषित नहीं करता है, किन्तु साधु के निमित्त से तैयार किया गया पिण्ड तो गृहस्थ के द्वारा दानभावपूर्वक होने पर भी आज्ञा में रहने वाले साधु को भी जब दूषित करता ही है, तो ऐसा पिण्ड आज्ञा में न रहने वाले साधु को तो दूषित करेगा ही।

चौतीसवीं गाथा में अन्य मान्यता के अनुसार जो यह शंका की गई है कि औद्देशिक-आहार आदि का त्याग करके विशिष्ट कुलों में भिक्षा हेतु परिभ्रमण भी नहीं जा सकता है, इसको विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए आचार्य हरिभद्र पिण्डविधानविधि-पंचाशक की बयालीसवीं गाथा में³ लिखते हैं-

कितने ही विशिष्ट लोग तो पुण्य के लिए भी आहार नहीं बनाते हैं, विशेषकर धर्मशास्त्र में कुशल बुद्धि वाले तो और भी नहीं बनाते हैं, इसलिए 'भिक्षा के लिए घूम नहीं सकते हैं'- ऐसा कहना अर्थशून्य है, क्योंकि निर्दोष भिक्षा ऐसे लोगों के यहाँ से ही प्राप्त की जा सकती है।

अन्य मान्यता का प्रश्न है कि क्या निर्दोष भिक्षा लेना दुष्कर है ? आचार्य हरिभद्र पिण्डविधानविधि की तिरालीसवीं गाथा में¹ इस प्रश्न का समर्थन करते हुए समाधान देते हैं-

यदि आप यह मानते हैं कि असंकल्पितादि भिक्षा प्राप्त करना दुष्कर है, तो यह मान्यता सत्य है, क्योंकि साधु के लिए असंकल्पित आहार ही नहीं, उसके तो सभी आचार दुष्कर हैं। जिस साधु के सभी आचार दुष्कर हैं, उसका निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना दुष्कर हो, तो कौन-सी नई बात है ?

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूत्रि- 13/43 - पृ. सं. - 237

इस प्रश्न का समर्थन करके समाधान दिया, तो पुनः प्रश्न किया गया कि निर्दोष भिक्षा इतनी दुष्कर है, तो साधुजन इसके लिए इतना प्रयत्न क्यों करते हैं ? आचार्य हरिभद्र ने पुनः इस प्रश्न का सही उत्तर देते हुए कहा है—

साध्याचार का फल मोक्ष है। यह मोक्ष कठिन प्रयत्न किए बिना नहीं मिलता है, इसलिए साधु इसके लिए प्रयत्न करते हैं।

शुद्ध-अशुद्ध भिक्षाग्रहण करने से सम्बन्धित कर्मवादियों के मत का समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्र पिण्डविधानविधि पंचाशक की चवालीसवीं गाथा में² स्पष्ट करते हैं—

आप्तवचन के अनुसार प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रभाव के कारण यदि अशुद्ध भोजन का ग्रहण हो जाए, तो भी वह निर्दोष ही माना जाता है, किन्तु आप्तवचन के अनुसार आचरण नहीं करने वाला साधु यदि अशुद्ध आहार ग्रहण करे, तो उसका वह कार्य निर्दोष नहीं माना जाएगा, क्योंकि आहार की निर्दोषता में आप्तवचन का योग निमित्त-कारण ही होता है।

भोग में प्रवर्तमान व्यक्ति का कर्म विचित्र होता है। यह पुण्यानुबंधी और पापानुबंधी के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से पुण्यानुबंधी कर्म से भोग में प्रवृत्ति की जाए, या कोई करे, तो भी वह पुण्यरूप परिणाम-विशेष घटित होने से दोष नहीं लगता है।

प्रस्तुत विषय पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आप्त वचनानुसार चलने वाला साधक अशुद्ध आहार ग्रहण करता है, तो दोष नहीं है। यदि इसके विपरीत चलने वाला साधक अशुद्ध आहार ग्रहण करता है, तो वह दूषित ही है, जबकि दोनों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों का कारण है, ऐसा क्यों ?

समाधान — दोनों में ज्ञानावरणीयादि कर्म कारण है। आहार दोनों का दोषी है, परन्तु आप्तवचनानुसार चलने वाला साधक दोषी आहार ज्ञात होने पर भूल का पश्चाताप करता है, अनासक्त रहता है, अपनी गलती का अहसास करता है, मिथ्या दुष्कृत्य करता है,

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/44 - पृ. सं. - 237

उदासीन रहता है, परन्तु आप्तवचनानुसार नहीं चलने वाला अशुद्ध आहार ग्रहण करने की बात होने पर न पश्चाताप करेगा, न मिथ्या दुष्कृत्य करेगा, न उदासीन रहेगा, न अनासक्त रहेगा, न अपनी भूल स्वीकार करेगा, इसलिए एक का अशुद्ध आहार ग्रहण निर्दोष है और दूसरे का दोषपूर्ण है।

आहार-निर्दोषिता में कर्मबल कारण बनने पर आपत्ति— पुनः, प्रश्न उपस्थित किया गया कि यदि कर्म के प्रभाव के कारण ही दोषी आहार की प्राप्ति होती है, तो फिर उस आहार को निर्दोष क्यों नहीं माना गया ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की पैतालीसवीं गाथा में¹ किया है—

बिना किसी प्रयत्न के केवल कर्म से अशुद्ध आहार का ग्रहण होता है, इसलिए वह निर्दोष है— ऐसा मानने पर मांसाहार करने वाले हिंसकों को कर्मबंध-रूप दोष नहीं लगेगा, क्योंकि यह सिद्ध होता है कि ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रभाव से हिंसा होती है, इसलिए दोषयुक्त नहीं है, किन्तु यह लोक और आगम के विरुद्ध है, अर्थात् हिंसा और मांसाहार, लोक और सिद्धांत— इन दोनों से बाधित है।

निर्दोष भिक्षा की प्राप्ति सम्बन्धी प्रकरण का उपसंहार— आचार्य

हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की छियालीसवीं गाथा में¹ निर्दोष भिक्षाप्राप्ति के विषय का समाधान करते हुए कह रहे हैं—

भोजन पकाने के कार्य का आरम्भ तो अपने लिए ही होता है, इसलिए भोजन के समय, इतना साधु के लिए और इतना अपने लिए है— ऐसा संकल्प दूषित होता है, ऐसा मानना चाहिए। पुनः, कुछ आहार के पकाने में ऐसा संकल्प नहीं भी होता है। इसे ज्ञानोपयोग, निमित्तशुद्धि और प्रश्न आदि से जाना जा सकता है। आचार्य हरिभद्र

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/45 - पृ. - 238

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/46 - पृ. - 238

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/47 - पृ. सं. - 238

ने प्रस्तुत प्रकरण के अन्तर्गत पिण्डविधानविधि की सैंतालीसवीं गाथा में यह स्पष्ट किया है कि उदगम आदि दोष किनके द्वारा लगते हैं।

उदगम—दोष गृहस्थ से, उत्पादन—दोष साधु से और ऐषणा—दोष, गृहस्थ और साधु— इन दोनों से होते हैं। उदगमादि गृहस्थ आदि से क्यों होता है ? इसका विवेचन पूर्व में किया गया है, अब संयोजन आदि भोजन करते समय होने वाले दोष कहे जा रहे हैं, उन्हें भी जानना चाहिए।

भोजन—मंडली के पाँच दोष— साधु को आहार करते समय ध्यान रखना है कि आहार करते समय कहीं दोष न लग जाए। आहार लाते समय जितना ध्यान रखना है, उससे अधिक आहार करते समय ध्यान रखना है, क्योंकि आहार लेते समय तो रूप, रंग, गंध का ही पता चलता है, पर आहार करते समय रस अर्थात् स्वाद का अनुभव होता है। इस स्थिति में साधक को विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कहीं आहार करते समय साधु स्वादु न बन जाए, क्योंकि रसना की भोजन का स्वाद लेने की प्रवृत्ति है और यह रसना का निर्देश संयम को निर्दोष नहीं रहने देता है, अतः साधु जो जैसा आहार लाया, उसे बिना स्वादरुचि के अपनी संयमयात्रा के निर्वाह हेतु उदासीन भाव से अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए ग्रहण करना चाहिए, जिससे भोजन—मंडली के दोषों से भी बचा जा सकता है। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने पिण्डविधानविधि—पंचाशक की अड़तालीसवीं एवं उनपचासवीं गाथाओं में¹ भोजन—मंडली के दोषों का विवरण स्पष्ट किया है, जिसे समझकर साधु आचरण में लाने का पुरुषार्थ करे।

संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण— ये पाँच भोजन—मंडली के भोजन करते समय के दोष हैं।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 13/48, 49 — पृ. — 239

1.संयोजना— आहारादि में विशेषता लाने के लिए, आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए, अन्य द्रव्यों का संयोग करना। इस प्रथम भेद संयोजना के, उपकरण और आहार—ये दो भेद हैं। पुनः इन दोनों के भी, बाह्य और आभ्यन्तर— ये दो-दो भेद हैं।

(क) उपकरण—संयोजना— विभूषा के लिए चोलपट्ट आदि उपकरण मांगकर बाहर पहनकर दिखाना बाह्य उपकरण—संयोजना और उपाश्रय आदि में पहनना आभ्यन्तर—उपकरण—संयोजना है।

(ख) आहार—संयोजना— भिक्षार्थ घूमते समय दूध, दही आदि मिलने पर उन्हें अपने भोजन में स्वाद बढ़ाने के लिए लेना बाह्य—आहार—संयोजना है और भोजन करते समय उन्हें स्वाद हेतु मिलाना आभ्यन्तर—आहार—संयोजना है।

2. प्रमाण— परिमाण से अधिक भोजन करना।

3. अंगार— चारित्ररूपी काष्ठ के अंगारे अर्थात् कोयले के समान करना।

4. धूम— चारित्ररूपी काष्ठ को धूमयुक्त अर्थात् मलिन करना।

5. कारण— अकारण भोजन करना।

प्रमाण आदि चार दोषों का लक्षण—

(1) पुरुषों के लिए बत्तीस कवल (ग्रास) और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल (ग्रास) भोजन की मात्रा (परिमाण) आगमों में कही गई है, अतः इससे अधिक ग्रहण करना प्रमाण—दोष है।

(2) राग—द्वेष के द्वारा चारित्र को अंगारे अर्थात् कोयले के समान बनाना अंगार—दोष है और चारित्र को धूमयुक्त, अर्थात् किंचित् मलिन बनाना धूम—दोष है।

(3) वैयावृत्य (सेवा), ईर्यासमिति का पालन, संयम का पालन, प्रतिलेखनादि क्रिया करने, अपने प्राणों की रक्षा करने, सूत्रार्थ का अध्ययन और चिंतन करने— इन कारणों से साधु को आहार लेना होता है।

(4) परिमाण से अधिक और अकारण भोजन ग्रहण करने से अतिचार (दोष) लगता है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार— पिण्डविधानविधि में साधु के आहार—चर्चा के दोषों का पूर्णतः विवेचन किया गया है। यदि साधु इन दोषों से बचकर आहार की गवेषणा

करता है, तो अपने संयम को सुरक्षित रखता है। एक तरह से, विशुद्ध आहार संयम का कवच है और यही कवच दुर्गति-रूप दुर्घटना से बचा लेता है और सद्गति-रूप सिद्धत्व को प्राप्त कराने में यह सेतु-रूप भी बन जाता है— यही बात आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अंतर्गत पिण्डविधानविधि-पंचाशक की अंतिम (पचासवीं) गाथा में¹ कही है और यह बताया है कि यह विशुद्ध आहार-चर्या किस प्रकार साधना के अंतिम लक्ष्य मोक्ष को पाने में सहयोगी बनती है।

जो साधु इस पिण्ड-विधान को जानकर और आप्तवचन को प्रमाण मानकर संपूर्ण पिण्ड-दोषों को दूर करता है, वह अपनी संयम-यात्रा से ही संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

विशेष— मोक्ष के इच्छुक के लिए आप्तपुरुष के वचन ही शरण-रूप हैं, क्योंकि मोक्षार्थियों के लिए जो भी निर्देश हैं, जो भी कथन हैं, वह कथन आप्तवचन के अतिरिक्त अन्य किसी के नहीं हैं, अतः सर्वज्ञ के वचन ही मानकर सर्व दोषों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

पंचाशक-प्रकरण में शीलांगविधानविधि

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अंतर्गत शीलांगविधानविधि की प्रथम गाथा में भगवान् महावीर को नमस्कार करके गुरु के उपदेश अनुसार शुभ-अनुष्ठान करने वाले श्रमणों के शील के भेदों की संक्षेप में चर्चा करने की बात कही है।

शीलांगों की संख्या एवं परिभाषा— शील + अंग— इन दो शब्दों से बना हुआ शीलांग है। शील अर्थात् चरित्र, अंग अर्थात् अवयव, श्रमणों का चारित्र ही अवयव है, अर्थात् साधुओं का शील ही अंग है, वह शीलांग है।

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि की दूसरी गाथा में¹ शीलांगों की संख्या का विवरण दिया है। अखण्ड भावचारित्र वाले श्रमणों में अठारह हजार शीलांग

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 13/50 - पृ. - 240

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/1 - पृ. - 241

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/2 - पृ. - 241

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/3 - पृ. सं. - 241

अवश्य होते हैं । यहाँ अखण्ड शब्द का प्रयोग करने का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि (अखण्ड) भाव—चारित्र वाले, ऐसा श्रमणों का विशेषण देने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य—साधुओं में ये शीलांग नहीं होते हैं, भाव—साधुओं में ही होते हैं।

श्रमण—धर्म में शील के 18,000 अंग विशुद्ध अध्यवसाय की अपेक्षा से हैं। पालन करने में कम भी हो सकते हैं। 18,000 शीलांग श्रमणों में ही होते हैं, श्रावकों में नहीं ।

शीलांग के 18,000 भेद— आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि की तीसरी गाथा में शीलांग के भेदों के द्वारा संख्या के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

योग, करण, संज्ञा, इन्द्रिय, भूमि और श्रमणधर्म— ये सब मिलकर अठारह हजार भेद होते हैं।

योगादि का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि की चौथी और पांचवी गाथा में योग, करण आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—

योग तीन हैं— करना, कराना और अनुमोदन करना ।

करण भी तीन हैं— मन, वचन और काय।

संज्ञा चार हैं— आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

इन्द्रियाँ— श्रोत, चक्षु, नासिका, रसना और स्पर्श।

पृथ्वीकायिकादि — पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पन्वेन्द्रिय— ये नौ जीवकाय और दसवां अजीवकाय— ये दस स्थान (भूमि) हैं। इनकी हिंसा और संग्रह को सर्वज्ञों ने त्याज्य कहा है। अजीवकाय निम्नांकित है— अधिक मूल्यवान् वस्त्र, पात्र, सुवर्णादि धातुएँ, जिनकी प्रतिलेखना न हो सके— ऐसे ग्रन्थ, वस्त्र, तूल प्रावारक आदि, कोदों आदि का पुआल, बकरी आदि का चर्म।

श्रमणधर्म — क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (संतोष), तप, संयम, सत्य, शौच, आकिन्चन्य और ब्रह्मचर्य।

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/4, 5 — पृ. सं. — 242

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/6, 7, 8, 9 — पृ. — 242, 243

इन शीलांगों की कुल संख्या इस प्रकार है— योग 3 X करण 3 X संज्ञा 4 X इन्द्रिय 5 X पृथ्वीकायादि 10 X श्रमणधर्म 10 = 18,000।

शील के अठारह हजार भेदों का विवरण— आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधि—पंचाशक की छठवीं से नौवीं तक की गाथाओं में¹ शीलांग के अठारह हजार भेदों का विवरण इस प्रकार स्पष्ट किया है—

आहारसंज्ञा से रहित होकर श्रोत्रेन्द्रिय के संयमपूर्वक क्षमायुक्त मन से पृथ्वीकाय आदि की हिंसा नहीं करना— यह श्रमणधर्म का प्रथम अंग है।

इसी प्रकार, मार्दव, आर्जव आदि दस धर्मों से युक्त मन से, आहारसंज्ञा से रहित होकर, श्रोत्रेन्द्रिय के संयमपूर्वक पृथ्वीकायिक आरम्भगत दस भेद से जीवों की हिंसा नहीं करता है। इसी प्रकार, अप्काय आदि के आधार पर कुल सौ भेद हुए। ये भेद श्रोत्रेन्द्रिय के हुए। इसी प्रकार, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के योग से प्रत्येक के सौ—सौ भेद होते हैं, इसलिए कुल पांच सौ भेद हुए।

ये पांच सौ भेद आहारसंज्ञा के योग से हुए। शेष तीन संज्ञा के योग से प्रत्येक के पांच सौ—पांच सौ भेद हुए। इस प्रकार, कुल मिलाकर दो हजार भेद हुए।

ये दो हजार भेद मन से हुए। शेष वचन और काया से भी प्रत्येक के दो—दो हजार भेद होते हैं, जो कुल मिलाकर छः हजार भेद हुए। ये छः हजार भेद स्वयं न करने से हुए। अन्य से न करवाने से एवं अन्य का समर्थन नहीं करने से छः—छः हजार के भेद से अठारह हजार भेद होते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत शीलांगविधि पंचाशक की दसवीं से बारहवीं तक की गाथाओं में,¹ अठारह हजार में से कोई भी भाग न हो, तो सर्वविरति ही नहीं होती है— इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

बुद्धिमानों को इस शीलांग में निम्न तथ्य जानना चाहिए। कोई भी शीलांग तभी सुपरिशुद्ध हो सकता है, जब शेष सभी शीलांग हों। इस प्रकार, ये शीलांग समुदित

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/10, 11, 12 — पृ. — 244

ही होते हैं, इसलिए यहाँ दो आदि के संयोग से होने वाले भेद नहीं कहे गए हैं, केवल सर्वपदों के अन्तिम भेद के आधार पर अठारह हजार भेद कहे गए हैं।

जिस प्रकार आत्मा का एक प्रदेश भी असंख्य प्रदेश वाला होता है, उसी प्रकार एक शीलांग भी अन्य अनेक शीलांग से युक्त होता है। यदि स्वतन्त्र एक शीलांग हो, तो वह शीलांग सर्वविरतिरूप नहीं कहा जाएगा, क्योंकि सभी शीलांग मिलकर सर्वविरतिमय शीलांग बनते हैं।

जिस प्रकार आत्मा परिपूर्ण प्रदेश वाली है, उसी प्रकार शील (चारित्र) भी परिपूर्ण अंग वाला हो, तो ही सर्वविरति होती है। शील सर्वविरतिरूप अठारह हजार शीलांग वाला है। इनमें से एक भी कम हो, तो सर्वविरति नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि की तेरहवीं से पन्द्रहवीं तक की गाथाओं में,² शील की अखण्डता अन्तःकरण के परिणामों की अपेक्षा से है, इस प्रकार का कथन प्रस्तुत किया है।

अखण्ड शील को विरति के परिणाम के आधार पर जानना चाहिए, न कि बाह्य-प्रवृत्ति के आधार पर, क्योंकि बाह्य-प्रवृत्ति भाव के बिना भी होती है।

जिस प्रकार किसी ने सामायिक में स्थित तपस्वी को पानी में डाल दिया हो, तब साधु की काया अप्कायिक-जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति होने के बाद भी समभाव के परिणाम में चलित नहीं हो, तब वह साधु परमार्थ से अप्कायिक-जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं है— ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार, समभावमें स्थित साधु का आप्तवचन के अनुसार शैक्ष, ग्लान, आचार्य आदि की सेवा करते हुए क्वचिद् द्रव्यहिंसा में प्रवृत्त होने के बाद भी समभाव अविच्छिन्न रहता है, तो उसे अप्रवृत्त ही जानना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि पंचाशक की सोलहवीं एवं सत्रहवीं गाथाओं में,¹ अशुभभाव के बिना अशुभ प्रवृत्ति में रहते हुए भी शील की अखण्डता किस प्रकार रह सकती है, इसका उदाहरण के साथ समाधान प्रस्तुत किया है।

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/13, 14, 15 - पृ. - 245

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/16, 17 - पृ. - 245, 246

जिस प्रकार वैद्यकशास्त्र किसी का हित नहीं करता है, किन्तु कोई यदि उसका पालन करता है, तो उसके लिए वह हितकारी सिद्ध होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा भी किसी का हित नहीं करती, किन्तु उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले का नियमतः हित ही होता है।

अविरतिरूप अध्यवसाय के बिना भी आज्ञापारतन्त्र्य से द्रव्यहिंसादि में प्रवृत्ति द्रव्य, क्षेत्र आदि में प्रतिबन्धरहित होती है, इसलिए सुसाधु की सर्वसावध से निवृत्तिरूप विरति के अध्यवसाय को बाधित नहीं करती है।

सर्वज्ञ की आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला विरतिभाव को खण्डित करता है, इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण की शीलांगविधानविधि—पंचाशक की अठारहवीं एवं उन्नीसवीं गाथाओं में² इस प्रकार करते हैं—

जैनाचार्यों ने कहा है कि आज्ञा—विरुद्ध प्रवृत्ति अपनी मति से विशुद्ध होते हुए भी विरतिभाव को अवश्य बाधित करती है। सूत्र से विरुद्धप्रवृत्ति प्रज्ञापनीय और अप्रज्ञापनीय— ऐसी दो प्रकार की होती है। सूत्र—विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला यदि गीतार्थ साधु के समझाने पर सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करना बन्द कर दे, तो वह प्रवृत्ति प्रज्ञापनीय है और यदि बन्द न करे, तो अप्रज्ञापनीय। इसमें प्रज्ञापनीय सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति निरनुबन्ध अर्थात् रोकी जा सके— ऐसी है, क्योंकि विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला साधु अभिनिवेशरहित होने के कारण गीतार्थ वचन स्वीकार कर सूत्रानुसार प्रवृत्ति करता है।

अप्रज्ञापनीय की सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति अभिनिवेश वाली होने के कारण सानुबन्ध है, क्योंकि गीतार्थ के रोकने पर भी उसके वचन को स्वीकार नहीं करने के कारण वह आगम—सम्मत प्रवृत्ति नहीं करता है। यह अप्रज्ञापनीय सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति मूल से चारित्र का अभाव हुए बिना नहीं होती है।

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि पंचाशक की बीसवीं गाथा में¹ आचार्य भद्रबाहुस्वामी द्वारा कथित गीतार्थ—अगीतार्थ के विहार की चर्चा का प्रतिपादन किया है

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/18, 19 — पृ. — 246

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/20 — पृ. — 247

और स्वयं भद्रबाहुस्वामी ने उक्त विचारों का समर्थन करते हुए इक्कीसवीं एवं बाईसवीं गाथाओं में इसकी चर्चा की है।

गीतार्थ और अगीतार्थ की आज्ञा में रहने वाले अन्य साधुओं की प्रवृत्ति सूत्र के विरुद्ध नहीं होती है, क्योंकि गीतार्थ कभी आप्तवचन का उल्लंघन नहीं करता है। चारित्रवान्, किन्तु सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले को योग्य जानकर उसे ऐसा करने से रोकता है। इस प्रकार, उन दोनों का चारित्र परिशुद्ध होता है, अन्यथा चारित्र परिशुद्ध नहीं बनता है, इसलिए गीतार्थ और गीतार्थसहित— इन दो का विहार कहा है।

उपर्युक्त विषय को प्रस्तुत प्रकरण में शीलांग के अठारह हजार भावों में घटित करते हुए आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि पंचाशक की तेईसवीं गाथा में प्रतिपादित किया है कि इस नियम से यहाँ अठारह हजार शीलांग—परिमाण ही सम्पूर्ण सर्वविरति का भाव है।

श्रमण में अठारह हजार शीलांगों में से एक का भी कम न होना ही मान्य है। यदि एक भी कम हो, तो उन्हें वन्दन में अयोग्य माना है, अर्थात् शीलांग की पूर्णता ही उन्हें वन्दन का अधिकारी बनाती है। इसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि पंचाशक की चौबीसवीं गाथा में⁴ कही है।

शीलांग की अठारह हजार की संख्या में से कभी भी एकाध भी कम नहीं होती है, क्योंकि प्रतिक्रमणसूत्र में अठारह हजार शीलांगों को धारण करने वालों को ही वन्दनीय कहा गया है, अन्यो को नहीं।

जो साधु संकल्प के साथ व्रतों का पालन करता है, उसके लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है, अर्थात् कठिन से कठिन संयमपालन भी सरल, सहज हो सकता है, परन्तु इतना अवश्य है कि 18,000 शीलांगों का पालन पूर्णतया हर कोई नहीं कर सकता, कोई महान् साधक ही कर सकता है, जिसका प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/21, 22 — पृ. — 247

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/23 — पृ. — 248

⁴ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/24 — पृ. — 248

शीलांगविधानविधि पंचाशक की पच्चीसवीं से लेकर उनतीसवीं तक की गाथाओं में¹⁸⁹ इस प्रकार से किया है—

ऐसे शील का पालन कठिन होने से जो गुरु के उपदेश से संसार को अनन्त जन्म—मरण का हेतु जानकर और मोक्ष को जन्म—मृत्यु से रहित जानकर संसार से विरक्त बना हो, जो जिनाज्ञा की आराधना में निरवद्यता को जानकर मोक्षार्थी बना हो, जिसने इस चारित्र को निःशंक होकर विशुद्धभाव से स्वीकार किया हो और शक्ति के अनुरूप आगमोक्त क्रियाओं में उद्यत हो, साथ ही जिन क्रियाओं में असमर्थ हो, उन्हें भाव से करता हो, जो क्रियाएँ आगमोक्त नहीं हैं, उन्हें नहीं करता हो, जो कर्मदोषों को निर्जरित करते हुए सर्वत्र (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में) अप्रतिबद्ध, केवल आज्ञा में उद्धृत, एकाग्रचित्त का स्वामी, आज्ञा में अमूढलक्ष हो, आज्ञा—सम्बन्धी सुनिश्चित बोध वाला हो, 'प्रमाद से नुकसान होगा'— ऐसा जानने से तेलपात्र धारक हो (मृत्यु के भय से तेल भरा कटोरा लेकर नगर में घूमने वाला) और राधावेधक [उपद्रवों की चिन्ता किए बिना पुतली की आँख को वेधने वाले] की तरह अत्यधिक अप्रमत्तापूर्वक रहे, वही इस चारित्र को पालने में समर्थ होता है, दूसरा नहीं, क्योंकि दूसरे क्षुद्र जीवों में ऐसी शक्ति नहीं होती है।

वास्तव में, अप्रमत्त रहने वाला ही चारित्र का पूर्णतः पालन कर सकता है तथा चारित्र का पूर्णतः पालन करने वाला ही भावसाधु है और यही भावसाधु अठारह हजार शीलांग का पालक होता है। भावसाधु ही वन्दनीय होते हैं। द्रव्यसाधु का कोई महत्त्व नहीं है। यदि कोई द्रव्यसाधु को वन्दन भी करता है, तो वह वन्दन करने वाला भावसाधु के गुणों का चिन्तन करते हुए ही वन्दन करता है, अतः उसकी वन्दना भावसाधु को ही है। आनन्दघनजी महाराज ने वासुपूज्य परमात्मा की स्तवना करते हुए कहा है—

“आतमज्ञानी श्रमण क हावे, बीजा तो द्रव्य लिंगी रे।”¹⁹⁰

¹⁸⁹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/25 से लेकर 29 — पृ. सं. — 248

¹⁹⁰ वासुपूज्यस्तवन — योगीआनन्दघन — गाथा— 6

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/30, 31 — पृ. — 249

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि पंचाशक की तीसवीं तथा एकतीसवीं गाथाओं में¹ भावसाधु की चर्चा करते हुए सुवर्ण का उदाहरण देते हुए इसी का समर्थन किया है—

शील दुर्धर होता है— पूर्वाचार्यों ने ऐसा कहा है।

आगमोक्त गुणों से युक्त साधु ही साधु है। आगमोक्त गुणों से रहित साधु साधु नहीं है। इसे सुवर्ण के दृष्टान्त से समझना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण के गुणों से रहित सुवर्ण वास्तविक सुवर्ण नहीं है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु वास्तविक साधु नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि—पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में² स्वर्ण के गुणों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

(1) 1. विषघाती—विषनाशक 2. रसायन— वृद्धावस्था को प्रतीत नहीं होने देने वाला 3. मंगलकारी 4. विनीत— कंगनादि आभूषण बनाने के लिए अपेक्षित लचीलापन 5. प्रदक्षिणावर्त्त— अग्निताप से दाहिनी ओर गोल घूमने वाला 6. गुरुक—भारयुक्त 7. अदाह्य— जो अग्नि से जल न सके 8. अकृत्स्य— दुर्गन्धरहित— ये आठ गुण स्वर्ण में होते हैं।

आचार्य हरिभद्र शीलांगविधानविधि पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में दिए स्वर्ण के गुणों के अनुसार साधु में भी इसी प्रकार के गुणों को घटित करते हुए तैंतीसवीं एवं चौतीसवीं गाथा में³ बताते हैं कि साधु आठ गुणों से सुशोभित होते हैं। साधु स्वर्ण की तरह गुणों से सुशोभित होते हैं।

साधु स्वर्ण की तरह विषघाती हैं, अर्थात् क्रोध, मान, माया, मोह आदि विष को नाश करने वाले होते हैं।

(2) साधु स्वर्ण की तरह रसायनयुक्त हैं, अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अजर—अमर बनाते हैं, जिससे सदा स्व—स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/32 — पृ. — 250

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/33, 34 — पृ. — 250

- (3) स्वर्ण की तरह साधु भी मंगलकारी हैं, अर्थात् अपने गुणों से वे सभी के लिए मंगलमय है। उनका आना, उनका बोलना सभी के लिए मंगल ही करता है।
- (4) विनीत— स्वर्ण की तरह साधु को विनीत बताया है कि साधु स्वभाव से विनीत होते हैं, अर्थात् भूल हो या नहीं, लेकिन यदि गुरु, स्थविर, गृहस्थ आदि साधु को उपालम्भ के रूप में भी कुछ कह दें, तो भी वे नम्र ही रहते हैं।
- (5) प्रदक्षिणावर्त— तात्त्विक मार्गानुसारी, अर्थात् वास्तविक मार्ग (यथार्थ—मार्ग) का अनुसरण करने वाले होते हैं।
- (6) गुरुक— वे गम्भीर होते हैं, अर्थात् किसी की भी गुप्त बात को, भूल को, अपराधों को किसी के सामने प्रकट नहीं करते हैं।
- (7) अदाह्य— क्रोध की भयंकर आग जिसे जला नहीं सकती, अर्थात् क्रोध की आग में भी वे सदा समता—रस से युक्त रहते हैं।
- (8) अकुत्स्य— स्वर्ण की तरह दुर्गन्धरहित, अर्थात् दुर्गुण—रूपी दुर्गन्ध से रहित एवं सदा शीलरूपी सुगन्ध वाले होते हैं।

उपर्युक्त विषय की योजना का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र शीलांगविधानविधि पंचाशक की पैंतीसवीं गाथा में¹ करते हुए लिखते हैं—

सुवर्ण के विषघाती आदि गुण तात्त्विक—रूप से साधु में भी होते हैं, क्योंकि प्रायः साधर्म्य के अभाव में दृष्टान्त नहीं होते हैं।

प्रायः शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि क्या कभी वैधर्म्य में भी दृष्टान्त होते हैं ?

स्वर्ण में किस प्रकार आठ गुण होते हैं, इसका विवरण आचार्य हरिभद्र शीलांगविधानविधि—पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में² इस प्रकार करते हैं—

जो सोना, 1. कष— कसौटी पर घिसना, 2. छेद— काटना, 3. ताप— अग्नि में तपाना और 4. ताड़ना— पीटना— इन चार कारणों से शुद्ध सिद्ध हुआ हो, वही सोना

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/35 — पृ. सं. — 251

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/36 — पृ. सं. — 251

विषघात, रसायन आदि आठ गुणों से युक्त होता है। उक्त परीक्षाओं में से शुद्ध सिद्ध न हुए सोने में उक्त आठ गुण नहीं होते हैं।

तात्विक (यथार्थ) साधु में उपर्युक्त कष आदि किस प्रकार घटित होते हैं, इसका विवरण आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि—पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा में किया है—

पारमार्थिक—साधु में कषादि से शुद्धि निम्नवत् होती है— पद्म, शुक्ल आदि विशिष्ट लेश्या कषशुद्धि है, क्योंकि कर्षण से शुद्ध स्वर्ण और शुभ लेश्याओं से युक्त साधु— दोनों ही निर्मल होते हैं। शुद्ध भावों की प्रधानता छेदशुद्धि है। अपकारी के प्रति कृपा तापशुद्धि है। इस प्रकार, विकाराभाव की दृष्टि से सोने और साधु में समानता है। (जैसे, तापशुद्ध सोना अग्नि में पड़ने पर दोषयुक्त नहीं बनता है, वैसे ही तापशुद्ध साधु अपकारी के प्रति क्रोधादि—रूप विकार वाला नहीं होता है।) बीमारी आदि में अचल बने रहना ताड़नाशुद्धि है। जिस प्रकार ताड़नाशुद्ध सोने में स्वर्ण के आठ गुण होते हैं, उसी प्रकार ताड़नाशुद्ध साधु में शास्त्रोक्त साधु के गुण होते हैं।

शास्त्रोक्त गुणधारी साधु वास्तव में सम्यक् साधु की गणना में है। आगमों में श्रमणों की व्याख्या के अनुसार यह स्पष्ट है कि साधु केवल नाम से ही साधु नहीं होता है और न वस्त्र पहनने मात्र से साधु होता है और न शरीर को कृश करने मात्र से ही साधु बनता है। कषायों को कृष करने वाला ही श्रमण होता है। जो साधु सदा श्रम करता है, मन को नियन्त्रण में करने का प्रयास करता है, वास्तव में वह श्रमण है। भगवान् महावीर ने कहा है कि कोई केवल मस्तक मुड़ा लेने से ही श्रमण नहीं होता है, अपितु जो समत्वयोग की साधना करता है, वही श्रमण होता है।¹ सूत्रकृतांग में श्रमण के जीवन के लिए कहा गया है कि जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक—कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्म के पतन के हेतु हैं, उन सबसे निवृत्त

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/37 — पृ. — 251

² उत्तराध्ययन — म. महावीर— 25/31

रहता है। इसी प्रकार, जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्षमार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वही श्रमण कहलाता है।¹

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन का तात्पर्य पापविरति है। श्रमण-जीवन में व्यक्ति को बाह्य-रूप से समस्त पापकारी (हिंसक) प्रवृत्तियों से बचना होता है, साथ ही आन्तरिक-रूप से उसे समस्त रागद्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना होता है। श्रमण-जीवन का तात्पर्य 'श्रमण' शब्द की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन अर्थ होत हैं— 1. श्रमण 2. समन और 3. शमन।

1. श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है। इसका अर्थ है— परिश्रम या प्रयत्न करना, अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह 'श्रमण' है।
2. समन शब्द के मूल में सम् है, जिसका अर्थ है— समत्वभाव। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह 'श्रमण' कहलाता है।
3. शमन शब्द का अर्थ है— अपनी वृत्तियों को शान्त रखना, अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना, अतः जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है, वह 'श्रमण' है।² यही बात आचार्य हरिभद्र ने शीलांगविधानविधि-पंचाशक की अड़तीसवीं से चवालीसवीं तक की गाथाओं में³ कही है—

जिस प्रकार उपर्युक्त आठ गुणों से युक्त सोना वास्तविक सोना है, गुणरहित सोना वास्तविक सोना नहीं है, अपितु वह नकली है, उसी प्रकार गुणरहित साधु वेशमात्र से वास्तविक साधु नहीं होता है।

सोना नहीं होने पर भी, दूसरे द्रव्यों के संयोग से सोना जैसा दिखलाई देने वाला असली सोना नहीं होता है, अपितु वह नकली सोना ही है। नकली सोने को सोने के रंग जैसा किया जाए, तो भी वह असली सोना नहीं होगा, क्योंकि उसमें सोने के विषघाती आदि गुण नहीं हैं।

¹ सूत्रकृतांग- 1/16/2

² जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक-अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन - पृ. -326

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 14/38 से 44 - पृ. - 252, 253, 254

जैसे पीला सोना विषघात आदि गुणों से युक्त हो, तो ही वास्तविक सोना है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त साधुगुणों से युक्त साधु ही वास्तविक साधु है।

जैसे विषघात आदि गुणों से रहित नकली सोना स्वर्णिम रंगमात्र से असली सोना नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार साधु के गुणों से रहित साधु भिक्षावृत्ति मात्र से वास्तविक साधु नहीं कहा जा सकता है।

जो निश्चय से औद्देशिक आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार करता है, वह निश्चय ही पृथ्वी आदि ाट्काय के जीवों की हिंसा करता है। जो जिनभवन आदि के बहाने निश्चयपूर्वक घर बनवाता है तथा जानते हुए भी सचित्त जल पीता है, वह साधु कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है।

दूसरे कुछ आचार्य कहते हैं कि साधु के सन्दर्भ में कष आदि क्रमशः आधाकर्म आहार आदि हैं। यहाँ कषादि परीक्षाओं से साधु की परीक्षा करना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि साधु आधाकर्म आहार आदि तो नहीं कर लेता है। जो साधु गुणों से रहित है, वह वास्तविक साधु नहीं होता है, आगम में कहे हुए साधु के गुणों के पालन से वास्तविक साधु हो सकता है। आगमोक्त साधु-गुण अत्यन्त शुद्ध हैं और अत्यन्त शुद्ध साधु-गुणों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए आगम में कहे हुए साधु-गुणों का पालन करके ही वास्तविक साधु बना जा सकता है।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार — आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत शीलांगविधानविधि-पंचाशक की पैतालीसवीं गाथा में¹ शीलांग के वर्णन को पूर्णता प्रदान करने हेतू कथन कर रहे हैं—

शीलांगों के सन्दर्भ में प्रासंगिक वर्णन यहाँ पूर्ण होता है। अखंडचारित्र्ययुक्त भावसाधुओं के शीलांग उपर्युक्त रीति से पूर्ण, अर्थात् अठारह हजार में से एक भी कम नहीं होते हैं।

शीलांगयुक्त साधुओं को मिलने वाला फल — सम्पूर्ण रूप से शीलांगयुक्त भावसाधु धर्म की कोटि में हाने के कारण भव-परम्परा के बीज को जलाकर मोक्ष को

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/45 — पृ. — 254

प्राप्त कर लेते हैं। आचार्य हरिभद्र शीलांगविधानविधि—पंचाशक की छियालीसवीं गाथा में¹ इसी बात का प्रतिपादन करते हैं—

सम्पूर्ण शिलांगों से युक्त शुभ अध्यवसाय वाले साधु ही सांसारिक—दुःख का अन्त (नाश) करते हैं, अन्य द्रव्यलिंगी (शुभ अध्यवसायरहित केवल साधुवेश धारण करने वाले) साधु नहीं— ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है।

संयम—ग्रहण करके साधु भावसाधु बनकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, परन्तु द्रव्यलिंगी बाह्य—क्रिया का त्याग करके संयम को धारण करता है तथा द्रव्य—क्रिया पर भी बहुत ध्यान रखता है, फिर भी क्रियाबल से दुःख का नाश नहीं कर पाता है। ऐसी क्रिया से वह स्वर्ग का सुख तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु मोक्ष का सुख नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि उसने संयम तो बहुत बार लिया होगा, परन्तु वह सम्पूर्ण रूप से शीलांगयुक्त नहीं हुआ, इसी कारण से संसार में परिभ्रमण करता है। श्रीमद्देवचन्द्र ने उपदेशिक—भजन में इस प्रकार कहा है—

बाह्य क्रिया सब त्याग परिग्रह, द्रव्यलिंग धर लीनो।

देवचन्द्र कहे या विध तो हम, बहुत बार कर लीनो।²

इसी बात का वर्णन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत शीलांगविधानविधि—पंचाशक की सैंतालीसवीं से उनपचासवीं तक की गाथाओं में³ कहा है—

मुनिधर्म पालनरूप सम्पूर्ण क्रिया भी सम्यक्त्व आदि प्रशस्त भावों के अभाव में सम्यक्क्रिया नहीं बनती है, क्योंकि वह क्रिया मोक्षरूपी फल से रहित है। इससे ग्रैवेयक में उपपात (उत्पत्ति) तो सम्भव है, किन्तु मुक्ति नहीं, अर्थात् ग्रैवेयक में उत्पत्तिरूप मोक्षफलरहित क्रिया परमार्थ से क्रिया नहीं है, क्योंकि उससे मोक्ष नहीं मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रैवेयक में उत्पत्ति संसार—परिभ्रमण की ही हेतु है, मोक्ष की नहीं।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/46 — पृ. — 254

² पंचप्रतिक्रमण — श्रीमद् देवचन्द्र — श्री समकित की सज्जाय — पृ. — 358

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/47, 48, 49 — पृ. — 255

यह इस प्रकार है— सम्यग्दर्शन से रहित केवल बाह्याचार का पालन करके जीव ने अनेक बार ग्रैवेयक—विमानों में जन्म लेकर शरीर छोड़े हैं। बाह्यतः साधु—आचार का पालन करते हुए ग्रैवेयक—विमानों में उत्पन्न हो जाना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी यह सब तो प्राप्त कर ही लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भावरहित साधु—आचार का पालन जीव ने अनन्त बार किया है, तभी तो उसने ग्रैवेयक—विमानों में उत्पन्न होकर अनन्त बार उन देव—शरीरों को छोड़ा है, फिर भी उसे मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होने से मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ। यदि सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई होती, तो अनन्त बार साधुजीवन की प्राप्ति और अनन्त बार ग्रैवेयक—विमानों में उत्पत्ति नहीं होती। इन्हीं कारणों से सम्यक्त्व आदि शुद्ध भावों से रहित (प्रशस्तभाव) निरर्थक क्रिया बुद्धिमानों को अभिमत नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार— प्रस्तुत प्रकरण में शीलांग के विषय की गहन जानकारी प्रस्तुत की गई है। यदि बुद्धिमान् साधु शीलांग के गुणों को जानकर पूर्णतः आत्मसात् करता है, तो वह संसार की सन्तति—परम्परा का शीघ्र ही विच्छेद करता है, अतः साधु की भावपूर्ण क्रिया ही शीलांग की पूर्णता है। इस विषय में आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत शीलांगविधानविधि—पंचाशक की अन्तिम पचासवीं गाथा में यह स्पष्ट करते हैं—

इस प्रकार, विशिष्ट लोगों को स्वविवेकपूर्वक उक्त प्रकार से विचार करके संसार—सागर से मुक्त होने के लिए भावयुक्त क्रिया करना चाहिए।

आलोचनाविधि

आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत आलोचनाविधि—पंचाशक में आलोचना आदि के अर्थ, विधि आदि का प्रतिपादन करने के पूर्व प्रस्तुत विधि की प्रथम गाथा में अपने आराध्य के चरणों में नमस्कार करते हुए कहते हैं—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 14/50 — पृ. — 256

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/1 — पृ. — 257

तीनों लोकों के गुरु भगवान् महावीर को सम्यक् प्रकार से नमस्कार करके मैं साधुओं की आलोचनाविधि को संक्षेप में कहूँगा।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आलोचना केवल साधुओं के लिए ही क्यों ? श्रावकों के लिए भी तो हो सकती है ?

इसका समाधान करते हुए श्रावक-सम्बन्धी आलोचनाविधि का वर्णन प्रथम पंचाशक की नौवीं गाथा में कर दिया गया है।

आलोचना शब्द का अर्थ— आलोचनाविधि-पंचाशक के अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र के अनुसार, अपने दृष्टकृत्यों को गुरु के समक्ष विशुद्धभाव से बिना कुछ भी छिपाए पूर्ण रूप से प्रकाशित करना ही आलोचना है।¹

उत्तराध्ययनसूत्र की शान्त्याचार्य की बृहद्वृत्ति के अनुसार—

गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना आलोचना है।²

आलोचना को विकटना, शोधि, सद्भाव-दर्शन, निन्दा, गर्हा, विकुट्टन, शात्योहरण, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण भी कहते हैं। आलोचना के ये नाम हमें उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्यकृत बृहद् टीका में प्राप्त होते हैं।³

आलोचना से लाम— आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि-पंचाशक के अन्तर्गत तीसरी और चौथी गाथाओं में⁴ आलोचना का फल बताते हुए कहते हैं—

आलोचना में अज्ञानता आदि के कारण दुष्कृत्यों के लिए पश्चाताप होता है, इसलिए आलोचना का परिणाम फलयुक्त जानना चाहिए। जिस प्रकार रागादि रूप चित्त की मलिनता के कारण दुष्कृत्यों का सेवन करने पर अशुभकर्म का बन्ध होता है, उसी प्रकार पश्चाताप-रूपी चित्तविशुद्धि के कारण उस अशुभकर्म का क्षय होता है। सम्यक् विधि से एवं भावपूर्वक की गई आलोचना द्वारा चित्त की विशुद्धि अवश्य ही होती है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/2 - पृ. सं. - 257

² उत्तराध्ययन भान्त्याचार्यबृहद्वृत्ति - आलोयणमरिहति आ मज्जा लोयणा गुरुसगासे - पृ. सं. - 608

³ उत्तराध्ययन भान्त्याचार्यबृहद्वृत्ति - आलोयणमरिहति आ मज्जा लोयणा गुरुसगासे - पृ. सं. - 608

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/3, 4 - पृ. सं. - 257, 258

आलोचना से होने वाला लाभ— उत्तराध्ययन के अनुसार, आलोचना से जीव अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्षमार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्यादर्शन शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। वह अमायी होता है, इसलिए वह स्त्रीवेद और नंपुसकवेद का कर्मबन्ध नहीं करता और यदि वे बन्ध पहले हुए हों, तो उनका क्षय कर देता है।¹

ओघनिर्युक्ति के अनुसार, जैसे भारवाहक भार को नीचे उतारकर हल्केपन का अनुभव करता है, वैसे ही गुरु के समक्ष आलोचना तथा निन्दा कर निःशल्य बना साधक अतिरिक्त हल्केपन का अनुभव करता है।²

विधिरहित आलोचना से विशुद्धि नहीं— यदि साधक विधिरहित अर्थात् अविधि से आलोचना करता है, तो वह सफलता को प्राप्त नहीं करता है। जिस प्रकार रसोई बनाने वाला सब्जी, मिठाई आदि को विधिपूर्वक नहीं बनाए, तो वह सफल रसोइया नहीं कहलाएगा, उसी प्रकार आलोचना करने वाला विधिपूर्वक आलोचनाविधि नहीं करे, तो उसकी आलोचना सफल नहीं होगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि पंचाशक की पांचवीं, छठवीं एवं सातवीं गाथाओं में³ कहते हैं—

विधिपूर्वक आलोचना नहीं करने पर चित्त—विशुद्धि नहीं होती है और उसके अभाव में आलोचना उसी प्रकार निष्फल या अनर्थकारी होती है, जिस प्रकार कुवैद्य यदि रोगचिकित्सा करे, अथवा अविधि से विद्या की साधना की जाए, तो वह निष्फल होती है। कदाचित् वह चिकित्सा या साधना सफल भी हो सकती है, किन्तु विधिरहित आलोचना से कभी भी सिद्धि नहीं मिलती है, क्योंकि अविधिपूर्वक आलोचना करने पर जिन—आज्ञा का भंग होता है।

तीर्थकरों की आज्ञा का विधिपूर्वक एवं भावसहित पालन करना चाहिए। उनकी आज्ञा का पालन विधिवत् नहीं करने पर मोहवश चित्त अत्यधिक संक्लेश अर्थात् मलिनता को प्राप्त होता है।

¹ उत्तराध्ययन — म. महावीर— 29/5

² ओघनिर्युक्ति — भद्रबाहुस्वामी — 806

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/5, 6, 7 — पृ. सं. — 258

संकलेश से अशुभकर्मों का बन्ध होता है तथा दुष्कृत्य-सेवन के कारणभूत संकलेशों से युक्त होकर आलोचना करने से भी संकलेश ही अधिक होता है। कम संकलेश से हुआ कर्मबन्ध अधिक संकलेश से दूर नहीं होता। जिस प्रकार अल्पमलिन वस्त्र अधिक मलिन करने वाले रक्तादि पदार्थों से शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार कम संकलेश से हुए कर्मबन्ध का उससे अधिक कर्मबन्ध करने वाले तथा जिनाज्ञा भंग करने वाले संकलेश से नाश नहीं होता है।

आलोचना करने की विधि- आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि-प्रकरण के अन्तर्गत आठवीं गाथा में¹ लिखते हैं-

आलोचना के योग्य व्यक्ति को योग्य गुरु के पास आसेवनादि के क्रम से आकुट्टिका आदि भावपूर्वक जो दुष्कृत्य किया हो, उसका प्रकाशन करते हुए प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आलोचना करना चाहिए।

विशेष- यह द्वारगाथा है। इसमें आलोचना-योग्य व्यक्ति, योग्य गुरु, क्रम, भावप्रकाशन और द्रव्यादिशुद्धि- ये पाँच द्वार हैं। इनका विवेचन बारहवीं गाथा में क्रमशः किया जाएगा।

सागारधर्माऽमृत के अनुसार- समाधिमरण का इच्छुक मनुष्य योग्य आलोचना के योग्य स्थान और काल में अपने द्वारा किए हुए सम्पूर्ण पापों को और व्रतों में लगे हुए अतिचारों को गुरु के प्रति निवेदन करके गुरु के द्वारा दिए हुए प्रायश्चित्त प्रतिक्रमादिविधि द्वारा अपने व्रतों की शुद्धि करे तथा माया, मिथ्यात्व और निदान- इन तीनों शल्यों को छोड़कर, निःशल्य होकर, अपने रत्नत्रय की आराधनारूप मार्ग में प्रवृत्ति करे।

योग्य स्थान- जिनजन्म-कल्याणभूमि आदि तीर्थस्थान, अथवा जिनमन्दिर, मुनियों के रहने के योग्य स्थान एवं एकान्त स्थान, जहाँ क्षपक और निर्यापकाचार्य- दोनों ही हों, तीसरा कोई न हो।

योग्य काल- प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि से रहित काल।²

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/8 - पृ. - 259

² सागारधर्माऽमृत - पं. आशाधर- 8/33 - पृ. - 430

आलोचना का काल— आचार्य हरिभद्र ने आप्तपुरुषों एवं भद्रबाहुस्वामी द्वारा कथित आलोचना के काल का विवरण आलोचनाविधि पंचाशक की नवमीं से ग्यारहवीं तक की गाथाओं में¹ किया है, जो इस प्रकार है—

जिनेन्द्र देव ने इस आलोचना का काल पक्ष (पन्द्रह दिन), चार महीना आदि कहा है। पूर्वाचार्य भद्रबाहु आदि ने भी इसे इसी प्रकार कहा है।

सामान्य आलोचना तो प्रतिदिन प्रतिक्रमण में सुबह—शाम की जाती है, पक्षादि काल प्रायः विशेष आलोचना का है। कोई विशिष्ट अपराध हुआ हो, तो उसकी उसी समयविशेष में ही आलोचना कर लेना चाहिए। बीमारी से उठा हो, या लम्बा विहार किया हो, तो इन कारणों से पक्षादि में भी आलोचना की जा सकती है, इसलिए यहाँ प्रायः कहा गया है। पूर्णिमा या अमावस्यारूप पाक्षिकपर्व या चातुर्मासपर्व में आलोचना अवश्य करना चाहिए तथा पहले लिए गए अभिग्रहों (प्रत्याख्यानों) को गुरु से निवेदन करके नए अभिग्रहों को ग्रहण करना चाहिए।

अतिचार न लगा हो, तो भी ओघ, अर्थात् सामान्य रूप से पाक्षिकादि में पूर्वमुनियों ने आलोचना की है, अतः पाक्षिकादि में आलोचना करना जिनाज्ञा है। जिस प्रकार जल का घड़ा प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी गन्दगी रह जाती है, अथवा घर को प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी धूल रह जाती है, उसी प्रकार संयम में प्रयत्नशील साधक को विस्मरण और प्रमाद के कारण अतिचार लगना सम्भव है, इसलिए उपर्युक्त कारणों से पाक्षिकादि पर्वों में आलोचना अवश्य करना चाहिए।

आठवीं गाथा में वर्णित आलोचना करने की विधि के अनुसार पाँच द्वारों का क्रमशः विशेष विवेचन आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि पंचाशक की बारहवीं से लेकर इक्कीसवीं तक की गाथाओं में² किया है, जो इस प्रकार है—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/9, 10, 11 — पृ. — 259, 260

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/12 से 21 — पृ. — 260—264

प्रथम द्वार— 'योग्य'

तीर्थकर ने संविग्न (संसार से भयभीत), मायारहित, विद्वान्, कल्पस्थित, अनाशंसी, प्रज्ञापनीय, श्रद्धालु, आज्ञावान्, दुष्कृततापी (अतिचार लग जाने पर पश्चाताप करने वाला), आलोचनाविधि समुत्सुक और अभिग्रह, आसेवना आदि लक्षणों से युक्त साधु को आलोचना करने के योग्य कहा है।

1. **संविग्न— (संसारभीरु)—** संसारभीरु को ही दुष्कर कार्य करने का भाव होता है। आलोचना दुष्कर कार्य है, अतः आलोचना करने वाले साधु को 'संविग्न' कहा है।
2. **मायारहित—** मायावी दुष्कृत्यों को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकता है, इसलिए आलोचना करने वाले साधु का मायारहित होना आवश्यक है।
3. **विद्वान्—** अज्ञानी जीव आलोचनादि के स्वरूप को अच्छी तरह समझ नहीं सकता है, अतः आलोचक को विद्वान् होना चाहिए।
4. **कल्पस्थित—** स्थविरकल्प, जातकल्प, समाप्तकल्प आदि में स्थित।
5. **अनाशंसी—** अपने स्वार्थ के लिए आचार्य आदि को अपने अनुकूल करने की आशंसा से रहित। आशंसा वाले जीव की सम्पूर्ण आलोचना नहीं होती, क्योंकि आशंसा भी अतिचार है।
6. **प्रज्ञापनीय—** जिसे आसानी से समझाया जा सके। अप्रज्ञापनीय, अर्थात् हठी जीव अपनी मान्यता नहीं छोड़ता, इसलिए उसे दुष्कृत्यों से रोका नहीं जा सकता है।
7. **श्रद्धालु—** गुरु के प्रति श्रद्धावान्, अर्थात् जो गुरु के द्वारा दी गई आलोचना पर श्रद्धा रखता है।
8. **आज्ञावान्—** आप्तोपदेशानुसार प्रवर्तमान। ऐसा जीव प्रायः दुष्कृत्य करता ही नहीं है।
9. **दुष्कृततापी—** अतिचारों का सेवन होने पर पश्चाताप करने वाला। दुष्कृततापी जीव ही आलोचना करने में समर्थ होता है।

10. आलोचनाविधि-समुत्सुक- आलोचना की विधि की इच्छा वाला। ऐसा जीव आलोचना में अविधि का त्याग सावधानीपूर्वक करता है।

11. अभिग्रह-आसेवनादि लक्षणों से युक्त- आलोचना की योग्यता के सूचक नियम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार लेना, दूसरों को दिलाना, लेने वालों की अनुमोदना करना आदि लक्षणों से युक्त होना।

आचारवान्, अवधारवान्, व्यवहारवान्, अपत्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी, अपरिश्रावी, परहितोद्यत, सूक्ष्मभावकुशलमति, भावानुमानवान् आलोचनाचार्य (योग्य गुरु) आलोचना देने के योग्य हैं।

विशेष :

1. आचारवान्- जिसे ज्ञानाचारादि पाँच आचारों का ज्ञान हो और उनका पालन करता हो, वह आचारवान् है। ऐसे गुरु के वचन ही श्रद्धा करने योग्य होते हैं।

2. अवधारवान्- आलोचना करने वाले साधु के द्वारा कहे हुए अपराधों को सुनकर भी अन्य के समक्ष प्रकट नहीं करने वाला गुरु ही अच्छी तरह प्रायश्चित्त दे सकता है।

3. व्यवहारवान्- आगम, श्रुत,, आज्ञा, धारण और जीत- इन पाँच व्यवहारों को जानने वाला गुरु शुद्धि करने में समर्थ होता है।

4. अपत्रीडक- लज्जावश अतिचारों को छिपाने वाले शिष्यों को लज्जारहित बनाने वाला गुरु आलोचक का बहुत बड़ा उपकारी होता है।

5. प्रकुर्वी- प्रकट किए गए अतिचारों का प्रायश्चित्त देकर विशुद्धि कराने वाला।

6. निर्यापक- साधु के प्रायश्चित्त को पूरा कराने वाला। गुरु साधु से बड़े से बड़े प्रायश्चित्त को भी पूरा कराने में समर्थ होता है।

7. अपायदर्शी- इस लोक-सम्बन्धी दुर्भिक्ष और दुर्बलता आदि अनिष्ट को देखने वाला गुरु जीवों को परलोक में दुर्लभबोधि होने आदि की सम्भावना बतलाकर आलोचना का उपकार करता है।

8. अपरिश्रावी- आलोचक के द्वारा कहे हुए दुष्कृत्यों को दूसरों से न कहने वाला। आलोचक के दुष्कृत्य दूसरों से कहना लघुता है।

9.परिहितोद्यत— परोपकार में तत्पर। जो परोपकारी नहीं होता है, वह दूसरों की अवहेलना करता है।

10.सूक्ष्मभावकुशलमति— लौकिक-शास्त्रों का अधिक सूक्ष्मता से ज्ञाता।

11.भावानुमानवान्— दूसरों के चित्त के भावों को अनुमान से जानने वाला गुरु ही आलोचक के भाव के अनुसार प्रायश्चित्त देने में समर्थ होता है।

उक्त गुणों से रहित गुरु आलोचनाकर्त्ता के दोषों की शुद्धि करने में समर्थ नहीं होता है।

ठाणांगसूत्र में भी आलोचनायोग्य गुरु का प्रतिपादन किया गया है।¹ सोमगणि द्वारा रचित पुष्पमालाटीका के अनुसार भी आचारवान, अवधारवान् आदि गुणों से युक्त गुरु ही आलोचना देने योग्य हैं।²

आसेवना और विकट आलोचना— इन दो क्रमों से आलोचना करना चाहिए। जिस क्रम से दोषों का सेवन किया हो, उसी क्रम से दोषों को कहना आसेवना-क्रम कहलाता है। छोटे अतिचारों को पहले कहना और फिर बड़े अतिचारों को कहना, अर्थात् प्रायश्चित्त के क्रम से ज्यों-ज्यों प्रायश्चित्त की वृद्धि हो, त्यों-त्यों दोषों को कहना विकट-आलोचना-क्रम कहलाता है, जैसे- सबसे छोटे अतिचार में 'पंचक' प्रायश्चित्त आता है, उससे बड़े अतिचार में 'दशक;' और उससे बड़े अतिचार में 'पंचदशक' प्रायश्चित्त आता है, इसलिए इस क्रम से दोषों का कहना विकटआलोचना-क्रम कहलाता है।

गीतार्थ विकटआलोचना-क्रम से ही आलोचना करे, किन्तु जिन्हें आलोचना के प्रायश्चित्त का क्रम ज्ञात नहीं है, वे मुनि आसेवना-क्रम से दोषों की आलोचना करें, क्योंकि आसेवना-क्रम को अच्छी तरह याद रख सकता है।

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आलोचना करना चाहिए। प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आलोचना करने से शुभभावों की वृद्धि होती है। संकल्पपूर्वक, प्रमादवश, संयम की रक्षा हेतु यतनापूर्वक, कल्पपूर्वक, (विशिष्ट आलम्बर के द्वारा) सम्भ्रम

¹ ठाणांग - म. महावीर - गाथा- 5

² पुष्पमालाटीका - साधुसोमगणि - गाथा- 352

के कारण, सारासार का विवेक किए बिना, अथवा अयतनापूर्वक— इस प्रकार जिस भाव से जो कार्य किया हो, वह सब गुरु से यथातथ्य (कुछ भी छिपाए बिना) निवेदन कर देना चाहिए।

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आलोचना करना चाहिए। प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आलोचना करने से शुभभावों की वृद्धि होती है, क्योंकि शुभ के कारण प्रायः शुभ ही हुआ करते हैं। द्रव्य से दूधयुक्त वृक्षादि प्रशस्त द्रव्य हैं। क्षेत्र में जिनमन्दिर आदि प्रशस्त क्षेत्र हैं, काल में पूर्णिमा आदि शुभ तिथियों के दिन शुभ-काल हैं और भाव में शुभोपयोग (प्रशस्त अध्यवसाय) आदि शुभभाव हैं।

शुभ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के योग में प्रायः भावों की शुद्धि होती है, इसलिए शुभ द्रव्यादि का अनुसरण करने का प्रयत्न करना चाहिए— यही तीर्थकरों की आज्ञा है।

ज्ञानादि आचार-सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े अतिचारों की अच्छी तरह आलोचना करना चाहिए। उस आचार के 1. ज्ञान 2. दर्शन 3. चारित्र 4. तप और 5. वीर्य— ये पाँच भेद हैं।

आलोचनीय दोषों का निर्देश — जीवनचर्या में ज्ञात अथवा अज्ञात में, जो भी पाप हो जाए, अपराध हो जाए, भूल हो जाए, फिर वह अपराध छोटा हो या बड़ा, उसकी आलोचना अवश्य करना चाहिए। इस बात का निर्देश आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि-पंचाशक की बाईसवीं गाथा में¹ वर्णित करते हैं—

ज्ञानादि आचार-सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े अतिचारों की अच्छी तरह आलोचना करना चाहिए। उस आचार के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य— ये पाँच भेद हैं।

ज्ञानाचार के भेद— ज्ञान के आठ आचार हैं। इन आठ आचारों में मलिनता का आना ज्ञानातिचार है, इसी प्रकार दर्शनाचार आदि का स्वरूप है, अतः अतिचारों को जानने के पूर्व आचार को जानना अति आवश्यक है। चूंकि जो आचार को जान लेता है,

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/22 - पृ. - 265

वह अतिचार को सरलता से जान लेता है, अतः हम ज्ञान-दर्शन आदि के आचार को समझेंगे।

आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि-पंचाशक के अन्तर्गत तेईसवीं गाथा से लेकर सत्ताईसवीं तक की गाथाओं में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के भेदों का क्रमशः विवरण किया है, जो इस प्रकार है-

ज्ञानाचार के काल :

1. काल- अंग-प्रविष्ट, अनंग-प्रविष्ट आदि आगमों को पढ़ने का जो समय है, उसी समय उन आगमों का अध्ययन करना काल-सम्बन्धी ज्ञानाचार है। समय पर किया गया काम लाभदायी होता है, जैसे- समय पर की गई खेती, अन्यथा पूरा वर्ष दुःखदायी हो जाता है।
2. विनय- ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तक आदि का उपचार-रूप से विनय करना।
3. बहुमान- ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि के प्रति बहुमान रखते हुए पढ़ना।
4. उपधान- जिस सूत्र, अर्थ आदि के अध्ययन के लिए जो तप बताया गया है, उन सूत्रादि का तपपूर्वक अध्ययन करना उपधान है।
5. अनिहनव- किससे पढ़ रहें हैं ? क्या पढ़ रहे हैं ? कितना पाठ याद हो गया ? आदि तथ्यों को न छुपाते हुए पढ़ना अनिहनव है।
6. व्यंजन- सूत्र व अक्षर जिस रूप में हो, उसी रूप में सम्यक् प्रकार से पढ़ना।
7. अर्थ- सूत्रादि का जो अर्थ है, उसका सम्यक् अर्थ करते हुए पढ़ना।
8. तदुभय- सूत्र और अर्थ- इन दोनों को सम्यक् प्रकार से पढ़ना, बोलना एवं लिखना।

यहाँ ज्ञानाचार का तात्पर्य इस प्रकार से है- ज्ञान की आराधना करने वालों के ज्ञान-साधना सम्बन्धी व्यवहार ज्ञानाचार कहे जाते हैं।

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/23, 27 - पृ. - 265, 266

दर्शनाचार के आठ प्रकार—

1. निःशंकित— जिनवचन में शंका नहीं करना चाहिए।
2. निष्काक्षित— अन्य दर्शन, अथवा कर्मफल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।
3. निर्विचिकित्सा— सदाचार के फल के प्रति शंका का अभाव।
4. अमूढदृष्टि— अन्य धर्मों का चमत्कार देखकर भ्रमित नहीं होना।
5. उपबृहणां— स्वधर्मी भाइयों के गुणों की प्रशंसा करना।
6. स्थिरीकरण— धर्म में प्रमाद करने वाले को धर्म में स्थिर करना।
7. वात्सल्य— साधर्मिक का सहयोग करना।
8. प्रभावना— श्रुतज्ञानादि से जैन-शासन की प्रभावना करना। दर्शन-सम्बन्धी आचार-व्यवहार दर्शनाचार कहलाता है।

चारित्राचार के भेद—

प्रणिधान का अर्थ है— मन की एकाग्रता और योग का अर्थ है— व्यापार। मन की एकाग्रतारूप व्यापार को प्रणिधान-योग कहा जाता है। एक अन्य अपेक्षा से योग, अर्थात् मन का निरोध। प्रणिधान (एकाग्रता) और मनोनिरोध से युक्त प्रणिधान-योगयुक्तता है।

जो जीव पाँच समितियों (ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भंडभक्त-निक्षेपण-समिति और उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण पारिद्धावणिया-समिति) और तीन गुप्तियों (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति) में प्रणिधान और योग से युक्त हैं, वे आठ प्रकार के चारित्राचार हैं, अथवा 'युक्त' शब्द का समिति और गुप्ति के साथ अन्वय करने पर अर्थ होगा— प्रणिधान और योग से युक्त, अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त— ऐसा व्यक्ति आठ प्रकार के चारित्राचार वाला होता है। चारित्र से सम्बन्धित आचार-व्यवहार चारित्राचार होता है।

तपाचार के भेद—

जो जीव सर्वज्ञ प्ररूपित छः प्रकार के आभ्यंतर और छः प्रकार के बाह्य— इस प्रकार बारह प्रकार के तपों में खेदरहित, निःस्पृह रूप से प्रवृत्ति करता है, वह जीव बारह प्रकार का तपाचार है। यहाँ आचार और आचारवान् में अभेद होने के कारण जीव को ही तप कहा गया है। तप सम्बन्धी आचार तपाचार है।

वीर्याचार के भेद— जो जीव बल और वीर्य को छिपाए बिना आगम के अनुसार धर्मक्रिया में प्रवृत्ति करता है और शक्ति का उल्लंघन किए बिना आत्मा को धर्मक्रिया में जोड़ता है, वह जीव वीर्याचार है। (यहाँ भी जीव और आचार के अभेद से जीव को ही आचार कहा गया है।)

पाँच प्रकार के आचारों में ज्ञात-अज्ञात में मलिनता आ गई हो, तो उन अतिचारों की शुद्धि कर लेना चाहिए एवं संकल्प करना चाहिए कि मुझसे अतीत में जो भूल हो गई हों, वे भूल भविष्य में भी नहीं करूंगा, उनके लिए वर्तमान में सजगता रखूंगा। यही जीवन की सावधानी है।

इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि-पंचाशक की अट्ठाईसवीं गाथा में¹ स्पष्ट करते हैं—

उक्त पाँच प्रकार के आचारों में अकाल-पठन, वाचनादाताओं के प्रति अविनय आदि सूक्ष्म और स्थूल— जो भी अतिचार लगे हों, उन सबकी मैं ऐसी गलती फिर से नहीं करूंगा— ऐसा परिणाम वाला बनकर संवेगपूर्वक (संसार से भयभीत होकर) आलोचना करना चाहिए।

अतिचारों का अन्य तरह से निर्देश— मूलगुण एवं उत्तरगुणों में अतिचार लगते हैं, अतः इनमें लगे अतिचारों की भी आलोचना होना चाहिए। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत आलोचनाविधि-पंचाशक की उनतीसवीं गाथा में² इसी विषय का प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार है—

महाव्रत आदि मूलगुणों और पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणों सम्बन्धी जो अतिचार है, उनकी उपर्युक्त प्रकार से आलोचना करना चाहिए।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/28 - पृ. - 267

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/29 - पृ. - 268

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/30 से 34 - पृ. - 268, 269

मूलगुण, उत्तरगुण और उनके अतिचारों का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि—पंचाशक के अन्तर्गत तीसवीं गाथा से लेकर चौतीसवीं तक की गाथाओं में मूलगुण आदि के स्वरूप का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है—

साधुओं के प्राणातिपातविरमण से रात्रिभोजनविरमण तक के व्रत मूलगुण हैं। साधुओं के इन मूलगुणों का पालन तीन करण और तीन योग से, अर्थात् करने, करवाने और अनुमोदन करने, मन से, वचन से और काया से (3X3 = 9) — इस प्रकार नव कोटियों से करना होता है।

पिण्डविशुद्धि आदि से लेकर अभिग्रह तक के गुण उत्तरगुण कहलाते हैं (42 पिण्डविशुद्धि, 8 समिति—गुप्ति, 25 महाव्रत—भावना, 6 बाह्य और 6 आभ्यन्तर— ये बारह प्रकार के तप, बारह प्रतिमाएँ, द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव— ये चार अभिग्रह— इस प्रकार कुल 103 उत्तरगुण हैं)। मूलगुण धर्मरूप कल्पवृक्ष के मूल (जड़) के समान हैं और उत्तरगुण उसकी शाखाओं के समान हैं। प्राणातिपातविरमणादि के एकान्द्रिय—संघट्टन (संस्पर्श) आदि अतिचार हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सम्बन्धी संघट्टन, परिताप और विनाश— ये प्रथम व्रत के अतिचार हैं।

निद्रासम्बन्धी मृषावाद आदि दूसरे व्रत के अतिचार हैं। बैठा—बैठा कोई साधु सो रहा हो और उससे पूछा जाए कि क्या वह सो रहा है, और वह मना करे कि वह सो नहीं रहा है, तो उसे मृषावाद—अतिचार लगता है। इसी तरह बूदाबादी हो रही हो और किसी साधु से पूछा जाए कि क्या वर्षा हो रही है ? यदि वह कहे कि नहीं, वर्षा नहीं हो रही है, तो उसे मृषावाद—अतिचार लगता है। ये अतिचार सूक्ष्म हैं। यदि इन्हीं अतिचारों का सेवन अभिनिवेश से हो, तो बादर—स्थूल—अतिचार लगता है।

दूसरों के द्वारा नहीं दी गई तुच्छ वस्तु लेना आदि तीसरे व्रत के अतिचार हैं। नहीं दिए गए तृण, पत्थर के टुकड़े और राख आदि लेना सूक्ष्म अतिचार है। साधर्मिक आदि के शिष्य आदि सारभूत द्रव्य का ग्रहण करना बादर—अतिचार है।

गुप्ति-विराधना आदि चौथे व्रत के अतिचार हैं। स्त्री आदि से युक्त बस्ती में रहना आदि सूक्ष्म अतिचार हैं। कामावेश से हस्तमैथुन करना आदि बादर-अतिचार हैं। उपाश्रय के मालिक के बालक आदि के प्रति ममत्व आदि रखना पाँचवें व्रत का अतिचार है। उपाश्रय के मालिक की वस्तुओं की कौओं आदि से रक्षा करना सूक्ष्म अतिचार है। सोना-चाँदी और जवाहरात आदि रखना बादर अतिचार है। दिन में लाया गया भोजन दिन में खाना, दिन में लाया गया भोजन रात में खाना, रात में लाया गया भोजन दिन में खाना और रात में लाया गया भोजन रात में खाना- ये छठवें व्रत के अतिचार हैं।

अकल्प्यभोजन को ग्रहण करना, एषणा के सिवाय चार समितियों में प्रयत्न का अभाव, महाव्रतों की रक्षा करने वाली पच्चीस भावनाओं, अथवा बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुभावन न करना, यथाशक्ति मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा, द्रव्यादि अभिग्रह और विविध तपों का सेवन न करना- ये क्रमशः पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिभा-अभिग्रह और तपरूप उत्तरगुणों के अतिचार हैं।

उपर्युक्त अतिचार मूलगुणों और उत्तरगुणों सम्बन्धी हैं। इनके अतिरिक्त, जीवादि पदार्थों में अविश्वास, विपरीत प्ररूपण आदि भी अतिचार हैं। ये अतिचार पूर्वोक्त अतिचारों से भी बड़े हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व को दूषित करते हैं।

उक्त सभी अतिचार आभोग (यह अकर्त्तव्य है- ऐसा ज्ञान), अनाभोग (यह अकर्त्तव्य है- ऐसे ज्ञान का अभाव) भय, राग-द्वेष आदि से होते हैं। इस प्रकार, अनेक प्रकार के अनेक अतिचार होते हैं, इसलिए उनकी पूर्णतया आलोचना करना चाहिए।

आलोचना कैसे करें- आलोचना किस प्रकार करना चाहिए, आलोचना करने वाले को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। आलोचक मोक्ष का इच्छुक बनकर, पापभीरु होकर, शल्यरहित बनकर आलोचना करे, जिससे उसके द्वारा की गई आलोचना सफल हो सके। इसी विषय का आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि पंचाशक की पैंतीसवीं गाथा में¹ प्रतिपादन किया है-

आलोचक को शल्य का उद्धार नहीं करने में होने वाले दुष्ट परिणामों (खोटे कर्मफल) को दिखाने वाले और शल्योद्धार करने में होने वाले लाभों को दिखाने

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/35 - पृ. - 270

वाले तत्प्रसिद्ध सूत्रों से चित्त को भवभययुक्त बनाकर, अथवा मोक्षाभिमुख (संवेग प्रधान) बनाकर आलोचना करना चाहिए।

इसी प्रकार, गुरु भी शल्य (पापानुष्ठान) का उद्धार न करने से होने वाले दुष्ट परिणामों और करने से होने वाले लाभों को दिखाकर तथा तत्प्रसिद्ध सूत्रों से शिष्य के चित्त को संविग्न बनाकर उससे आलोचना कराएं।

शल्य के लक्षण— शल्य की पहचान यही है कि अपने अपराध को गुरु के समक्ष नहीं कहना। कोई बात बनाकर उसे अस्पष्ट रूप से कह देना— इसे ही शल्य कहते हैं। आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि पंचाशक की छत्तीसवीं गाथा में² शल्य के लक्षण का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—

गीतार्थ के समक्ष अपने दुष्कृत्य का भावपूर्वक प्रकाशन नहीं करना भावशल्य है— ऐसा वीतरागों ने कहा है।

शल्यों को न निकालने का परिणाम— यदि हृदय से शल्यों को निकाला नहीं गया, तो परिणाम दुःखद होते हैं। जैसे पाँव में कांटा लग गया और नहीं निकाला गया, तो उसका परिणाम कितना दुःखद होता है, यह स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं, इसी प्रकार यदि हृदय में रहे हुए भूलों—रूपी शल्यों की चिकित्सा नहीं की गई, तो फिर कितनी दुःखद स्थिति उत्पन्न होगी ? इस बात को निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं।

लक्ष्मणा साध्वी ने उत्सूत्र—प्ररूपणा की कि प्रासुक जल रोग का कारण है। यह कहने के बाद उन्होंने इसकी आलोचना नहीं की, अंतिम समय तक भी आलोचना नहीं की, जिससे शल्य को लेकर ही मरण प्राप्त किया और परिणामस्वरूप अनन्त दुःखों को प्राप्त किया। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि पंचाशक की सैंतीसवीं एवं अड़तीसवीं गाथाओं में¹ लिखते हैं—

खड्गादि शस्त्र, विष, अविधि से साधित पिशाच, अविधि से प्रयुक्त शतघ्नी आदि यन्त्र, अथवा छेड़ने से क्रोधित बना हुआ सर्प जो नुकसान नहीं करता, उसे बड़ा

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/36 — पृ. — 271

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/37, 38 — पृ. — 271

² ओघनिर्युक्ति — भद्रबाहुस्वामी— 803—804

नुकसान पंडितमरण (अनशन) के समय उद्धरित नहीं किए गए भावशल्य करते हैं। पंडितमरण के समय भावशल्य का उद्धार न करने से भावी जीवन में बोधिलाभ, अर्थात् धर्मप्राप्ति दुर्लभ बनती है और आत्मा अनन्त संसारी होता है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार²—

शस्त्र, विष, दुःसाधित वेताल, दुष्प्रयुक्त यन्त्र और क्रुद्ध सर्प उतना कष्टदायक नहीं होता, जितना मायायुक्त भावशल्य।

अनशनकाल में सशल्य मरने वाला व्यक्ति दुर्लभ बोधि और अनन्त संसारी हो जाता है।

शल्य को दूर करने के लिए जो विधि है, उसका ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अविधि से शल्य दूर नहीं होते हैं। विधिपूर्वक की गई आलोचना से ही शल्य दूर होते हैं, अन्यथा अविधि से कितनी भी आलोचना करें, परन्तु शल्य दूर नहीं होता है। पानी को कितना भी बिलोया जाए, परन्तु मक्खन प्राप्त नहीं होगा ? मक्खन को पाने के लिए तो दही को ही बिलोना पड़ेगा, इसी प्रकार आलोचना आचार्य की साक्षी, अथवा गुरु की साक्षी से ही करना चाहिए। आलोचना हेतू यदि इनका संयोग नहीं मिले, तो अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करें, परन्तु गुरु आदि के बिना किसी अन्य से, अथवा स्वयं से ही आलोचना करना अविधि-आलोचना है तथा इस अविधि-आलोचना से कभी भी शुद्धि नहीं हो सकती है। इसी विषय का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि-पंचाशक की उनचालीसवीं एवं चालीसवीं गाथाओं में¹ किया है।

जो गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना अपने-आप (अपनी कल्पना से) शुद्ध करते हैं और जो दूसरे गीतार्थ के होने पर भी लज्जा आदि के कारण स्वयं ही आलोचना करके प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करते हुए शुद्धि करते हैं, उन्हें भी भगवान् जिनेन्द्र देव के भावशल्य सहित कहा है।

जिस प्रकार व्रण-चिकित्सा (फोड़ा-फुंसी की चिकित्सा) को सम्पूर्णतया जानने वाला यदि शरीर में रहे हुए खराब मवाद आदि वाले फोड़े को बढ़ने दे और दूर न करे, तो वह फोड़ा मृत्यु का कारण होने से अनिष्टकारी होता है, उसी प्रकार जिसने

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/39, 40 - पृ. - 271, 272

अपने भावशल्य को दूसरों को बतलाया नहीं है, उसके लिए चारित्र-रूप शरीर में स्थित अतिचार-रूप फोड़ा भी अनन्त जन्म-मरण का कारण होने से अनिष्टकारका ही है, क्योंकि परमार्थ से उसका उद्धार नहीं हुआ है। दूसरों को अपने शल्य (दोष) के विषय में बतलाना ही शल्योद्धार है।

प्रश्न उपस्थित हुआ कि गीतार्थ के अभाव में आलोचना कैसे करना चाहिए। इसे आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि-पंचाशक की एकतालीसवीं गाथा में स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं-

शल्योद्धार के द्वारा निमित्त गीतार्थ की खोज उत्कृ टतापूर्वक, क्षेत्र की दृष्टि से सात सौ योजन तक और काल की दृष्टि से बारह वर्ष तक करना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिटीका के अनुसार,¹ सामान्यतः आलोचना आचार्य के पास ही करें। आचार्य का योग न हो, तो गीतार्थ मुनि की खोज कर उसके पास आलोचना करें। गीतार्थ साधु के अभाव में सिद्धों की साक्षी से आलोचना करने का विधान है।

व्यवहारसूत्र के अनुसार², आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत साधर्मिक साधु, बहुश्रुत, अन्य सांभोगिक-बहुश्रुत, साधु, सारूपिक, बहुश्रुत साधु, पश्चात्कृत् श्रमणोपासक, सम्यक् भावित चैत्य, अर्हत्, सिद्ध, इस प्रकार क्रमशः एक के अभाव में दूसरे के पास आलोचना करना विहित है।

आलोचना करने के पूर्व मन में इस प्रकार का संकल्प करना चाहिए कि मैं सम्यक् रूप से आलोचना करूंगा, अपने भीतर रहे शल्यों को पूर्णतः दूर करूंगा, अर्थात् अपने सम्पूर्ण अपराधों को गुरु के समक्ष प्रकट कर दूंगा, जिससे मैं पूर्णतः निशल्य बन जाऊंगा और निशल्य होने पर मेरे द्वारा की गई आलोचना सार्थक व सफल हो जाएगी।

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/41 - पृ. - 272

¹ ओघनिर्युक्ति - भद्रबाहुस्वामी- 790 - पृ. - 225
आचार्याय आलोचयति तदभावो सर्वदेशेषु निरूपयित्वा गीतार्थायालोचयितव्यं एवं तावद्वावत्सिद्धानामप्यालोच्यते-साधूनामभावे।

² व्यवहार-सूत्र- 1/3

इस विषय को आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि पंचाशक की बयालीसवीं से पैंतालीसवीं तक की गाथाओं में³ स्पष्ट किया है—

शल्यसहित मरकर जीव संसार—रूपी घोर अरण्य (जंगल) में प्रवेश करते हैं और उसमें दीर्घकाल तक भटकते रहते हैं।

जिनाज्ञा में अच्छी तरह स्थित जीव आलोचनापूर्वक सभी शल्यों को उखाड़कर, अर्थात् नष्ट कर सैकड़ों भवों में किए गए पापों की निर्जरा करके सिद्ध—स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

तीनों लोकों के मित्र जिनेन्द्र देव ने इस आलोचना (शल्योद्धरण) को अच्छी तरह से कहा है। यह सच्चे भावारोग्य (भावों की शुद्धता) रूप फल देने वाली है। मैं धन्य हूँ, जो मुझे यह आलोचना का अवसर प्राप्त हुआ है, इसलिए मैं निदान रहित होकर और सम्पूर्ण भव—शल्य को ज्ञानराशि गुरु के समक्ष विधिपूर्वक प्रकट करके अपने अपराधों की शुद्धि करूंगा।

उक्त प्रकार का संवेगभाव उत्पन्न करने वाला चिंतन (संकल्प) करके यह संकल्प करना चाहिए कि मैं भविष्य में इस प्रकार का अपराध नहीं करूंगा और किए हुए अपराधों की आलोचना करूंगा। इसी बात का उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि—पंचाशक की छियालीसवीं गाथा में¹ किया है, जो इस प्रकार है—

मरुक आदि के प्रसिद्ध दृष्टान्तों से पाप को छिपाने (शल्य को रखने) से होने वाले दुष्परिणामों और उन पापों को प्रकट करने से होने वाले लाभरूप चिह्नों (कारणों) को जानकर उससे संवेग (वैराग्यभाव) उत्पन्न करके, अर्थात् संसार—सागर से भयभीत होकर भविष्य में इस प्रकार के अपराधों को कभी भी नहीं करूंगा— ऐसा दृढसंकल्प करके आलोचना करना चाहिए। माया से मुक्त होकर आलोचना करना ही शल्यों को दूर करना है।

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/42, 43, 44, 45 — पृ. — 272, 273

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/46 — पृ. — 273

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/47 — पृ. — 274

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत आलोचनाविधि-पंचाशक की सैंतालीसवीं गाथा में² स्पष्ट करते हैं-

जिस प्रकार बालक अपनी माता के समक्ष बोलते हुए कार्य-अकार्य को छिपाए बिना जैसा होता है, वैसा ही कह देता है, उसी प्रकार साधु को माया और मद से मुक्त होकर अपने अपराध को यथातथ्य गुरु के समक्ष निवेदन कर देना चाहिए, क्योंकि माया और मद से युक्त साधु सम्यक् आलोचना नहीं कर सकता है।

सम्यक् आलोचना के लक्षण - जिस साधु ने अपराध किया है, वह उन अपराधों की आलोचना को सम्यक् प्रकार से पूर्ण करता है और भविष्य में अपराधों को जीवन में नहीं दोहराता है, तो यही आलोचना के सम्यक् लक्षण हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र आलोचनाविधि-पंचाशक की अड़तालीसवीं गाथा में³ स्पष्ट करते हैं-

सिद्धान्त के जानने वाले सम्यक् आलोचना का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं-

गुरु ने अपराध की शुद्धि हेतु जो दण्ड दिया हो, उसे स्वीकार कर यथावत् पूरा करना चाहिए, अर्थात् प्रायश्चित्त करना चाहिए और जिन दोषों की आलोचना की हो, उन दोषों को फिर से नहीं करना चाहिए।

कौन सी आलोचना शुद्ध करने वाली होती है- उसी व्यक्ति की आलोचना आत्मा को शुद्ध करती है, जो जिनाज्ञा का पालन करने वाला है, सरल है, स्थितप्रज्ञ है। इसी विषय का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने आलोचनाविधि-पंचाशक की उन्पचासवीं गाथा में¹ किया है-

जो संवेगप्रधान हैं, जिनाज्ञा में लीन हैं, उनके लिए यह आलोचना प्रमत्त-संयत आदि गुणस्थानों में शुद्धि को उत्पन्न करती है। इसके विपरीत, जो संवेग

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/48 - पृ. - 274

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 15/49 - पृ. - 274

अर्थात् वैराग्यप्रधान नहीं हैं और जिनाज्ञा में भी नहीं रहते हैं, उनके लिए यह आलोचना भी विपरीत फलवाली होती है।

उपसंहार— आलोचनाविधि—पंचाशक में वर्णित आलोचनाविधि के महत्त्व को, परिणाम को समझकर सम्यक् आचरण करना चाहिए, क्योंकि दुर्लभ मानव-भव को सार्थक करने के लिए एवं मोक्ष के सुख को प्राप्त करने के लिए सम्यक् आलोचनाविधि आवश्यक है। विधिपूर्वक की गई आलोचना ही जीव को निरन्तर मोक्ष के निकट ले जाती है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत आलोचनाविधि—पंचाशक की अन्तिम पचासवीं गाथा में² जिस साररूप तथ्य को उजागर किया है, वह इस प्रकार है—

दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके और दुष्कृत्यों के कारणभूत मनोभावों का त्याग करके मुमुक्षुओं की मनोवृत्ति—रूप लोकोत्तमसंज्ञा में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि निर्वाण—रूपी सुख की प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है।

आज के कई लोग तर्क करते हैं कि यदि असमय (अकाल) में पढ़ेंगे, तो क्या होगा ? असमय में पढ़ेंगे, तो क्या पागल हो जाएंगे। उदाहरणार्थ— गाड़ी बारह बजे की है और एक बजे पहुँचेगी, तो क्या होगा ? किसी रोगी की हालत गम्भीर है और चिकित्सक के पास देरी से पहुँचेंगे, तो क्या होगा ?

घनघोर वर्षा हो रही है, पानी घर में आ रहा है, एक घण्टे बाद दरवाजे बंद करेंगे, तो क्या होगा ? घर में आग लग गई, समय पर आग बुझाने का उपाय नहीं किया गया, तो क्या होगा, अर्थात्— समय पर जो कार्य करने का है, वह नहीं किया, तो कोई भी अनिष्ट हो सकता है, अतः समय का कार्य समय पर ही करना चाहिए, जिससे किसी भी प्रकार का उपद्रव (अनिष्ट) न हो।

प्रायश्चित्तविधि

प्रायश्चित्त— दोष—शुद्धि का निमित्त (कारण)

आलोचना— गुरु के सम्मुख अपने दोषों का प्रकाशन करना 'आलोचना' है।

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 15/50 — पृ. — 275

प्रायश्चित्त— आलोचना करने के पश्चात् गुरु के द्वारा प्रायश्चित्त दिया जाता है। इस प्रायश्चित्त के द्वारा दोषों की विशुद्धि होती है।

प्रायश्चित्तविधि आरम्भ करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि— पंचाशक की प्रथम गाथा का¹ प्रारम्भ भगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

“भगवान् महावीर को प्रणाम करके प्रायश्चित्तविधि के आलोचना आदि दस भेदों को गुरु के उपदेशानुसार मैं संक्षिप्त में कहूँगा।”

प्रायश्चित्त के दस प्रकार :

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत प्रायश्चित्तविधि— पंचाशक की दूसरी गाथा में² प्रायश्चित्त के दस भेदों का विवरण किया है, जो इस प्रकार है—

1. आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. मिश्र 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य और 10. पारान्विक।

आलोचना— गुरु की आज्ञा के बिना किसी भी कार्य आदि को करने पर अपने दोषों को यथातथ्य गुरु को निवेदन करना आलोचना—प्रायश्चित्त है।

प्रतिक्रमण— आवश्यक कार्यों में नियमों का अतिक्रमण हो जाने पर मिथ्या दुष्कृत्य करना प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त है।

तदुभय— भूल होने पर अपने दोषों को गुरु के समक्ष कहना और चाहे एवं अनचाहे हुई भूलों का प्रतिक्रमण करना तदुभय—प्रायश्चित्त है।

विवेक— उद्गम, उत्पादना आदि दोषों से युक्त आहार की जानकारी होने पर दूषित भोजन का त्याग करना विवेक—प्रायश्चित्त है।

व्युत्सर्ग— गमनागमन, रात्रिशयन आदि प्रसंगों पर कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग—प्रायश्चित्त है। वैसे उपस्थापना ही आगम का मूल प्रायश्चित्त है, किन्तु तत्त्वार्थ—सूत्र में उपस्थापना के पूर्व परिहार को लिया गया है। इससे ऐसा लगता है कि उमास्वाति उपस्थापना की अपेक्षा परिहार को अपेक्षाकृत कम कठोर मानते हैं। आगम के अन्वस्थाप्य—प्रायश्चित्त की

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/1 — पृ. — 276

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/2 — पृ. — 276

जो विधि दी गई है, उसमें यह कहा गया है कि कुछ वर्षों तक संघ से अलग रहकर तप आदि करवाकर पुनः उपस्थापना करवाना अनवस्थाप्य है। सम्भवतः, उमास्वाति की दृष्टि में परिहार का मतलब केवल इतना ही रहा होगा कि उसे कुछ समय तक संघ से अलग रखकर तप आदि के माध्यम से प्रायश्चित्त करवाकर पुनः संघ में सम्मिलित करवा लिया जाता होगा, उसका पुनः महाव्रतारोपण आवश्यक नहीं माना जाता होगा। यही कारण है कि उमास्वाति ने परिहार को पहले एवं उपस्थापना के बाद में रखा। उपस्थापना का तात्पर्य भी यही है कि उसे पुनः दीक्षा दी जाए, अतः तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार, उपस्थापना को ही मूल तथा परिहार को ही अनवस्थाप्य समझना चाहिए। यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थ-सूत्र में पारंरिक का कोई उल्लेख नहीं है। परम्परा से यही माना जाता है कि कुछ आचार्यों के अनुसार केवल ज्ञान आदि कुछ बातों के विच्छेद के साथ-साथ पारंरिक-प्रायश्चित्त का भी विच्छेद हो गया था। इसी कारण, आचार्य उमास्वाति ने पारंरिक का उल्लेख नहीं किया है।

तप- व्रतों में हुए अतिचारों के लिए कर्म-निर्जरा के लिए तप करना तप-प्रायश्चित्त है।

छेद- जन अपराधों को तप के द्वारा शुद्ध न किया जा सके, तब प्रव्रज्या के पाँच दिन आदि क्रम से दीक्षा-पर्याय को कम करना छेद-प्रायश्चित्त है।

मूल- ऐसे गहन (प्रगाढ़) अपराध, जिन्हें छेद तक के प्रायश्चित्त से भी शुद्ध न किया जा सके, तो सम्पूर्ण दीक्षा का छेद करके, अर्थात् मूल से छेद करके फिर से महाव्रतारोपण करना मूल-प्रायश्चित्त है।

अनवस्थाप्य- अत्यन्त अपराध करने वाला साधु प्रायश्चित्त के रूप में दिया गया तप जब तक न करे, तब तक उसे पुनः महाव्रत नहीं देना, अर्थात् निश्चित अवधि के बाद पुनः महाव्रत देना अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त है।

पारंरिक- प्रायश्चित्त या अपराध की अंतिम स्थिति (चरम-सीमा), अर्थात् जिससे अधिक कोई प्रायश्चित्त या अपराध नहीं हो, वह पारंरिक है। इस प्रायश्चित्त में साधु गच्छ से बाहर बारह वर्ष तक भ्रमण करता है। जब वह शासन-प्रभावना का कोई योग्य कार्य करता है, तब उसे पुनः दीक्षा देकर गच्छ में लिया जाता है।

उत्तराध्ययन-सूत्र के अनुसार¹-

आलोचना आदि प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं।

दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह की चूर्णि के अनुसार² भी प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दस प्रकार ही हैं।

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार³, प्रायश्चित्त के नौ भेद होते हैं। आठ भेद तो प्रायश्चित्त पंचाशक के अनुसार ही हैं, किन्तु मूल प्रायश्चित्त का विधान तत्त्वार्थ-सूत्र में नहीं है, उसके पश्चात् भी परिहार और उपस्थापन हैं। ऐसा अनुमान है कि मूल प्रायश्चित्त को अनवस्थाप्य और उपस्थापना-प्रायश्चित्त में ही सम्मिलित कर लिया गया होगा।

जीतकल्प के अनुसार⁴, प्रायश्चित्त के आलोचना आदि दस भेद हैं, जो पंचाशक के अनुसार ही हैं।

मूलाचार-वृत्ति के अनुसार⁵, प्रायश्चित्त के दस भेद इस प्रकार हैं-

1.आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. तदुभय 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. परिहार और 10. श्रद्धान।

परिहार- पारंरिक का ही रूप है।

श्रद्धान- मिथ्यात्व में मन चला जाए, तब उससे वापस करना श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त है।

ये नौ प्रायश्चित्त पंचाशक के अनुसार ही हैं, अन्तर केवल श्रद्धान एवं अनुसंस्थापन में है।

प्रायश्चित्त शब्द की निरुक्ति-

आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ प्रायश्चित्त शब्द की व्याख्या की है, जिसे इस प्रकार समझें-

¹ उत्तराध्ययन - म. महावीर स्वामी- 30/31

² दशवैकालिक अ.चू. - अगस्त्यसिंह - पृ. - 14

³ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 9/21

⁴ जीतकल्पसूत्र - जिनभद्रगणिश्रमाश्रमण- 2

⁵ मूलाचारवृत्ति - आ. वसुनन्दी - गाथा- 1

आलेयण पडिक्मणं उभय विवेगो तद्या विउसग्गो
तव छेदो मूलपिय परिहारो चे सदहणा - गाथा- 1033 - पृ. - 188

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/3 - पृ. - 277

जिससे पाप का छेदन होता है, वह पापच्छिद् कहा जाता है (प्राकृत भाषा में पापच्छिद् शब्द का रूप पायच्छित्त बनता है), अथवा चित्त की जो प्रायः शुद्धि करे, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

आवश्यक-चूर्णि के अनुसार², जो पापकर्मों को क्षीण करता है, वह प्रायश्चित्त है। जो प्रचुरता से चित्त-आत्मा का विशोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है। जो चित्त-विशुद्धि का प्रशस्त हेतु है, वह प्रायश्चित्त है। असत्य आचरण का अनुस्मरण करना प्रायश्चित्त है।

भाव से प्रायश्चित्त— प्रायश्चित्त तभी सफल है, जब वह भावपूर्वक किया जाता है। भाव के अभाव में प्रायश्चित्त घाणी के बैल की तरह है। घाणी में जुता हुआ बैल सुबह से शाम तक चलता है, घूमता है तथा सोचता है कि आज कितने कोसों की यात्रा हो गई होगी, पर जब आँख की पट्टी खुलती है, तब उसे पता चलता है कि वह सुबह जहाँ था, अब भी वहीं का वहीं हूँ। इसी तरह प्रायश्चित्त करता है और सोचता है कि सारे पाप नष्ट हो गए, परन्तु प्रायश्चित्त करने में भाव जुड़े ही नहीं थे, अतः भाव के अभाव से द्रव्य प्रायश्चित्त दोषों की शुद्धि किंचित मात्र भी कहीं कर पाया। जितने दोष थे, उतने दोषों से ही वह युक्त है, अतः प्रायश्चित्त भावयुक्त होना चाहिए। इसी बात को आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की चौथी गाथा में³ स्पष्ट करते हैं—

भव्य, आज्ञारुचि युक्त (आगम में श्रद्धावान्), संविग्न और सभी अपराधों में उपयोग वाले जीव के लिए प्रायश्चित्त यथार्थ है, शुद्धि करने वाला है तथा इससे भिन्न शेष जीवों के लिए प्रायश्चित्त केवल द्रव्य से है, क्योंकि वह भावरहित होने के कारण शुद्धि करने वाला नहीं है।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की पाँचवीं एवं छठवीं गाथाओं में¹ द्रव्य प्रायश्चित्त के स्वरूप का पुनः समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि—

² आवश्यकचूर्णि — जिनदासगणिमहत्तर— 2 — पृ. —251

³ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/4 — पृ. — 277

¹ पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/5, 6 — पृ. — 277, 278

² पंचाशक-प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/7 से 13 — पृ. — 278, 279

शास्त्रोक्त अर्थ की विराधना से प्रायः पाप लगता है, इसलिए शास्त्र के मुख्य अर्थ को भंग करके किया जाने वाला विशुद्धि रूप प्रायश्चित्त भी पापरूप ही होता है— ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति को जानना चाहिए।

विशेष— अप्रमत्त—अवस्था में यदि हिंसा हो जाए, तो पाप नहीं लगता है, इसलिए यहाँ प्रायः शब्द का उपयोग किया गया है।

दोष का जो निमित्त होता है, उसके सेवन से ही दोष होता है, दोष का नाश नहीं। यह बात लोक में भी रोगादि के दृष्टान्त से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार रोग के कारणों का सेवन करने से रोग बढ़ता है, उसका नाश नहीं होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त नियमों की विराधना करने से पाप बढ़ता है, पाप का नाश नहीं होता है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की सातवीं से लेकर तेरहवीं तक की गाथाओं में कौन—सा प्रायश्चित्त किसके तुल्य है, इसका विवरण करते हुए भद्रबाहु स्वामी द्वारा कथित प्रसंग का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

शरीर में तद्भव और आगन्तुक— ये दो प्रकार के व्रण होते हैं। तद्भव, अर्थात् शरीर से उत्पन्न, यथा— गाँठ आदि। आगन्तुक, अर्थात् कांटा आदि लगने से हुआ व्रण। इसमें आगन्तुक—व्रण का शल्योद्धारण किया जाता है, तद्भव—व्रण का नहीं।

जो शल्य पतला हो, तीक्ष्ण मुखवाला न हो, अर्थात् शरीर के बहुत अन्दर तक न गया हो, खूनवाला न हो, केवल त्वचा से ही लगा हुआ हो, उस शल्य, अर्थात् कांटे आदि को बाहर खींच लिया जाता है, उस व्रण का मर्दन नहीं किया जाता है।

जो शल्य शरीर में प्रथम प्रकार के शल्य से थोड़ा अधिक लगा हो, किन्तु गहरा न हो, ऐसे शल्य के दूसरे प्रकार में कांटे को खींच लिया जाता है और व्रण का मर्दन किया जाता है, किन्तु उसमें कर्णमल नहीं भरा जाता। इससे थोड़ा अधिक गहराए हुए तीसरे प्रकार के शल्य में शल्योद्धार, व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण— ये तीनों ही किए जाते हैं।

चौथे प्रकार के शल्य में वैद्य व्रण में से शल्य निकालकर, दर्द नहीं हो, इसके लिए थोड़ा खून निकालते हैं। पाँचवें प्रकार के शल्य में वैद्य शल्योद्धार करके, व्रण जल्दी ठीक हो जाए, इसलिए मरीज को चलने आदि की क्रिया करने से मना करते हैं।

छठवें प्रकार के शल्य में चिकित्साशास्त्र के अनुसार पथ्य और अल्प भोजन दे करके, अथवा भोजन का सर्वथा त्याग करवा करके व्रण को सुखाते हैं। सातवें प्रकार के शल्य में शल्योद्धार करने के बाद शल्य से दूषित हुआ मांस, पीब आदि निकाल दिया जाता है।

सर्प, बिच्छू आदि के डंक मारने से हुए व्रण में या वल्मीक-रोग विशेष में उक्त चिकित्सा से व्रण ठीक न हो, तो शेष अंगों की रक्षा के लिए दूषित अंग को हड्डी के साथ काट दिया जाता है।

भावव्रण का स्वरूप— भावव्रण का स्वरूप क्या है एवं भावव्रण को समझने में आवश्यकता का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं गाथाओं में¹ इस प्रकार करते हैं—

मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने वाले और संसार-सागर से तारने वाले उत्तम चारित्र, अर्थात् सम्यक्-चारित्र को धारी श्रेष्ठ पुरुष (साधु) के पृथ्वीकायिक आदि जीवों की विराधना-रूप अतिचार से जो शल्य उत्पन्न होता है, वही 'भावव्रण' कहलाता है। यहाँ प्रायश्चित्त के प्रसंग में उक्त स्वभाव वाले व्रण को उसकी चिकित्सा-विधि सहित जानना चाहिए, क्योंकि अध्यात्म के रहस्य को जानने वाले योगियों की सूक्ष्म बुद्धि से ही उसके रहस्य को अच्छी तरह जाना जा सकता है।

भावव्रण को समझने के पश्चात् उसका निराकरण करना ही बुद्धिमानी है। जिसे यह पता है कि मुझे 'शल्य' या रोग है, फिर वह अवश्य ही किसी योग्य वैद्य से अपनी चिकित्सा कराएगा, इसी प्रकार अपने शल्य अपने को ही ज्ञात हैं, अतः किसी योग्य गुरु (आचार्य) गीतार्थ से शल्य-चिकित्सा करवा लेना ही चाहिए, जिससे सुमरण हो, क्योंकि यह सुमरण ही समाधि का परिचायक है और यह समाधि सिद्धगति का हेतु

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/14, 15 - पृ. - 280

है। आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि में सोलहवीं से अठरहवीं तक की गाथाओं में¹ सूक्ष्म से स्थूल, अर्थात् छोटे से छोटा शल्य (पाप) और चरम-सीमा के शल्य (पाप) की किस प्रकार चिकित्सा है, उसका विशेष रूप से विश्लेषण इस प्रकार किया है—

भिक्षाटन, स्वाध्याय आदि के निमित्त आने-जाने से होने वाला कोई अत्यन्त सूक्ष्म अतिचार आलोचना से ही शुद्ध हो जाता है। यह अतिचार प्रथम शल्य के समान है और उसकी आलोचना प्रथम शल्योद्धार के समान ही है। जिस प्रकार प्रथम शल्य में शल्योद्धार के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपाय आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार इसमें भी आलोचना के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रायश्चित्त करना आवश्यक नहीं है। समिति-गुप्ति आदि के भंग-रूप द्वितीय प्रकार का अतिचार, अरे ! मैं अचानक कैसे असमित और अगुप्त हो गया ? असमित और अगुप्त होने का कोई कारण ही नहीं है, इस प्रकार पश्चात्ताप सहित, मिथ्या में दुष्कृतम्-रूप प्रतिक्रमण (चिकित्सा) से दोष दूर हो जाता है। यहाँ प्रतिक्रमण-रूप चिकित्सा द्वितीय प्रकार के शल्योद्धार में व्रणमर्दन-तुल्य है।

इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों में केवल मन से राग-द्वेष करने वाला मुनि तृतीय व्रणमर्दन और कर्णमलपूरण के समान मिश्र (आलोचना एवं प्रतिक्रमण) नामक चिकित्सा से शुद्ध होता है। अनेषणीय भोजनग्रहण-रूप अतिचार चतुर्थ शल्य के समान है। यह भोजन को अशुद्ध जानकर उसके त्यागने-रूप विवेक नाम की भाव-चिकित्सा से शुद्ध होता है।

पांचवें शल्य के समान अशुभ स्वप्न आदि-रूप कोई अतिचार कायोत्सर्ग (क्रियानिषेध के समान) नाम की भावचिकित्सा से शुद्ध होता है। पृथ्वीकाय संघट्टन आदि अतिचार छठवें शल्य के समान हितमित भोजन या सरस भोजनत्याग-रूप नीवी आदि तपों की भावचिकित्सा से दूर होता है।

तप से भी अतिचार-शल्य भावव्रण दूर न हो, तो उसे खराब मांसादि को काटने के समान दीक्षापर्याय के छेद-रूप भावचिकित्सा से दूर किया जाता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/26, 17, 18 - पृ. - 280, 281

आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत पंचाशक की उन्नीसवीं गाथा में¹ छेद से अपराधशुद्धि होने के कारण को बताते हुए कहते हैं—

दीक्षापर्याय कम करने से (साधु की संयम-पर्याय छेदने से) साधु का दूषित अध्यवसाय दूर होता है, क्योंकि दीक्षापर्याय कम करने से साधु में संवेग, निर्वेद आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के परिणामस्वरूप आप्तोपदेश के पालन से बुद्धिमान् साधु शुद्ध होता है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत पंचाशक की बीसवीं एवं इक्कीसवीं गाथाओं में² मूल आदि गुणों का वर्णन करते हुए प्रायश्चित्त के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है—

आलोचनादि सात प्रायश्चित्तों के व्रण का दृष्टान्त से निरूपण किया गया है। मूल, अनवस्थाप्य और पारंरिक-प्रायश्चित्त के योग्य अपराधों में सम्यक्-चारित्र के अभाव के कारण व्रत के दृष्टान्त की विचारणा नहीं है। मूल आदि प्रायश्चित्त सम्यक्-चारित्र के सर्वथा अभाव होने पर ही होता है, इसलिए अग्रिम गाथाओं में मूल आदि प्रायश्चित्तों का स्वरूप भी बताया गया है।

संकल्पपूर्वक किए गए प्राणवध, मृषावाद आदि अपराधों में चारित्र-धर्म का अभाव होने पर चारित्र के परिणाम से रहित उस साधु में महाव्रतों की पुनः स्थापना करना 'मूल' नामक प्रायश्चित्त है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि-पंचाशक की बाईसवीं गाथा में³ अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट किया है। आगम में अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त के योग्य दोषों के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उसके अनुसार साधर्मिक, अथवा अन्य किसी व्यक्ति की उत्तम वस्तुओं की चोरी, हस्तताड़ना (किसी को हाथ से या पैर से मारना) आदि करने पर चारित्र-अभावजनक दुष्ट अध्यवसाय होने से जब तक उचित तप पूर्ण न करें, तब तक जिसे महाव्रत न दिए जाएं, वह अनवस्थाप्य है। प्रायश्चित्त और

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/19 - पृ. - 282

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/20, 21 - पृ. - 282

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/22 - पृ. - 283

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/23 - पृ. - 283

अनवस्थाप्य—साधु में अभेद होने के कारण अनवस्थाप्य साधु का प्रायश्चित्त भी उपचार से अनवस्थाप्य है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की तेईसवीं गाथा में¹ पारांचिक—प्रायश्चित्त का स्वरूप स्पष्ट किया है।

जो साधु अन्योन्यकारिता, मूढ़ता (प्रमत्तता), दुष्टता और तीर्थंकर आदि की आशातना करने से तीव्र संक्लेश उत्पन्न होने पर जघन्य से छः महीना और उत्कृष्ट से बारह वर्ष तक शास्त्रोक्त उपवास आदि तप से अतिचारों को पार कर लेता है, अर्थात् सम्पूर्ण अतिचारों से रहित होकर शुद्ध बन जाता है और फिर दीक्षा ग्रहण करता है, तो वह पारांचिक कहा जाता है। पारांचिक—साधु और प्रायश्चित्त में अभेद होने के कारण वह प्रायश्चित्त भी उपचार से पारांचिक कहा जाता है।

पारांचिक के स्वरूप में मतान्तर— आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की चौबीसवीं गाथा में² अन्य आचार्यों के मत को भी प्रतिपादित किया है। कई आचार्यों का पारांचिक—प्रायश्चित्त के विषय में ऐसा कथन है—

जो स्वलिंगभेद, चैत्यभेद, जिनप्रवचन का उपघात करने आदि से इस भव में और अन्य भव में चारित्र के अयोग्य होते हैं, वे पारांचिक कहलाते हैं।

आचार्य हरिभद्र इस मत का स्वयं भी समर्थन करते हुए कहते हैं कि पारांचिक—प्रायश्चित्त के योग्य व्यक्ति इस भव में एवं अन्य निकट—भव में दीक्षा के अयोग्य रहता है। इसी मत पर आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की पच्चीसवीं गाथा में³ प्रस्तुत स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

परिणामों की विचित्रता से, अथवा मोहनीय आदि कर्मों का निरूपक्रम बन्ध होने से इस भव में और परभव में चारित्र की प्राप्ति की अयोग्यता हो सकती है, इसलिए अन्य आचार्यों का मत भी असंगत नहीं है, उचित ही है।

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/24 — पृ. — 283

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/25 — पृ. — 284

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/26, 27 — पृ. — 284

प्रायश्चित्त की विचित्रता से मतान्तर का समर्थन — आगमों में प्रायश्चित्त के अनेक भेद हैं, अर्थात् प्रायश्चित्त देने के अनेक प्रकार हैं। इन अनेक प्रकारों का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की छब्बीसवीं एवं सत्ताईसवीं गाथाओं में¹ कहते हैं—

आगम में 1. आगम 2. श्रुत 3. आज्ञा 4. धारणा और 5. जीत— ये पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त—सम्बन्धी व्यवहार कहे गए हैं। यहाँ व्यवहार से तात्पर्य है— प्रायश्चित्त देने की रीति।

आगम— जिससे अर्थ जाना जाता है, वह आगम है। केवलज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी, चौदह, दस, अथवा नौ पूर्व के ज्ञाता आचार्यों के वचन— ये पाँच आगम हैं। आगम के आधार पर प्रायश्चित्त देने की विधि को आगम—व्यवहार कहा जाता है।

श्रुत— निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि प्रायश्चित्त—सम्बन्धी श्रुत ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त देना श्रुत—व्यवहार है।

आज्ञा— एक गीतार्थ या आचार्य आदि दूसरे स्थान पर स्थित हो और अपराधी गीतार्थ उनके पास अपने दोषों की आलोचना के लिए यदि स्वयं न जा सके, तो किसी अगीतार्थ को सांकेतिक—भाषा में अपना अतिचार कहकर अन्यत्र स्थित गीतार्थ के पास जाने की आज्ञा दे। वह आचार्य या गीतार्थ भी गूढ़ भाषा में कथित अतिचारों को सुनकर स्वयं वहाँ जाए, या अन्य गीतार्थ को वहाँ भेजे, या संदेशवाहक अगीतार्थ को ही सांकेतिक—भाषा में प्रायश्चित्त—सम्बन्धी निर्देश दे, वह आज्ञा—व्यवहार है।

धारणा— गीतार्थ गुरु के द्वारा शिष्य की प्रतिसेवना को जानकर जिस अतिचार का जो प्रायश्चित्त अनेक बार दिया गया हो, उसे याद रखकर वैसी परिस्थिति में उसी प्रकार का प्रायश्चित्त अन्यो को देना धारणा—व्यवहार है।

जीत— गीतार्थ संविग्नों के द्वारा प्रवर्तित शुद्ध व्यवहार। पूर्वाचार्य जिन अपराधों में बड़े तप—रूप प्रायश्चित्त देते थे, उन अपराधों में वर्तमान में व्यक्ति की शारीरिक—शक्ति आदि में कमी होने से किसी छोटे तप के माध्यम से प्रायश्चित्त देना जीत—व्यवहार है। व्यवहार, प्रतिसेवना, व्यक्ति, परिस्थिति और समय के भेद से उपर्युक्त पाँच प्रकार के

व्यवहार के अनुसार आगम में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गए हैं, उन्हें आगम से जान लेना चाहिए।

प्रतिसेवना, अर्थात् अपराध होने के आकृष्टिका, दर्प, प्रमाद और कल्प— ये चार हेतुगत भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव— ये चार परिस्थितिगत भेद हैं। पुरुष अर्थात् व्यक्ति के आचार्य, उपाध्याय, वृषभ (प्रवर्तक), भिक्षु और क्षुल्लक— ये पाँच भेद हैं। एक बार, दो बार, तीन बार— इस प्रकार बार—बार दोषों को सेवन करने वालों के अनेक भेद हैं। प्रायश्चित्त—विधान के भी अनेक भेद हैं, इसलिए इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत भी असंगत नहीं हैं।

आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की अट्ठाईसवीं एवं उन्तीसवीं गाथाओं में¹ प्रायश्चित्त के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अशुभ अध्यवसाय से अशुभ कर्म का बन्ध होता है और यह अशुभ अध्यवसाय जिनाज्ञा का भंग करने से होता है।

शुभभाव से अशुभकर्म का नाश होता है। जिनाज्ञा का पालन करने से शुभभाव अवश्य ही होता है अर्थात् जो भाव जिनाज्ञा के अनुसार हैं, वही शुभ हैं। यह विशिष्ट शुभभाव ही यथार्थ प्रायश्चित्त है।

विशिष्ट शुभभाव का स्वरूप— सामान्य शुभभावकर्मों की निर्जरा करने में सक्षम नहीं हैं, क्योंकि अशुभ—कर्म का बन्ध अध्यवसाय की तीव्रता से होता है। जितनी तीव्रता से अशुभ अध्यवसाय के द्वारा कर्मबन्ध हुआ है, तो उतने ही विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से अशुभ—कर्म की निर्जरा हो सकती है। आगम में वही शुभ अध्यवसाय मान्य है, जो विशिष्ट प्रकार का शुभ अध्यवसाय है। विशिष्टता से तात्पर्य है— शुभ अध्यवसाय की गहनता, अर्थात् शुभभावों में पूर्णतया एकाग्रता।

गजसुकुमाल इतनी जल्दी कर्म को क्षीण नहीं कर सकते, परन्तु उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायों, अर्थात् मनोभावों से ही वे पूर्वसंचित अशुभ—कर्मों की शीघ्र निर्जरा करने

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/28, 29 — पृ. सं. — 285

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/30, 31 — पृ. — 286

में सक्षम बने। विशिष्ट अध्यवसाय के परिणामों के स्वरूप को आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की तीसवीं एवं एकतीसवीं गाथाओं में² दर्शाते हैं—

पूर्वकृत अशुभ अध्यवसाय से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप जितना शुभभाव अपेक्षित है, वही शुभभाव यहाँ आगमानुसार विशेष शुभभाव है और वही शुभभाव पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। सामान्य रूप से किया गया शुभभाव सम्पूर्ण बद्ध कर्मों का नाश करने में समर्थ नहीं है। किसी भी तरह का सामान्य शुभभाव प्रायश्चित्त नहीं होता है, अन्यथा ब्राह्मी, सुन्दरी आदि द्वारा पूर्वभव में सामान्य रूप से किए गए आवश्यक करण (प्रतिक्रमण) रूप शुभभाव से ही प्रायश्चित्त हो गया होता, अर्थात् अनेक कर्मों का नाश हो गया होता और उन्हें शास्त्र—प्रसिद्ध स्त्रीत्व की प्राप्ति—रूप दोष नहीं लगता, इसलिए किसी भी तरह का सामान्य शुभभाव पूर्ण शुद्धि का कारण नहीं होता है।

विशिष्ट शुभभाव उत्पन्न करने के तीन कारण—

विशिष्ट शुभभावों को लाने

के लिए भवभीरु होना अनिवार्य है, क्योंकि जो साधक भवभीरु है, वह शुभभावों में स्थित अवश्य रहेगा, अतः शुभभावों को उजागर करने के लिए जिनाज्ञास्वरूप शुभ—चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिए, जिससे शुभभावों में ही परिणति रहेगी। इन्हीं विशिष्ट शुभभावों को प्रकट करने के लिए आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि— पंचाशक की बत्तीसवीं एवं तैंतीसवीं गाथाओं में¹ कुछ उपादानों का प्रतिपादन कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

विशिष्ट शुभभाव ही शुद्धि का कारण है। विशिष्ट शुभभाव उत्पन्न करने के लिए अप्रमत्तता, छोटे—बड़े अतिचारों का स्मरण और अतिशय भव—भय— इन तीनों से युक्त होकर प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार, अप्रमत्तता, स्मरण—सामर्थ्य और अतिशय भव—भय के योग से ही विशुद्धि हेतुरूप प्रकृष्ट शुभाध्यवसाय प्रत्येक जीव में अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य उत्पन्न होता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/32, 33 — पृ. — 286, 287

विशिष्ट शुभभाव—रूप प्रायश्चित्त से लाभ— शुभभाव के बिना पूर्वकृत कर्म

नष्ट नहीं हो सकते हैं। जब तक पूर्वकृत पाप नष्ट नहीं होते, तब तक जीव शल्य—रहित नहीं बन सकता है तथा शुभभाव, अर्थात् आत्मा की विशुद्धि नहीं हो सकती, अतः विशिष्ट शुभभाव द्वारा किया गया प्रायश्चित्त व्यक्ति को शल्यरहित बना देता है, पाप के भार से हल्का बना देता है, सरल बना देता है, मोक्ष की ओर ले जाता है। विशिष्ट शुभभाव का प्रभाव ही कर्म का अभाव कर मुक्ति को प्रदान करता है। इन शुभभावों के प्रभाव का आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि—पंचाशक की चौतीसवीं एवं पैंतीसवीं गाथाओं में प्रतिपादन किया है।

विशिष्ट शुभभाव के द्वारा अशुभभाव से बंधे हुए कर्मों का नाश होता है, अथवा अशुभभाव से बंधे हुए कर्मों के अनुबन्ध का विच्छेद होता है, क्योंकि शुभभाव से अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और कर्मों की निर्जरा से उपशमश्रेणी और फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर अन्त में जीव अनुत्तर सुखरूप निर्वाण को प्राप्त करता है।

विशेष— अपूर्वकरण—गुणस्थान में कभी न हुए हों— ऐसे विशिष्ट शुभभाव होते हैं, जिससे दुष्कर्मों की स्थिति का घात आदि होता है। शास्त्रों में उपशमश्रेणी का फल अनुत्तर देवलोक का सुख और क्षपकश्रेणी का फल मोक्ष का सुख बतलाया गया है।

आगम में 'तवसा तु निकाइयाणंपि' (तप से तो निकाचित कर्मों का भी नाश होता है)— जो यह कहा गया है, वह भी इस प्रकार के विशिष्ट शुभभाव से अपूर्वकरण और श्रेणी—आरोहण के द्वारा ही घटित होता है। यह विशिष्ट शुभभाव—रूप प्रायश्चित्त निकाचित कर्मों के भी क्षय का कारण होने से सामान्य अशुभकर्मों के क्षय और उनके अनुबन्ध के विच्छेद का कारण तो है ही, ऐसा विचार करना चाहिए। निकाचित कर्म का अर्थ है— कर्मों का निबिड़ (सघन) रूप से बन्धन।

आगम में कहे गए अनुष्ठान प्रायश्चित्त—योग्य नहीं हैं, अर्थात् आगम में जो अनुष्ठान बतलाए गए हैं, उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, क्योंकि जो साधक

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 16/34, 35 — पृ. — 287

आगमोक्त अनुष्ठान कर रहा है, जिसकी चर्या निर्दोष है, उसके लिए प्रायश्चित्त की विधि आवश्यक नहीं है। प्रायश्चित्त तो उन्हें ही दिया जाना चाहिए, जो आगमोक्त चर्या नहीं कर रहे हैं। यदि यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि आलोचना आदि प्रायश्चित्त है ही नहीं, तो यह भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि आगमों में आलोचना आदि दस भेद प्रायश्चित्त के ही हैं। इसमें कहीं भी किञ्चित् भेद नहीं है। इसी मत का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की छत्तीसवीं एवं सैंतीसवीं गाथाओं में¹ किया है तथा इस मत का समाधान आचार्य हरिभद्र ने अड़तीसवीं गाथा में² किया है—

आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठानों में आलोचना, कायोत्सर्ग आदि जो प्रायश्चित्त आगम में कहे गए हैं, वे यहाँ घटित नहीं होते हैं, क्योंकि आगमोक्त भिक्षाचर्या आदि अनुष्ठान निर्दोष होते हैं तथा सदोष अनुष्ठान में ही प्रायश्चित्त होता है, निर्दोष अनुष्ठान में नहीं। तब फिर आगमोक्त शुद्धचर्या करने वाले साधु के लिए प्रतिदिन आलोचनादि प्रायश्चित्त करने का विधान क्यों किया। यदि आप यह कहें कि आगमोक्त अनुष्ठान भी सदोष (अतिचार सहित) होता है, तो फिर शास्त्र में उसका उपदेश क्यों किया गया है? चूंकि शास्त्र में सदोष उपदेश विहित नहीं है, तो सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि आलोचनादि प्रायश्चित्त ही नहीं होते हैं, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आगम में आलोचनादि प्रायश्चित्त के रूप में वर्णित हैं।

इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि यहाँ प्रायश्चित्त घटित होता है और यह प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान सम्बन्धी है। आगमोक्त क्रिया में जो सूक्ष्म विराधना होती है, उसकी शुद्धि के लिए आलोचना आदि प्रायश्चित्त हैं। वस्तुतः, आगमोक्त अनुष्ठान का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है, अपितु उस अनुष्ठान को करते समय जो सूक्ष्म विराधना होती है, उसकी शुद्धि के लिए आलोचनादि प्रायश्चित्त किए जाते हैं।

प्रश्न उपस्थित किया गया कि 'उपयोग' अर्थात् सावधानी रखने वाले को भी सूक्ष्म विराधना का दोष क्यों होता है ?

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/36, 37 - पृ. - 288

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/38 - पृ. - 288

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/39 - पृ. - 289

उपयोगपूर्वक चर्या करने वाले को भी विराधना सम्भव है। तीर्थंकर परमात्मा को भी छद्मस्थावस्था में उपयोगपूर्वक विचरते हुए भी गमनागमन की क्रिया का दोष तो लगता ही है, अतः इस प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि की उनचालीसवीं गाथा में³ स्पष्ट किया है।

आगम में संसारी-जीवों की सरागावस्था, वीतरागावस्था आदि सभी अवस्थाओं में प्रायः अनेक प्रकार का बन्ध बताया गया है। पुनः, यही बात पूर्वाचार्यों ने भी कही है, फिर भी अयोगावस्था में कर्मबन्ध नहीं होता है, इसलिए इस गाथा में प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है।

पूर्वाचार्यों द्वारा कथित अनेक प्रकार के बन्ध— कर्म आठ हैं, जिनमें आयुष्य-कर्म को छोड़कर शेष सभी कर्म हर क्षण बंधते हैं। चौदह गुणस्थानों में सयोगी-केवली तक भी मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति के अनुसार बंध होता ही रहता है, अतः बंध के कई कारण हैं। इन अनेक प्रकार के बंधों का आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि-पंचाशक की चालीसवीं से चंवालीसवीं तक की गाथाओं में¹ विस्तार से स्पष्टीकरण किया है—

सामान्यतया सभी जीव आयुष्य के अतिरिक्त अन्य सात प्रकार के कर्मों का सतत बंध करते रहते हैं। आयुष्य-कर्म का एक भव में एक ही बार (उसमें भी अतंमुहूर्त तक ही) बंध होता है। दसवें सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थान को प्राप्त जीव मोहनीय और आयुष्य-कर्म के अतिरिक्त अन्य छः प्रकार के कर्मों का बंध करते हैं। उपशांतमोह, क्षीणमोह तथा सयोगीकेवली— ये तीन गुणस्थान दो समय के बंध की स्थिति वाले हैं। इनमें एकसातावेदनीय-कर्म का बंध होता है। इनमें योग-निमित्तक बंध होता है, कषाय-निमित्तक नहीं, क्योंकि कषायों का सर्वथा उदय नहीं होता है। शैलेषी-अवस्था को प्राप्त जीवों को कोई भी कर्मबंध नहीं होता है।

इस प्रकार, प्रकृतिबंध की अपेक्षा से सभी अवस्थाओं में होने वाले बंध का कथन किया गया। अब स्थितिबंध की अपेक्षा से कथन करते हैं। सातवें गुणस्थान में

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/40 से 44 - पृ. - 289

स्थित अप्रमत्तसंयत साधुओं को उत्कृष्ट से आठ मुहुर्त का और जघन्य से अन्तर्मुहुर्त का स्थितिबंध होता है।

छठवें गुणस्थान में स्थित प्रमत्तसंयत साधुओं में जो साधु जान-बूझकर हिंसा आदि की विराधना में प्रवृत्ति करते हैं, उनकी कर्मबंध-स्थिति उत्कृष्ट से आठ वर्ष और जघन्य से अन्तर्मुहुर्त की होती है।

छद्मस्थ-अवस्था बंध की ही है। यदि बंध है, तो कहीं न कहीं संयम की अपेक्षा है एवं संयम की विराधना के बिना बंध नहीं है, फिर चाहे वह विराधना अल्प है, अथवा अधिक है। उन्हें प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध होना आवश्यक है। यही बात आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि-पंचाशक की पैतालीसवीं गाथा में¹ स्पष्ट की है-

छद्मस्थ को सभी अवस्थाओं में कर्मबंध होता है। कर्मबंध के द्वारा उसकी संयम की विराधना जानी जा सकती है। छद्मस्थ, अर्थात् संसार में स्थित वीतरागी (बारहवें गुणस्थान वाले) के द्वारा भी द्रव्य से सूक्ष्म विराधना होती है, यह शास्त्रसंगत है। चूंकि छद्मस्थ-वीतरागी को चारों मनोयोग आदि होते हैं- ऐसा शास्त्रों में कहा गया है, इसलिए इन्हें विराधना की शुद्धि करना आवश्यक है। आलोचनादि प्रायश्चित्त सहित, आगमोक्त अनुष्ठान कर, कर्म के अनुबंध का छेदन करने वाले निर्दोष होते हैं।

अन्य मतान्तर और उनका निराकरण- आचार्य हरिभद्र ने प्रायश्चित्तविधि की छियालीसवीं गाथा में² अन्य मत के अनुसार उठाए गए अन्य प्रश्नों का भी समाधान किया है एवं प्रस्तुत प्रश्नों का उत्तर भी दिया है। आगमानुसार अनुष्ठान एवं आलोचना आदि अनुबंध को छेदने का कारण हैं। आलोचनादि को प्रायश्चित्त क्यों कहा गया ? क्योंकि आलोचना आदि प्रायश्चित्त भी तो अनुष्ठान बन गए हैं। भिक्षाचार्य आदि भी आगमोक्त अनुष्ठान हैं, किन्तु ये विशोध्य हैं, विशोधक नहीं। इसी आधार पर यहां यह प्रश्न उठाया जाता है कि प्रायश्चित्त भी आगमोक्त अनुष्ठान होने के कारण विशोध्य होना चाहिए, विशोधक नहीं, जबकि प्रायश्चित्त को विशोधक कहा गया है, ऐसा क्यों ?

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/45 - पृ. - 290

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/46 - पृ. - 291

उत्तर— शास्त्रों में आलोचनादि को प्रायश्चित्तों के विशोधक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा इसलिए कि वे प्रायश्चित्त कहे जाते हैं। प्रायश्चित्त अनुष्ठान की श्रेणी में हैं, किंतु प्रायश्चित्त को विशोध्य मानना उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे स्वभावतः विशोधक हैं। प्रायश्चित्त अनुष्ठान की श्रेणी में इसलिए हैं कि वे एक क्रिया हैं तथा विशोधक इसीलिए हैं कि वे विशुद्धि का कारण हैं। प्रायश्चित्त स्वयं विशुद्धि नहीं है, वह विशुद्धि का निमित्त है, अतः उन्हें विशोधक कहने में कहीं कोई बाधा नहीं है। आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान कहते हैं। इसे प्रायश्चित्त पंचाशक की सैतालीसवीं एवं अड़तालीसवीं गाथाओं में¹ सिद्ध किया गया है।

प्रायश्चित्त भी आगमोक्त अनुष्ठान ही है। चूंकि आगम में भिक्षाचर्यादि अनुष्ठानों की तरह प्रायश्चित्त का भी विधान है, इसलिए प्रायश्चित्त अन्यथा अन्य अनुष्ठानों से भिन्न नहीं हो सकता है। यदि प्रायश्चित्त आगमोक्त अनुष्ठान न हो, तो वह शुद्धिरूप इष्टार्थ का साधक नहीं बन सकता है। प्रायश्चित्त इष्टार्थ का साधक है, अतः आगमोक्त अनुष्ठान है।

प्रायश्चित्त ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्रव्रज्या ही भवान्तर में किए गए पापकर्मों के प्रायश्चित्त-रूप ही है, अर्थात् उनकी शुद्धि का कारण है, अतः प्रव्रज्या-रूप प्रायश्चित्त को भी आगमोक्त अनुष्ठान मानने में कोई दोष नहीं है।

भाव से किए गए प्रायश्चित्त का लक्षण— जीवन-चर्या में अपराध होने पर आलोचना आदि प्रायश्चित्त करके जो शुद्ध हो जाता है, वह वास्तव में प्रायश्चित्त का शुभ लक्षण है। फिर भी, अपराध हो सकते हैं, तो पुनः भाव से प्रायश्चित्त करके उनसे शुद्ध होना भी अच्छी तरह से किए गए प्रायश्चित्त का ही लक्षण है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की उन्पचासवीं गाथा में² अन्य आचार्यों के मत को भी स्पष्ट करते हैं—

जिस दोष का प्रायश्चित्त किया गया हो, उस प्रायः उसे फिर से न किया जाए, यह अच्छी तरह से किए गए प्रायश्चित्त का लक्षण है। यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग

¹ पंचाशक-प्रकरण -- आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/47, 48 -- पृ. - 291, 292

² पंचाशक-प्रकरण -- आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/49 -- पृ. - 292

इसलिए किया गया है कि फिर भी यह संभव है कि जिसने शुद्ध प्रायश्चित्त किया है, वह भी पुनः वही दोष कर ले। दूसरे कुछ आचार्यों का कहना है कि दोष की विशुद्धि के लिए आजीवन उस दोष को पुनः नहीं करने का नियम ही शुद्ध प्रायश्चित्त होता है।

उपर्युक्त मतांतर का समर्थन— प्रायश्चित्त करने के पश्चात् यदि साधक संयम से नहीं गिरने वाला है, तो उसका प्रायश्चित्त शत-प्रतिशत शुद्ध है। अपने किए हुए अपराधों का प्रायश्चित्त करने के पश्चात् यही संकल्प होना चाहिए कि यह अपराध अब पुनः नहीं करूंगा, क्योंकि पुनः अपराध नहीं करने वाला ही मोक्ष की ओर शीघ्र अग्रसर हो सकता है। यदि वह अपराधों को दोहराता रहा, तो अपराध कम करने का, अथवा नहीं करने का पुरुषार्थ सफल नहीं होगा, अतः शुद्ध प्रायश्चित्त के लिए 'आगे यह दोष नहीं करूंगा'—ऐसा संकल्प साधक को करना ही चाहिए। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत प्रायश्चित्तविधि पंचाशक की पचासवीं गाथा में¹ कहते हैं—

निश्चयनय से संयमस्थान से पतित नहीं होने वाले और भवविरह, अर्थात् मोक्ष के लिए तत्पर साधुओं की अपेक्षा से अन्य आचार्यों का मत भी स्वीकार्य है।

पंचाशक-प्रकरण में स्थितास्थित कल्पविधि

साधु-सामाचारी को कल्प कहते हैं। कल्प शब्द के आचार-विचार, मर्यादा, नीति, सामाचारी, आचार के नियम, विधि-विधान आदि अनेक अर्थ हैं।²

जिस प्रवृत्ति से प्रवृत्ति करने वाले संयम-मार्ग में स्थित होते हैं, उस प्रवृत्ति को स्थितकल्प कहते हैं।

वसुनंदी ने कल्प शब्द का अर्थ विकल्प किया है।³

वैदिक-परम्परा में आचार के नियमों के लिए कल्प शब्द का प्रयोग किया गया है।⁴

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 16/50 - पृ. - 292

² कल्पसूत्र-कल्पलता-टीका (आ घासीलालजी कृत) का मंगलाचरण - पृ - 67

³ मूलाचार-टीका - 10/18 - पृ - 105

⁴ संस्कृत हिंदी कोश आटे

⁵ मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. फूलचंद प्रेमी - पृ - 334

जैन-परम्परा में साधु के आचार को कल्प कहते हैं।⁵

भगवती आराधना में इन दस कल्पों की चर्चा आचार्य के आचारत्व-गुण के प्रसंग में की गई है। वहाँ इनका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो इन दस कल्पों में सम्यक् प्रकार से स्थित है, वह आचारवान् है।⁶

अणगार-धर्मासूत्र में आचार्य के छत्तीस गुणों के अन्तर्गत भी इन दस कल्पों का उल्लेख किया गया है।¹

भगवतीसूत्र में कल्प के सामान्य रूप में स्थित और अस्थित- ये दो भेद माने गए हैं।² जो चिरकाल में एकरूप होते हैं, वे स्थितकल्प हैं और जो देश, काल एवं परिस्थितिवश बदलते हैं, वे अस्थितकल्प हैं। प्रश्न उपस्थित किया गया कि मध्यवर्ती तीर्थकर के साधुओं के लिए कल्पों में विकल्प क्यों दिया गया एवं प्रथम तथ अंतिम तीर्थकर के साधुओं के लिए क्यों नहीं ?

मध्यवर्ती तीर्थकर के समय में सामायिक-चारित्र था, जबकि भगवान् ऋषभ एवं भगवान् महावीर के समय में छेदोपस्थापनीय-चारित्र की भी व्यवस्था हो गई। दूसरे, मध्यवर्ती तीर्थकरों के ऋजुप्राज्ञर्थ, जबकि ऋषभ ऋजुजड़ तथा महावीर के वक्रजड़ हैं, अतः इनके दस ही कल्पों का पालन करना अनिवार्य माना गया, जबकि मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं में मात्र सामायिक-चारित्र होने के कारण उनके कल्प-विधान में अंतर किया गया।

स्थितास्थित-कल्पविधि-

स्थित-अस्थित-कल्पविधि की चर्चा करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र ने प्रथम गाथा में³ अपने आराध्यश्री के चरणों में वंदन करते हुए कहा है-

मैं भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रथम और अंतिम एवं मध्य के बाईस तीर्थकरों के काल में स्थित-अस्थित आचार का वृहत्कल्प आदि सूत्रों के अनुसार संक्षेप में निरूपण करूंगा।

⁶ भगवती आराधना - पं कैलाशचंद्र शास्त्री

¹ अणगार-धर्मासूत्र - पं आशाधर - 9/ 76

² भगवती-सूत्र - 25/6/299

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 17/1 - पृ. - 293

स्थितकल्प का स्वरूप— स्थित, अर्थात् नियत। अस्थित, अर्थात् अनियत। कल्प, अर्थात् आचार, अर्थात् साधु—सामाचारी। नियत आचार स्थित—अस्थित कल्प कहलाता है। जिन आचारों का सदा पालन किया जाता है, वे स्थितकल्प कहलाते हैं। ये स्थितकल्प ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर की परम्परा के साधुओं के लिए नियमतः करने के लिए होते हैं। यही बात आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की दूसरी गाथा में स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

सामान्यतः, आचेलक आदि के भेद से कल्प दस प्रकार का होता है। ये कल्प प्रथम और अंतिम जिनों (तीर्थकरों के काल) के साधुओं के लिए कहे जाते हैं, क्योंकि उन्हें इनका आचरण हमेशा करना होता है। स्थितकल्प, अर्थात् नित्य—मर्यादा।

स्थितकल्प का नित्य आचरण करने का कारण— स्थितकल्प प्रथम एवं अंतिम तीर्थकर के शासनकाल के साधुओं के लिए ही नित्य आचरण करने का विधान है, परन्तु इन दो तीर्थकरों के शासनकाल में ही ये क्यों किए जाते हैं ? यह एक प्रश्न है। शास्त्रों में इसका कथन है कि इन दो तीर्थकरों के शासनकाल के जीव क्रमशः जड़बुद्धि एवं तर्कबुद्धि के हैं, अतः इनके लिए इन नियमों का पालन करना अनिवार्य है। स्थितकल्प को तीसरी औषधि के समान बताया गया है। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की तीसरी, चौथी एवं पांचवीं गाथाओं में स्पष्ट करते हैं—

यह स्थितकल्प तृतीय औषधि के समान होने के कारण प्रथम और अंतिम जिनों के साधुओं को उनका पालन हमेशा करने की आज्ञा है, क्योंकि उनके लिए यह एकान्ततः हितकर एवं शुभ है। प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के काल में साधुओं के लिए ही इन दस कल्पों का अनुसरण हमेशा करने की आज्ञा का कारण उनकी सरलता, जड़ता, वक्रता आदि स्वभावगत विशेषताएं हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है—

किसी राजा को अपने पुत्र पर अगाध प्रेम था। उसने अपने पुत्र को सदा के लिए रोगमुक्त बनाने के लिए आयुर्वेद में कुशल अनेक वैद्यों को बुलाकर उसका

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 17/2 — पृ. — 293

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 17/3, 4, 5 — पृ. — 294

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 17/6 — पृ. — 295

उपाय पूछा और उस हेतु औषधि देने को कहा। वैद्य राजा की आज्ञा के अनुसार अपनी-अपनी दवा बनाकर लाए। राजा के द्वारा दवाओं का गुण पूछने पर उन वैद्यों ने क्रमशः इस प्रकार कहा— यह पहले प्रकार की औषधि ऐसी है कि यदि रोग हो, तो उसे दूर करती है और न हो, तो नया उत्पन्न करती है। दूसरे प्रकार की औषधि रोग हो, तो उसे दूर करती है, किन्तु रोग न हो, तो नया रोग उत्पन्न नहीं करती। तीसरे प्रकार की औषधि रोग हो, तो उसे दूर करती है और रोग न हो, तो शरीर को पुष्ट करती है, अर्थात् रोग न हो, तो नया रोग उत्पन्न नहीं करती है, अपितु रसायन का कार्य करती है।

दोष न लगा हो, तो भी तीसरी औषधि की तरह स्थितकल्प का पालन किया जाए, क्योंकि यह शुभभाव-रूप होने के कारण चारित्ररूपी शरीर के लिए रसायन के समान पोषक होता है।

कल्प के दस प्रकार— आचार्य हरिभद्र ने कल्पविधि-पंचाशक की छठवीं गाथा में कल्प के दस नाम बताए हैं, जो निम्न हैं—

1. आचेलक्य 2. औद्देशिक 3. शय्यातरपिण्ड 4. राजपिण्ड 5. कृतिकर्म 6. व्रत 7. ज्येष्ठ 8. प्रतिक्रमण 9. मासकल्प और 10. पर्युषणाकल्प।

1. **आचेलक्य—** वस्त्र का अभाव होने पर भी वस्त्र की इच्छा न रखना।

2. **औद्देशिक—** साधु के लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेना।

3. **शय्यातरपिण्ड—** वसति देने वाले के घर का आहार पानी नहीं लेना।

4. **राजपिण्ड—** राजा के लिए बना हुआ भोजन नहीं लेना।

5. **कृतिकर्म—** दीक्षा में लघु साधु बड़े साधुओं की वन्दना करें।

6. **व्रत—** पंच-महाव्रत का पालन करना।

7. **ज्येष्ठ—** पुरुष प्रधान हैं, अतः बड़ी साध्वी भी साधु को वंदन करें।

8. **प्रतिक्रमण—** अतिचार लगे या न लगे, प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना चाहिए।

9. मासकल्प — साधु को नौ कल्पी विहार करना चाहिए, अर्थात् वर्षाऋतु में चार मास और शेष काल में एक माह से अधिक एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए।

10. पर्युषणाकल्प — वर्षा-ऋतु में चार माह एक ही स्थान पर रहना।

पंचाशक में अलेचक आदि दस कल्पों का वर्णन कल्पसूत्र के अनुसार¹ ही है।

प्रवचन-सारोद्धार में भी इन दस कल्पों का वर्णन पंचाशक के अनुसार ही है।²

भगवती आराधना में भी इन्हीं दस कल्पों का वर्णन है।³

अस्थित कल्पों का प्रतिपादन— जिन कल्पों का पालन मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के शासनकाल में अनिवार्य नहीं है, वे अनियत या अस्थित कल्प कहलाते हैं, किन्तु ये ही कल्प प्रथम एवं अंतिम तीर्थकरों के साधुओं के लिए स्थितकल्प हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें इनका सदा पालन करना होता है। इस बात का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की सातवीं एवं आठवीं गाथाओं में⁴ किया है, जो इस प्रकार है—

मध्यवर्ती बाईस जिनों के साधुओं को आगे कहे जाने वाले छठवें कल्प अस्थित अर्थात् अनियत हैं, क्योंकि वे छः कल्प सदा आचरणीय नहीं होते हैं, अर्थात् वे साधु इन छः कल्पों का कभी पालन करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। ये छः कल्प हैं— 1. आचेलक्य 2. औदेशिक 3. प्रतिक्रमण 4. राजपिण्ड 5. मासकल्प और 6. पर्युषणाकल्प। ये छः कल्प मध्यवर्ती जिनों के साधुओं के लिए अस्थित हैं।

चार स्थितकल्प— मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के लिए जो चार स्थितकल्प होते हैं, वे ही चार कल्प प्रथम व अंतिम तीर्थकर के साधुओं के लिए भी स्थितकल्प होते हैं, लेकिन यहाँ मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं की अपेक्षा से चार स्थितकल्पों का विवेचन

¹ कल्पसूत्र — भद्रबाहुस्वामी — पृ. सं. — 3

² प्रवचन सारोद्धार — आ. नेमीचंद्रजी — द्वार— 77-78 — पृ. सं. — 34

³ भगवती आराधना — 423

⁴ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/7, 8 — पृ. सं. — 295

आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की नौवीं एवं दसवीं गाथाओं में⁵ किया है।

शय्यातरपिण्ड आदि शेष चार कल्प मध्यकालीन जिनों के साधुओं के लिए भी स्थित ही होते हैं, इसलिए आगम में, 'चउसु ठिता छसु अठिता'— मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधु चार कल्पों में स्थित हैं और छः कल्पों में अस्थित हैं— ऐसा कहा गया है।

शय्यातरपिण्ड का त्याग, चार महाव्रतों का पालन, पुरुष की ज्येष्ठता और कृतिकर्म, अर्थात् संयम—पर्याय के क्रम से वंदन—व्यवहार — ये चार मध्य के तीर्थकरों के साधुओं के लिए भी स्थितकल्प हैं।

आचेलक का स्वरूप— आचेलक का अर्थ है— वस्त्ररहित होकर रहना, अथवा प्रमाणोपेत वस्त्र धारण करना, जीर्ण वस्त्र धारण करना।

आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की ग्यारहवीं, बारहवीं एवं तेरहवीं गाथाओं में¹ आचेलक के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अचेलक दो प्रकार के होते हैं— प्रथम, वस्त्र न हो, तो अचेलक और द्वितीय, अल्प वस्त्र होने पर भी अचेलक। तीर्थकर परमात्मा इन्द्र—प्रदत्त देवदूण्य के अभाव में ही अचेलक कहे जाते हैं, जबकि शेष साधु—साध्वी अल्प वस्त्र होने पर भी अचेलक कहे जाते हैं।

प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं का आचेलक्य—कल्प नग्नतारूप होता है। वे साधु सवस्त्र होने पर भी मात्र खण्डित श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण व्यवहार में निर्वस्त्र ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनके वस्त्र जैसे होना चाहिए, वैसे नहीं होते हैं।

मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के सलचेक अथवा अलचेक—धर्म होता है। वे ऋजु और बुद्धिमान् होते हैं, इसलिए वे बहुमूल्य और अल्पमूल्य के वस्त्र पहन सकते हैं। जब वे बहुमूल्य कपड़े पहनें, तब सचेल और जब अल्पमूल्य के कपड़े पहनें, तब अचेल

⁵ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/9, 10 — पृ. सं. — 296

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/11, 12, 13 — पृ. — 296, 297

होते हैं। प्रथम जिन के साधु ऋजु और जड़ तथा अंतिम जिन के साधु जड़ और वक्र होते हैं, इसलिए वे बहुमूल्य वस्त्र नहीं पहन सकते हैं। वे श्वेत खण्डित वस्त्र ही पहन सकते हैं, इसलिए उनका चारित्र-धर्म अचेलक है।

अल्पमूल्य के फटे कपड़ों के होने पर अचेल ही कहा जाता है। यह बात लोक-व्यवहार और आगमन्याय- इन दोनों से सिद्ध होती है। लोक में जीर्ण वस्त्र को, 'वस्त्र नहीं है'— ऐसा माना जाता है, क्योंकि वह विशिष्ट कार्य का साधक नहीं होता है। आगम-वचन से भी श्वेत जीर्ण वस्त्र होने पर उसे वस्त्रहीन ही समझा जाता है।

चेल का अर्थ है— वस्त्र। उसमें 'अ' उपसर्ग लगने पर, वस्त्ररहित— ऐसा अर्थ होता है। पुराने वस्त्र धारण करने पर भी मन से ममत्वरहित होने के कारण वे भाव से अचेलक ही कहे जाते हैं।

वस्त्र है और निर्वस्त्र कैसे होंगे ? वस्त्र है, पर ममत्व नहीं है— इस कारण सवस्त्र अचेलक है। वस्त्र का त्याग कर दिया, किन्तु त्याग करने पर भी ममत्व है, तो वह अचेलक होकर भी सचेलक है, क्योंकि वस्त्र का त्याग कर दिया, पर वस्त्र के त्याग का मोह नहीं त्याग सका।

औद्देशिक-कल्प का स्वरूप— साधु के निमित्त बनाया गया आहार औद्देशिक कहलाता है। आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की चौदहवीं, पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं गाथाओं में¹ औद्देशिक-कल्प के विषय का विवेचन करते हुए कहते हैं—

स्थित-अस्थित-कल्प के संदर्भ में साधु के निमित्त से जो कार्य किया जाए, वह औद्देशिक कहा गया है। औद्देशिक के विषय में प्रथम और अंतिम जिनों के संघ में श्रमणों के लिए ग्राह्य-अग्राह्य का विभाग निम्न प्रकार से है—

सामान्य रूप से संघ (साधु-साध्वी के समुदाय) के लिए, अथवा किसी वर्ग-विशेष के साधु-साध्वी के लिए, अथवा किसी एक साधु के निमित्त बनाया गया औद्देशिक आहार प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के सभी साधुओं के लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है। मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं में जिस संघादि के निमित्त आहार बना हो, वह

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/14, 15, 16 — पृ. — 298

उस संघादि के द्वारा ग्राह्य नहीं है, शेष साधुओं द्वारा ग्राह्य है, क्योंकि जिनेश्वरों ने उनके लिए यह मर्यादा रखी है।

मूलाचार के अनुसार, जैन-मुनि को श्रमण के उद्देश्य से बनाए गए आहार वसति आदि के ग्रहण करने का निषेध है।²

भगवती-आराधना, प्रश्नव्याकरण, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में भी औद्देशिक आहार के ग्रहण में अनेक दोष बताए गए हैं। इसके ग्रहण से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना होती है, अतः औद्देशिक आहार साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।¹

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, महावीर के पूर्व तक यह परम्परा थी कि जैन-श्रमण अपने स्वयं के लिए बनाए गए आहार आदि का उपभोग नहीं कर सकता था, लेकिन वह दूसरे श्रमणों के लिए बनाए गए आहार आदि का उपभोग कर सकता था। महावीर ने इस नियम को संशोधित कर किसी भी श्रमण के लिए बने औद्देशिक आहार आदि के ग्रहण को वर्जित माना।²

शय्यातर पिण्ड का स्वरूप— शय्यातर, अर्थात् स्थान देने वाला दाता तथा पिण्ड, अर्थात् आहार। इस शय्यातर पिण्ड में वसति, अर्थात् ठहरने का स्थान देने वाले के यहाँ से आहार ग्रहण करने का निषेध बताया है। भरत क्षेत्र एवं महाविदेह क्षेत्र में स्थित सभी साधुओं के लिए यह आचार एक समान है। स्थानदाता के यहाँ से भोजन ग्रहण करने से साधु अनेक दोषों का भाजन बन सकता है, जैसे— वसतिदाता को साधु के प्रति रागभाव उत्पन्न होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ बनाना, अथवा साधु के प्रति द्वेष का हो जाना, अथवा आहार देना पड़ेगा— यह सोचकर साधुओं को स्थान नहीं देना आदि, अतः साधु द्वारा शय्यातरपिण्ड ग्रहण न करने से साधु को ये दोष नहीं लगते हैं। यही बात आचार्य

² मूलाचारवृत्ति - 10/18

¹ (क) भगवती आराधना वि. टी. - 421

(ख) प्रश्न-व्याकरण - संवरद्वार- 1/5

(ग) सूत्रकृतांग - 1/9/94

(घ) उत्तराध्ययन - म. महावीर - 20/47

² जैन, बौद्ध और गीता - डॉ. सागरमल जैन - पृ. - 363

हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि- पंचाशक की सत्रहवीं एवं अठारहवीं गाथाओं में³ कही है।

शय्यातर का अर्थ होता है- साधुओं के उपाश्रय का मालिक। शय्यातर का जो पिण्ड है, वह शय्यातरपिण्ड कहा जाता है। अशन, पान, खादिम और स्वादिम- ये चार, वस्त्र, पात्र, रजोहरण और कम्बल- ये चार, सुई, अस्त्र, नाखून काटने का साधन और कान का मैल निकालने का साधन- ये चार, इस प्रकार शय्यातरपिण्ड कुल बारह प्रकार का होता है।

प्रथम, अंतिम, मध्यवर्ती और महाविदेह-क्षेत्र के सभी तीर्थकरों के साधुओं के लिए शय्यातरपिण्ड ग्राह्य नहीं है। शय्यातर के मकान में रहने वाले, या उसके किसी दूसरे मकान में रहने वाले सभी साधुओं के लिए शय्यातरपिण्ड ग्राह्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से महान् दोष लगता है।

अज्ञात भिक्षा का अपालन, उद्गम-सम्बन्धी दोषों की सम्भावना, अविमुक्ति, अलाघवता, दुर्लभशय्या और व्यवच्छेद- इन दोषों के कारण तीर्थकरों ने शय्यातरपिण्ड का निषेध किया है।

1. अज्ञात भिक्षा का अपालन साधु के द्वारा बिना किसी परिचय के भोजन लाकर करना अपरिचित भिक्षा है। शय्यातर के यहाँ रहने के कारण साधु का शय्यातर से अतिपरिचय हो जाता है, इसलिए यदि शय्यातर के यहाँ से भोजन लाए, तो वह परिचित भिक्षा (ज्ञात भिक्षा) हो जाती है और अज्ञात भिक्षा का पालन नहीं हो पाता है।

2. उद्गम की अशुद्धि- उद्गम सम्बन्धी दोषों से युक्त भोजन अशुद्ध माना गया है। अनेक साधुओं के द्वारा भोजन, पानी आदि कार्यों के लिए उसके घर बार-बार जाने से शय्यातर उद्गम-सम्बन्धी दोषों में से कोई भी दोष लग सकता है। शय्यातर, साधु हमारे यहाँ ठहरे हैं- ऐसा जानकर उनके लिए भोजन भी बना सकता है।

³ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूत्रि- 17/17, 18 - पृ. - 298, 299

3. **अविमुक्ति**— आहारादि की लोलुपता के कारण साधु द्वारा शय्यातर के घर बार-बार जाना (घर न छोड़ना) अविमुक्ति-दोष है। इससे उसे साधु की लोभवृत्ति का परिचय मिलता है।

4. **अलाघवता (भार)**— विशिष्ट आहार लेने से शरीर का पुष्ट होकर भारी हो जाना अलाघवता है। उपधि आदि के मिलने से भार बढ़ जाता है। पुनः, उस गृहस्थ को वे साधु भारस्वरूप लगने लगते हैं, जैसे— अरे ! इन्हें मकान तो दिया ही, अब इनके भोजन आदि की व्यवस्था करो।

5. **दुर्लभशय्या**— जिन्हें आश्रय देना है, उन्हें आहार भी देना पड़ेगा— ऐसा भय उत्पन्न होने से गृहस्थ साधुओं को आश्रयस्थल देने से भी कतराते हैं।

6. **व्यवच्छेद**— अधिक मकान होंगे, तो साधुओं को देना पड़ेंगे— इस भय से अधिक मकान न रखना भी आवास-व्यवच्छेदरूप दोष है, साथ ही, 'इन्हें आश्रयस्थल देने पर भोजन भी देना होगा'— इस भय से गृहस्थ उन्हें आश्रय देना बंद कर देता है, यह भी आवास-व्यवच्छेद है।

सूत्रकृतांग में इसे 'सागरिय-पिण्ड' भी कहा गया है।¹

कल्पसूत्रटीका में कहा गया है कि वसति-स्थान देने वाले के घर का आहार-पानी लेना कल्प्य नहीं है।²

निशीथभाष्य में शय्यातर से तात्पर्य श्रमण को शय्या (वसतिका) आदि देने से संसार-समुद्र को तैरने वाला कहा है। उसके यहाँ का अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यादि आहार तथा अन्य वस्तुओं को अकल्पनीय कहा है।³

अन्य मत — आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि की उन्नीसवीं गाथा में⁴ इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों के मतों का कथन करते हैं, जो इस प्रकार है—

¹ सूत्रकृतांग - 1/9/16

² कल्पद्रुमकलिकाटीका - उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभगणि - पृ. - 3

³ निशीथ-भाष्य - गाथा- 11/51-54

⁴ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/19 - पृ. - 300

⁵ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/20 - पृ. - 300

कुछ आचार्यों का मत है कि साधु और शय्यातर के उपकार्य—उपकारक—भाव के कारण स्नेह न हो— यह शय्यातरपिण्ड के निषेध का भावार्थ है। कुछ आचार्य कहते हैं कि यदि साधु शय्यातरपिण्ड न लें, तो शय्यातर को लगेगा कि ये साधु निःस्पृह हैं, इसलिए, पूज्य हैं— ऐसा भाव उत्पन्न होगा। यह शय्यातरपिण्ड—निषेध का भावार्थ है। कुछ आचार्यों का कहना है कि यह भगवान् की आज्ञा है, यही शय्यातरपिण्ड के निषेध का भावार्थ है।

राजा का स्वरूप— आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि की बीसवीं गाथा में राजा के स्वरूप का कथन इस प्रकार करते हैं—

मुदित शुद्धवंश में उत्पन्न और अभिषिक्त अर्थात् जिसका राज्याभिषेक किया गया हो, वह राजा है। राजपिण्ड आठ प्रकार का होता है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए यह 'राजपिण्ड' वर्जित है, क्योंकि इससे व्याघात आदि दोष लगते हैं।

राजपिण्ड— राजा के यहाँ का आहार ग्रहण करना राजपिण्ड—दोष है, क्योंकि राजा के यहाँ से आहार लेने में आहार की गवेषणा सुचारु रूप से नहीं हो सकती है तथा गरिष्ठ आहार के कारण प्रमाद, क्रोध, लोभ आदि कषायों की वृद्धि हो सकती है, साथ ही सामान्य लोगों की साधु के प्रति अप्रीति हो सकती है कि ये साधु तो राजा के यहाँ से मिष्ठान्न आदि लाकर माल उड़ाते हैं, अपने यहाँ की भिक्षा इन्हें कहाँ अच्छी लगेगी, अथवा राजा के यहाँ अपमान आदि की भी पूर्णतया सम्भावना रहती है। इस कारण, साधुओं में भी परस्पर द्वेष की भावना उत्पन्न हो सकती है, वे राजा आदि से निन्दा भी कर सकते हैं, अतः रसलोलुप, कषाय, द्वेष, निन्दा आदि पापों से बचने के लिए, सयंम की आराधना करने के लिए, राजपिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रश्न किया गया है कि जहाँ जिनधर्मी के घर न हों एवं अन्य कुल वाले भिक्षा न दे रहे हों, तो ऐसे समय में राजपिण्ड ग्रहण करना चाहिए या नहीं ?

समाधान— पहली बात यह है कि ऐसी स्थिति में साधु वहाँ नहीं रहे। यदि ऐसी स्थिति भी नहीं है कि साधु वहाँ से विहार कर सकें, तो ऐसी परिस्थिति में संयम-रक्षा के लिए राजपिण्ड ग्रहण कर लेना चाहिए।

इसी बात का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की इक्कीसवीं गाथा में¹ किया है—

राजपिण्ड लेने से व्याघात, लोभ, एषणाघात, आसक्ति, उपघात और गर्हा आदि दोष लगते हैं।

व्याघात— राजकुल में भौगिक, तलवर, माण्डलिक आदि सपरिवार आते-जाते रहते हैं, इसलिए साधुओं को राजकुल में आने-जाने में परेशानी होती है, या विलम्ब होता है, जिससे साधु के दूसरे कार्य रुक जाते हैं।

लोभ एवं एषणाघात— राजकुल में अधिक आहार मिलता है, जिससे लोभ बढ़ता है और लोभ से एषणा का घात होता है।

आसक्ति— सुंदर शरीर वाले हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुरुष आदि को देखने से उनके प्रति आसक्ति होती है, काय-विकार जगता है।

उपघात— साधुओं पर जासूसी, चोरी आदि की शंका करके राजा उनको निर्वासन, ताड़न आदि—रूप उपघात कर सकता है।

गर्हा— ये साधु राजपिण्ड लेते हैं— इस प्रकार की निंदा होती है। मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधु ऋजु-प्राज्ञ होने के कारण उन दोषों को दूर करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि वे सदैव अप्रमत्त होते हैं। प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधु उन दोषों को दूर नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे जड़बुद्धि होते हैं।

राजपिण्ड के आठ प्रकार— आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की बाइसवीं गाथा में¹ राजपिण्ड के आठ प्रकार वर्णित किए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/21 - पृ. - 301

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/22 - पृ. - 301

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/23 - पृ. - 302

1. अशन 2. पान 3. खादिम 4. स्वादिम 5. वस्त्र 6. पात्र 7. कम्बल 8. रजोहरण— ऐसा कुल आठ प्रकार का राजपिण्ड होता है।

कृतिकर्म का स्वरूप— श्रमणों में ज्येष्ठ मुनियों के आगमन पर उनका सम्मान करना एवं वंदन करना कृतिकर्म है। आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की तेईसवीं गाथा में कृतिकर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

अभ्युत्थान और वंदन के भेद से कृतिकर्म दो प्रकार का होता है। साधुओं और साध्वियों को अपनी चारित्रपर्याय—रूप योग्यता, अर्थात् वरिष्ठता के अनुसार दोनों प्रकार का कृतिकर्म करना चाहिए। अभ्युत्थान का अर्थ है— आचार्य आदि के आने पर उनके सम्मानस्वरूप खड़े हो जाना और वंदन का अर्थ है— द्वादशावर्त्त से वंदन करना आदि।

पर्यायवृद्ध साध्वी को भी छोटे साधुओं की वंदना करना चाहिए, क्योंकि धर्म पुरुष प्रधान है, अतः संयम ग्रहण करने के पश्चात् आज का नवदीक्षित मुनि भी पर्याय—स्थविर साध्वी के द्वारा वन्दनीय हो जाता है। चूंकि धर्म—प्रवर्तन, उपस्थापनारूप दीक्षा के प्रदायक तथा चौदह पूर्वों के अध्ययन आदि के अधिकारी पुरुष ही हैं, इसलिए वे साध्वी द्वारा वन्दनीय हैं। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की चौबीसवीं गाथा में¹ स्पष्ट लिखा है—

अल्प संयम—पर्याय वाली या अधिक संयम—पर्याय वाली साध्वियों को आज के नवदीक्षित साधु की भी वन्दना करना चाहिए, क्योंकि सभी तीर्थकरों के तीर्थों में धर्म को पुरुषों ने ही प्रवर्तित किया है, इसलिए धर्म पुरुष—प्रधान है। साधु यदि साध्वियों की वन्दना करें, तो तुच्छता के कारण स्त्री को गर्व होगा। गर्व वाली साध्वी साधु का अनादर करेगी, इस प्रकार साध्वियों को अनेक प्रकार के दोष लगते हैं।

जो संयम—पर्याय में ज्येष्ठ हो और उन्हें वन्दन नहीं करे, तो भी वह दोषों का भागी बनता है, अर्थात् अहंकार का शिकार बनता है और यह अहंकार का शिकार

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/24 — पृ. — 302

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/25 — पृ. — 302

निम्न गति में धकेलता है। जब तक यह अहंकार रहेगा कि मैं महान् हूँ, मैं क्यों वन्दना करूँ, तो वह न ज्ञान अर्जन कर सकता है और न केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। बाहुबलि को भी यही अहंकार था। 'मैं बड़ा भाई हूँ, छोटे भाइयों को वन्दन नहीं करूंगा'— यह विचार कर वह ध्यान में स्थित हो गए। बारह मास तक ध्यान किया, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु ज्यों ही वन्दन करने के लिए चले, केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अहंकारी सदा निन्दा का पात्र बनता है, अतः ज्येष्ठ को सदा वन्दना करना चाहिए। यही बात आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की पच्चीसवीं गाथा में स्पष्ट करते हैं—

वन्दनीय की वन्दना नहीं करने पर अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से नीच गोत्रकर्म का बंध होता है। इससे अन्य लोगों को ऐसा लगेगा कि जिन—प्रवचन में विनय का उपदेश नहीं दिया गया है। इससे जिन—शासन की निन्दा होगी, अथवा लोग ऐसा कहेंगे कि ये साधु अज्ञानी हैं, ये लोकरूढ़ि का पालन भी नहीं करते हैं। इससे भी जिनशासन की निन्दा होगी। शासन की निन्दा का हेतु होने से ऐसे कर्म बंधते हैं, जिनसे सम्यक् बोधिलाभ नहीं होता है और संसार परिभ्रमण में वृद्धि होती है।

व्रत का स्वरूप— पंच—महाव्रत का पालन करना व्रत है। व्रत का अर्थ है— विरति। विरति से तात्पर्य है— रति से विरक्त होना। अन्य अपेक्षा से, विरति का अर्थ है— राग—भाव का तिरोहित होना। हिंसा आदि पांच अव्रतों, अर्थात् पापों से पूर्णतः विरत हो जाना ही महाव्रत है।

आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की छब्बीसवीं, सत्ताईसवीं एवं अट्ठाईसवीं गाथाओं में¹ व्रत के स्वरूप का विवेचन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए पांच व्रतों वाला चारित्र—धर्म होता है और शेष तीर्थंकरों के साधुओं के लिए चार व्रतों का चारित्र—धर्म होता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूत्रि— 17/26, 27, 28 — पृ. — 303

मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधु प्राज्ञ होने के कारण स्त्री को परिग्रह मानकर उसे स्वीकार नहीं करने के कारण उसका भोग भी नहीं करते हैं तथा परिग्रह—विरमण से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

प्रथम, अंतिम और मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के लिए पांच—महाव्रतरूप और चार—महाव्रतरूप— इस प्रकार के दो कल्प स्थित हैं, क्योंकि दोनों कल्पों में त्याज्य पाप तो एक समान ही हैं। इस कल्प का पालन आजीवन होता है। पांच—महाव्रतरूप और चार—महाव्रतरूप होने से, दो प्रकार का होने पर भी यह कल्प परमार्थ से तो एक प्रकार का ही है।

ज्येष्ठ कल्प का स्वरूप— चारित्र में जो बड़ा है, उसे ही ज्येष्ठ माना जाता है, अर्थात् जिसने दीक्षा पहले ली हो, अर्थात् जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हो गई हो, वह ज्येष्ठ की श्रेणी में आता है। निश्चयनय के अनुसार तो जो चारित्र—विधि के पालन में श्रेष्ठ है, वह ज्येष्ठ माना जाना चाहिए, क्योंकि उसकी बड़ी दीक्षा पहले हुई है, परन्तु चारित्र—विधि में श्रेष्ठ नहीं है, तो वह पुनः दीक्षा लेने का अधिकारी है। इस अपेक्षा से चारित्र—विधि वाला ज्येष्ठ हो गया। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की उन्तीसवीं गाथा में² ज्येष्ठ कल्प के स्वरूप को स्पष्ट किया है—

महाव्रतों का आरोपण होना उपस्थापना है। प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं में उपस्थापना से ज्येष्ठता मानी जाती है, अर्थात् जिसकी बड़ी दीक्षा पहले हो, वह ज्येष्ठ माना जाता है। मध्य के तीर्थकरों के साधुओं की ज्येष्ठता उनके सामायिक—चारित्र के ग्रहण से ही मानी जाती है, किन्तु यह तभी हो सकता है, जब उनका चारित्र अतिचार रहित हो। यदि चारित्र अतिचार सहित हो, तो उनकी बड़ी दीक्षा हो या छोटी दीक्षा, ज्येष्ठता नहीं मानी जाती है, क्योंकि उसकी पूर्व दीक्षा अप्रामाणिक होती है। यदि उसे फिर से दीक्षा या उपसम्पदा दी जाए, तो वह प्रामाणिक मानी जाती है।

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/29 — पृ. — 303

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/30 — पृ. सं. — 304

उपस्थापना के योग्य जीव का स्वरूप—

छेदोपस्थापना—चारित्र के योग्य तब बनता है, जब व्यक्ति के भावों में प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रेम उभर आए, अर्थात् अहिंसा के भाव भीतर कूट-कूट करके भर जाएं— जिनाज्ञा के प्रति समर्पित हो जाए। जीवन का लक्ष्य बन जाए कि मैं जिनाज्ञा के अनुरूप ही चारित्र-धर्म का पालन करूंगा एवं करवाऊंगा तथा करते हुए का समर्थन करूंगा। इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ इस विषय का प्रतिपादन करते हैं—

आचारांगसूत्र के शस्त्र-परिज्ञा-अध्ययन के सूत्र और अर्थ को पढ़कर और समझकर यह जान ले कि मन, वचन और काय से हिंसादि पापकर्म न करना, न कराना और न अनुमोदन करना। (3 x 3 = 9) इस प्रकार नवकोटि से विशुद्ध छः जीव निकायों की हिंसा का, अथवा रात्रि-भोजन-निषेध सहित व्रतों का पालन करता हुआ जीव उपस्थापना के योग्य बनता है।

दो की एक साथ उपस्थापना करने पर छोटे-बड़े की व्यवस्था उनकी वय की ज्येष्ठता के आधार पर होती है। वर्तमान में भी यही परम्परा है। यदि दो-तीन संघाटकों में एक साथ अधिक दीक्षाएं हों, तो छोटे-बड़े की व्यवस्था गुरु की संयम-पर्याय की अपेक्षा से की जाती है, जबकि व्यवस्था यह होना चाहिए कि जो चारित्र-पालन में अधिक या कम सुदृढ़ हो, उस अपेक्षा से बड़ा-छोटा किया जाना चाहिए। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य हरिभद्र स्थितास्थित-कल्पविधि-पंचाशक की एकतीसरी गाथा में¹ कहते हैं—

पिता-पुत्र, राजा-अमात्य, माता-पुत्री, रानी अमात्यपत्नी आदि एक साथ अध्ययन आदि करके बड़ी दीक्षा के योग्य बन जाएं, तो पिता, राजा, माता, रानी आदि ज्येष्ठ होते हैं। पिता-पुत्र आदि में थोड़ा अंतर हो, अर्थात् पुत्र थोड़े दिन पहले योग्य बन जाए, तो भी उसकी बड़ी दीक्षा में थोड़ा विलम्ब करके पिता के योग्य बन जाने पर पिता-पुत्र की बड़ी दीक्षा एक साथ करना चाहिए, अन्यथा पिता आदि को असमाधि होती

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरी- 17/31 - पृ. - 304

है। यदि ज्यादा अंतर हो, तो पिता को समझाना चाहिए कि आपका पुत्र बड़ी दीक्षा के योग्य हो गया है, उसे बड़ी दीक्षा ले लेने दीजिए। इसमें आपका भी उत्कर्ष है। इस प्रकार समझाने पर भी यदि नहीं माने, तो जहाँ तक हो सके, प्रतीक्षा करना चाहिए।

दो राजा आदि एक साथ दीक्षा लें, तो जो राजा आचार्य के निकट हो, वह ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार, सामायिक-चारित्र (छोटी दीक्षा) और उपसम्पदा (बड़ी दीक्षा)—दोनों तरह से ज्येष्ठ कल्प सभी (प्रथम, अंतिम और मध्य के तीर्थकरों के) साधुओं का स्थितकल्प है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप— दोष लगे या न लगे— दोनों समय प्रतिक्रमण करना प्रथम एवं अंतिम तीर्थकर साधुओं के लिए अनिवार्य है। इन दोनों के लिए प्रतिक्रमण अनिवार्य इसलिए बताया है कि ये ऋजुजड़ और वक्रजड़—बुद्धि के हैं। ऋजुजड़ वाले स्वयं नहीं समझ पाते कि इसमें पाप है या नहीं एवं वक्रजड़ वाले समझकर भी तर्क करते रहते हैं, अतः उनके लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक बता दिया। इसी आवश्यक-क्रिया का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की बत्तीसवीं, तैंतीसवीं और चौतीसवीं गाथाओं में² कहा है—

प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं को सुबह-शाम छः आवश्यक-रूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए। मध्य के तीर्थकरों के साधुओं को दोष लगे, तब प्रतिक्रमण करना चाहिए। दोष न लगने पर मध्य के तीर्थकरों के साधुओं को प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं है।

प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं को अतिचार लगे या न लगे, गमन (आहारादि के लिए उपाश्रय से बाहर निकलना), आगमन (आहारादि लेकर उपाश्रय में आना) और विहार (एक गांव से दूसरे गांव को जाना) में ईर्यापथ— प्रतिक्रमण एवं सुबह-शाम षडावश्यकरूप प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि प्रथम जिन के साधु ऋजुजड़ और अंतिम जिन के साधु वक्रजड़ होते हैं।

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/32, 33, 34 - पृ. - 305

मध्य के जिनों के साधुओं को यदि किसी तरह का दोष लग जाए, तो वे तुरन्त प्रतिक्रमण करके अतिचार की विशुद्धि कर लेते हैं, जिस प्रकार रोग होने के तुरन्त बाद चिकित्सा करें, तो विशेष लाभ होता है।

मासकल्प का विवेचन— सामान्यतः, मुनि को आठ मास विहार करते ही रहना चाहिए, फिर भी, मुनि के लिए नवकोटि-विहार का विधान है। विहार की व्यवस्था की अपेक्षा से दो काल हैं— वर्षाऋतु-काल एवं ऋतुबद्ध-काल। एक विहार वर्षा-काल का एवं आठ विहार ऋतुबद्ध-काल के या मासकल्प के माने जाते हैं। शेष काल में साधु को एक मास से अधिक रहने की आज्ञा नहीं है, अर्थात् एक मास से अधिक एक स्थान पर रहने का निषेध किया है। निषेध करने का यही मुख्य कारण है कि धर्म के प्रति रागभाव में वृद्धि न हो, साथ ही गृहस्थ-वर्ग के प्रति भी राग की वृद्धि न हो। एक स्थान पर रहने पर प्रमाद भी बढ़ सकता है, जिससे भिक्षा-सम्बन्धी उद्गम आदि के दोषों के लगने की भी सम्भावना अधिक होगी तथा अन्य क्षेत्रों के लोगों में धर्म का प्रचार भी नहीं होगा, अतः नौकल्पी-विहार के अनुसार साधु को विचरण कर जिनाज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न यह है कि यदि कहीं लाभ की सम्भावना अधिक हो, अथवा स्वाध्याय आदि की अनुकूलता हो, या किसी की सेवा का प्रसंग हो, तो एक स्थान में अधिक समय तक रहना चाहिए या नहीं? अपवाद में ऐसे प्रसंगों पर रहने की आज्ञा है, पर एक स्थान में रहते हुए भी आस-पास के स्थानों में दो-चार दिनों के लिए स्थान-परिवर्तन करते रहना चाहिए, जिससे जिनाज्ञा का भी पालन हो।

आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की पैंतीसवीं, छत्तीसवीं एवं सैंतीसवीं गाथाओं में¹ मासकल्प का विशद विवेचन इस प्रकार से किया है—

मासकल्प, अर्थात् चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर एक महीने से अधिक नहीं रहने का आचार। प्रथम और अंतिम तीर्थकरों के साधुओं के लिए मासकल्प स्थित है, अर्थात् वे एक स्थान पर एक मास से अधिक नहीं रह सकते हैं, अन्यथा दोष

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/35, 36, 37 - पृ. - 306, 307

लगता है, जबकि मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के लिए मासकल्प अस्थित है, अर्थात् वे एक महीने से अधिक भी एक स्थान पर रह सकते हैं। उन्हें दोष नहीं लगता है, क्योंकि वे ऋजु—प्राज्ञ होते हैं।

प्रथम व अंतिम तीर्थकरों के साधु मासकल्प का पालन न करें, तो प्रतिबद्धता और लघुता होती है तथा जनोपकार, देशविज्ञान और आज्ञाराधन— ये तीनों नहीं होते हैं। विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से है—

1. **प्रतिबद्धता—** एक ही स्थान पर एक महीने से अधिक रहने पर शय्यातर आदि के प्रति रागभाव उत्पन्न होता है।
2. **लघुता—** ये साधु अपना घर छोड़कर दूसरे घर में आसक्त हैं— ऐसी शंका से लोक में लघुता होती है।
3. **जनोपकार—** भिन्न—भिन्न प्रान्तों में रहने वाले लोगों का उपदेशादि देकर उपकार नहीं किया जा सकता है।
4. **देश—विज्ञान—** विविध देशों के लौकिक और लोकोत्तर आचार—व्यवहार का ज्ञान भी नहीं हो सकता है।
5. **आज्ञाराधन—** आगम में मासकल्प से अधिक एक स्थान पर रहने का निषेध किया गया है, अतः इसका पालन करने से आगम—वचन का पालन होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के दोष से यदि द्रव्यतः मासकल्प न हो सके, तो शयनभूमि, मकान, गली आदि का परिवर्तन करके भाव से तो इसका पालन अवश्य ही करना चाहिए।

कालदोष— दुष्काल आदि के कारण भिक्षा मिलना दुर्लभ हो, तो यह कालदोष है।

क्षेत्रदोष— समय के अनुकूल क्षेत्र न मिले, तो वह क्षेत्रदोष है।

द्रव्यदोष— शरीर के अनुकूल आहारादि न मिले, तो वह द्रव्यदोष है।

भावदोष— अस्वस्थता, ज्ञानादि की हानि आदि भावदोष हैं।

पर्युषणाकल्प — दशकल्प (आचार) में पर्युषण—कल्प अन्तिम कल्प है।

वर्षावास में चार मास एक स्थान पर रहना उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प है। संवत्सरी के पश्चात्

सत्तर दिन एक स्थान पर रहना जघन्य पर्युषण-कल्प है। पर्युषण-कल्प से तात्पर्य है- कषायों पर विजय प्राप्त करना। आत्मा के निकट रहना, आश्रव से मन को विराम देना, स्वाध्याय एवं ध्यान में रत रहना पर्युषणा-कल्प है। पर्युषणा-कल्प का विशद विवेचन आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की अड़तीसवीं, उनचालीसवीं एवं चालीसवीं गाथाओं में¹ किया है, जो इस प्रकार है-

मासकल्प की तरह ही पर्युषणा-कल्प भी प्रथम व अंतिम और मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं के भेद से स्थित और अस्थित- इस प्रकार से दो तरह का है। पर्युषणाकल्प के जघन्य और उत्कृष्ट- ये दो भेद होते हैं।

आषाढ़-पूर्णिमा से कार्तिक-पूर्णिमा तक कुल चार महीने उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प है और भाद्रपद शुक्ल पंचमी से कार्तिक-पूर्णिमा तक कुल सत्तर दिन-रात जघन्य पर्युषणाकल्प है। ये दो भेद स्थविर-कल्पियों के लिए होते हैं, जबकि जिनकल्पियों के लिए तो उत्कृष्ट पर्युषणाकल्प ही होता है।

मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधु यदि दोष न लगे, तो एक ही क्षेत्र में पूर्व-करोड़ वर्षों तक भी रह सकते हैं और दोष लगे, तो एक महीना भी नहीं रह सकते हैं। महाविदेह-क्षेत्र के साधुओं के लिए भी ये कल्प मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं की तरह ही होते हैं।

स्थित-अस्थित के विभाग का कारण- कालों में स्थित-अस्थित-विभाग के कारण पूर्व गाथाओं के विवेचन से स्पष्ट होता है कि ये दो विभाग किस अपेक्षा से किए गए हैं ? फिर भी आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की एकतालीसवीं, बयालीसवीं एवं तिरालीसवीं गाथाओं में¹ स्थितास्थित-कल्प के विधान के कारणों को उदाहरणों के साथ स्पष्ट किया है।

यहाँ दस कल्पों का स्थित और अस्थित- यह जो विभाग है, वह तीसरी औषधि के न्याय से भावार्थयुक्त है यादृच्छिक नहीं है। इसके निम्न कारण हैं-

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/38, 39, 40 - पृ. - 307

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/41, 42, 43 - पृ. - 308

प्रथम तीर्थकरों के साधुओं के चरित्र को कठिनाई से शुद्ध कराया जा सकता है, क्योंकि ऋजुजड़ होने के कारण उन साधुओं का अतिचार तब दूर होता है, जब उन्हें विस्तृत उपदेशपूर्वक समस्त हेय-सम्बन्धी ज्ञान हो जाए। अंतिम तीर्थकरों के साधुओं से भी चारित्र का पालन बड़ी कठिनाई से करवाया जा सकता है, क्योंकि वे साधु वक्रजड़ होने के कारण बहाने बनाकर हेय का आचरण करते हैं। मध्यवर्ती तीर्थकरों के साधुओं का चारित्र सुविशोध्य और सुखानुपाल्य है, क्योंकि वे साधु ऋजु-प्राज्ञ होने के कारण उपदेशानुसार चारित्र का पालन करते हैं।

ऋषभदेव भगवान् के काल में साधु ऋजुजड़ अर्थात् सरल, किन्तु अनभिज्ञ होते थे। उन्हें जितना कहा जाता, उतना ही समझते थे, विशेष नहीं।

ऋजु-प्राज्ञ विषयक दृष्टान्त- मध्यवर्ती तीर्थकरों के शासनवर्ती मुनि भिक्षा के लिए गए हुए थे। मार्ग में नटों का नृत्य देखने लग गए और विलम्ब से पहुँचे। गुरु महाराज के पूछने पर यथार्थ बात कही। गुरु ने भविष्य में नाटक देखने जैसे आचरण न करने का आदेश दिया। उन्होंने सविनय स्वीकार किया और पहले देखने का मिथ्यादुष्कृत्य किया। एक बार नृत्यांगना का नृत्य हो रहा था। गोचरी गए हुए वे मुनि वहाँ खड़े न रहे और विचार किया कि रागोत्पत्ति का कारण होने से गुरुदेव ने नृत्य का निषेध किया था, अतः हमें स्त्री-पुरुष किसी का भी नृत्य नहीं देखना चाहिए। यह ऋजुप्राज्ञ, अर्थात् सरल एवं बुद्धिमान् का लक्षण है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुनि तो साधनाशील हैं, संयमवान् हैं, फिर मुनियों के लिए ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभाव क्यों बताया ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्र स्वयं स्थितास्थितकल्पविधि-पंचाशक की चंवालीसवीं गाथा में¹ करते हैं-

काल के प्रभाव से ही साधु प्रायः ऐसे (जड़ता आदि) स्वभाव वाले होते हैं, इसलिए जिनेश्वरों ने उनके लिए स्थित-अस्थित कल्परूप मर्यादा की है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/44 - पृ. - 310

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 17/45, 46, 47 - पृ. - 310

यहाँ प्रायः कहने का अभिप्राय यह है कि अधिकांश साधु ऐसे स्वभाव के होते हैं, किन्तु सभी ऐसे नहीं होते हैं। यह बात प्रथम, अंतिम और मध्यवर्ती— इन तीनों वर्गों के साधुओं के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

पुनः, यह प्रश्न किया गया कि ऋजुप्राज्ञ व्यक्ति स्वभाव से योग्य होने के कारण वे ही चारित्र-ग्रहण के योग्य हैं, ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभाव वाले साधु तो चारित्र के योग्य ही नहीं होते हैं ? आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि— पंचाशक की पैंतालीसवीं, छियालीसवीं एवं सैंतालीसवीं गाथाओं में इस प्रश्न का निराकरण करते हुए कहते हैं—

ऋजुजड़ता आदि से युक्त जीवों का भी चारित्र जिनेश्वरों के द्वारा बताया गया है। वे प्रव्रज्या के योग्य होते हैं, क्योंकि स्थिर और अस्थिर— इन दो प्रकार के भावों में से ऋजुजड़ जीवों के स्थिर भाव शुद्ध होते हैं।

ऋजुजड़— एक नगर के चतुष्पथ में गोचरी के लिए जाते हुए कुछ साधुओं ने नाचते हुए नटों को देखा और उनका नाटक देखने लगे। इसमें बहुत देर लग गई। जब वे आहार लेकर उपाश्रय में आए, तो गुरु महाराज ने पूछा— “मुनिवरों ! आज आपको अधिक देर कैसे हुई ?” तब उन मुनियों ने कहा— “आज नटों का नृत्य देखने लग गए।” गुरु बोले— “साधुओं को नाटक नहीं देखना चाहिए।” मुनियों ने ‘तथास्तु’ स्वीकृति—सूचक शब्द कहकर मिथ्या दुष्कृत्य दिया। पुनः, किसी दिन उन्हीं साधुओं ने गोचरी के लिए जाते समय नर्तकियों का नाटक देखा और उन्हें उसी प्रकार अधिक देर हो गई। आहार लेकर जब वे उपाश्रय में आए, तो गुरु ने कहा— “आज फिर विलम्ब कैसे हुआ ?” वे मुनि बोले— “आज हमने नर्तकियों का नाटक देखा, अतः इतनी देर लग गई।” गुरुदेव ने कहा— “महानुभावों ! मैंने आपको पहले ही निषेध किया था कि नाटक नहीं देखना चाहिए, फिर आप नाटक क्यों देखने लग गए ?” तब मुनियों ने कहा— “आपने पुरुषों का नाटक देखने का निषेध किया था, आज तो स्त्रियों का नाटक था। हमने सोचा, पुरुषों का नाटक देखना निषिद्ध है, स्त्रियों का नहीं, अतः देखने लग गए।” गुरु महाराज ने

कहा— “साधुओं को सभी प्रकार के नाटक नहीं देखना चाहिए, चाहे वह स्त्री का हो, अथवा पुरुष का।” मुनियों ने कहा— “अब आगे से ऐसा नहीं करेंगे। हमारा यह दुष्कृत्य मिथ्या हो।” प्रथम तीर्थंकर के समय ऐसे ऋजुजड़ जीव थे। उन्हें जितना कार्य या कर्तव्य बताया जाता, उतना और वैसा ही जानते तथा पालते थे, उससे अधिक नहीं।

भगवान् महावीर के शासन के साधु वक्रजड़ होते हैं— उनके विषय में भी उपर्युक्त नट का दृष्टान्त है। साधु गोचरी को गए। रास्ते में विलम्ब हुआ। आचार्य द्वारा विलम्ब का कारण पूछने पर उन्होंने कहा— “हम नट का नृत्य देख रहे थे।” आचार्य ने नट—नृत्य देखने का निषेध किया। कालांतर में पुनः विलम्ब से आने पर गुरु महाराज ने पूछा, तो कुटिल होने के कारण उन साधुओं ने उद्दण्डतापूर्वक जवाब दिया कि वे नटी का नृत्य देख रहे थे। गुरु ने जब अपनी पूर्व आज्ञा का स्मरण कराया कि उन्होंने नृत्य देखने से मना किया था, तो वे बोले कि आपने तो केवल नट का नृत्य देखने से मना किया था, हम तो नटी का नृत्य देख रहे थे। अस्थिर भाव तथाविध सामग्री से अशुद्ध होता है, किन्तु वह अशुद्ध भाव चारित्र का घात नहीं करता है, जैसे— वज्र अग्नि से गरम होता है, किन्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, क्योंकि वज्रत्व स्थिरभाव हैं और उष्णत्व अस्थिरभाव। इसी प्रकार, चारित्र में स्थिर जीवों के द्वारा विस्मृति आदि के कारण स्खलना हो जाती है और अतिचार लग जाता है, किन्तु तीव्र संक्लेश न होने के कारण चारित्ररूप परिणाम (स्वभाव) का नाश नहीं होता है।

वक्रजड़ साधुओं के चारित्र के लिए शंका की गई कि वक्रजड़ साधु भी चारित्रवान् कैसे हो सकते हैं ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की अड़तालीसवीं, उनपचासवीं एवं पचासवीं गाथाओं में¹ विशद रूप से किया है—

जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर के साधुओं का स्खलन उनके चारित्र का बाधक नहीं है, उसी प्रकार अंतिम जिन के साधुओं का स्खलन भी काल के प्रभाव से होने के कारण चारित्र का बाधक नहीं है, क्योंकि वह अनेक बार प्रायः मातृका—स्थान, अर्थात् मायारूप संज्वलन—कषाय का सेवन करता है, न कि अनन्तानुबन्धी—कषाय का।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 17/48, 49, 50 — पृ. — 311

मातृस्थान— माता स्त्री होती है। स्त्रियों का स्थान (आश्रय) मातृस्थान कहलाता है। स्त्रियाँ प्रायः माया करती हैं, इसलिए यहाँ मातृस्थान का अर्थ माया है।

यदि माया अनन्तानुबन्धी—कषाय—सम्बन्धी हो, तो वह व्यक्ति श्रमणत्व को प्राप्त नहीं होता है। चूँकि वह अप्रशस्त अध्यवसाय है, अतः उनमें मात्र रजोहरणादि द्रव्यलिंग होने से भाव की अपेक्षा से साधुता नहीं होती है और इससे आगमवचन का विरोध होता है।

अतः आगम में कहा गया है कि साधु के सभी अतिचार संज्वलन—कषाय के उदय से होते हैं। अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के उदय से तो चारित्र का मूलतः नाश हो जाता है। संज्वलन—कषायरूप माया से उत्पन्न अतिचार चारित्र का घातक नहीं है, अतः अतिचार हो, तो भी अंतिम तीर्थंकर के साधुओं को सम्यक्—चारित्र होता है। संज्वलन—कषाय अति अल्प समय का होता है, अतः संज्वलन—कषाय चारित्र का घात नहीं कर सकता, क्योंकि यह कषाय इतना सूक्ष्म होता है कि कर्म—पुद्गलों में रस नहीं पड़ता है।

आचार्य हरिभद्र स्थितास्थितकल्पविधि—पंचाशक की इक्यावनवीं एवं बावनवीं गाथाओं में¹ साधु के द्रव्य—भाव—रूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

संज्वलन—कषाय के उदय होने पर साधुता नहीं होती है, इसलिए जो संज्वलन के अतिरिक्त अन्य कषायों के उदय से संक्लिष्ट चित्त वाले हैं, माया में सदैव तत्पर हैं, धनरहित होने के कारण आजीविका के भय से ग्रस्त हैं, पारलौकिक—साधना से विमुख होकर इहलौकिक—प्रतिबद्धता से मूढ़ हैं, वे वस्तुतः साधु नहीं हैं।

जो संसार—भीरु हैं, गुरुओं के प्रति विनीत हैं, ज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने कषायों को जीत लिया है, संसार से विमुक्त होने में यथाशक्ति तत्पर रहते हैं, वे वस्तुतः (भाव) साधु होते हैं।

भिक्षु—प्रतिमा—कल्पविधि

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूत्र— 17/51, 52 — पृ. — 312

भिक्षु-प्रतिमा मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है— भिक्षु + प्रतिमा। भिक्षु, अर्थात् भिन्न-भिन्न अभिग्रह करने वाला मुनि तथा प्रतिमा, अर्थात् ध्यानस्थ शरीर। जिस प्रकार प्रतिमा अचल होती है, उसी प्रकार साधना करने के समय मुनि भी शरीर से पूर्णतः स्थिर हो जाता है, अर्थात् प्रतिमा का स्वरूप धारण कर लेता है, अतः मुनि की इस स्थिति को भिक्षु-प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमाओं का स्वरूप एक नहीं है। उनकी संख्या बारह है। इन प्रतिमाओं का पालन भिन्न-भिन्न अभिग्रहों के साथ किया जाता है, जिसका विवरण हर प्रतिमाओं के साथ प्रस्तुत किया जाएगा कि कौन-सी प्रतिमा कितने-कितने मास की है तथा किस-किस प्रकार के तप के साथ प्रतिमा की साधना की जाती है।

इन प्रतिमाओं की साधना कठिन है। इन प्रतिमाओं में न केवल शरीर को ही साधना है, बल्कि मन को भी साधना है। मन को साधने पर ही सिद्धि की उपलब्धि होती है। सिद्धि को साधने के लिए मन को साधना और मन को साधने के लिए काया को साधना है और काया को साधने के लिए वचन को साधना है और वचन को साधने के लिए विचारों को साधना है और इन विचारों को साधने के लिए भिन्न-भिन्न अभिग्रहों, अर्थात् नियतिपूर्वक प्रतिमाओं को धारण करना होता है।

भिक्षु-प्रतिमा-कल्पविधि का विवेचन करने के पूर्व आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की प्रथम गाथा में¹ भगवान् महावीर को नमस्कार करके भव्य जीवों के हित के लिए दशाश्रुतस्कंध-सूत्र के अनुसार भिक्षु-प्रतिमाओं के स्वरूप का संक्षेप में विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रतिमा की संख्या और स्वरूप— आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि पंचाशक की दूसरी गाथा में³¹⁸ प्रतिमाओं की संख्या एवं स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/1 — पृ. — 313

³¹⁸ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/2 — पृ. — 313

¹ पंचाशक-प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/3 — पृ. — 313

जिनेश्वर ने सामान्यतया मासिकी आदि बारह भिक्षुप्रतिमाएं कही हैं। विशेष प्रकार से वज्रमध्या, यवमध्या, भद्रा आदि अनेक प्रतिमाएं कही गई हैं। ये प्रतिमाएं विशिष्ट साधना करने वाले साधु का प्रशस्त अध्यवसायरूपी शरीर हैं।

यहाँ साधु के शरीर को प्रतिमा कहा गया है। इसे शरीर कहने का तात्पर्य है कि विशिष्ट क्रिया वाले शरीर से तथाविध गुणों का योग होता है, जिनके कारण प्रतिमाधारी साधु अन्य साधुओं की अपेक्षा प्रधान हो जाते हैं। यही दर्शाने के लिए यहाँ शुभभावयुक्त साधु के शरीर को प्रतिमा कहा जाता है।

आवश्यक—निर्युक्ति में कही गई प्रतिमाएं—

आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ आवश्यक—निर्युक्ति के अनुसार बारह प्रतिमाओं का स्वरूप बताया है, जो इस प्रकार है—

एक महीने से आरम्भ करके क्रमशः एक—एक महीने की वृद्धि से सात महीनों तक की कुल सात प्रतिमाएं हैं, यथा— मासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षण्मासिकी, सप्तमासिकी। इसके बाद पहली, दूसरी और तीसरी (पहले की सात प्रतिमाओं को साथ लेकर गिनें, तो आठवीं, नौवीं और दसवीं)— ये तीन प्रतिमाएं सप्त रात्रि की है, अर्थात् एक दिवस—रात्रि की और अंतिम बारहवीं प्रतिमा मात्र एक रात्रि की हैं। इस प्रकार कुल बारह प्रतिमाएं हैं।

प्रतिमा धारण करने के लिए योग्यता— प्रतिमा धारण करने वालों में निम्न योग्यताओं का होना अनिवार्य है। सर्वप्रथम, मुनि को सहिष्णु होना चाहिए। इसके पश्चात्, ममत्वरहित होना चाहिए, इन्द्रियजित् होना चाहिए, संवेग—निर्वेदयुक्त तथा क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए, जिससे प्रतिमाओं को धारण कर वह सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा विचलित हो सकता है। इसी योग्यता का आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की चौथी, पांचवीं एवं छठवीं गाथाओं में¹ प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार है—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/4, 5, 6 — पृ. — 314

1. संहननयुक्त 2. धृतियुक्त 3. महासात्विक 4. भावितात्मा 5. सुनिर्मित 6. उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक श्रुत का ज्ञानी 7. व्युत्सृष्टकाय 8. व्यक्तकाय 9. जिनकल्पी की तरह उपसर्गसहिष्णु 10. अभिग्रह वाली भिक्षा लेने वाला 11. अलेप आहार लेने वाला और 12. अभिग्रह वाली उपधि लेने वाला साधु ही गुरु से सम्यक् आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

1. संहनन (संघयण) युक्त— प्रथम तीन संहननों, अर्थात् हड्डियों के विशिष्ट जोड़ वाली शारीरिक-संरचना वाले में से किसी एक संहनन वाला साधु परीषह सहन करने में समर्थ होता है।

2. धृतियुक्त— धृति, अर्थात् धैर्य। धैर्यवान् जीव रति-अरति से पीड़ित नहीं होता है।

3. सात्विक— सात्विक जीव अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में हर्ष-शोक नहीं करता है।

4. भावितात्मा— गच्छ के आचार्य या गुरु की आगमानुसार आज्ञा लेकर जिसने चित्त को सद्भावना से भावित बनाया हो, या जिसने पूर्व में प्रतिमाओं का अभ्यास किया हो, वह भावितात्मा है।

5. सुनिर्मित— गच्छ में ही रहकर जिसने प्रतिमाकल्प का आहारादि सम्बन्धी अभ्यास किया हो।

6. श्रुतज्ञानी— जो उत्कृष्ट से थोड़ा कम दस पूर्व का ज्ञाता हो और जघन्य से नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञाता हो, वह श्रुतज्ञानी है।

7. व्युत्सृष्टकाय— शारीरिक-सेवा की आकांक्षा से रहित।

8. व्यक्तकाय— शरीर के ममत्व से रहित।

9. उपसर्गसहिष्णु— जिनकल्पी की तरह देवकृत, मनुष्यकृत आदि उपसर्गों को सहन करने वाला।

10. अभिग्रहयुक्त भिक्षा लेने वाला— संसृष्टा, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्जितधर्मा— इन सात प्रकार की एषणाओं (भिक्षाओं) में से

प्रारंभ की दो भिक्षा कभी नहीं लेने वाला। शेष पांच में से एक पानी की और एक आहार की— इस प्रकार दो ऐषणाओं का अभिग्रह होता है— ऐसी ऐषणा (भिक्षा) लेने वाला।

11. अलेप आहार लेने वाला— चिकनाई रहित भोजन लेने वाला।

12. अभिग्रह वाली उपाधि लेने वाला— प्रतिमाकल्प के योग्य अभिग्रह से मिली उपाधि लेनी चाहिए, प्रतिमाकल्प के योग्य उपाधि न मिले, तो न लें— ऐसा साधु।

प्रतिमा स्वीकार करने के पूर्व प्रतिमाओं की साधना के लिए साधक को गच्छ में रहकर पूर्ण रूप से तैयार होना चाहिए तथा प्रतिमा धारण करने के लिए गुरु (आचार्य) की आज्ञा प्राप्त करना चाहिए। गच्छ में रहकर जो आहार—संयम आदि में योग्य बन गए हों, वे ही साधक गच्छ से बाहर रहकर प्रतिमाओं की आचरणा करें।

इन प्रतिमाओं की साधना करने का अधिकार हर साधु को नहीं है। संघयण करने वाले साधु ही इनकी साधना कर सकते हैं, साथ ही वे अभिग्रहपूर्वक भिक्षा ग्रहण करने वाले एवं अलेपकृत आहार ग्रहण करने वाले हों। इस प्रकार की योग्यता धारण करने वाले साधु ही गच्छ से बाहर रहकर मासिकी आदि प्रतिमाएं स्वीकार कर सकते हैं।

आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि—पंचाशक की सातवीं से लेकर बारहवी तक की गाथाओं में¹ इन्हीं सब बातों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

उपर्युक्त साधु ही गच्छ से निकलकर मासिकी आदि महाप्रतिमाओं को स्वीकार करते हैं। इसकी विधि इस प्रकार है— प्रतिमा स्वीकार करने वाला यदि आचार्य है, तो दूसरे साधु को आचार्य पद पर बैठाकर शरद्—ऋतु में शुभ योग होने पर मासिकी—प्रतिमा को स्वीकार करे तथा गच्छ से निकलते समय सभी साधुओं को बुलाकर क्षमापना करे।

मासिकी—प्रतिमा के अभिग्रह (नियम)—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूत्रि— 18/7 से 12 — पृ. — 315, 316

1. मास-पर्यन्त भोजन की एक ही दत्ति लेना चाहिए। एक समय में धार टूटे बिना पात्र में जितना पड़े, वह एक दत्ति है।
 2. एक महीना तक पानी की भी एक दत्ति ही लेना चाहिए।
 3. भिक्षा ऐसी जगह से ले, जहाँ किसी को यह पता न हो कि भिक्षा लेने वाले को कितनी दत्ति लेने का नियम है।
 4. पूर्वोक्त सात ऐषणाओं में से प्रथम दो के अतिरिक्त पांच में से किसी एक ऐषणा से भोजन ले।
 5. चिकनाई रहित आहार ले।
 6. जिस आहार को भिखारी आदि भी न लेना चाहते हों, वैसा आहार ले।
 7. एक ही मालिक के आहार को ले।
 8. गर्भिणी, छोटे बच्चे वाली और धाय माँ (दूध पिलाने वाली) के हाथ का भोजन न ले।
 9. एक पैर दरवाजे के बाहर और एक पैर दरवाजे के अंदर रखकर भोजन दे, तो ले।
 10. दिन में सुबह, दोपहर या शाम को भिक्षा के लिए निकले।
 11. छः गोचर भूमियों में गोचरी ले। जिस प्रकार गाय ऊँची-नीची घास में चरती-फिरती है, उसी प्रकार साधु ऊँच-नीच घरों में भिक्षा के लिए फिरते हैं- यही गोचर है।
छः गोचर-भूमियाँ निम्न हैं-
- (1) पेटा (2) अर्द्धपेटा (3) गोमूत्रिका (4) पतंगवीथिका (5) शम्बूकवृत्ता और (6) गत्वाप्रत्यागता।

- (1) पेटा- पेटा की तरह गांव को चार भागों में विभक्त करके बीच के घरों को छोड़कर चारों दिशाओं में कल्पित चार पंक्तियों में ही गोचरी को जाना।
- (2) अर्द्धपेटा- पेटा की तरह पंक्ति की कल्पना करके मात्र दो दिशाओं की दो पंक्तियों में जाना।
- (3) गोमूत्रिका - चलते हुए बैल के द्वारा पेशाब करने से जमीन पर जो आकृति बनती है, उसी प्रकार गोचरी करना चाहिए, अर्थात् एक घर में जाने के बाद उसके

समीप वाले घर में नहीं जाना चाहिए, अपितु आगे बढ़कर दूसरी दिशा, अर्थात् उसके सामने वाले के घर में जाना चाहिए।

(4) पंतगवीथिका— पतंग की तरह अनियमित क्रम से भिक्षा के लिए जाना।

(5) शम्बूकवृत्ता— शंख की तरह गोलाकार में गोचरी के लिए जाना।

(6) गत्वाप्रत्यागता— उपाश्रय से निकलकर एक तरफ के घरों से गोचरी लेकर दूसरी तरफ से वापस आना।

12. जिस ग्रामादि में, यह प्रतिमाधारी है— ऐसा पता चल जाए, वहाँ एक अहोरात्र रहना चाहिए। जहाँ पता न चले, वहाँ दो अहोरात्र तक रह सकते हैं।

13. बिस्तर (संधारा)—उपाश्रय आदि की याचना, सूत्र—अर्थ सम्बन्धी या गृहादि सम्बन्धी पूछताछ, तृण, काष्ठ आदि की अनुमति, सूत्रादि सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना— इन चार प्रसंगों पर ही बोलना चाहिए।

14. त्याज्य स्थलों को छोड़कर निर्दोष धर्मशाला, खुला घर या वृक्षादि के नीचे रहे।

15. कारणवश सोना पड़े, तो पृथ्वीशिला, बिना छेद के काष्ठपट्ट या घास के बिछौने पर सोना चाहिए।

16. उपाश्रय में आग लग जाए, तो भी भयभीत न हो। यदि कोई निकाले, तो निकले।

17. पैर में कांटा आदि चुभ जाए या आँख में कुछ पड़ जाए, तो उन्हें स्वयं न निकाले।

18. सूर्यास्त के समय जहाँ भी हो, वही सूर्योदय तक रहे। वहाँ से एक कदम भी आगे न बढ़े।

19. प्रासुक जल से हाथ—पैर या मुँह न धोए।

20. दुष्ट हाथी, घोड़ा, सिंह, बाघ आदि आएँ, तो रास्ते से नहीं हटे, क्योंकि साधु यदि हट भी जाए, तो वे प्राणी वनस्पति आदि की विराधना करेंगे, इसलिए प्रतिमाधारी साधु को रास्ते से नहीं हटना चाहिए।

21. छाया से धूप में और धूप से छाया में न जाए।

इन अभिग्रहों का पालन करता हुआ साधु महीना पूरा होने तक एक गांव से दूसरे गांव में परिभ्रमण करता रहे।

मास पूर्ण होने के पश्चात् की विधि—

गच्छ से निकलकर जो साधु मासिकी—महाप्रतिमा अंगीकार करता है, वह आहार एवं पानी की एक—एक दत्ति लेता है, चलते हुए, सूर्यास्त जहाँ हो गया, वहाँ से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाता है, जहाँ है, वहीं रुक जाता है, एक स्थान पर एक रात्रि ही रहता है, यह प्रतिमाधारी है— यह किसी को ज्ञात नहीं हो, तो दो रात्रि रहता है, हिंसक—पशुओं से भयभीत होकर एक कदम भी इधर—उधर नहीं होता है, मासिक—प्रतिमा पूर्ण होने पर पुनः गच्छ में प्रवेश करता है।

प्रवेश करने के पूर्व परीक्षा में यही वर्णन आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की तेरहवीं गाथा में¹ किया है, जो निम्न प्रकार से है—

मासकल्प पूर्ण होने के बाद भव्यता के साथ गच्छ में प्रवेश करे, जो इस प्रकार है— जिस गांव में गच्छ के साधु हों, उसके समीप के गांव में वह साधु आए। आचार्य उसकी परीक्षा करें और इसकी सूचना राजा को दें और तब उसकी प्रशंसा करते हुए प्रवेश कराएं।

द्विमासिकी, त्रिमासिकी आदि से लेकर सप्तमासिकी—भिक्षुप्रतिमा तक यही विधि है, लेकिन उनमें क्रमशः एक—एक दत्ति की वृद्धि होती है। दूसरी प्रतिमा में दो, तीसरी प्रतिमा में तीन— इस क्रम से सातवीं प्रतिमा में सात दत्ति होती हैं।

आठवीं प्रतिमा का स्वरूप—

पूर्व की सात प्रतिमाओं में सातवीं प्रतिमा तक क्रमशः उनकी संख्या के अनुसार मासों और दत्तियों की संख्या बढ़ती रहती है, परन्तु आठवीं प्रतिमा में समयावधि कम हो जाती है और साधना कठोर हो जाती है। प्रस्तुत प्रतिमा का समय सात दिवसीय ही है, पर गांव के बाहर उपसर्गों को सहन करता हुआ प्रतिमा का पालन करे।

प्रस्तुत प्रतिमा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं गाथाओं में² लिखते हैं—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/13 — पृ. — 318

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/14, 15 — पृ. — 319

सप्त दिवसीय आठवीं प्रतिमा की पूर्वोक्त सात प्रतिमाओं से निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं—

1. एकान्तर से चौविहार उपवास करे।
2. पारणे में आयम्बिल करे।
3. इसमें दत्ति का नियम नहीं होता है।
4. गांव के बाहर उत्तान शयन करें या एक ही करवट लेकर सोए, अथवा पद्मासन लगाकर बैठे— इन तीन स्थितियों में से किसी एक स्थिति में रहकर भी देव, मनुष्य, तिर्यन्च आदि के उपसर्गों को मानसिक और शारीरिक—विचलन से रहित होकर सहन करे।

नौवीं प्रतिमा का स्वरूप— साधक ज्यों—ज्यों प्रतिमा की संख्याओं में आगे बढ़ता है, त्यों—त्यों साधना का स्तर भी बढ़ता जाता है। आठवीं प्रतिमा से नौवीं प्रतिमा की साधना कठिनतर है, जबकि उसकी समयावधि पूर्वप्रतिमावत् सात दिवस की ही है। इसमें दत्ति की संख्या का कोई नियम नहीं है, परन्तु साधना के समय कायिक परीषह सहन करना कठिन है, क्योंकि इस साधना में सात दिवस ही पीठ के बल पर, अथवा केवल मस्तक एवं पांव के आधार पर साधना करते हुए मनुष्य, तिर्यन्च और देवों के उपसर्गों को सहन करे। इसी प्रतिमा के स्वरूप का चित्रण आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की सोलहवीं गाथा में¹ प्रस्तुत किया है—

दूसरी सप्तदिवसीय प्रतिमा भी पहली सप्तदिवसीय प्रतिमा जैसी ही है, क्योंकि इसमें भी तप, पारणा और गांव के बाहर रहने की विधि एक समान ही है, किन्तु इतनी विशेषता है कि साधु उत्कटुक आसन से (घुटनों को जमीन से स्पर्श न कराते हुए) बैठे, टेढ़ी लकीर के समान सोए, अर्थात् जमीन को केवल सिर और पैर का स्पर्श हो, अथवा जमीन को केवल पीठ स्पर्श करे और मस्तक या पैर ऊपर रहें— इस प्रकार सोए। लकड़ी की तरह लम्बा होकर सोए— इन तीन में से किसी भी एक स्थिति में रहकर उपसर्गों को सहन करे।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/16 — पृ. — 319

दसवीं प्रतिमा का स्वरूप—

प्रस्तुत प्रतिमा का काल भी सात दिवसीय ही है। इन तीनों प्रतिमाओं का कुल समय इक्कीस दिन का है। इक्कीस दिन में इन तीन प्रतिमाओं का वहन किया जाता है। प्रस्तुत प्रतिमा का स्वरूप नौवीं प्रतिमा से कठिनतम है, क्योंकि एक तो तिर्यन्च आदि के परीषहों को सहन करना और दूसरी तरफ शरीर को विषम आसनों में रखकर स्थिर रखते हुए शरीर के कष्ट को भी सहन करना। प्रस्तुत प्रतिमा के स्वरूप का कथन करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की सत्रहवीं गाथा में¹ कहते हैं—

तीसरी सप्तप्रतिमा, अर्थात् दसवीं प्रतिमा पूर्वोक्त सप्तदिवसीय प्रतिमाओं जैसी ही है, किन्तु उसकी निम्न विशेषताएं हैं— गाय को दुहने के जैसे आसन से, अर्थात् नीचे पैर का पंजा ही जमीन पर हो और उसका पीछे का भाग ऊपर रहे, अथवा वीरासन (भूमि पर पैर रख सिंहासन पर बैठे हुए पुरुष के समान विचलित हुए बिना स्थित रहना), अथवा आम्रफल की तरह कुब्ज बैठना— इन तीनों स्थिति में से किसी एक स्थिति में रहे। इस प्रकार, ये तीन प्रतिमाएं इक्कीस दिनों में पूरी होती हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप—

प्रस्तुत प्रतिमा वहन करने की अवधि एक अहोरात्रि है। इसमें साधना के दिन कम हो गए, किन्तु साधना का स्तर बढ़ गया है। इसमें छद्म तप की आराधना करना होती है, क्योंकि एक अहोरात्रि की साधना पूर्ण होने के पश्चात् भी दो दिन तक छद्म तप, अर्थात् निरन्तर उपवास किया जाता है। इसमें निरन्तर तीन दिनों तक का उपवास करना होता है। ऐसी दुष्कर साधना के स्वरूप को आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की अठारहवीं गाथा में² स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है—

ग्यारहवीं प्रतिमा अहोरात्रि, अर्थात् एक दिवसीय परिमाण वाली है। इसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/17 — पृ. — 320

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/18 — पृ. — 320

चैविहार षष्ठम का तप, अर्थात् निरन्तर दो उपवास करना होते हैं। (जिसमें छः समय के भोजन का त्याग होता है, उसे छट्ट कहा जाता है।) इसमें दो उपवास होते हैं। दो उपवास में चार समय का भोजन, आगे और पीछे के दिनों में एकाशन करने से एक-एक समय का भोजन, इस प्रकार कुल छः समय के भोजन का त्याग होता है।

इसमें ग्राम या नगर के बाहर हाथ लटका करके कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित रहे। यह प्रतिमा तीन दिनों तक चलती है, क्योंकि अहोरात्र के बाद छट्ट किया जाता है।

बारहवीं प्रतिमा का स्वरूप- बारहवीं प्रतिमा भी एक अहोरात्रि की है। एक अहोरात्रि प्रतिमा वहन करने के पश्चात् तीन दिन चौविहार उपवास करने का विधान है, इस कारण यह प्रतिमा चार दिन में पूर्ण होती है। प्रतिमा-वहन का समय कम है, पर साधना अति दुष्कर है। प्रस्तुत प्रतिमा में साधक की सहिष्णुता भी चरम सीमा में होना चाहिए, क्योंकि सहिष्णुता के अभाव में यह प्रतिमा वहन करना अत्यन्त दुष्कर है। इस दुष्कर कार्य को सहनशीलता के द्वारा ही सुलभ करके सिद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रतिमा के विषय में आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की उन्नीसवीं एवं बीसवीं गाथाओं में¹ प्रतिपादन किया है-

अहोरात्रि की प्रतिमा की तरह ही यह भी एक रात्रि की प्रतिमा है। इसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. चौविहार अष्टम तप, अर्थात् निरन्तर तीन दिन का निर्जल उपवास करना होता है।
2. ग्रामादि के बाहर, अथवा नदी के किनारे थोड़ा-सा आगे झुककर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े रहना होता है।
3. किसी एक पदार्थ पर पलक झपकाए बिना स्थिर दृष्टि रखे।
4. शरीर के सभी अंगों को स्थिर रखे।
5. दोनों पैरों को समेटकर और हाथ लटकाकर (जिनमुद्रा के रूप में अवस्थित होकर) कायोत्सर्ग में रहे।
6. इसका सम्यक् पालन करने से लब्धि उत्पन्न होती है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/19, 20 - पृ. - 321

7. यह प्रतिमा प्रथम रात्रि के बाद अष्टम (अष्टम) तप करने से कुल चार दिन की होती है।

प्रतिमाकल्प-विषयक भेद - कई लोग किसी भी व्यक्ति के विचारों से सहमत नहीं होते हैं। हरेक के अलग-अलग विचार होते हैं। इन विचारों का ही परिणाम है कि आज अलग-अलग मत, सम्प्रदाय, गण, समूह, व्याख्या, परम्परा बन गई हैं। यदि विचारों में भेद न हो, तो आचार में भेद होगा ही नहीं ? जहाँ विचारों में भेद आया, वहाँ आचार-भेद स्वतः हो गया।

प्रतिमाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में भी लोगों के अपने-अपने विचार हैं। उनका कथन है कि प्रतिमा का विधान गच्छ से, गांव से बाहर रहकर करना अनुचित है, परन्तु दूसरी ओर, आप्त-पुरुषों के विधान में व्यवधान डालना भी युक्ति-संगत नहीं है।

इस प्रकार के प्रतिमा के विषय-सम्बन्धी विभिन्न मतों का उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की इक्कीसवीं से लेकर चौबीसवीं तक की गाथाओं में¹ किया है-

प्रतिमाकल्प में भी प्रतिमाओं के गुरु-लाघव की विधिवत् विचारणा नहीं हुई है। कुछ आचार्यों की मान्यता है कि गच्छवास अधिक लाभकारी (गुरु) है, क्योंकि उससे अपना और पराया- दोनों का उपकार होता है और गच्छनिर्गमन कम लाभकारी (लघु) है, क्योंकि उससे केवल अपने वर्ग का ही उपकार होता है। तप आदि तो गच्छवास और गच्छनिर्गमन- दोनों में समान हैं। गच्छनिर्गमन और धर्मोपदेश न देना- ये दोनों ही बातें लाभकारी नहीं हैं, क्योंकि गच्छ में रहने पर गुरुपारतन्त्र्य, विनय, स्वाध्याय, स्मरणा, वैयावृत्त, गुणवृद्धि और शिष्य-परम्परा- ये लाभ होते हैं। गच्छनिर्गमन से ये लाभ नहीं होते हैं।

गुरु-पारतन्त्र्य- आचार्य की अधीनता। यह सम्पूर्ण अनर्थों की कारणभूत स्वच्छन्दता को रोकती है।

विनय- अहंकार का हनन करने वाला होता है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूत्रि- 18/21 से 24 - पृ. - 321, 322

स्वाध्याय— स्वाध्याय पांच प्रकार का है। यह मतिरूप आँख को स्वच्छ बनाने वाले अंजन के समान है।

स्मरणा— भूले हुए कार्यों को याद करना स्मरणा है। कोई कर्मरूपी शत्रु के सामने लड़ने के लिए तैयार हुआ हो, किन्तु शस्त्र भूल गया हो, तो वह युद्ध नहीं कर पाता है। ऐसे में प्रतिमाएं अहिंसा के अमोघ शस्त्र को याद दिलाने वाली हैं।

वैयावृत्य— भोजनादि से आचार्यादि की सेवा करना, यह कृत्यतीर्थकर— पद प्राप्तिरूप फल को देने वाला है।

गुणवृद्धि— इनसे ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती है।

शिष्य—परम्परा— शिष्य—प्रशिष्यादि का वंश चलता है।

गच्छ से बाहर जाकर तप करना लाभकारी नहीं है, वैसे ही एक दत्ति (एक बार में जितना दान दिया जाए, उतना लेकर रहना) आदि अभिग्रह भी विशेष लाभकारी नहीं हैं, कारण कि इनसे स्वाध्याय—ध्यान आदि निरन्तर नहीं हो पाते हैं। स्वाध्याय आदि गच्छ में निष्कण्टक होते हैं, क्योंकि अनेक दत्ति लेने से शरीर स्वस्थ रहता है। वल्ल (एक प्रकार का दलहन), चना आदि का हल्का भोजन भी लाभकारी नहीं है, क्योंकि उससे धर्म—साधनरूप शरीर—संरक्षण नहीं हो पाता है। धर्म—साधनरूप शरीर का संरक्षण न हो, यह योग्य नहीं है।

इस प्रकार, सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रतिमाकल्प उसी प्रकार विशिष्ट लाभ का हेतु नहीं है, जैसे, पंचाग्नि तप आदि परमार्थरहित होने के कारण विशिष्ट लाभदायी नहीं होते हैं।

पंचाग्नि एवं प्रतिमा के स्वरूप को समकक्ष नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि एक हिंसा का स्वरूप है और एक अहिंसा का स्वरूप है। आगम—पुरुषों ने अपनी प्रज्ञा से प्रतिमाओं के विधान का जो स्वरूप दिया है, वह अपने आप में परिपूर्ण है तथा इस प्रकार की कठिन साधना का स्वरूप सामान्य जीवों के लिए नहीं बताया है। उन्हें ही इन प्रतिमाओं का वहन करने का अधिकार दिया है, जो गच्छ में रहकर गुरु—आज्ञा में पूर्ण रूप से योग्यता को प्राप्त कर चुके हैं, अन्यथा नहीं, तो फिर इस विषय का विरोध क्यों ?

अन्य मत वालों का तर्क है कि पर्याप्त आहार आदि के अभाव में मन स्थिर नहीं रहेगा, संयम का लाभ नहीं होगा, अतः इतनी कठिन साधना का विधान नहीं बताना चाहिए। मन सधने के बाद कोई भी साधना कठिन नहीं है, अथवा जिस बात को मन स्वीकार कर ले, फिर वह साधना उसके लिए कठिन नहीं है। सर्कस में शेर हाथी का सामना करते हैं व उनके सामने निर्भीक होकर खड़े हो जाते हैं। इसमें क्या कारण है ? मन इस कार्य को करने के लिए स्वीकार कर लेता है। वे मन को साध लेते हैं। मैली विद्या सीखने के लिए लोग श्मशान में जाकर शक्ति की साधना करते हैं, नदियों के किनारे जाकर वर्षों-वर्ष साधना करते हैं, पहाड़ों-गुफाओं में साधना करते हैं, जहाँ इस कठिनतम साधना में कोई न कोई आकांक्षा होती है, परन्तु आध्यात्मिक-साधना में कोई आकांक्षा नहीं होती है, अतः हर दृष्टिकोण से प्रतिमावहन-साधना सिद्धि को पाने के लिए पूर्ण रूप से उपर्युक्त है। अन्य आचार्य के मत का समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की पच्चीसवीं एवं छब्बीसवीं गाथाओं में¹ स्पष्ट करते हैं-

यह प्रतिमाकल्प सर्वसाधारण साधुओं के लिए नहीं है। यह विशेष साधुओं के लिए ही है- ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि दशपूर्वधर आदि के लिए यह प्रतिमाकल्प वर्जित है। दशपूर्वधर आदि गच्छ में रहकर ही उपकारक होते हैं, इसलिए प्रतिमाकल्प में गुरु-लाघव आदि की विचारणा नहीं हुई है- यह कहना अनुचित है।

प्रतिमाकल्प प्रस्तुत रोग की चिकित्सा करते समय उत्पन्न उससे अधिक तीव्र रोग की चिकित्सा करने के समान है, जैसे- किसी पुरुष के एक रोग की चिकित्सा हो रही हो, उससे उस रोग से भी अधिक कष्टकारी कोई दूसरा रोग उत्पन्न हो जाए, तो पहले उसकी चिकित्सा करना चाहिए, उसी प्रकार जिसने स्थविरकल्प के सभी अनुष्ठान कर लिए हैं, उसके लिए ही प्रतिमाकल्प स्वीकार करना अधिक उपयोगी है। ऐसे साधु के लिए प्रतिमा-कल्प स्वीकार करना अधिक लाभकारी है और गच्छवास कम लाभकारी (लघु) है। जिसने स्थविरकल्प के सभी अनुष्ठान पूर्ण नहीं किए हैं, उसके लिए

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/25, 26 - पृ. - 323

स्थविरकल्प ही अधिक लाभकारी है, इसलिए प्रतिमाकल्प स्वीकार करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की अपेक्षा से गुरुलाघव की विचारणा ही उचित है।

प्रतिमाकल्प की दृष्टान्त द्वारा पुष्टि— आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की सत्ताईसवीं, अट्ठाईसवीं एवं उनतीसवीं गाथाओं में¹ विशेष रूप से प्रतिमाकल्प में उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया है—

जैसे राजा के हाथ में वायुजनित लूता नामक रोग को मंत्र आदि से दूर करने का उचित प्रयत्न किया जा रहा हो, ऐसे समय में राजा को सांप आदि डंस ले या अन्य रोग हो जाए, जिससे वह लूता—रोग की चिकित्सा न कर सके, तो वैद्य अनर्थ को दूर करने के लिए सर्पदंश की जगह को काटने व सेंकने की क्रिया करके चिकित्सा करते हैं और चल रही लूता—रोग की चिकित्सा बंद कर देते हैं, क्योंकि वैसा करने से ही राजा का कल्याण होगा और सर्पदंश से राजा की मृत्युरूप अनर्थ नहीं होगा। इस लोक में सर्वत्र परिस्थिति के अनुरूप कार्य ही कल्याण का कारण बनता है, इसलिए सर्पदंश की स्थिति में काटने आदि की क्रियाएँ ही कल्याण का कारण बनती हैं, लूता—रोग निवारण की क्रिया नहीं, उसी प्रकार कर्मरोग की प्रव्रज्यारूप चिकित्सा को भाव से स्वीकार करने वाले और स्थविरकल्प के अनुरूप उसका पालन करने वाले साधु के लिए स्थविरकल्प मंत्र से लूतादि रोग को दूर करने के समान है और प्रतिमाकल्प सर्पदंशादि की स्थिति में काटने और सेंकने—रूप विशेष चिकित्सा के समान है, ऐसी कर्मविपाकरूप रोगों की चिकित्सा—विधि जानना चाहिए।

प्रतिमाकल्प का विधान करने के पूर्व आप्तपुरुषों ने पूर्ण रूप से चिंतन करके प्रतिमा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। प्रतिमाकल्प कौन कब स्वीकार करे, इन सूक्ष्म—से—सूक्ष्म नियमों का स्पष्टीकरण किया है। आप्तपुरुषों ने पूर्ण रूप से यह भी स्पष्ट किया है कि लाभ—अलाभ को जानकर ही प्रतिमा वहन करें। जिन—शास्त्रों में इस सम्बन्ध में सूक्ष्म—से—सूक्ष्म जानकारी दी, फिर इसके स्वरूप को गलत कैसे कहा जा सकता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/27, 28, 29 — पृ. — 324

² पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/30, 31, 32 — पृ. — 325

आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की तीसवीं, एकतीसवीं एवं बत्तीसवीं गाथाओं में यह स्पष्ट किया है—

जब गच्छ में किसी बहुश्रुत साधु के होने से सूत्रार्थ की वृद्धि हो रही हो और प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु में दशपूर्व से अधिक श्रुत पढ़ाने की शक्ति न हो, गच्छ में बालवृद्ध, रोगी आदि न होने से गच्छ बाधारहित हो, अथवा बालवृद्ध आदि की सेवा करने वाले हों तथा आचार्यादि गच्छ के पालन में तत्पर हों, कोई नवीन दीक्षा लेने वाला न हो, उस समय ही प्रतिमाकल्प को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा पूर्वोक्त संहनन, धृति आदि योग्यता होने पर भी प्रतिमाकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, यह प्रतिमाकल्प गुरु—लाघव की विचारणा से रहित नहीं है।

गच्छ में सूत्रवृद्धि न हो रही हो, अन्य कोई पढ़ने वाला न हो, फिर भी कोई प्रतिमाकल्प को स्वीकार करे, तो श्रुतगौरव नहीं होगा। श्रुतगौरव के अभाव में सम्पूर्ण दशपूर्वधर को भी प्रतिमाकल्प की साधना करने का निषेध किया गया है (यदि श्रुतगौरव की आवश्यकता नहीं होती, तो दशपूर्वधर के लिए भी प्रतिमाकल्प का निषेध नहीं किया जाता)। दशपूर्वधर श्रुतदान, प्रवचन आदि में उपकारी होते हैं, इसलिए गच्छ में वैसा कोई दूसरा व्यक्ति न हो, तब तक उनके लिए प्रतिमाकल्प का निषेध है। इस प्रकार, गुरु—लाघव (लाभालाभ) की विचारणा की अपेक्षा से ही प्रतिमाकल्प में दशपूर्वधर के लिए भी प्रतिमाकल्प का जो निषेध किया गया है, वह युक्तिसंगत है।

जिस विचारणा में थोड़े लाभ का त्याग करने से अधिक लाभ होता हो, ऐसी गुरु—लाघव की विचारणा न्यायसंगत है। चूंकि ऐसी विचारणा प्रतिमाकल्प में है, इसलिए प्रतिमाकल्प गुरु—लाघव की विचारणा से रहित नहीं है।

प्रतिमाकल्प स्वीकार करने से पूर्व प्रतिमा धारण का इच्छुक गुरु—लाघव की विचारणा अवश्य करे, क्योंकि गच्छ का गौरव, श्रुत का गौरव, वैय्यावच्च, सूत्रार्थ—दान आदि का महत्वपूर्ण एवं प्रथम स्थान है। यदि अन्य साधु इन कार्यभार को सम्भालने वाले हों, तब प्रतिमाधारण का इच्छुक प्रतिमा ग्रहण करे, तो वह न तो गच्छ की उपेक्षा करने

वाला होगा और न जिनाज्ञा का विरोधी होगा। इसी विचारणा को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की तैत्तीसवीं एवं चौत्तीसवीं गाथाओं में¹ इस प्रकार से कहते हैं-

प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने वाले साधु वैय्यावृत्य नहीं करते हैं, इसलिए यदि गच्छ में वैयावृत्य करने में समर्थ साधु प्रतिमाकल्प को स्वीकार करता है, तो गच्छ में रहने वाले बाल, वृद्ध, रोगी आदि की वैयावृत्य में अन्तराय होगा। प्रतिमाकल्पी साधु को अतिसूक्ष्म दोष का भी त्याग करना चाहिए। वैयावृत्य में अन्तरायरूप दोष मानसिक-दोष न होने पर भी अतिसूक्ष्म दोष है, इसलिए प्रतिमाकल्पी साधु को सर्वप्रथम तो उस अन्तराय-दोष का परिहार करना चाहिए।

यदि गच्छ के अन्य साधु सूत्रार्थदान, वैयावृत्य आदि क्रियाओं को करने में समर्थ हों, तो प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने वाले साधु ने गच्छ की उपेक्षा की- ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु यदि गच्छ में ऐसे साधु न हों, और प्रतिमाकल्प का उचित रीति से धारण नहीं कर सके, तो प्रतिमाकल्प धारण न करें। पुनः, यदि गच्छ में कोई ऐसा कार्य हो, जिससे गच्छ को विशेष लाभ होता हो और वह कार्य प्रतिमाकल्प स्वीकार करने वाले साधु से ही हो सकता हो, तो ऐसी स्थिति में उसे किए बिना ही वह प्रतिमाकल्प को स्वीकार करे, तो उसे गच्छ की उपेक्षा मानी जाएगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार, प्रतिमाकल्प को स्वीकार करने पर गच्छ की उपेक्षा न हो- यह विचार इस बात का प्रमाण है कि प्रतिमाकल्प गुरु-लाघव की विचारणा से युक्त है।

प्रव्रज्या का महत्व- प्रतिमाधारण करने की तैयारी हो और प्रतिमाकल्प धारण करने के पूर्व यदि कोई दीक्षा लेने आए, तो सर्वप्रथम दीक्षा देना चाहिए, क्योंकि यह कहा गया है कि उपकारों में सर्वश्रेष्ठ उपकार किसी को दीक्षा देने का है। किसी को दीक्षा देने का अर्थ है- संसार की आग में जलते हुए, अथवा संसार-सागर में डूबते हुए उस जीव को बाहर निकालना, किसी को जलते हुए, डूबते हुए से बचा लेना। इससे बढ़कर क्या उपकार होगा ? अतः, प्रतिमाकल्प धारण करने से अधिक महत्व किसी को दीक्षा देने

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/33, 34 - पृ. - 326

का है। यही निर्देश आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की पैंतीसवीं एवं छत्तीसवीं गाथाओं में¹ करते हैं, जो इस प्रकार है-

भव्य जीवों को दीक्षा देना अन्य उपकारों की अपेक्षा श्रेष्ठतम उपकार है, क्योंकि दीक्षा मोक्ष का कारण है। भद्रबाहुस्वामी आदि पूवाचार्यों ने संहनन, श्रुत आदि सम्पन्न प्रतिमाकल्प के योग्य साधुओं को भी, यदि दीक्षा का उपकार होता हो, तो प्रतिमाकल्प धारण करने का स्पष्ट निषेध किया है। कल्प को स्वीकार करने के बाद दीक्षा नहीं दी जा सकती, इसलिए प्रतिमाकल्प को स्वीकार करते समय यदि कोई दीक्षा लेने आए, तो पहले उसे दीक्षा देना चाहिए, क्योंकि दीक्षा प्रदान करना प्रतिमाकल्प की अपेक्षा अधिक लाभदायी है।

अभ्युद्यत-मरण (समाधिमरण) और प्रतिमा-कल्प- इन दो में से किसी एक को स्वीकार करने की इच्छा वाला गणिगुण और स्वलब्धि से युक्त साधु भी कल्प आदि को स्वीकार करते समय भी सर्वप्रथम दीक्षा लेने आने वाले योग्य जीव को दीक्षा दे। जो गणिगुण और स्वलब्धि से युक्त न हों, वे भी यदि लब्धियुक्त आचार्य की निश्चा वाले हों, तो सर्वप्रथम दीक्षा दें, उसके पश्चात् कल्प आदि धारण करें।

कर्मविपाक-रूप रोगों की चिकित्सा-विधि- उनतीसवीं गाथा में कहा गया है कि कर्मण्याधि की प्रव्रज्या-रूपी चिकित्सा को भाव से स्वीकार करने वाले साधु की अन्य जिन अवस्थाओं का निर्देश किया गया है, उसकी विधि आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की सैंतीसवीं एवं अड़तीसवीं गाथाओं में बताते हैं,² जो इस प्रकार है-

जिस प्रकार लूता-रोग से ग्रस्त राजा की सर्पदंश आदि के कारण अन्य विकृत अवस्थाएं होती हैं, उसी प्रकार प्रव्रजित साधु की अशुभ कर्मों के उदय से अन्य विकृत अवस्थाएं होती हैं, जो प्रतिमाकल्प-रूप विशिष्ट चिकित्सा से ही ठीक होती है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/35, 36 - पृ. -

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/37, 38 - पृ. - 328

अन्य विकृतियों या उनके जनक कर्म सामान्य प्रव्रज्या में विघ्नकारक और संक्लिष्ट हैं, इसलिए प्रतिमाकल्प—रूप शुभभाव को स्वीकार करके ही उन अशुभ कर्मों को दूर किया जा सकता है।

प्रश्न— कर्मजन्य विकृतियों को प्रतिमाकल्प से दूर किया जा सकता है— इसे कैसे जानें ?

उत्तर— इसे आप्तवचन से जाना जा सकता है, क्योंकि आप्तवचन कभी अन्यथा नहीं होते हैं।

प्रस्तुत पंचाशक की तेईसवीं गाथा में यह कहा गया है कि हल्का भोजन भी लाभकारी नहीं। इसका समाधान आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा—कल्पविधि—पंचाशक की उनचालीसवीं से इक्तालीसवीं तक की गाथाओं में¹ वर्णित करते हैं—

अन्य विकृत अवस्थाओं के जनक अशुभकर्म का क्षय प्रतिमाकल्प से होता है, इसलिए अन्य—प्रान्त भोजन करने वाले प्रतिमाधारी की काया की पीड़ा भी निरर्थक नहीं है, क्योंकि वह पीड़ा भी प्रयोजनपूर्ण और मानसिक दीनता से रहित होती है।

दीन—भाव न होने का कारण— कायिक—पीड़ा होने पर भी प्रतिमाधारी के मोह—भाव संयम—स्थान (चारित्रिक—शुद्धि) से पतित नहीं होते हैं, अपितु वृद्धिगत ही होते हैं। मनोवृत्तियों के पतित न होने से देहपात होने पर भी किसी तरह का दोष नहीं लगता है। क्लिष्ट, क्लिष्टत और क्लिष्टतम— ऐसे विचित्र प्रकार के ज्ञानावरणीय—कर्मों के नाश के उपाय भी स्थविरकल्प, प्रतिमाकल्प आदि में क्रमभेद से वर्णित हैं और वे उपाय कायिक—पीड़ा को सहन करने रूप हैं, इसलिए साधना के क्षेत्र में देहदण्ड सुसंगत है— ऐसा जानना चाहिए।

व्यवहार में भी हम यह अनुभव करते हैं कि जब स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ हो, तो व्यक्ति को भी हल्का भोजन, नीरस भोजन, कम भोजन आदि बताया जाता है। ऐसी स्थिति में वह पीड़ा का अनुभव नहीं करता है, अर्थात् उसे मानसिक—वेदना का अनुभव नहीं होता है। जब व्यक्ति अपने शरीर के ममत्व के कारण कायिक—पीड़ा होते हुए भी मानसिक पीड़ा का अनुभव नहीं करता है, तो आत्मसाधक, जिसने मन से ही प्रतिमा को

¹ पंचाशक—प्रकरण — आ. हरिभद्रसूरि— 18/39, 40, 41 — पृ. — 328

स्वीकार किया है, वह कायिक-पीड़ा के होते हुए भी मानसिक-पीड़ा का अनुभव क्यों करेगा ?

प्रश्न किया गया कि प्रतिमाकल्प से विभिन्न कर्मों का क्षय होता है- इसका क्या प्रमाण है, अथवा इसे कैसे जाना जा सकता है ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की बयालीसवीं गाथा में¹ किया है।

यदि प्रतिमाकल्प के बिना ही विचित्र कर्मों का क्षय होता हो, तो आगम का यह कथन कि स्थविरकल्प के कर्तव्यों के पूर्ण होने के बाद प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना चाहिए, असंगत हो जाएगा। इस आगमिक-कथन से प्रतिमाकल्प की आवश्यकता सिद्ध होती है। स्थविरकल्प के अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रतिमाकल्प को स्वीकार करना- यह आप्तवचन है, इसलिए प्रतिमाकल्प को, कर्मक्षय का कारण है- ऐसा जानना चाहिए।

प्रतिमाकल्प की परमार्थ-रहितता का मतान्तर से निराकरण- प्रतिमाकल्प

आचरण के योग्य है, क्योंकि श्रेष्ठ अनुष्ठान है और विहित अनुष्ठान सदा करने योग्य ही होते हैं। वे सरल और कठिन हो सकते हैं, परन्तु हेय नहीं होते, उपादेय ही होते हैं। आचार्य हरिभद्र का इस विषय में यह मत है कि अन्य आचार्य भी प्रतिमाकल्प की पुष्टि करते हैं। इसका संकेत आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा- कल्पविधि-पंचाशक की तिरालीसवीं गाथा में² किया है-

दूसरे कुछ आचार्य भी कहते हैं कि आगम में यह प्रतिमाकल्प स्थविरकल्प की अपेक्षा दुष्कर कहा गया है, इसलिए यह विहितानुष्ठान है और विहितानुष्ठान होने से आचरणीय है।

प्रस्तुत मत का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा कल्पविधि पंचाशक की चवालीसवीं गाथा में³ कहते हैं-

प्रतिमाकल्प उचित एवं आगम-विहित अनुष्ठान है, क्योंकि जो कथन युक्ति से बाधित एवं अनुचित हो, वह आगमविहित नहीं होता है। पुनः, जिसके कथन

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/42 - पृ. सं. - 329

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/43 - पृ. सं. - 330

³ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/44 - पृ. सं. - 330

युक्तिसंगत और उचित हों, वही सदागम हो सकता है। प्रतिमाकल्प आगमोक्त और युक्तिसंगत है, इसलिए हमने जो समाधान पहले किया था, वह अन्य आचार्यों की अपेक्षा से भी उचित ही सिद्ध होता है।

प्रतिमाकल्प आगमविहित एवं युक्तिसंगत अनुष्ठान है। यदि आगम से प्रतिमाकल्प का निर्णय नहीं हो सकता हो, तो उचित युक्ति भी आगम से विरुद्ध होना चाहिए, किन्तु यदि युक्ति आगम-विरुद्ध है, तो वह युक्तियुक्त नहीं है। इस निर्णय को इस प्रकार स्पष्ट आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की पैतालीसवीं गाथा में¹ करते हैं-

जो युक्ति से अविरुद्ध हो, वह सदागम है। युक्ति भी सदागम से अविरुद्ध होती है। सदागम से विरुद्ध युक्ति युक्ति नहीं है। इस प्रकार, सदागम और युक्ति परस्पर सम्बद्ध हैं। इनकी परस्पर सम्बद्धता ही सम्यक् अर्थनिर्णय का हेतु है।

प्रतिमाधारी के ध्यान का स्वरूपे- प्रतिमाधारी को अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए सालम्बन ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आलम्बनपूर्वक किया गया ध्यान राग-द्वेष से उपरत करता है।

इस ध्यान के स्वरूप का वर्णन आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की छियालीसवीं गाथा में² किया है-

प्रतिमाकल्प पर होने वाले आक्षेपों के निराकरण हेतु यह प्रासंगिक कथन किया गया है कि प्रतिमाधारी को सदा सूत्रार्थ-चिन्तनरूप ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान राग-द्वेष और मोह आदि का विनाशक और मोक्ष का कारण होने से श्रेष्ठ है।

प्रतिमा के अयोग्य साधु को भी अभिग्रह तो लेना चाहिए- प्रतिमाकल्प आचरण करने योग्य है। यदि साधु प्रतिमाकल्प को अपनाने में अपने को असमर्थ अनुभव करे, तो कुछ अभिग्रह, अर्थात् कुछ प्रतिज्ञाएँ अवश्य धारण करे, क्योंकि अभिग्रह के द्वारा प्रतिमा वहन करने की क्षमता का भी संग्रह किया जा सकता है और यही संग्रह

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरी- 18/45 - पृ. - 330

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरी- 18/46 - पृ. - 331

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरी- 18/47, 48 - पृ. - 331

कालान्तर में प्रतिमाकल्प के योग्य बना देता है। जैसे, पानी की एक-एक बूंद से घड़ा भर जाता है, एक-एक ईंट के संग्रह से मकान बन जाता है, एक-एक पैसे को जोड़ने वाला धनवान् बन जाता है, वैसे ही एक-एक अभिग्रह या प्रतिज्ञा करने वाला एक दिन महाअभिग्रह (प्रतिमा) धारी बन सकता है। अतः, साधु इस प्रकार के अभिग्रह धारण करे कि आज अपमान सहन करूंगा, गर्मी सहन करूंगा, सूर्य की आतापन लूंगा, एक पांव पर खड़ा रहूंगा, जो पहली बार में आहार मिलेगा, वही आहार करूंगा, एक द्रव्य ही लूंगा, कुछ पल या घण्टे अपलक निहारूंगा आदि। ऐसे छोटे-छोटे एक-एक अभिग्रह प्रतिदिन लेते हुए साधु अपने अभिग्रह में वृद्धि करता रहे। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की सैंतालीसवीं एवं अड़तालीसवीं गाथाओं में¹ कहते हैं-

प्रतिमाकल्प धारण करने में समर्थ साधु को प्रतिमाकल्प को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जो इसके योग्य नहीं है, उन्हें भी कोई अभिग्रह-विशेष अवश्य धारण करना चाहिए।

जिस-जिस काल में विशुद्ध क्रियारूप जो-जो भी अभिग्रह गीतार्थों को मान्य हों और विशिष्ट होने के कारण शासन-प्रभावना के कारण हों, उन अभिग्रहों को मनसा और कर्मणा- दोनों से ही स्वीकारना चाहिए, यथा- ठण्ड आदि को सहन करना, उत्कट आदि आसन पर बैठना आदि।

आगम-वाणी है कि यदि साधु अभिग्रह धारण नहीं करता है, तो दोष लगता है। साधु अपनी शक्ति के अनुसार अभिग्रह अवश्य धारण करे। यदि दुष्कर और कठोर अभिग्रह धारण करने में असमर्थ हो, तो सामान्य-सरल अभिग्रह अवश्य धारण करता रहे। यदि वह अपनी शक्ति को छिपाता है, या प्रमाद करता है, तो उसे दोष लगता है। इसी दोष को बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की उनपचासवीं गाथा में² कहा है-

² पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/49 - पृ. - 331

शक्ति होने पर भी मद और प्रमाद के वशीभूत होकर अभिग्रह धारण नहीं करना अतिचार है, अतः आत्मशुद्धि के लिए उस अतिचार को भी गुरु के सामने प्रकाशित कर आलोचना करना चाहिए।

उपसंहार— जो साधु आगमानुसार बताई हुई प्रतिमाओं को धारण करता है और यदि शक्ति नहीं हो, तो अभिग्रह धारण करता है, वह वास्तव में जिनाज्ञा का पालन करने वाला है। जिनाज्ञा को पालन करने वाला यदि छोटे से छोटा, सरल से सरल अभिग्रह भी धारण करता है, तो उसे दोष नहीं लगता है, क्योंकि वह अपनी शक्ति को छिपाए बिना शक्ति-अनुसार अभिग्रह धारण कर रहा होता है। यही बात आचार्य हरिभद्र ने भिक्षुप्रतिमा-कल्पविधि-पंचाशक की अंतिम पचासवीं गाथा में¹ कही है—

इन सभी अभिग्रहों को अपनी शक्ति और जिनाज्ञा के अनुसार धारण करने वाले जीव शीघ्र ही संसार से मुक्त होते हैं।

-----000-----

¹ पंचाशक-प्रकरण - आ. हरिभद्रसूरि- 18/50 - पृ. - 332

पंचम अध्ययन : पंचाशक प्रकरण में तप विधि

तप का अर्थ एवं स्वरूप

(अ) तप के दो प्रकार — 1. बाह्य तप 2. आभ्यन्तर तप

1. बाह्य तप के 6 प्रकार 2. आभ्यन्तर तप के 6 प्रकार

(ब) तप के विविध प्रकार

प्रकीर्ण तपों का स्वरूप और उनकी विधि —

1. तीर्थकर दीक्षा तप
2. तीर्थकर पारणा तप
3. केवलज्ञान की उत्पत्ति तप
4. चान्द्रायण तप
5. यव मध्य प्रतिमा तप
6. वज्र मध्य प्रतिमा तप
7. रोहिणी आदि तप
8. परम भूषण तप
9. सौभाग्य तप
10. आयाति जय तप
11. इन्द्रिय जय तप

(स) तप का प्रयोजन और लक्ष्य

(द) तप की प्रासंगिकता

तपविधि का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

पंचम—अध्याय

पंचाशक—प्रकरण में तपविधि

तप का अर्थ एवं स्वरूप— जैनधर्म में मोक्षमार्ग की विवेचना के प्रसंग में प्राचीन आगमों में चतुर्विध मोक्षमार्ग का उल्लेख है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अट्टाईसवें 'मोक्षमार्ग—गति' नामक अध्ययन में चतुर्विध मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। उसमें कहा गया है कि भगवान् महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप— ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का विवेचन किया है। उसी अध्याय में आगे यह भी कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को जानें, सम्यग्दर्शन के माध्यम से उस पर रहा करें, सम्यक्चारित्र के माध्यम से आत्मा का ग्रहण करें और सम्यक्तप के माध्यम से आत्मा की शुद्धि करें। इस प्रकार से, जैनदर्शन में तप को ही आत्म—विशुद्धि का साधन माना गया है। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि तप के द्वारा ही कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा की विशुद्धि होती है, साथ ही, आत्मा कर्मों से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करती है। इस प्रकार, जैनदर्शन में तप को मोक्ष का अन्यतम कारण माना गया है। चूंकि कर्मों से विशुद्ध आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है और कर्मों से विशुद्ध तप के द्वारा ही होती है, अतः तप मोक्ष का अंतिम हेतु है। जिस प्रकार मक्खन की शुद्धि के लिए उसे तपाना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के लिए आत्मा को तपाना आवश्यक माना गया है।

तप का सामान्य अर्थ है— तपाना। जिस प्रकार से धातुओं को तपाकर उनकी अशुद्धि दूर की जाती है, उसी प्रकार तप के द्वारा आत्मा को तपाकर आत्मा की अशुद्धि दूर की जाती है। आत्मा को तपाने का सामान्य अर्थ आत्मा की आसक्ति को कम करना है। आत्मा के आसक्ति का मुख्य केंद्र शरीर होता है, अतः देहासक्ति को तोड़ने के लिए तप आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहें, तो तप निर्ममत्व की साधना का ही एक रूप है, क्योंकि जब तक ममत्व का विघलन नहीं होता है, तब तक समत्व की प्राप्ति भी संभव नहीं है और बिना समत्व की प्राप्ति के, अर्थात् रागद्वेष से मुक्त हुए बिना मोक्ष भी असम्भव है, इसीलिए जैन—आचार्यों ने मोक्ष के अंतिम कारण के रूप में तप की चर्चा की

है। यद्यपि पंचाशक-प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने तप के अर्थ एवं स्वरूप की चर्चा विस्तृत रूप में नहीं की है, किन्तु तपोविधि-पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में इतना अवश्य कहा है कि जिसमें कषाय का निरोध हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिनेन्द्रदेव की उपासना हो और भोजन आदि की लालसा का त्याग हो, वे सभी तप कहलाते हैं।

हरिभद्र की स्पष्ट मान्यता है कि जो तप मोक्षार्थ तप है, वही वास्तविक तप है। यद्यपि संसार में लौकिक-उपलब्धियों के लिए तप की परम्परा रही है।

आचार्य हरिभद्र इस परम्परा का विरोध तो नहीं करते हैं, किन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि कुशल अनुष्ठानों में विघ्न न आए- इसके लिए साधर्मिक देवताओं की तप के माध्यम से आराधना की जाती है। वह भी कषाय आदि निरोधरूप तथा मार्गानुसारी गुणों की प्राप्तिरूप होने से किसी सीमा तक ग्राह्य है।

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में तप का मुख्य उद्देश्य तो कषाय-निरोध और आत्म-विशुद्धि ही है, किन्तु वे सभी तप, जो व्यक्ति को मार्गानुसारी गुणों, अर्थात् मोक्षमार्ग के अनुकूल भावों की दिशा में ले जाते हैं, वे भी किसी सीमा तक तप की कोटि में आते हैं। यही कारण है कि तपोविधि-पंचाशक में आचार्य हरिभद्र ने जहाँ एक ओर आगमिक-परम्परा का अनुसरण करते हुए आभ्यन्तर-तप, बाह्य-तप और उनके प्रकारों की चर्चा की, वहीं दूसरी ओर, लौकिक-परम्परा में मान्य, अथवा भौतिक और दैहिक-कल्याणकों से सम्बन्धित तपों की भी चर्चा की है, जैसे- सर्वांगसुन्दर-तप, निकजशिख-तप आदि, फिर भी, हरिभद्र इतना अवश्य कहते हैं कि आगम-सम्मत, निदान-रहित और भावविशुद्धिपूर्वक किया गया तप ही सार्थक तप है, फिर वह तप चाहे आभ्यन्तर हो, या बाह्य हो, उसे अपने मूल लक्ष्य-आत्मविशुद्धि के साथ योजित अवश्य रहना चाहिए। इस पंचाशक-प्रकरण में वे सर्वप्रथम बाह्य-तप और आभ्यन्तर-तपों के स्वरूप को बताते हुए तत्सम्बन्धी विधि का निरूपण करते हैं। उसके पश्चात्, प्रकीर्ण तपों के रूप में तीर्थकरों के कल्याणकों से सम्बन्धित, तपों की तथा चान्द्रायण आदि लौकिक-तपों की चर्चा करते हैं। तपविधि-पंचाशक में उन्होंने इन तपों का जिस रूप में वर्गीकरण करके उनके स्वरूप को स्पष्ट किया है, हम भी उस रूप में यहाँ उनकी चर्चा करेंगे।

तप के दो प्रकार

आचार्य हरिभद्र तपोविधि का विवेचन करने के पूर्व अपने इष्ट को प्रणाम करके मंगलाचरणस्वरूप तपोविधि—पंचाशक की पहली गाथा में¹ कहते हैं—

मैं भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करके अपने और दूसरों के उपकार हेतु आगमोक्त विधि के अनुसार तप का संक्षेप में वर्णन करूंगा।

आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण में तप के स्वरूप की विशेष चर्चा न करते हुए अपनी बात तप के प्रकारों की चर्चा से प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम वे बाह्य—तप और आन्तरिक—तप की चर्चा करते हैं। मुख्यरूप से तप के दो भेद हैं—

1. बाह्य—तप और 2. आन्तरिक—तप।

दोनों तप का अपने—अपने स्थान पर महत्व है, परन्तु बाह्य—तप के साथ आन्तरिक—तप का होना अनिवार्य है। आन्तरिक—तप के साथ बाह्य—तप नहीं होगा, तो चलेगा, क्योंकि बाह्य—तप में मुख्यता पांच इन्द्रियों की होती है और आन्तरिक—तप में मुख्यता मन की होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि जब बन्ध और मुक्ति में मन की मुख्यता है और तप बन्धन से मुक्ति के लिए है, तो फिर आभ्यन्तर—तप ही करना चाहिए, बाह्य—तप क्यों करें ?

बाह्य—तप करने का विधान इस कारण है कि आभ्यन्तर—तप में बाह्य—तप सहयोगी बनता है। इन्द्रियों का नियन्त्रण बाह्य—तप के द्वारा ही होता है और इन्द्रियों के अनियन्त्रित होने पर मन नियन्त्रित ही नहीं हा सकता है, अतः आन्तरिक—तप के साथ बाह्य—तप भी आवश्यक है।

जिस तप में मन जुड़ जाता है, उसमें इन्द्रियों को बलात् जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि वे स्वतः जुड़ जाती हैं, परन्तु जहाँ मन नहीं जुड़ा है, किन्तु इन्द्रियाँ जुड़ गईं, वहाँ मन को जोड़ने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक होता है, अतः बाह्य—तप के द्वारा इन्द्रियों के साथ मन को जीतने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

¹ पंचाशक—प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूत्रि— 19/1 – पृ. – 333

बाह्यतप के छः प्रकार — आचार्य हरिभद्र तपोविधि—पंचाशक की दूसरी गाथा में बाह्य—तप के भेद—प्रभेद की चर्चा करते हुए कहते हैं—

बाह्य—तप के छः भेद हैं— 1. अनशन 2. ऊनोदरी 3. वृत्तिसंक्षेप, 4. रसत्याग 5. कायक्लेश और 6. संलीनता।

1. अनशन— सर्वथा भोजन का त्याग करना अनशन है। भोजन की इच्छा पांचों इन्द्रियों के प्रभाव से होती है, जैसे— पदार्थ के विषय में सुनकर, देखकर, सूंघकर, चखकर या हाथों से स्पर्श कर, परन्तु जब इस तप में मन को जोड़ा जाता है, तो ही यह तप, तप के रूप में सार्थक होता है। उपवास कर लिया और भोजन के विषय में सुना कि आज भोजन बहुत स्वादिष्ट बना है, यह सुनकर खाने की इच्छा हुई। अथक आंखों से देखा कि आज घर में मिठाई कितनी बढ़िया बनी है, फलतः मन में खाने की इच्छा जम गई। भोजन बन रहा है और सुगंध अच्छी आई, सोचा, आज तो बादाम का हलवा बन रहा है, अतः खाने की इच्छा हो गई। भोजन की कल्पना की, मुंह में पानी आ गया और खाने की इच्छा हो गई। खाने के किसी पदार्थ को स्पर्श किया, अथवा कोई प्रिय खाद्यवस्तु हाथ लग गई और उसे खाने की इच्छा हो गई। इस प्रकार, पांचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण किए बिना तप असम्भव है। मन के नियन्त्रण के साथ इन्द्रियों का नियन्त्रण अपेक्षित है, क्योंकि अनशन का उद्देश्य मात्र काया को कष्ट देने का ही नहीं होता है, अपितु आध्यात्मिक—गुणों का विकास करना होता है।

आभ्यन्तर—तप में सारे तप मन के ऊपर निर्भर हैं। मन से जुड़े बिना एक भी तप निर्जरा का हेतु नहीं बनता है। बाह्य—तप, निर्जरा एवं बंध— दोनों का हेतु है, परन्तु आभ्यन्तर—तप तो निर्जरा का ही हेतु है।

अनशन के भेद— अनशन के मुख्यतः दो भेद हैं— 1. यावत्कथित और 2. इत्वर।

यावत्कथित— जीवन—पर्यन्त आहार का त्याग करना। यावत्कथित के भी तीन भेद किए गए हैं— (क) पादोपगमन (ख) इंगितमरण (ग) भक्त—प्रत्याख्यान।

(क) पादोपगमन — हलन—चलन आदि का, शरीर—सुश्रुषा का तथा चारों आहार का त्याग करना पादोपगमन है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/2 — पृ. — 333

(ख) इंगितमरण— इसमें पादोपगमन के समान ही प्रक्रिया होती है, पर इतना विशेष है कि निश्चित किए गए क्षेत्र में हलन-चलन की छूट होती है।

(ग) भक्तप्रत्याख्यान— इसमें हलन-चलन की छूट होती है, शरीर-सुश्रुषा की भी छूट होती है तथा तीन अथवा चार प्रकार के आहार त्याग करने की प्रक्रिया होती है।

(घ) इत्वर— अनशन का द्वितीय प्रमुख भेद इत्वर है। इसमें उपवास से लेकर छह माह तक के लिए आहार का त्याग किया जाता है।

ऊनोदरी— भूख से कम खाना ऊनोदरी-तप कहलाता है। ऊनोदरी-तप संयम-साधना, निद्राजय, आवश्यक आराधना आदि के लिए है। भोजन का पूर्णतः त्याग नहीं किया जा सकता। अतः उपलब्ध आहार में से अपनी आवश्यकता से कुछ कम आहार करना भी तप है और यही तप ऊनोदरी-तप कहलाता है, जिसे सहज रूप में सभी कर सकते हैं। यह तप इन्द्रियों के नियंत्रण में भी सहयोगी होता है। ऊनोदरी तप के भी दो भेद हैं— 1. द्रव्य, 2. भाव।

द्रव्य-ऊनोदरी— शास्त्रसम्मत है कि बत्तीस ग्रास का आहार होना चाहिए। इसमें से एक ग्रास भी कम खाया, तो यह द्रव्य-ऊनोदरी-तप हुआ।

भाव-ऊनोदरी— इस तप में आहार-त्याग की बात नहीं की गई है। आहार से सम्बन्धित क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की प्रवृत्ति, जो जीव में होती है, उसको कम करना ही भाव-ऊनोदरी तप है, जैसे कोई दिन में दस बार गुस्सा करता है, तो उसे नौ बार करना, नौ बार करता है, तो उसे आठ बार करना, इस प्रकार कषायों की संख्या को कम करते जाना ही भाव-ऊनोदरी है।

वृत्ति-संक्षेप— भिक्षाचर्या में, भोजन में, पदार्थों को खाने की इच्छा कम करना, जैसे- भोजन में मिठाई दो है, तो एक कम कर देना- यह अभिग्रह श्रावकों के लिए वृत्ति-संक्षेप है। भिक्षाचर्या में विशेष अभिग्रह या नियम लेकर भिक्षा प्राप्त करना श्रमणों के लिए वृत्ति-संक्षेप है।

रस-त्याग— दूध, दही, घी, गुड़ आदि सभी रसों का त्याग, अथवा एक-दो रसों का त्याग रसत्याग-तप कहलाता है। रस-त्याग से अर्थ है- रसना पर नियन्त्रण।

साधना के लिए, शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक रसों का ग्रहण करना रस-त्याग है, न कि स्वाद के लिए रसों का ग्रहण करना।

काय-क्लेश- काया को कष्ट देना, अर्थात् केशलुंचन करना अथवा करवाना, विविध आसनों के द्वारा काया को अचंचल करना, शीत-ग्रीष्म आदि ऋतुओं में तटस्थ रहने का प्रयत्न करना, ध्यान के समय मच्छर आदि के काटने पर विचलित न होना कायक्लेश-तप है।

संलीनता- संलीनता से तात्पर्य है- संकोच करना, निरोध करना। संकोच करने के चार कार्य हैं- 1. इन्द्रिय-निरोध, 2. कषाय-निरोध, 3. योग-निरोध और 4. विविक्त-चर्या।

इन्द्रिय-निरोध- पांचों इन्द्रियों के तेईस विषयों का निरोध करना।

कषाय-निरोध- चार कषाय के सोलह भेदों का निरोध करना।

योग-निरोध- मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों का निरोध करना।

विविक्त-चर्या- स्त्री, पशु, नपुंसक आदि के संयोगों से रहित एकांत स्थान पर रहना।

इन्द्रियों के विषय की मुख्यता के कारण ये छः तप बाह्य-तप के अन्तर्गत आते हैं।

आभ्यन्तर-तप के छः प्रकारे-

आभ्यन्तर-तप- पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की तीसरी गाथा में¹ आचार्य हरिभद्र आभ्यन्तर-तप के भेदों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. उत्सर्ग- ये छः आभ्यन्तर-तप के प्रकार हैं।

1. प्रायश्चित्त- अपने दुष्कृत्यों को विशुद्ध भाव से गुरु के सम्मुख स्वीकार कर उनसे आलोचना लेकर अपने पापों की विशुद्धि करना प्रायश्चित्त-तप है।

2. विनय- जिससे मान कषाय को दूर किया जाए, अर्थात् जिन-प्रवचन, गुरुजन, वरिष्ठजन, तपस्वीगण आदि के प्रति सम्मान के भाव रखना, उनकी आज्ञा के

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/3 - पृ. - 334

अनुसार चलना, गुरु के आने पर खड़े होना, उन्हें बैठने के लिए आसन देना, गुरु आदि की सेवा करना आदि विनय-तप है।

विनय के सात भेदों का वर्णन इस प्रकार किया है—

1. ज्ञान, 2. दर्शन, 3. चारित्र, 4. मन, 5. वचन, 6. काय और 7. उपचार।

ज्ञान-विनय— मति, श्रुत आदि पांच ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के प्रति बहुमान, आगम में विहित अर्थों का चिन्तन, गुरु के पास अध्ययन आदि ज्ञान-विनय है।

दर्शन-विनय— जो दर्शन-गुण में अधिक है, उनका बहुमान करना दर्शन-विनय है। दर्शन-विनय के दो भेद हैं— शुश्रूषा और अनाशातना। शुश्रूषा के दस भेद हैं—

1. सत्कार — स्तुति आदिकरना।

2. अभ्युत्थान — कोई बड़ा आए, तो खड़े हो जाना आदि।

3. सम्मान — वस्त्रादि देना।

4. आसनाभिग्रह — कोई बड़ा आए, तो बैठने के लिए आसनादि देना।

5. आसनानुप्रदान — उनकी इच्छानुसार आसन को सीनान्तरित करना।

6. कृतिकर्म — वन्दन करना।

7. अंजलिग्रह — हाथ जोड़कर सिर से लगाना।

8. आगच्छदनुगम — कोई बड़ा आए, तो आगे बढ़कर अगवानी करना।

9. स्थितपर्युपासन — बैठे हों, तो पैर दबाना आदि।

10. गच्छदनुगमन — जाने लगे, तो कुछ दूर तक साथ जाना।

अनाशातना-विनय के निम्न पन्द्रह भेद हैं —

1. तीर्थकर, 2. धर्म, 3. आचार्य, 4. उपाध्याय, 5. स्थविर, 6. कुल, 7. गण, 8. संघ, 9. साम्भोगिक, 10. क्रियावान्, अर्थात् श्रद्धाशील चरित्रवान् व्यक्ति और पांच ज्ञानों के धारक— इन पन्द्रह की आशातना का त्याग कर भक्ति, सम्मान और प्रशंसापूर्वक उनका विनय करना।

चारित्र-विनय— चारित्र-विनय के अन्तर्गत सामायिक आदि पांच चारित्रों की मन से श्रद्धा करना, काया से पालना, वचन से पररूपणा करना— ये तीन भेद हैं।

मन-विनय- अप्रशस्त वृत्तियों का मन से संवर करना, आचार्य आदिका मन से विनय करना मन-विनय है।

वचन-विनय- अप्रशस्त वचनों का निरोध करना, प्रशस्त वचनों से आचार्य आदि का बहुमान करना वचन-विनय है।

काय-विनय- अप्रशस्त वृत्तियों का अवरोध कर प्रशस्त वृत्तियों से आचार्य आदि की सेवा, प्रशंसा करना काय-विनय है।

उपचार-विनय- विनय-व्यवहार का पालन करना उपचार-विनय है। उपचार-विनय के सात भेद हैं-

1. **ज्ञान-प्राप्ति या आभ्यासन-** आज्ञा-पालन की इच्छा से सदा आचार्यादि के पास बैठना।

2. **छन्दोऽनुवर्तन-** आचार्य की इच्छानुसार वर्तन करना।

3. **कृतप्रतिकृति** - कर्मनिर्जरा आदि की भावना से आचार्य की सेवा करना।

4. **कारितनिमित्तकरणे-** आचार्य के द्वारा श्रुतज्ञानादि देने हेतु उपकार मानकर उनका विशेष आदर करना।

5. **दुःखार्त्तगवेषणा-** रोग आदि दुःखों को दूर करने का उपाय करना।

6. **देशकाल-ज्ञान-** देश-काल के अनुसार आचार्यादि की आवश्यकताओं को समझकर उनकी सेवा करना।

7. **सर्वत्रानुमति-** कोई भी कार्य आचार्यादि की अनुमति से ही करना।

वैयावृत्य- इसका अर्थ है- सेवा।

संयमी, तपस्वी, ग्लान, पीड़ित आदि मुनियों को आहार, औषधि आदि लाकर देना, उनकी शारीरिक-परिचर्या करना वैयावृत्य-तप है। शास्त्रों में भी बताया है- दस प्रकार के मुनियों की सेवा करना। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मिक, कुल, गण और संघ- इन दस की वैयावृत्य (सेवा) करना चाहिए।

स्वाध्याय - स्व + अध्याय, अर्थात् स्व का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

सु = श्रेष्ठ प्रकार से, आ = अकाल। इस प्रकार, कालादि का ध्यान रखते हुए अध्याय-अध्ययन करना, अर्थात् सुष्ठु प्रकार से अकाल, काल आदि की मर्यादा रखते हुए अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पांच भेद हैं—

1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परावर्तना, 4. अनुप्रेक्षा और 5. धर्मकथा।

ध्यान— चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। ध्यान के चार भेद हैं— 1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान— ये दो ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। ये दो ध्यान नरक, तिर्यच-गति के द्योतक हैं, अतः संसार के दुःखों का बीज हैं, अतः ये दो ध्यान त्याज्य हैं। शेष दो ध्यान प्रशस्त ध्यान हैं, जो सद्गति और सिद्धगति के कारण हैं, अतः अन्तिम दो ध्यान—तप रूप हैं।

उत्सर्ग— उत्सर्ग, अर्थात् त्याग करना। उत्सर्ग को व्युत्सर्ग, कायोत्सर्ग भी कहते हैं। ध्यान आदि में काया का त्याग करना ही व्युत्सर्ग, उत्सर्ग तथा कायोत्सर्ग है। जो काया से, खड़े होने में, अथवा बैठने में हलन-चलन की चेष्टा नहीं करता है, उसे व्युत्सर्ग-तप कहते हैं।

उत्सर्ग-तप के द्रव्य और भाव से दो भेद किए हैं तथा द्रव्य के चार भेद और भाव के चार भेद किए हैं।

द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद— गण, देह, आहार और उपधि।

गण— प्रतिमाकल्प धारण करते समय गण का त्याग करना।

देह— शारीरिक-क्रियाओं में तथा संलेखना आदि में शरीर का त्याग करना।

आहार— अकल्पनीय आहार का त्याग करना एवं शरीर जीर्ण होने पर आहार का त्याग करना।

उपधि— वस्त्र, पात्रादि का त्याग करना।

भाव-व्युत्सर्ग के चार भेद— क्रोध, मान, माया और लोभ।

इन चारों कषायों का त्याग करना भाव-व्युत्सर्ग है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवित ही काया का त्याग क्यों किया जाता है ? क्या मरने के पश्चात् काया का त्याग करना होता है ?

यह सत्य है कि मरने के पश्चात् ही काया का त्याग किया जाता है, परन्तु यहाँ जीवित ही काया का त्याग करने का अर्थ है कि जब तक मैं ध्यान में हूँ, तब तक काया का त्याग करता हूँ, क्योंकि यह काया अशुचि है, अस्थिर है, अनित्य है, वीभत्स है, परिवर्तनशील है, मल-मूत्र आदि दोषों से युक्त है। इस शरीर के प्रति ममत्व रखना व्यर्थ है, क्योंकि शरीर का मोह दुःख की जड़ है। इस प्रकार के चिन्तन से शरीर की वास्तविकता का बोध होता है। कायोत्सर्ग आदि के समय शरीर का त्याग किया जाता है कि यह शरीर मेरा नहीं है, शरीर नित्य नहीं है, शरीर शाश्वत नहीं है, शरीर भिन्न है।

प्रश्न है कि शरीर के रहते शरीर को त्याग करने पर यह कैसे अनुभव किया जा सकता है कि शरीर मेरा नहीं है। जो वस्तु मेरी है, उसे तो मानना ही पड़ेगा ? व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को 'मेरा' मानता है— ऐसा नहीं है। त्याग करने के पश्चात् पदार्थ व्यक्ति के सान्निध्य या अधिकार में होते हुए भी वह उन्हें अपना नहीं मानता है। उसके प्रति ममत्व नहीं रखता है, जैसे— टेलीविजन पर मोह छंट गया, ममत्व कम हो गया, अर्थात् टी.वी. देखने का त्याग कर दिया, तो घर पर टी. वी. होते हुए भी अपने लिए त्याग ही है। कपड़ों पर मोह कम हो गया, अर्थात् जिस कपड़े से उब गए, घृणा उत्पन्न हो गई, तो कपड़े के होते हुए भी हमारे लिए त्याग ही है। पति द्वारा पत्नी का त्याग कर दिया गया, तो घर में होते हुए भी उसके लिए त्याग है, अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति अप्रीति हो गई, अनादर हो गया, घृणा हो गई, तो वह उसके लिए त्यक्त ही होती है। इसी प्रकार जब काया से मोह नहीं होता, ममत्व नहीं होता, अपनेपन का भाव नहीं रहता, तब काया होते हुए भी त्यक्त ही है।

इन आभ्यन्तर-तपों में मन की मुख्यता होने के कारण वे बाहर से तपरूप में ज्ञात नहीं हो पाते हैं, इस कारण इन तपों को आभ्यन्तर-तप कहा जाता है। वैसे तो पता चलता है कि प्रायश्चित्त ले रहा है, विनय कर रहा है, वैयावृत्य कर रहा है, स्वाध्याय कर रहा है, ध्यान कर रहा है, व्युत्सर्ग कर रहा है, परन्तु इसमें खाद्य आदि पदार्थों के त्याग करने का कोई निर्देश नहीं है। यहाँ प्रत्येक तप मन के द्वारा होता है, इस कारण इन्हें आभ्यन्तर-तप कहा गया है।

तप के विविध प्रकार (प्रकीर्ण तपों का स्वरूप एवं उनकी विधि)–

छः प्रकार के बाह्य एवं छः प्रकार के आभ्यन्तार-तपों का उल्लेख आगमों में भी प्राप्त है, परन्तु अन्य भी ऐसे तप हैं, जो मोक्ष के कारण हैं, जिनका उल्लेख स्पष्ट रूप से आगमों में नहीं है, अतः उनकी चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि ये तप भले ही आगमों में उल्लेखित नहीं हैं, पर आगम-विरुद्ध भी नहीं हैं, क्योंकि ये तप भी बारह प्रकार के तपों के अन्तर्गत ही हैं।

प्रकीर्णक-तपों की चर्चा आगे की गाथाओं में करेंगे। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की तपोविधि-पंचाशक की चौथी एवं पांचवीं गाथाओं में¹ इन तपों का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं–

तीर्थकरों द्वारा उनकी दीक्षा, कैवल्यज्ञान तथा निर्वाणप्राप्ति के प्रसंग पर जो तप किए जाते हैं, वे प्रकीर्णक-तप कहलाते हैं। प्रकीर्णक-तप के अनेक भेद हैं। इन तपों में जो दीक्षा आदि का आलम्बन है, वह अतिशय शुभभावरूप है, इस कारण ये तप भी इस लोक और परलोक में हितकारी होने के कारण सद्गुणों के आविर्भाव में सहायक हैं। भव्य जीवों के लिए और विशेष रूप से अव्युत्पन्न बुद्धि वाले सामान्य जीवों के लिए तो ये निश्चय ही उपकारी हैं, हितकारी हैं। वैसे तो सभी तप श्रेष्ठ और हितकारी ही होते हैं, क्योंकि तप का कार्य तो एक ही है कि कर्मों के काष्ठ को जलाकर समाप्त कर देना, फिर भी अनेक प्रकार के तपों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि जिससे जीव अपनी सुविधानुसार एवं शक्ति के अनुसार तप करते हुए मुक्ति को प्राप्त कर सकें।

तीर्थकर-निर्गमतप– आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की छठीं गाथा में तीर्थकर-निर्गमतप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं²–

तीर्थकर जिस तप के द्वारा संयम ग्रहण करते हैं, वह तप तीर्थकर-निर्गमतप कहलाता है। आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की सातवीं गाथा में³ इस तप के स्वरूप को बताते हुए लिखते हैं–

¹ पंचाशक-प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/4, 5 – पृ. – 336

² पंचाशक-प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/6 – पृ. – 337

सुमतिनाथ भगवान् ने नित्यभक्त (एकासन) करके दीक्षा ग्रहण की थी। वासुपूज्य भगवान् ने दीक्षा के दिन उपवास-व्रत किया था। पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ भगवान् ने भक्ततप (तेला) की तपश्चर्या से दीक्षा ग्रहण की थी और शेष बीस तीर्थकरों ने छट्टभक्त (बेला) तप करके दीक्षा ली थी। प्रस्तुत तप करने की विधि के क्रम का आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की आठवीं गाथा में¹ उल्लेख करते हैं-

श्रावकों को सात्विक रूप से शक्ति-अनुसार यह तप करना चाहिए, अर्थात् ऋषभादि जिनेश्वर के दीक्षा लेने के क्रम से यह तप करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने इस तप को करने हेतु श्रावकों को सुविधानुसार तप करने का भी निर्देश दिया है कि यदि शक्ति न हो, तो श्रावक क्रम के बिना भी, अर्थात् किसी भी तिथियों में यह तप कर सकते हैं। इस प्रकार करने में कोई दोष नहीं है।

हरिभद्र के अनुसार, यह तप गुरु-आज्ञा से परिशुद्ध होकर निरवद्य अनुष्ठानपूर्वक करना चाहिए, अर्थात् द्रव्य एवं भाव-हिंसा से रहित होकर ही यह तप करना चाहिए।

इप तप के स्वरूप के विषय में अन्य आचार्यों से आचार्य हरिभद्र के मत की भिन्नता स्पष्ट है, जिसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र ने स्वयं पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की नौवीं गाथा में² की है-

अन्य आचार्यों का कथन है कि ऋषभादि चौबीस जिनेश्वरों के दीक्षातप के जो मास और तिथियाँ हैं, उन माह की तिथियों में यह तप करना चाहिए, जैसे- ऋषभदेव के दीक्षातप में चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन छट्ट (बेला) करना चाहिए। इसी प्रकार, अन्य सर्व तीर्थकरों के लिए तप की विधि समझना चाहिए। तप की सफलता का हेतु बताते हुए कहा है कि तप के पारणे में चौबीस तीर्थकरों को जिस द्रव्य की प्राप्ति हुई, उसी द्रव्य से धारणा करना उत्तमोत्तम तप का लक्षण है। आचार्य हरिभद्र

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/7 - पृ. - 337

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/8 - पृ. - 337

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/9 - पृ. - 338

पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की दसवीं गाथा में³ पारणे के द्रव्य को बताते हुए कहते हैं-

भगवान् ऋषभदेव को पारणे में इक्षु-रस प्राप्त हुआ था और शेष तेईस तीर्थकरों को पारणे में अमृततुल्य श्रेष्ठ परमान्न (खीर) की प्राप्ति हुई थी।

दीक्षा के पश्चात् तीर्थकरों को भिक्षा की प्राप्ति कब हुई- इसकी भी चर्चा आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की ग्यारहवीं गाथा में¹ की हैं-

इस अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव को बारह मास पश्चात् प्रथम भिक्षा मिली एवं शेष तेईस तीर्थकरों को दीक्षा के दूसरे दिन प्रथम भिक्षा की प्राप्ति हुई थी।

प्रश्न उपस्थित होता है कि दीक्षातप करते हुए ऋषभदेव का पारणा बारह मास पश्चात् हुआ, तो क्या हमें भी बारह महीने बाद ही पारणा करना चाहिए ?

उत्तर- शक्ति हो, तो बारह महीने उपवास करना चाहिए, अन्यथा दो दिन उपवास, एक दिन पारणा, अथवा एक दिन उपवास और एक दिन पारणा, दो वर्ष तक इसी प्रकार चार सौ उपवासपूर्वक यह तप करके अक्षय तृतीया के दिन इक्षुरस से पारणा करना चाहिए। वर्तमान में इस तप का प्रचलन बहुत है, जो वर्षीतप के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थकर-ज्ञानोत्पत्ति-तप- आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की बारहवीं से चौदहवीं तक की गाथाओं में तीर्थकर-केवलज्ञानोत्पत्ति-तप की विधि का विवेचन करते हुए कहते हैं-

यह तप भी श्रेष्ठ होता है। वैसे सारे तप श्रेष्ठ होते हैं, लेकिन कई तप विशेष श्रेष्ठ होते हैं। उसमें मुख्यतः कारण यह है कि कई तप बड़े दुष्कर होते हैं, कई तप तीर्थकरों से जुड़े हुए होते हैं, कई तप कर्म-निर्जरा शीघ्र करते हैं, इसी कारण तपों के साथ श्रेष्ठ शब्द लगा दिया जाता है। इस तप को भी विधि के अनुसार ही करना चाहिए। ऋषभादि चौबीस तीर्थकरों के क्रम से गुरु की आज्ञानुसार परिशुद्ध और निरवद्य

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/10 - पृ. - 338

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/11 - पृ. - 338

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/12 से 14 - पृ. - 339

अनुष्ठानपूर्वक यह तप करना चाहिए। मतान्तर से जिस माह की तिथि को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई थी, उसी माह की तिथि को यह तप करना चाहिए।

यह तप निम्नवत है— पार्श्वनाथ, ऋषभदेव, मल्लिनाथ और नेमिनाथ। इन चार तीर्थकरों को अष्टम—तप के अन्त में केवलज्ञान हुआ था। वासुपूज्य को उपवास में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और शेष उन्नीस तीर्थकरों को छट्ठ—तप के अन्त में केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ था। आचार्य हरिभद्र इस तप की महिमा को बताते हुए कहते हैं कि ऋषभादि चौबीस तीर्थकरों ने इस तप में ही केवलज्ञान प्राप्त किया था, इसलिए यह तप करने वाला तपस्वी शीघ्र केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं गाथा में¹ तीर्थकर मोक्षगमन—तप की चर्चा करते हुए कहा है—

अचिन्त्य शक्ति—सम्पन्न तीर्थकरों ने जिस तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया था, वह तप तीर्थकर मोक्षगमन—तप कहलाता है। वह इस प्रकार है— प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव ने निरन्तर छः उपवास के साथ मोक्ष प्राप्त किया और अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर ने छट्ठ (बेला) तप से मोक्ष प्राप्त किया और शेष बाईस तीर्थकरों ने मासक्षमण (तीस उपवास) की तपश्चर्या से मोक्ष प्राप्त किया था। इस प्रकार का तप करने से मोक्ष का निश्चय होता है, अर्थात् ऐसे तप करने वाला शीघ्र मोक्षगामी होता है। इस तप को अन्तक्रिया—तप भी कहते हैं, क्योंकि मोक्षप्राप्ति को निर्वाण भी कहते हैं और निर्वाण की क्रिया के पश्चात् जीव अधिक अक्रिय हो जाता है और अक्रिय होने से सभी क्रियाओं का अन्त हो जाता है, इसलिए इसे अन्तक्रिया—तप भी कहते हैं।

तीर्थकरों का निर्वाणस्थल— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की सत्रहवीं गाथा में² तीर्थकरों के निर्वाणस्थलों की भी चर्चा की है।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाणस्थल अष्टापद तीर्थ है। इसे वर्तमान में हिमालय कैलाशगिरि के नाम से जाना जाता है।

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूत्रि— 19/15, 16 — पृ. — 339, 340

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूत्रि— 19/17 — पृ. — 340

वासुपूज्य स्वामी का निर्वाणस्थल चम्पापुरी है, जो बिहार प्रदेश के अन्तर्गत है।

नेमिनाथ भगवान् का निर्वाणस्थल गिरनार तीर्थ है, जिसे उज्जयंतगिरि, रेवतगिरि भी कहते हैं। यह तीर्थ गुजरात में है और गिरनार के नाम से जाना जाता है।

महावीर स्वामी का निर्वाणस्थल पावापुरी तीर्थ है। यह तीर्थ बिहार प्रदेश में राजगृह के निकट माना जाता है तथा शेष बीस तीर्थकरों का निर्वाणस्थल सम्मेतशिखर तीर्थ है, जो मधुवन के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह तीर्थ पार्श्वनाथ हिल स्टेशन के निकट है। यह तीर्थ वर्तमान में झारखण्ड प्रदेश में है।

चान्द्रायण-तप- चान्द्रायण-तप चन्द्रमा की कलाओं के घटने व बढ़ने पर आधारित रहता है। इसे भेद सहित स्पष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की अठारहवीं गाथा में कहते हैं-

अनुक्रम से और विपरीत क्रम से भिक्षा की दत्तियों, उपवासों या कवलों (भोजन के ग्रास) की संख्या में वृद्धि और कमी करने से चान्द्रायण-तप होता है। गाथा में प्रयुक्त आदि शब्द से आगम में उल्लेखित दूसरे तप, जैसे- भद्र, महाभद्र, सर्वतोभद्र, रत्नावली, कनकावली, एकावली, लघुसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित, वर्द्धमानआयम्बिल, गुणरत्न-संवत्सर, सप्तसप्तमिका आदि चार प्रतिमा और कल्याण आदि तप ग्रहण करना चाहिए।

चान्द्रायण-तप के दो भेद हैं- (1) यवमध्या और (2) वज्रमध्या। आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की उन्नीसवीं एवं बीसवीं गाथा में¹ यवमध्या और वज्रमध्या-प्रतिमातप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

(1) यवमध्या- शुक्लपक्ष में एकम के दिन भिक्षा में एक कौर (ग्रास) आहार लेना, द्वितीया को दो कौर, तृतीया को तीन कौर- इस प्रकार क्रमशः एक-एक दिन बढ़ाकर पूर्णिमा के दिन पन्द्रह कौर के बराबर आहार लेना, पुनः पूर्णिमा के पश्चात् एकम को चौदह कौर का आहार लेना, इस तरह प्रत्येक दिन भिक्षा का एक कौर घटाते रहना और अमावस्या के दिन केवल एक ग्रास का आहार लेना, यह यवमध्या-प्रतिमातप है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/19, 20 - पृ. - 341

(2) वज्रमध्या— कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन पन्द्रह कौर का आहार ग्रहण करना, द्वितीया के दिन चौदह कवल का आहार ग्रहण करना— इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक दिन कौर की संख्या को घटाते जाना और अमावस्या के दिन एक कौर के बराबर आहार ग्रहण करना, पश्चात् एकम को एक कवल आहार ग्रहण करते हुए क्रमशः प्रतिदिन आहार के कौर की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह कौर के बराबर आहार ग्रहण करने को वज्रमध्या प्रतिमातप कहते हैं।

भिक्षा और कौर—परिमाण— आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की इक्कीसवीं गाथा में¹ भिक्षा के कवल के परिमाण की चर्चा करते हुए कहते हैं—

एक बार में जितना भोजन पात्र में डाला जाए, वह एक दत्ति कहलाती है और एक दत्ति एक भिक्षा कहलाती है। पात्र में एक बार डाला गया भोजन, चाहे वह अल्प हो या अधिक, एक द्रव्य हो या अनेक द्रव्यों से युक्त हो, तो भी एक दत्ति, अर्थात् एक भिक्षा कहलाती है, जबकि कौर (ग्रास) का परिमाण कुक्कड़ के अण्डे के आकार के बराबर माना जाता है। दत्ति और कौर में यही अन्तर है।

इस प्रकार के तप से सफलता किसे प्राप्त हो सकती है, इसकी चर्चा पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की बाईसवीं गाथा में² की गई है—

निर्दोष क्रिया, विशुद्ध भाव, महारम्भ कलहरूप अधिकरण (शस्त्र) से रहित होकर साधु के द्वारा विधिपूर्वक किया गया यह तप सार्थक होता है, अर्थात् मोक्षफलदायक होता है, अन्य प्रकार से किया गया इस प्रकार का तप उतना फलदायी नहीं होता है।

रोहिणी आदि विविध तपों का निर्देश— रोहिणी आदि से तात्पर्य है— देवता, अर्थात् देवताओं की आराधना करना। इस आराधना की क्रम—विधि एवं फल की आचार्य

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/21 — पृ. — 342

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/22 — पृ. — 342

हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की तेइसवीं से लेकर पच्चीसवीं तक की गाथाओं में³ चर्चा की है-

लोक-परम्परा के अनुसार, रोहिणी आदि देवताओं को उद्दिष्ट करके किए जाने वाले अनेक प्रकार के तप हैं। ये तप सांसारिक-सुखों के उपलब्धि-रूप होने के कारण पुण्यरूप होते हैं, फिर भी ये मोक्षमार्ग को प्रशस्त अवश्य करते हैं, परन्तु मोक्षफलदायी नहीं होते हैं। नौ देवता इस प्रकार हैं- रोहिणी, अम्बा, मन्दपुण्यिका, सर्वसम्पदा, सर्वसौख्या, श्रुतदेवता, शान्तिदेवता, काली, सिद्धायिका।

इन नौ देवताओं की आराधना के लिए विधि पृथक्-पृथक् हैं। इन नौ देवताओं की आराधना के लिए जो विविध तप विविध देशों में प्रख्यात हैं, वे सभी तप हैं। उनमें रोहिणी-तप सात वर्ष और सात महीने तक करना चाहिए, अथवा रोहिणी नक्षत्र के दिन उपवास करना चाहिए और भगवान् वासुपूज्य की प्रतिमा की पूजा एवं प्रतिष्ठा करनी चाहिए। अम्बा-तप में पांच पंचमी को एकाशन आदि तप करना चाहिए और भगवान् नेमीनाथ तथा अम्बिकादेवी की पूजा करना चाहिए। श्रुतदेवता-तप में ग्यारह एकादशी-पर्यन्त उपवास, मौनव्रत और श्रुतदेवता की पूजा करना चाहिए। शेष तप लोकरुद्धि के अनुसार जान लेना चाहिए।

तप का मुख्य लक्ष्य कषाय-निरोध - आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की छब्बीसवीं गाथा में¹ तप के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

जब तप में कषाय का निरोध हो, ब्रह्मचर्य का पालन हो, परमात्मा की पूजा-भक्ति हो और अन्न का त्याग हो, वह तप कहलाता है। अन्य सभी प्रकार के तप तो मुग्धलोक में विशेष रूप से प्रचलित हैं।

संसार की मुग्धता के कारण सामान्यजन प्रारम्भ से ही मोक्ष के लिए तप में प्रवृत्त नहीं होते हैं, अपितु वे तो संसार के सुखों की उपलब्धियों के लिए ही तप करते हैं, परन्तु मोक्षाभिलाषी प्रबुद्धजन मोक्ष के लिए ही तप करते हैं।

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/23 से 25 - पृ. - 342, 343

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/26 - पृ. - 343

तप का लौकिक एवं आध्यात्मिक-प्रयोजन-

कई बाल जीव प्रारम्भ में तप इसलिए ही करते हैं कि संसार के सुख प्राप्त हों, अर्थात् बहुत धन मिले, पति का सुख मिले, पुत्र अनुकूल मिले, लोग सम्मान दें, मेरा कहा हुआ लोग मानें, मेरी चारों ओर प्रसिद्धि हो- ऐसी कामनाओं से अधिकांश लोग तप करते हैं, परन्तु इस प्रकार की कामना से तप करते-करते भी अधिकांश लोग संसार की कामनाओं से रहित हो जाते हैं, अर्थात् सत्य की ओर, मोक्ष की ओर उनकी गति प्रारम्भ हो जाती है, अतः किसी अपेक्षा से इस प्रकार का तप भी मान्य हो जाता है।

इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की सत्ताइसवीं से लेकर उनतीसवीं तक की गाथाओं में¹ कहते हैं-

कुशल अनुष्ठानों में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न न हो, इसके लिए साधर्मिक-देवताओं की तपरूप आराधना से और कषाय-निरोध आदि के द्वारा तप से मार्गानुरूपी भाव (मोक्षमार्ग के अनुकूल भाव) पाकर बहुत से पुण्यशाली भव्य जीवों ने आप्तपुरुषों के द्वारा प्रतिपादित चारित्र-रत्न को प्राप्त किया।

उपर्युक्त लिखित तपों के अतिरिक्त अन्य कुछ आचार्यों ने भी अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग प्रकार के तपों के विषय में विवेचन किया है, जैसे- सर्वांगसुन्दर-तप, निरुज्जशिख-तप, परमभूषण-तप, आयतिजनक-तप और सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के तपों का विवेचन किया है। ये सभी तप भी जिनशासन में नव-प्रविष्ट जीवों की योग्यता के अनुसार मोक्षमार्ग स्वीकार करने के कारण हैं। चूंकि कोई जीव ऐसा भी हो सकता है, जो प्रारम्भ में अभिष्वंग, अर्थात् संसार-सुख की इच्छा से जिनधर्म में प्रवृत्त होता है, किन्तु बाद में अभिष्वंगरहित, अर्थात् लौकिक-आकांक्षाओं से रहित होकर मोक्षमार्ग की इच्छा वाला बन जाता है, इसलिए ऐसे जीवों के लिए यह तप मोक्ष प्राप्त करने वाला बनता है।

जिस तप से सभी अंग सुन्दर बनें, वह सर्वांगसुन्दर-तप है। इसी प्रकार, जिससे रोग नष्ट होते हैं, वह निरुज्जशिख-तप है, जिससे उत्तम आभूषण मिलते हैं, वह

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/27 से 29 - पृ. - 344

परमभूषण—तप, जिससे भविष्य में इष्टफल, वह आयतिजनक—तप और जिससे सौभाग्य मिलता हो, वह सौभाग्यकल्पवृक्ष—तप है।

सर्वांगसुन्दर—तप की विधि— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की तीसवीं एवं एकतीसवीं गाथा में प्रस्तुत तपविधि की प्रक्रिया बताते हुए कहा है—

सर्वांगसुन्दर, अर्थात् सभी अंग—उपांग श्रेष्ठ बन जाएं, ऐसा तप करने वाला सुन्दरता को प्राप्त करता है। इस तप की विधि इस प्रकार है—

शुक्ल—पक्ष में एक—एक दिन के अन्तर से आठ उपवास करना और प्रत्येक उपवास के पारणे में विधिपूर्वक आयम्बिल करना सर्वांगसुन्दर—तप है।

इस तप में क्षमा, नम्रता, सरलता आदि का नियम पालना, जिनपूजा और सामर्थ्य के अनुसार श्रमणों एवं दीन—दुःखियों आदि को दान देना चाहिए।

इन्द्रियजय—तप— यह तप इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्द्रियजय—तप कहलाता है। इस तप की विधि इस प्रकार है—

प्रथम परिमद्ध, वियासण या एकासन, नीवीं, आयम्बिल और उपवास— इस प्रकार पांच दिन करने से एक इन्द्रियजय—तप की ओली होती है। इसी प्रकार, पांच इन्द्रियों की जय के लिए पांच ओलीजी करना पड़ती है। पच्चीस दिनों में यह तप पूरा होता है। जिस दिन जिस इन्द्रिय का तप होता है, उस दिन उसी तप का जाप करना चाहिए।

कषायमंथन—तप— कषाय अर्थात् संसार और मंथन अर्थात् मथ देना, चूर देना। संसार को मथकर मोक्ष देने वाला। यह तप कषायमंथन—तप कहलाता है, जिसकी विधि निम्न है—

क्रोध, मान, माया, लोभ— इन चार कषायों के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन— इस प्रकार से कुल सोलह भेद होते हैं। इन कषायों को जीतने के लिए चार ओली के रूप में सोलह दिन तक यह तप किया जाता है। प्रथम दिन एकासन, दूसरे दिन नीवीं, तीसरे दिन आयम्बिल और चौथे दिन उपवास, इस प्रकार

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/30, 31 — पृ. — 345

से तप करते हुए सोलह दिन में यह तप पूर्ण होता है। इस तप के सम्पूर्ण होने पर ज्ञानपूजापूर्वक सोलह मोदक, फल-फूल आदि आठ द्रव्यों द्वारा जिनेश्वर भगवान् की पूजा करना चाहिए।

योगशुद्धि-तप- योग, अर्थात् मन-वचन और काया से एकाकार हो जाना और शुद्धि, अर्थात् स्वच्छता। इस प्रकार, योग-प्रवृत्ति को स्वच्छ करने वाला तप योगशुद्धितप कहलाता है। इस तप की विधि इस प्रकार है-

प्रथम दिन नीवी, दूसरे दिन आयम्बिल और तीसरे दिन उपवास- इस क्रम से तीन बार दोहराने पर नौ दिनों में यह तप पूर्ण होता है।

अष्टकर्मसूदन-तप- अष्टकर्म, अर्थात् आठ कर्म और सूदन, अर्थात् छेद करना। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को छेदन करने के लिए जिस तप के द्वारा आराधना की जाती है, वह अष्टकर्मसूदन-तप कहलाता है। इस तप को करने की विधि निम्न प्रकार से है-

प्रथम दिन उपवास, दूसरे दिन एकासन, तीसरे दिन एक दाने ठाम चौविहार आयम्बिल, चौथे दिन एकलठाण, पांचवें दिन ठाम चौविहार दत्ति, छठवें दिन नीवी, सातवें दिन आयम्बिल, आठवें दिन आठ कवल का एकासन, अथवा आयम्बिल। इस प्रकार, यह तप आठ दिन में पूर्ण होता है। ऐसी आठ ओली (परिपाटी) करना, जिससे यह तप चौंसठ दिनों में पूर्ण होगा।

तीर्थकर-मातृका-तप- तीर्थकर की माता की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे तीर्थकर-मातृका-तप कहा जाता है। यह तप भाद्रपद शुक्ल की सप्तमी से त्रयोदशी तक के सात दिन एकासनपूर्वक करना चाहिए। सात दिन निरन्तर दूध, दही, घी, मालपुआ, लापसी और घेवर आदि द्वारा तीर्थकर की माता की पूजा करना चाहिए। इस तप की आराधना करने वालों को तीर्थकर की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है तथा वे परम्परा से सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं। यह तप सात वर्ष में पूर्ण होता है।

समवसरण—तप—

समवसरण—तप करने पर कालान्तर में समवसरण में देशना श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होता है तथा परम्परा से देशना श्रवण से मुक्ति—वरण का परम सौभाग्य प्राप्त होता है।

प्रस्तुत तप चौंसठ दिन में पूर्ण होता है। जिसे चार वर्ष में पूर्ण करते हैं। यह तप भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को पूर्ण करने का विधान है। यह तप सोलह दिनों में पूर्ण होता है।

निरुजशिख—तप—

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की बत्तीसवीं गाथा में¹ निरुजशिखर—तप का वर्णन किया है—

निरुज अर्थात् निरोग तथा शिख अर्थात् शिखा (चोटी)। आरोग्य जिसकी शिखा है, चोटी है, ऐसा निरुजशिख—तप करने वाला आरोग्य को प्राप्त करता है। इस तप की विधि सर्वांगसुन्दर—तपवत् ही है, परन्तु इस तप को शुक्ल पक्ष में न करते हुए कृष्णपक्ष में करने का विधान है।

परमभूषण—तप—

परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तथा भूषण अर्थात् आभूषण, अर्थात् जिस तप के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप सर्वश्रेष्ठ आभूषण की प्राप्ति होती है, वह परमभूषण—तप है। प्रस्तुत तप की विधि आचार्य हरिभद्र तपोविधि/पंचाशक की तैंतीसवीं गाथा में¹ बताते हैं—

एक—एक दिन के अन्तर से बत्तीस निर्दोष आयम्बिल करना चाहिए और जिन—प्रतिमा को तिलक, आभूषण आदि चढ़ाना चाहिए।

आयतिजनक—तप—

आयति अर्थात् आने वाला कल, जनक, अर्थात् युक्त। इस तप के द्वारा व्यक्ति आने वाले समय में बल, वीर्य आदि से युक्त होता है। आचार्य हरिभद्र तपोविधि—पंचाशक की चौतीसवीं गाथा में² प्रस्तुत तप की विधि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/32 — पृ. — 345

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/33 — पृ. — 345

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/34 — पृ. — 346

परमभूषण—तप की भांति ही आयतिजनक—तप में भी एक—एक दिन के अन्तर से बत्तीस निर्दोष आयम्बिल करना चाहिए। सभी धर्म—कार्यों में शक्ति को नहीं छिपाने वाले के लिए यह तप विशेष रूप से लाभकारी होता है।

सौभाग्यकल्पवृक्ष—तप— सौभाग्य अर्थात् सदभाग्य, कल्पवृक्ष अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति। जो तप सौभाग्य प्राप्त करवाने में कल्पवृक्ष की तरह है, वह सौभाग्यकल्पवृक्ष—तप कहलाता है। आचार्य हरिभद्र पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की पैंतीसवीं एवं छत्तीसवीं गाथाओं में³ प्रस्तुत तप की विधि का वर्णित करते हैं—

इस तप के अन्तर्गत चैत्र महीने में एक—एक दिन के अन्तर से उपवास—तप की आराधना करना और पारणे के दिन सुपात्र में दान देकर विधिपूर्वक सरस भोजन ग्रहण करना सौभाग्यकल्पवृक्ष—तप है।

आचार्य हरिभद्र ने इस तप की पूर्णाहूति पर शक्ति—अनुसार दान देने और अनेक प्रकार के फलों से झुकी हुई अनेक शाखाओं वाले सुन्दर एवं परिपूर्ण कल्पवृक्ष (स्वर्ण) सुनहरे अक्षरों आदि से निर्मित करने, अथवा रचना करने का निर्देश दिया है।

मुग्ध जीवों को इससे लाभ — आचार्य हरिभद्र तपोविधि—पंचाशक की सैंतीसवीं गाथा में¹ इन तपों के लाभ की चर्चा करते हुए कहते हैं—

इन सभी तपों की आराधना लौकिक (भौतिक) आकांक्षाओं के प्रति आकर्षित जीवों को इष्ट फल प्रदान करती है और ये तप नाम के अनुसार सार्थक हैं। बुद्धिमानों को इसे अच्छी तरह से समझना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि—पंचाशक की अड़तीसवीं गाथा में² इन्द्रियजय, कषायजय और योगशुद्धितप आदि विविध तपों का उल्लेख किया है, जो इहलोक एवं परलोक के सुख के कारण हैं तथा परम्परा से मोक्ष के कारण हैं, अतः इन तपों का विवरण समझकर साधु—साध्वी के करने योग्य तप

³ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/35, 36 — पृ. — 346

¹ पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/37 — पृ. — 347

² पंचाशक—प्रकरण — आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/38 — पृ. — 347

साधु-साध्वी को करना चाहिए एवं श्रावक-श्राविकाओं को भी यथाशक्ति ये सभी तप करना चाहिए।

इस तप को शक्ति-अनुसार उपवास, आयम्बिल, नीवी, अथवा एकासन से करना चाहिए।

नन्दीश्वर-तप- नन्दीश्वर द्वीप शाश्वत् द्वीप है। यहाँ पर शाश्वत चैत्यालय है। परमात्मा के कल्याणक-प्रसंगों पर तथा पर्युषण-पर्व पर यहाँ अट्टाई जिन-महोत्सव देवगण हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। इस तप को करने का उद्देश्य यह है कि तप करने वाले को भी नन्दीश्वर-द्वीप की यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हो। इस तप को कार्तिक कृष्ण, अमावस्या, अर्थात् महावीर-निर्वाण के दिन प्रारम्भ करना चाहिए। यह तप सात वर्ष अथवा एक वर्ष में भी पूर्ण होता है। यह तप नन्दीश्वर-द्वीप के पट्ट के सामने करना चाहिए, नन्दीश्वर-जिनचैत्य की पूजा करना चाहिए। इस प्रकार, प्रतिमाह अमावस्या को उपवास करते हुए तप पूर्ण करना चाहिए।

पुण्डरीक-तप- ऋषभदेव के प्रथम गणधर पुण्डरीक स्वामी के नाम से यह तप है। यह तप एक वर्ष, अथवा सात वर्ष में पूर्ण करने का नियम है। यह तप चैत्र पूर्णिमा के दिन ही करने का विधान है। इस दिन पुण्डरीक स्वामी की प्रतिमा का ही पूजन करते हुए इस तप की आराधना करना चाहिए।

अक्षयनिधि-तप- अक्षय अर्थात् शाश्वत और निधि अर्थात् खजाना। इस प्रकार इस तप का उद्देश्य शाश्वत खजाना प्राप्त करना है। यह तप भाद्रपद कृष्ण-चतुर्थी से भाद्रपद शुक्ल-चतुर्थी तक एकासने के साथ पूर्ण किया जाता है। इस तप की विधि में प्रतिदिन परमात्मा की पूजा व अंजलिभर अक्षत आदि से कलश भरना चाहिए। यह तप चार वर्ष में पूर्ण होता है।

सर्वसौख्यसम्पत्ति-तप- सर्व सुखों की सम्पत्ति का प्रदाता होने के कारण इस तप का नाम सर्वसौख्य-सम्पत्ति-तप है। इस तप की विधि दुष्कर है। यह तप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ करना चाहिए। प्रतिपदा को एक उपवास, द्वितीया को दो उपवास, तृतीया को तीन उपवास- इस प्रकार, क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को पन्द्रह उपवास

करना चाहिए। इस तप को पूर्ण करने में पन्द्रह पक्ष लगते हैं, तथा उपवास की संख्या एक सौ बीस है।

इस तरह, कई प्रकार के तपों का वर्णन सुनकर शंका की गई कि इस प्रकार के तपों का वर्णन आगम में न होने के कारण ये तप कैसे मान्य हो सकते हैं ? प्रस्तुत शंका का समाधान आचार्य हरिभद्र पंचाशक-प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि-पंचाशक की उनचालीसवीं गाथा में¹ करते हैं। वे कहते हैं-

आगम दो विभागों में विभक्त है- अंग-आगम और अंग-बाह्य। आगम इन दो भेदों में विभक्त होकर अनेक प्रकार के हैं तथा अनेक प्रकार के अर्थोंवाले शब्दों से युक्त हैं, जीवों के लिए उपकारक हैं, कष, छेद और ताप से सुवर्ण की तरह विशुद्ध हैं। वस्तुतः, जिनवचन में ऐसा क्या है, जो जीवों के हित में नहीं है ? अर्थात् इसमें जो भी तप हैं, वह सब जीवों के लिए हितकर हैं, इसलिए उपर्युक्त तपों का उल्लेख आगम में उपलब्ध न होने पर भी ये सभी तप आगम-सम्मत हैं- ऐसा समझना चाहिए। ये तप वैसे भी लोगों के लिए हितकारी हैं और जो भी हितकारी है, वह आगमसम्मत है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का स्वरूप- दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए इस तप की आराधना करना चाहिए। इस तप की विधि आचार्य हरिभद्र तपोविधि-पंचाशक की चालीसवीं गाथा में¹ बताते हैं-

यह तप अद्दम (तेला) के द्वारा किया जाता है। तीन अद्दम के द्वारा यह तप पूर्ण होता है। यह तप सभी गुणों का साधक है, विशुद्ध है और शुभ-प्रशस्त है।

दर्शन-तप के अद्दम से दर्शन की शुद्धि होती है एवं निर्मल बोधि की प्राप्ति होती है।

ज्ञान-तप के अद्दम से ज्ञान की शुद्धि होती है और कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति होती है।

चारित्र-तप के अद्दम से चारित्र-गुण की शुद्धि होती है और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है।

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/39 - पृ. - 348

¹ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/40 - पृ. - 348

यह तप सभी को करना चाहिए, क्योंकि यह तप मोक्ष का परम श्रेष्ठ कारण है।

इस तप की आराधना करने वाला किसी भी प्रकार की आकांक्षाओं एवं निदानों से रहित होता है। इस बात को पुष्ट करते हुए आचार्य हरिभद्र तपोविधि-पंचाशक की एकतालीसवीं गाथा में स्पष्ट करते हैं-

इन तपों में उद्यत जीव श्रद्धापूर्वक क्रिया करता है, इसलिए निदान (आकांक्षा) रहित होता है। श्रद्धा या बहुमानपूर्वक क्रिया करने से शुभ अध्यवसाय (शुभभाव) होता है और शुभ अध्यवसाय से बोधिबीज प्राप्त होता है, जो भव-निर्वेद (संसार से मुक्ति) का कारण है, इसलिए ये सब तप कुछ जीवों के लिए भव-विरह (मुक्ति) का कारण होने से निदान-रहित हैं।

उपर्युक्त कथन का समर्थन अन्य दार्शनिकों ने भी किया है। अन्य मत के समर्थन को आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक-प्रकरण की तपोविधि-पंचाशक की बयालीसवीं एवं तिरालीसवीं गाथाओं में² स्पष्ट किया है-

अन्य दार्शनिकों ने भी अध्यात्म-ग्रन्थों में विषय, स्वरूप और अनुबन्ध से शुद्ध अनुष्ठानों को मोक्ष का कारण बतलाया है। इस कारण ये तप मात्र मोक्ष का हेतु होने से निदान-रहित होते हैं।

विषय-शुद्ध- विषय, अर्थात् तप का आलम्बन, जैसे- तीर्थकर-निष्क्रमण (दीक्षा)-तप में तीर्थकर की दीक्षा आलम्बन है। जिस तप में आलम्बन शुद्ध हो, वह विषय-शुद्ध है।

स्वरूप-शुद्ध- जिस तप में आहार-त्याग, ब्रह्मचर्य, जिनपूजा और श्रमणों को दिए गए दान आदि का स्वरूप शुद्ध हो, वह तप स्वरूप-शुद्ध है।

अनुबन्ध-शुद्ध- जिस तप में चित्त की विशुद्धि भंग न हो, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, वह तप अनुबन्ध-शुद्ध है। पूर्वोक्त तप निर्दोष आलम्बन वाले होने से विषयशुद्ध हैं, इसलिए ये प्रार्थना या आकांक्षायुक्त होते हुए भी निर्दोष हैं, क्योंकि 'आरोग्गबोहिलाभं

² पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/41 - पृ. - 349

³ पंचाशक-प्रकरण - आचार्य हरिभद्रसूरि- 19/42, 43 - पृ. - 349

समाहिवरमुत्तमदितु'— अर्थात् मोक्ष, मोक्ष का कारण, बोधिलाभ और बोधिलाभ का कारण उत्कृष्ट समाधि—समता दें— ऐसी मांग समत्व से युक्त होने से उचित है और निदान—रहित है।

भावशुद्धि से तप करने का उपदेश— आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक—प्रकरण के अन्तर्गत तपोविधि/पंचाशक की चंवालीसवीं गाथा में¹ यह निर्देश दिया है कि जो भी तप करें, वे सारे तप भावशुद्धियुक्त करना चाहिए। चूंकि ये तप आगमसम्मत हैं, निदान—रहित हैं और विशुद्ध तप हैं, अतः आचार्य का कथन है कि इस तप को श्रद्धा एवं शुद्धिपूर्वक करना चाहिए, जिससे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का नाश होकर यह तप 'भवविरह' का कारण बने, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तपविधि में जिन—शासन में वर्णित बाह्य एवं आन्तरिक—तपों का योगदान व्यष्टि के लिए ही नहीं, अपितु समष्टि के लिए महत्वपूर्ण है। यह तपस्या केवल जैनों को ही सत्य का मार्ग नहीं बताती है, अपितु सर्व धर्मों को सत्य की राह दिखाती है।

यह तपस्या संकट के समय जैनों के लिए उपयोगी सिद्ध होती है, तो यह तपस्या विश्व में अन्न—संकट की समस्या में भी उपयोगी सिद्ध है। आज डॉक्टर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जैनधर्म की तपस्या की उपयोगिता को सिद्ध कर चुके हैं कि यदि कोई भी जैनधर्म की तपस्या के अनुसार दैनिक—चर्या निर्धारित करता है, तो वह कभी भी अस्वस्थ नहीं होगा, क्योंकि जैनधर्म की तपस्या पूर्णतः सफल है।

प्राकृतिक चिकित्सा—प्रणाली तो अनेक व्याधियों की चिकित्सा केवल उपवास से ही मानती है।

आयुर्वेदिक—शास्त्र के अनुसार, शरीर स्वस्थ रखना है, तो सात—सात दिनों के अन्तर में लंघन करना ही चाहिए और यह लंघन ही उपवास है।

इसी प्रकार, ऊनोदरी—तप अर्थात् अल्प मात्रा में आहार करना भी स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभप्रद है, क्योंकि अधिक भोजन लीवर को खराब करता है और जिसका लीवर खराब है, उस पर कभी भी किसी भी रोग का आक्रमण हो सकता है, अतः ऊनोदरी—तप की उपयोगिता सिद्ध होती है कि स्वास्थ्य के लिए अल्प भोजन

¹ पंचाशक—प्रकरण – आचार्य हरिभद्रसूरि— 19/44 – पृ. – 350

(ऊनोदरी-तप) करना कितना श्रेयस्कर है। चिकित्सक भी आजकल यही सलाह देते हैं कि भूख से कम खाएं, तो यह जैनधर्म का ऊनोदरी-तप ही तो है।

ऋषभ एवं महावीर ने हमारी आत्मा का और साथ ही हमारे स्वास्थ्य का पूर्णतः ध्यान रखते हुए ही इस प्रकार के तपों का विधान किया।

वृत्ति-संक्षेप- वैसे तो साधुओं के लिए विशेष रूप से प्रयोग करने की प्रवृत्ति है, पर आज गृहस्थवर्ग भी यदि वृत्ति-संक्षेप-तप का उपयोग करता है, तो गृहस्थ-वर्ग की भूमिका भी महत्वपूर्ण बनती है, क्योंकि वृत्तियों के संक्षेप से उदारता एवं निरभिमानता का गुण प्रकट होता है।

रस-परित्याग- रस-परित्याग का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त मूल्य है। ज्ञातव्य है कि यहाँ रस का तात्पर्य स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ भोजन है। इन गरिष्ठ पदार्थों के निरन्तर उपयोग ने तन को रोगों का निकेतन बना दिया है। व्यक्ति मधुमेह, रक्तचाप, वात आदि कई व्याधियों का शिकार होता जा रहा है, जिसका परिणाम दुःखद मिलता जा रहा है। आज चिकित्सक भी घी, मिठाई आदि का निषेध करते हैं। इस प्रकार, रस-परित्याग का अपने-आप में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह इन्द्रियजय एवं संयम का भी माध्यम है।

काय-क्लेश- शारीरिक एवं मानसिक-तनाव से मुक्त होने के लिए यह तप अत्यन्त उपयोगी है। आज के चिकित्सक एवं प्राकृतिक-चिकित्सकों का यही कहना है कि शारीरिक एवं मानसिक-स्वस्थता के लिए योग, आसन, प्राणायाम करें। वें एक्यूंपक्चर, एक्यूंप्रेशर (नस दबाकर, सुई चुभाकर) रोगों के निवारण का उपक्रम करते हैं। केश-लूंचन एक्यूंपक्चर का ही एक प्रकार है। कायक्लेश-तप आसन, योग-साधना का ही एक अंग है, अतः इस तप को करने वाला साधक हर प्रकार के तनाव से मुक्त रहता है और तनावमुक्त जीवन ही दुःखों से मुक्ति है।

इन्द्रिय आदि के प्रति संलीनतारूपी तप स्वास्थ्य की अपेक्षा से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज के चिकित्सकों का भी कहना है कि इन्द्रियों का उपयोग गलत स्थानों पर न करें, अन्यथा इसका प्रभाव शरीर पर पड़ेगा, जिसका परिणाम रोगों का बढ़ावा होगा। चिकित्सक क्रोध आदि से बचने की भी सलाह देते हैं। क्रोध आदि कषायों

से ग्रसित होने का तात्पर्य है— रक्तचाप आदि बीमारियों को निमन्त्रण देना, अतः विकारों एवं रोगों की रोकथाम के लिए संलीनता—तप आज के युग में अत्यन्त आवश्यक है।

आभ्यन्तर—तप के भेद में प्रायश्चित्त—तप का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रायश्चित्त से तात्पर्य है— अपनी भूलों का पश्चाताप करना, आलोचना करना, क्षमा मांगना, शिष्य से कोई भी भूल हो जाए, तो शीघ्र ही उसे गुरु के सम्मुख प्रकट कर क्षमा—याचना करना है। वर्तमान में इस तप की अत्यन्त आवश्यकता है। व्यक्ति भूलों का पिटारा न बन जाए, अतः भूल होते ही प्रायश्चित्त कर ले। विद्यालयों में जो यह शिक्षा दी जाती है कि गलती होने पर 'सॉरी' कहो, अर्थात् गलती के लिए क्षमा मांग लेना चाहिए।

'सॉरी' कहना यह अहसास करवाता है कि मेरी भूल हो गई, मुझे क्षमा—याचना कर लेना चाहिए, मुझे इस प्रकार की भूल नहीं करना चाहिए।

विनय, वैयावच्य— दोनों का पारिवारिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक—दृष्टिकोण से मूल्य रहा है। जिस व्यक्ति में विनय, वैयावच्य एवं स्वाध्याय के भाव हैं, वहाँ कलह, द्वेष, अशान्ति का पूर्णतः अभाव है। वर्तमान की शिक्षा—प्रणाली में इन तीनों तपों को स्थान मिलना चाहिए।

ध्यान और कायोत्सर्ग का स्वास्थ्य की दृष्टि एवं साधना की दृष्टि से पूर्णतः महत्वपूर्ण स्थान है।

इन दोनों आभ्यन्तर—तप से अनेक प्रकार की आधि—व्याधि और उपाधि का निवारण होता है, क्लेश, मनमुटाव, तनाव आदि की ग्रन्थियाँ टूटकर नष्ट हो जाती हैं।

वर्तमान में योगाभ्यास, विपश्यना, प्रेक्षाध्यान, सहजयोग आदि ध्यान और कायोत्सर्ग के ही रूपान्तरण हैं। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म की तपस्या, शरीर और मन— दोनों से ही की जाती है। वह शरीर एवं इन्द्रियों को कष्ट देने के लिए नहीं है, अपितु इनकी दूषित वृत्तियों का शोषण कर शारीरिक एवं मानसिक—स्वास्थ्य के लिए ही की जाती है।

तप का स्थान— जैन—संस्कृति में तप का महत्वपूर्ण स्थान है। तप श्रमण—संस्कृति का प्राणतत्त्व है, तप साधना की आधारशिला है। तप साधना की शक्ति है। दशवैकालिक—सूत्र के प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा की प्रथम पंक्ति में धर्म के

स्वरूप में अहिंसा, संयम और तप को स्थान दिया गया है। भले ही तप का क्रम तीसरा है, परन्तु महत्व तो प्रथम स्थान के समान है, क्योंकि अहिंसा और संयम के पालन से आत्मा नए कर्म से तो बचती है, पर पूर्वबद्ध कर्म के निर्जरा के लिए तप का ही आलम्बन लेना पड़ता है। तप के ताप से ही कर्ममल साफ होता है, अतः तप कर्म—निर्जरा के लिए अमोघ शास्त्र है। जो आत्मा तप से अपने—आप को तपा ले, उसके लिए सिद्धगति सुलभ है। तप से जो अपने कर्मों को निर्जरित कर दे, वही वास्तव में तपस्वी है। तप के द्वारा जो अपने कषायों को जो कृश कर दे, वही वास्तव में तपस्वी है। जो शरीर के साथ कषायों को भी कृश नहीं कर पाते हैं, या जो तप करके भी कषायों को कृश नहीं करते हैं, महावीर की दृष्टि में उनका तप तप नहीं है, अपितु वह तप बाल—तप, अज्ञान—तप है, अतः उसी तप की प्रधानता है, जिस तप से आत्मा पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा कर दे, आने वाले नए आस्रवों (कर्मों) को संवर कर दे, क्योंकि ऐसा ही तप मोक्ष का कारण बनता है।

आत्मा तप से ही विशुद्धि स्वरूप को प्राप्त करती है। 'उत्तराध्ययन में' कहा गया है—

आत्म ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से नवीन कर्मों के आश्रव का निरोध करता है और तप से परिशुद्ध होता है। तप की परम्परा आज से नहीं, अनादिकाल से है, क्योंकि तप के बिना मोक्ष नहीं है। मोक्ष अनादिकाल से है, तो तप भी अनादिकाल से है। तप के स्वरूप को अन्य धर्मों में भी स्वीकार किया गया है।

इस अवसर्पिणी—काल में भी तप की परम्परा भगवान् ऋषभदेव से ही प्रारम्भ होती है। ऋषभदेव ने दीक्षा ग्रहण करते ही तेरह माह की तपस्या की थी। भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष 349 दिन आहार के थे, शेष दिन तपस्या के थे।

यह सम्पूर्ण संसार तप पर ही खड़ा है। यदि संसार में तप नहीं होता, तो इस संसार का विनाश ही था। तप का अर्थ है— त्याग के पथ पर चलना। त्याग के कारण ही विश्व में शान्ति के दर्शन होते हैं। इस त्याग के कारण ही अहम् का विसर्जन और अर्हम्—पद का सृजन होता है। इस त्याग से ही मनशुद्धि, तनशुद्धि, वचनशुद्धि,

¹ उत्तराध्ययन — 28/35, 36 — पृ. — 483

आत्मशुद्धि आदि संभव है। इस त्याग से ही परस्पर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और प्रमोद-भाव उत्पन्न होते हैं, अतः जब तक तन में प्राण है, तब तक तप का आश्रय लेते ही रहना चाहिए, क्योंकि तप से ही मोक्ष है।

तप का महत्त्व— तप प्रकाश-रूप है। जिसने तपोमय जीवन जीना सीख लिया, वह संसार के दुःख रूपी जाल से मुक्त हो गया, क्योंकि तपस्वी में किसी भी प्रकार की कामना शेष ही नहीं रहती, किन्तु यहाँ यह जानना आवश्यक है कि तप किस उद्देश्य से किया जा रहा है, क्योंकि तप सकाम भी होता है और निष्काम भी। यदि तप सकाम-भाव से किया जा रहा है, तो उसकी उपलब्धि संसार ही है और यदि निष्काम-भाव से किया जा रहा है, तो उसकी उपलब्धि शाश्वत सुख है, आत्मिक-आनन्द है।

वास्तव में, तप जीवन के उत्थान का प्रशस्तपथ है। वैदिक-संस्कृति में भी तप की साधना को सर्वोत्कृष्ट की उपमा से अलंकरित किया गया है। तप को अग्नि कहा गया है। भगवान् महावीर ने इस तप की अग्नि में ही अपने सम्पूर्ण कर्म के काष्ठ को जलाकर भस्म कर दिए थे। यदि आज भी किसी को अपने कर्मकाष्ठ को जलाकर भस्म करना है, तो उसे तपरूपी अग्नि का ही प्रयोग करना होगा, क्योंकि तप की उष्मा में सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक-शक्ति है। जो कार्य अन्य माध्यमों से सफल नहीं होते हैं, वे तप के माध्यम से सहज ही सम्पन्न हो जाते हैं। महाराज कृष्ण ने अहम-तप करके ही अपनी बेहोश सेना को होश में ले आए थे। बहन सुन्दरी तप के द्वारा ही भाई भरत से दीक्षा की अनुमति प्राप्त कर सकी थी।

सनतकुमार ने तप के प्रभाव से ही वह शक्ति प्राप्त की थी, जिसके द्वारा अपने शरीर के असाध्य रोग को समाप्त करने के लिए उनका स्वयं का थूक पर्याप्त था। तप के द्वारा ही श्रीपाल का कुष्ठरोग मिटकर उसकी काया कंचनवर्णी बनी थी।

तप की उपलब्धियाँ —

तप से व्यक्ति के मनोरथ पूर्ण होते हैं।

तप से वचन-सिद्धि की प्राप्ति होती है।

तप से काया द्वारा की गई साधना सफल होती है।

तप से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

तप से समाधिमरण की प्राप्ति होती है।
 तप से असाध्य रोगों का शमन होता है।
 तप से आर्त्तध्यान आदि से मुक्ति मिलती है।
 तप से क्रोध का ताप शान्त होता है।
 तप से सहन शक्ति का विकास होता है।
 तप से पुण्य का पोषण होता है।
 तप से पाप का शोषण होता है।
 तप से अणाहारी-पद की प्राप्ति होती है।
 तप से आहार की मूर्च्छा समाप्त होती है।
 तप से रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त होती है।
 तप से त्याग के सिद्धान्त का रोम-रोम में रमण होता है।
 तप से आपत्तियों का विनाश होता है।
 तप से आत्मा वैराग्य के रंग में रंग जाती है।
 तप से वांछित फल की प्राप्ति होती है।
 तप से इन्द्रियों के विषय-भोग जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं।
 तप से इहलौकिक और पारलौकिक सुख-संपदा की प्राप्ति होती है।
 तप से शरीर और आत्मा का भेद-ज्ञान होता है।
 तप से अनादिकाल के लगे क्लिष्ट कर्म चकनाचूर हो जाते हैं।
 तप से भोगों की तृष्णा समाप्त होती है।
 तप से इच्छा-ज्वाला शान्त होती है।
 तप से मनरूपी मर्कट वश में होता है।
 तप से इन्द्रियोरूपी सर्पिणी वश में होती है।
 तप से नरक-गति का निवारण होता है।

तप-विधि- जिस विधि से शरीर की रक्त, रस, मज्जा आदि सप्त धातुओं की शुद्धि होती है और कर्मों की निर्जरा होती है, उसे तप कहा जाता है।¹ तप को देहासक्ति और कषायों के कृश करने का साधन कहा गया है।

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार, मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षित बल की साधना के लिए जो आत्मदमन किया जाता है, वह तप है।²

अणगार धर्माऽमृत के अनुसार, मन, इन्द्रियों और शरीर के तपने से, अर्थात् इनका सम्यक् रूप से निवारण करने से सम्यग्दर्शन आदि को प्रकट करने के लिए इच्छा के निरोध को तप कहते हैं।³

तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार निर्जरा और संवर ही तप है।⁴ आवश्यक की मलयगिरि के अनुसार, तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः- अर्थात्, जो आठ प्रकार के कर्मों को जलाए-तपाए, वह तप है।⁵

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार, 'कर्म क्षयार्थं तप्यते इति तपः- अर्थात्, कर्मों के क्षय के लिए जो तपता है, वह तप है।¹

प्रशमरति के अनुसार, कर्मणा तापनात् तपः- अर्थात् कर्मों को जो तपाए-जलाए, नष्ट करे उसे तप कहा जाता है।²

तत्त्वार्थ-वर्तिका के अनुसार³- जैन-परम्परा में तपक्रिया का मुख्य लक्ष्य कर्मक्षय है तथा अभ्युदय की प्राप्ति आनुषंगिक (गौण) है।

डॉ. हुकमीचन्द भारिल्ल के अनुसार⁴- समस्त तपों में, चाहे वे बाह्यतप हो या अन्तरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतराग-भाव की प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतराग-भाव ही सच्चा तप है।

¹ तपरत्नाकर - चांदमल सिपाणी - पृ. - 7

² तत्त्वार्थ-सूत्र - पं. सुखलालजी - पृ. - 210

³ धर्माऽमृत (अणगार) - पं. आशाधर- 7/2

⁴ तत्त्वार्थ-सूत्र - आ. उमास्वाति- 9/3 - पृ. - 7

⁵ आवश्यक-मलयगिरि - खण्ड- 2 - अध्याय- 1

¹ सर्वार्थसिद्धि - आ. पूज्यपाद- 9/6, 797 पृ. - 323

² प्रशमरति - आ. भद्रबाहु - भाग- 1 - पृ. - 378

³ तत्त्वार्थ-वर्तिका - भद्रअकलकदेव - 9/3/1-5 - पृ. - 593

⁴ धर्म के दशलक्षण - डॉ. हुकुमचंद मारिल्ल - 98/101

उत्तराध्ययन के अनुसार— करोड़ो भव में संचित कर्मों का क्षय करने का उपाय है, तप से रागद्वेषजन्य पापकर्मों को क्षीण किया जाता है।⁵

उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य बृहदवृत्ति के अनुसार⁶— जो पूर्व उपार्जित कर्मों को क्षीण करता है, वह तप है। अर्हत् वचन के अनुकूल तप ही सम्यक् तप है और यही तप उपादेय है, अर्थात् ग्रहण करने योग्य है।

दशवैकालिक जिनदासचूर्णि के अनुसार⁷— जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है, अर्थात् नाश करता है, वह तप है।

सूत्रकृतांग में⁸ तप की सार्थकता के बारे में बताया है कि—

सत्तणी जह पंसु गुडिया विधुणियधंसयती सियंरयं

एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवति तवस्सि माहणे।

जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ाकर उन पर लगी धूल को झटक देता है, इसी प्रकार उपधान आदि तप करके तपस्वी भी अपने किए हुए कर्मों का अपनयन यथाशीघ्र कर देता है।

तप की परिभाषा—

तप— तन को तपाकर परमात्मा को पाना, वह तप कहलाता है।¹

मुण्डकोपनिषद् में तप को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का साधन बतलाया है।²

हिन्दु धर्मकोष के अनुसार, आत्मशोधन ही तप है।

तप की प्रासंगिकता—

जैनधर्म की तपस्या के विषय में अधिकांश लोगों का तर्क रहता है कि जैनधर्म की तपस्या देह-दण्डन है, ये लोग केवल काया को कष्ट देते हैं ? शरीर के साथ युद्ध करते हैं। मात्र शरीर को ही कष्ट देने से क्या अपवर्ग मिलेगा ? मनशुद्धि

⁵ उत्तराध्ययनसूत्र — म. महावीर — 30/6

⁶ उत्तराध्ययन—शान्त्याचार्यवृत्ति — पं. 556 श्रीभिक्षु आगम विशय कोश — पृ. — 295

⁷ दशवैकालिक जिनदासचूर्णि — जिनदास — पृ. — 15

⁸ सूत्रकृतांगसूत्र — प्रथम उद्देशक — गाथा नं. — 103 — पृ. — 122

¹ आओ भावों से कुछ सीखें — साध्वी सम्यक्दर्शना

² 108 उपनिषद् — मुण्डकोपनिषद् — प्रथम मुण्डक — प्रथम खण्ड — श्लोक— 8—9

आवश्यक है, शरीर को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु, जैनधर्म की तपस्या काया को कष्ट देने के लिए नहीं है, अपितु आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए है। परमात्मा एवं सुख-शान्ति पाने के लिए है।

विश्व के लोग बाह्य-सुख पाने के लिए कितना कष्ट उठा रहे हैं, कहाँ-कहाँ दौड़ लगा रहें हैं। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास कितना सहन करते हैं। घर के मोह का त्याग करके, माता-पिता के आश्रय को छोड़कर, पत्नी-बच्चों के सुख को छोड़कर देश-विदेशों में घूमते-फिरते हैं, तो क्या वह शरीर को कष्ट नहीं दे रहे हैं ? यह देह-दण्डन नहीं है ? क्षणिक बाह्य-सुख के लिए शरीर को कष्ट देना कष्ट नहीं है और आन्तरिक-सुख के लिए शरीर का कष्ट, कष्ट है ? यदि बाह्य-सुख के लिए शरीर माध्यम है, तो शरीर को कष्ट देना आवश्यक है, सुखों को छोड़ना आवश्यक है। इसी प्रकार आत्मिक-सुख के लिए भी शरीर ही माध्यम है, क्योंकि आत्मा शरीर रूपी भोजन में रही हुई है, अतः शरीर को कष्ट देना आवश्यक है। क्या मक्खन की शुद्धि के लिए उसे तपाने के लिए उसके आधारभूत भोजन को नहीं तपाया जाता है ? जैनधर्म की तपस्या करने वाला साधक यह समझ पूर्वक करता है कि शरीर रूपी बर्तन को तपाए बिना परमात्मा स्वरूप या शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी ? मक्खन से शुद्ध घी पाना है, तो मक्खन के बर्तन को आग पर तपाना ही होगा। परमात्मा को पाना है, तो आत्मस्थित शरीर को तप की आग में तपना होगा।

संसार की रीति है कि कष्ट उठाए बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। एक माँ बच्चे का सुख तब देख सकती है, जब वह नौ माह कष्ट को सहन करती है। पहली बार अपने बच्चे का मुख कब देखती है, जब वह प्रसव की पीड़ा को सहन करती है, एक माँ अपने बच्चे को पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाने का सुख कब देख सकती है। जब श्रम के द्वारा अर्थ अर्जन कर वह अपने बच्चे के लिए उसका उपयोग करती है।

एक व्यापारी धन का सुख कब देखता है, जब इधर-उधर भागदौड़ करता है, अपमान सहन करता है, भूख-प्यास सहन करता है आदि कष्टों को सहन करने पर ही धनार्जन का सुख पा सकता है। एक विद्यार्थी अपने लक्ष्य का सुख कब देख सकता है ? जब पढ़ने का श्रम करता है, तभी परिणाम सुखद आता है।

एक खिलाड़ी अपनी जीत कब हासिल कर सकता है, जब पूर्व में बहुत शारीरिक-कष्ट (श्रम) उठाता है। यह सामान्य बात है कि बाह्य सुख-साधनों की उपलब्धि के लिए कष्ट उठाना पड़ता है, तो फिर आत्मोपलब्धि के लिए कोई कष्ट उठाना पड़े, तो क्या बड़ी बात है।

जैनधर्म की तपस्या में भले ही शरीर को कष्ट होता है, पर यहाँ उसका उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं है, उसका लक्ष्य तो परमात्मास्वरूप की प्राप्ति है, आत्मशुद्धि का प्रयास है। शरीर को तपाया नहीं जाता है, वह स्वतः तप जाता है, तप शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु आत्मा के विकारों को कष्ट करने के लिए करते हैं, इष्ट को पाने के लिए करते हैं। लोग प्रश्न करते हैं कि मुक्ति पाने के लिए शरीर को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् भूखे रहने की क्या जरूरत है ? अन्य साधना भी बहुत है ? कोई (किसी) भी साधना करने के लिए शारीरिक-कष्ट सहने का अध्याय तो संलग्न ही है। वह साधना जप की हो, ध्यान की हो, स्वाध्याय की हो या पूजा की हो, शरीर को कष्ट तो देना ही पड़ेगा। तपस्या द्वारा शरीर को कष्ट देने का मुख्य उद्देश्य है— समभाव को प्राप्त करना। समभाव आया है, या नहीं, इसकी परीक्षा तप के माध्यम से होती है, क्योंकि जब तक शरीर को तप की आग में डालकर मन की तटस्थता का अनुभव नहीं किया जाता, तब तक यह कहना कठिन है कि समत्व की साधना में खरे उतर गए। जैनधर्म में शरीर और आत्मा की भिन्नता के स्वरूप को समझाने के लिए तप को एक माध्यम बताया है कि तप की अग्नि में ही व्यक्ति अपने भेद-विज्ञान की परीक्षा कर सकता है, अतः जैनधर्म में तप देहदण्डन ही नहीं है, अपितु परमात्मा-स्वरूप का सर्जक है।

यह तो सत्य है कि— कष्ट के बिना आनन्द नहीं है। आनन्द को पाने के लिए कष्ट उठाना ही पड़ता है। कष्ट उठाने के बाद ही आनन्द आता है।

एक सेठ ने भोज का आयोजन रखा। नगर के सभी आमन्त्रित लोग सेठ के यहाँ पहुँच गए। थाली लग गई। उसमें एक-एक पत्थर रख दिया गया। सभी इसे अपना अपमान समझकर चले गए, परन्तु एक व्यक्ति तो यह सोचकर बैठा रहा कि इसमें भी कुछ न कुछ रहस्य होना चाहिए। कुछ समय बाद बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि मेवा

परोसा गया। उस व्यक्ति को पत्थर रखने का कारण समझ में आ गया। उसने पेट भरकर सर्व पदार्थ खाए और प्रसन्नचित्त होकर घर लौट गया। इधर, बाहर सेठ की निन्दा हो ही रही थी, तो लोगों ने उस व्यक्ति से पूछा कि तुम वहीं बैठे रहे, तो और अधिक अपमान मिला होगा ?

उस व्यक्ति ने कहा— “सुनो ! मैं तो बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि खाकर आया हूँ। पत्थर पहले इसलिए रखा गया कि बादाम आदि को तोड़कर खाना है।” यह सुनकर सभी पश्चाताप करने लगे कि हमने मूर्खता की, थोड़ी देर और बैठे रहे होते, तो हम भी माल खाकर आते। ठीक इसी प्रकार—

जैनधर्म की तपस्या प्रारम्भ में कठोर और कष्टप्रद लगती है, पर अन्त उसका आनन्द है। ऐसे आनन्द के स्वरूप—रूप तप का आचरण सभी को करना चाहिए, क्योंकि वह देहासक्ति तोड़ने का उपाय है।

-----अध्याय पंचम की समाप्ति-----

.....

षष्ठम अध्यायन :

विधि-विधान सम्बन्धी प्रमुख जैन साहित्य

षष्ठ—अध्याय

जैन विधि—विधान सम्बन्धी साहित्य

किसी भी धर्म—दर्शन के दो पक्ष होते हैं। 1. भावना परक और 2 साधना परक। इस साधना परक पक्ष का सम्बन्ध भावों के साथ—साथ विधि—विधान से भी होता है। जैन साधना से सम्बन्धित विधि—विधान की चर्चा में आचार्य हरिभद्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने अपनी योग एवं साधना सम्बन्धी कृतियों में इन विधि—विधानों की चर्चा की है। उन्होंने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों—यथा योगविशिका, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय आदि में जहाँ योग साधना की सामान्य विधियों की चर्चा की है, वहीं पंचवस्तुक, श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति), अष्टक, षोडशक, विशिका एवं पंचाशक प्रकरण आदि में श्रावकों एवं मुनियों के द्वारा करणीय विधि—विधानों की चर्चा की है। पंचाशक प्रकरण में उन्होंने प्रायः पचास—पचास गाथाओं में 19 विधि—विधानों की चर्चा की है, जो निम्न है —

1. श्रावक धर्मविधि पंचाशक
2. दीक्षाविधि पंचाशक
3. चैत्यवन्दनविधि पंचाशक
4. पूजाविधि पंचाशक
5. प्रत्याख्यानविधि पंचाशक
6. स्तवनविधि पंचाशक
7. जिन भवन निर्माण विधि पंचाशक
8. जिन बिंब प्रतिष्ठा विधि पंचाशक
9. जिनयात्राविधि पंचाशक
10. उपासक प्रतिमा विधि पंचाशक
11. साधु धर्म विधि पंचाशक
12. पिण्डविधान विधि पंचाशक
13. शीलांगविधान—विधि पंचाशक

14. आलोचना—विधि पंचाशक
15. प्रायश्चित्तविधि पंचाशक
16. कल्पविधि पंचाशक
17. भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि पंचाशक
18. तपविधि पंचाशक

इन विधि—विधान सम्बन्धी पंचाशकों से सम्बन्धित विषयों की चर्चा अन्य कौन से जैन ग्रन्थों में है, इसकी चर्चा हम अग्रिम पृष्ठों में करेंगे —

1. श्रावक धर्म विधि —

जिन शासन में श्रावक उसे कहा जाता है, जो देशविरत धर्म का आराधक है। तीर्थकरों के द्वारा स्थापित देशविरत धर्म के द्वारा अणुव्रतों को धारण कर संसार में रहकर मर्यादाओं पूर्वक जीवन का निर्वाह करता है। तीर्थकरों की आज्ञानुसार अपनी चर्चा को सुव्यवस्थित रखता है। ऐसे श्रावक धर्म से सम्बन्धित आगमानुसार साहित्य श्वेताम्बर एवं दिगम्बर —दोनों सम्प्रदायों में सैंकड़ों की संख्या में उपलब्ध है। जिनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार से है —

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
उपासकदशांगसूत्र (प्रा.)	गणधरों द्वारा प्रणीत	1 से 3 शती
तत्त्वार्थसूत्रगत श्रावकाचार	आ. उमास्वाति	वि.सं. 1 से 3 री शती
चरित्रप्राभृतगत श्रावकाचार	कुन्दकुन्दाचार्य	वि.सं. 5 वीं शती
कुन्दकुन्द श्रावकाचार	कुन्दकुन्दाचार्य	वि.सं. 5 वीं शती
रयणसार श्रावकाचार	आ. कुन्दकुन्द	वि.सं. 5 वीं शती
रत्नमाला श्रावकाचार	आ. शिवकोटि	वि.सं. 5 वीं शती
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	आ. समन्तभद्र	वि.सं. 5 वीं शती

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा श्रावकधर्म (प्रा.)	स्वामी कार्तिकेय	वि.सं. 6 वीं शती
पञ्चचरितका श्रावकाचार	आ. अमृतचन्द्र	वि.सं. 10 वीं शती
श्रावकप्रज्ञति (सावयपण्णति)	आ. हरिभद्र	वि.सं. 8 वीं शती
श्रावकधर्मविधि प्रकरण	आ. हरिभद्र	वि.सं. 8 वीं शती
श्रावक-समाचारी	हरिभद्रसूरि	वि.सं. 8 वीं शती
वरांगचरितका श्रावकाचार	आ. जहासिंहनन्दि	वि.सं. 8 वीं शती
हरिवंशपुराणका श्रावकाचार	आ. जिनसेन	वि.सं. 8-9 वीं शती
महापुराणान्तर्गत श्रावक-धर्म	आ. जिनसेन	वि.सं. 9 वीं शती
चारित्रसार में वर्णित श्रावकाचार	चामुण्डराय	वि.सं. 10 वीं शती के पूर्वार्द्ध
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	आ. अमृतचन्द्र	वि.सं. 10 वीं शती
भावसंग्रहगत श्रावकाचार	देवसेन / लक्ष्मीचन्द्र	वि.सं. 10 वीं शती
सावयधम्मदोहा (अप.)	देवसेन	वि.सं. 10-11 वीं शती
यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन (स.)	सोमदेवसूरि	वि.सं. 1016
षट्स्थान प्रकरण (प्रा.)	जिनेश्वरसूरि	वि.सं. 11 वीं शती
श्रावकप्रायश्चित्त	तिलकाचार्य	लगभग 12 वीं शती
अमितगति श्रावकाचार (स.) (अपरनाम उपासकाचार)	आ. अमितगति	वि.सं. 12 वीं शती का उत्तरार्द्ध
श्रावकसमाचारी	जिनचन्द्रसूरि	वि.सं. 12 वीं शती
श्रावकधर्म कुलक	देवसूरि	वि.सं. 12-13 वीं शती
श्रावक समाचारी	देवगुप्ताचार्य	लगभग वि.सं. 13 वीं शती

श्रावकविधि (प्रा.)	धनपाल	लगभग वि.सं. 13 वीं शती
श्रावकधर्मविधि	धनपाल	लगभग वि.सं. 13 वीं शती
श्रावकधर्मविधि	धर्मचन्द्रसूरि	लगभग वि.सं. 13 वीं शती
वसुनन्दिश्रावकाचार (प्रा.)	आ. वसुनन्दि	वि.सं. 13 वीं शती
सागारधर्माभृत (सं.)	पं. आशाधर	वि.सं. 13 वीं शती
पंचविंशतिकागत श्रावकाचार	मुनि पद्मनन्दि	वि.सं. 13 वीं शती
श्रावकाचारसारोद्धार (सं.)	आ. पद्मनन्दि	वि.सं. 14 वीं शती
श्राद्धविधि प्रकरण (प्रा.)	हर्षभूषण	वि.सं. 14 वीं शती
सङ्घदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य)	अज्ञातकृतक	लगभग वि.सं. 15 वीं शती
आवश्यकविधि	अज्ञातकृतक	लगभग वि.सं. 15 वीं शती
उपासकाचार	प्रभचन्द्रभट्टारक	लगभग 16 वीं शती
व्रतोद्योतन श्रावकाचार (सं.)	अभ्रदेव	वि.सं. 1556 से 1593
उपासकाचार	अज्ञातकृतक	लगभग 16 वीं शती
धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार	ब्रह्मनेमिदत्त	वि.सं. 16 वीं शती
श्राद्धविधि प्रकरण	रत्नशेखरसूरि	वि.सं. 16 वीं शती
अनुष्ठान विधि	अज्ञातकृतक	लगभग 16 वीं शती
तारणतरण श्रावकाचार	तारणतरण स्वामी	वि.सं. 1654
श्रावक समाचारी	अज्ञातकृतक	लगभग वि.सं. 17 वीं शती
ज्ञानानन्दश्रावकाचार (ढूढारी) भाषा	प. रायमल्ल	वि.सं 17 वीं शती
भावसंग्रहगत श्रावकाचार	पं. वामदेव	लगभग वि.सं. 17 वीं शती

किशनसिंहकृत श्रावकाचार	किशनसिंह	वि.सं. 19 वीं शती
उपासकाध्ययन	ज्ञानभूषण	वि.सं. 20 वीं शती
श्रावकव्रतधारण विधि (हिन्दी)	छोगमल चौपड़ा	वि.सं. 20 वीं शती
सम्यक्त्वमूल बारहव्रत (गु.)	जिनप्रभविजय	वि.सं. 20-21 वीं शती

2. दीक्षाविधि पंचाशक —

जैन धर्म में दीक्षा का प्रावधान है। जिन-दीक्षा अर्थात् जिनेश्वर परमात्मा द्वारा दिया गया क्षमा आदि दश यतिधर्म का पालन।

दीक्षा के पूर्व मुमुक्षु को शिक्षा दी जाती है तथा परीक्षा ली जाती है कि मुमुक्षु में दीक्षा की योग्यता है, या नहीं है ? ऐसी जिन दीक्षा विधि विधान के अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची यहाँ पर दी जा रही है—

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
आचारांगसूत्र	उपदेष्टा भ. महावीर	ई.पू. छठी शती
व्यवहार भाष्य	संघदासगणि	ईसा की 6 टी शती
धर्मबिन्दु प्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
पंचसूत्र	अज्ञातकृतक	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
उत्तराध्ययन टीका	वादिदेवताल शान्तिसूरि	लगभग 12 वीं शती
प्रव्रज्याविधानकुलकम्	श्रुतधर आचार्य	13 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
समाचारी	तिलकाचार्य	लगभग 14 वीं शती

सुबोधा समाचारी	चन्द्रसूरि	लगभग 14 वीं शती
उपस्थापन विधि	शिवनिधानमणि	लगभग 14 वीं 15 वीं शती
अनगार धर्माभूत	पं. आशाधर	13 वीं शती
आचार-दिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
षडावश्यक बालावबोधवृत्ति	तरुणप्रभसूरि	लगभग 15 वीं शती
उपधानप्रकरण	मानदेवसूरि	लगभग 14-17 वीं शती
समाचारीप्रकरण	अज्ञातसूरि	17 वीं शती
बृहदयोगविधि	देवेन्द्रसागरसूरि	17 वीं शती आधुनिक

3. चैत्यवन्दन पंचाशक -

जैन परम्परा में देव वन्दन-विधि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वन्दन-विधि से सम्बन्धित साहित्य का विवरण इस प्रकार से है -

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
आवश्यकनिर्युक्ति	आर्यभद्र	वि.सं. 2 वीं शती
मूलाचार	वट्टकेराचार्य	वि.सं. 5-6 वीं शती
आवश्यकचूर्णी	जिनदासगणि	वि.सं. 7 वीं शती
साधुदिनकृत्य	आ. हरिभद्र	वि.सं. 8 वीं शती
महानिशीथसूत्र	उद्धारक आ. हरिभद्र (प्रा.)	वि.सं. 8 वीं शती
चैत्यवन्दनभाष्य	देवेन्द्रसूरि	वि.सं. 13 वीं शती
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	वि.सं. 1216
समाचारी	तिलकाचार्य	लगभग 13 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	देवेन्द्रसूरि	वि.सं. 14 वीं शती
जइसमाचारी (यति समाचारी)	भावदेवसूरि	वि.सं. 1412

षडावश्यक बालावबोध वृत्ति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
साधुविधिप्रकाश प्रकरण	उपा.क्षमाकल्याणजी	16 वीं शती
आवश्यक्रीयविधिसंग्रह	संपादक बुद्धिसागर	20 वीं शती
चैत्री-कार्तिक पूर्णिमाविधि	कवीन्द्रसागरसूरि	20 वीं शती
देववन्दन माला (गु.)	संपादक खांतिश्रीजी	20 वीं शती
देववन्दन माला	रत्नसेनविजय	20 वीं शती
नमन और पूजन	डॉ. सुदीप जैन	20 वीं शती
उपधान स्वरूप	धीरजलाल टोकरशी शाह	20 वीं शती
यतिश्राद्धव्रतविधिसंग्रह	संपा. विजयरामसूरि	20 वीं शती
विधिसंग्रह	प्रमोद सागरसूरि	20 वीं शती

4. पूजा विधि पंचाशक –

जैन परम्परा में जिन प्रतिमा की पूजा विधि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पूजा विधि विधान से सम्बन्धित विपुल साहित्य उपलब्ध है तथा पूजाविधि विधान से सम्बन्धित कुछ उल्लेख ज्ञाताधर्मकथा, रायप्रसेनीय आदि आगमों में भी देखने को मिलते हैं। इस सम्बन्धी श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों का विवरण निम्न है –

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
ज्ञातासूत्र	छट्ठा अंग	भ. महावीर
राजप्रश्नीयसूत्र	उपांग सूत्र	ई.पू. प्रथम-द्वितीय शती
प्रशमरति प्रकरण	उमास्वाति	3 री शती
आवश्यकसूत्र चूर्णी	जिनदासगणि	6 टी शती
व्यवहारसूत्रभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
बृहत्कल्पसूत्रभाष्य	जिनदासगणि	6 टी शती
निशीथसूत्रचूर्णी	जिनदासगणि महतर	7वीं या 8 वीं शती
पूजाविंशिका	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
ललितविस्तरा	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती

षोडशकप्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
धर्मविन्दु	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
अष्टकप्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
श्रावकप्रज्ञप्ति	आ. हरिभद्र	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
समाचारी	श्री जिनदत्तसूरि	12 वीं शती
संवेगरंगशाला	जिनचन्द्रसूरि	11 वीं शती
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र	वि.सं. 1216
योगशास्त्र	हेमचन्द्राचार्य	12 वीं शती
सागारधर्माभूत	पं. आशाधर	13 वीं शती
पंचविंशतिकागत श्रावकाचार	मुनि पद्मनन्दि	14 वीं शती
गुणभूषण श्रावकाचार	गुणभूषण	14 वीं शती
गुरुवन्दनभाष्य	देवेन्द्रसूरि	13 वीं शती
विवेक विलास	जिनदत्तसूरि	13 वीं शती
पूज्यपाद श्रावकाचार	पूज्यपाद देवनन्दि	6 टी शती
व्रतसार श्रावकाचार	अज्ञातकृत	16 वीं शती
श्राद्धदिनकृत्य	श्रुतधर आचार्य	16 वीं शती
उमास्वामी श्रावकाचार	आ. उमास्वामी	अज्ञात
साधुचर्या तथा जिनपूजा का महत्त्व	संकलित	20 वीं शती
विधिसंग्रह	प्रमोदसागरसूरि	20 वीं शती

5. प्रत्याख्यान पंचाशक –

जैन धर्म में साधना का प्रारम्भ संवर से होता है। संवर का प्रारम्भ ही प्रत्याख्यान से होता है। साधनापरक जीवन का आधार प्रत्याख्यान है। प्राचीन आचार्यों एवं

वर्तमान के आचार्यों का प्रत्याख्यान से सम्बन्धित साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। प्रत्याख्यान से सम्बन्धित साहित्य सूची निम्न प्रकार से है —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
सूत्रकृतांगसूत्र	उपदेष्टा भ. महावीर	ई.पू. छठी शती
आवश्यक सूत्र	—“—	—“—
आवश्यक निर्युक्ति	आ. भद्रबाहु	ई.पू. 4 थी शती
आतुरप्रत्याख्यान	अज्ञातकृत	ई.पू. 3 री शती
मूलाचार	वट्टेराचार्य	लगभग 5 वीं 6 टी शती
अराहणा	पाणीतलमोजीशिवाय	लगभग 5 वीं 6 टी शती
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणि	लगभग 6 टी शती
आवश्यकचूर्णि	जिनदासगणि	7-8 वीं शती
निशीथचूर्णि	जिनदासगणि महतर	7-8 वीं शती
अष्टकप्रकरण	आ. हरिभद्र	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
आतुरप्रत्याख्यान (तृतीय)	वीरभद्राचार्य	10 वीं शती
आराहणा पताका	वीरभद्राचार्य	10 वीं शती
पच्चक्खाणसरूप	यशोदेवसूरि	वि.सं. 1182
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	वि.सं. 1216
समाचारी	तिलकाचार्य	लगभग 13 वीं शती
अनगार धर्माभूत	पं. आशाधर	प्रायः 14 वीं शती
श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	देवेन्द्रसूरि	प्रायः 14 वीं शती
जइ (यति) समाचारी	भावदेवसूरि	वि.सं. 1412
आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
षडावश्यकबालावबोध	तरुणपत्रसूरि	प्रायः 15 वीं शती
प्रतिक्रमणगर्भ हेतु	जयचन्द्रसूरि	वि.सं. 1506

साधुविधिप्रकाश प्रकरण	उपा. क्षमाकल्याण	प्रायः 16 वीं शती
समाचारीशतकम्	समयसुन्दरगणि	17 वीं शती
धर्मसंग्रह	मानविजयगणि	वि.सं. 1731
प्रत्याख्यान भाष्य	देवेन्द्रसूरि	प्रायः 14 वीं शती

6. स्तवनविधिपंचाशक –

जैन धर्म में स्तवन की महिमा अपूर्व है। इसे द्वितीय आवश्यक (कर्त्तव्य) माना गया है। द्रव्य स्तवन एवं भाव स्तवन पर आधारित कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। स्तवन पर लिखित ग्रन्थों की प्रकाशित सूची का विवरण यहाँ पर दे रहे हैं—

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
श्रावकधर्मविधिप्रकरण	आ. हरिभद्र	8 वीं शती
वीरस्तव प्रकीर्णक	वीरभद्र (द्वितीय)	10 वीं शती
चैत्यवन्दनभाष्य	देवेन्द्रसूरि	14 वीं शती
श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	देवेन्द्रसूरि	14 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
पंचविंशतिश्रावकाचार	मुनि पद्मनन्दि	14 वीं शती
आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं. रायमल	17 वीं शती
श्राद्धप्रकरण विधि	रत्नशेखरसूरि	16 वीं शती
श्रमणआवश्यकसूत्र	संकलित	20 वीं शती

6. जिनभवन निर्माण विधि पंचाशक –

जिनभवन के निर्माण—कार्य का अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिनभवन निर्माण पूर्णतः वास्तु के अनुरूप होना चाहिए। इस हेतु अनेकों लेखकों ने इस पर अपनी कलम चलायी, जिसकी सूची इस प्रकार है –

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
कुन्दकुन्दाश्रावकाचार	कुन्दकुन्दाचार्य	लगभग 5 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
महानिशीथसूत्र	आ. हरिभद्र (प्रथम)	8 वीं शती
षोडशक प्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
सावयधम्म दोहा	देवसेन / लक्ष्मीचन्द	10 वीं शती
प्रतिष्ठासारोद्धार	पं. आशाधर	वि.सं. 1250
सुबोधा—समाचारी	चन्द्रसूरि	13 वीं शती
विवेकविलास	श्री जिनदत्त सूरि	13 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
समाचारी—संग्रह	नरेश्वरसूरि	लगभग 14 वीं शती
समाचारी—संग्रह	नरेश्वरसूरि	14 वीं शती
आचार दिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
उपासकाध्ययन	आ. ज्ञानभूषण	20 वीं शती
अष्टादशअभिषेकबृहद्विधि	बृहद्विधि संकलित	20 वीं शती

8. जिन—बिम्ब प्रतिष्ठा विधि पंचाशक —

जिनभवन का निर्माण जिन—बिम्ब की प्रतिष्ठा हेतु ही होता है। जिन—बिम्ब की प्रतिष्ठा का विधान मंगल रूप माना गया है अतः जिन—बिम्ब की प्रतिष्ठा की विधि में विधान के स्वरूप का पूरा ख्याल रखा जाता है, क्योंकि प्रतिष्ठा के सही विधि—विधान का संघ, ग्राम, नगर, देश, विश्व पर प्रभाव पड़ता है, अतः पूर्ववर्ती आचार्यों एवं ज्ञानी श्रावकों ने प्रतिष्ठा विधि—विधान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रतिष्ठा के विधि विधानों से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ पर कर रहे हैं—

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
दशवैकालिकचूर्णि	जिनदासगणिमहत्तर	लगभग 7-8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
षोडशकप्रकरण	हरिभद्र	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्र	8 वीं शती
अर्हदाभिषेकविधि	वाअवेताल शान्तिसूरि	11 वीं शती
निर्वाणकलिका	पादलिप्तसूरि (द्वितीय)	11 वीं शती
बिम्बध्वज-दण्ड प्रतिष्ठाविधि	तिलकाचार्य	12 वीं शती
प्रतिष्ठासारोद्धार	पं. आशाधर	वि.सं. 1250
सुबोधासमाचारी	चन्द्रसूरि	13 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
प्रतिष्ठातिलक	आ. नेमिचन्द्र	13 वीं शती
समाचारी संग्रह	नरेश्वरसूरि	लगभग 14 वीं शती
आचार दिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
जिनबिम्ब प्रवेश विधि	अज्ञातकृत	लगभग 15-16 वीं शती
जिनबिम्बमृदुप्रवेशविधि	अज्ञातकृत	15 वीं शती
जिनबिम्ब परीक्षा प्रकरण	अज्ञातकृत	15 वीं शती
कल्याणकलिका	कल्याणपिण्डगणि	16 वीं शती
समाचारी शतकम्	समयसुन्दरगणि	17 वीं शती
व्रतसार श्रावकाचार	अज्ञातकृत	16 वीं शती
बिम्बप्रवेश-स्थापना विधि	अज्ञातकृत	17 वीं शती
समाचारीप्रकरण	अज्ञातकृत	17 वीं शती
प्रतिष्ठा-कल्प, अंजनशलाकाविधि	सकलचन्द्रगणित	18 वीं शती
जिनपूजाविधि संग्रह	संकलित	20 वीं शती
अंजनशलाका (प्रतिष्ठाकल्प) (भाग-2)	सं. कल्याणसागरसूरि	20 वीं शती

अर्हप्रतिष्ठा	अप्पर्य	20 वीं शती
प्रतिष्ठाकल्प	संकलित	20 वीं शती
शान्तिस्नात्रविधिसमुच्चय (भाग 1-2)	वीरशेखरसूरि	20 वीं शती
शान्तिस्नात्रविधिसमुच्चय (भाग 1-2)	विजयामृतसूरि	20 वीं शती
अष्टादशअभिषेक बृहत्विधि	संकलित	20 वीं शती
श्राद्धविधिप्रकरण	रत्नशेखरसूरि	16 वीं शती
षोडशकप्रकरण	हरिभद्र	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्र	8 वीं शती
समाचारीशतकम्	समयसुन्दर गणि	17 वीं शती
व्रतसारश्रावकाचार	अज्ञातकृत	16 वीं शती

9. जिन-बिम्ब यात्रा विधि पंचाशक -

यात्रा विधि में परमात्मा की अचल प्रतिष्ठा के पूर्व या चल प्रतिमा की शोभा यात्रा से सम्बन्धित साहित्य आता है। यात्रा विधि से सम्बन्धित जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार से है -

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
बृहत्कल्पभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
पंचाशकप्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
निर्वाणकलिका	पादलिप्तसूरि	11 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि चन्द्रसूरि	13 वीं शती
प्रतिष्ठासारोद्धार	पं. आशाधर	14 वीं शती
वृत्तसारश्रावकाचार	अज्ञातकृत	15 वीं शती
आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463

10. उपासक प्रतिमा विधि पंचाशक –

उपासक प्रतिमा श्रावकचर्या से सम्बन्धित है। इसमें श्रावकों को किस प्रकार से साधनायुक्त जीवनचर्या का पालन करते हुए अपने को श्रावक जीवन को साधु जीवन के योग्य बना सके, इसकी चर्या की जाती है।

उपासक प्रतिमा से सम्बन्धित ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों में है पर यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख कर पा रहे हैं—

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
उपासकदशांगसूत्र	सुधर्मा स्वामी	ई.पू. 5 वीं शती
दशासूत्रस्कंधसूत्र	भद्रबाहुस्वामी	ई.पू. 4 थी शती
दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति	आर्य भद्र	ईसा की 2 री शती
पूज्यपाद श्रावकाचार	पूज्यपाद देवन्दी	6 टी शती
चारित्रसारगत श्रावकाचार	चामुण्डराय	10 वीं शती
सावयधम्म दोहा	देवसेन/लक्ष्मीचन्द	10 वीं शती
उपासकदशांग टीका	अभयदेवसूरि	11 वीं शती
वसुनन्दिश्रावकाचार	आ. वसुनन्दि	13 वीं शती
समाचारी	तिलकाचार्य	13 वीं शती
प्रवज्याविधानकुलकम्	श्रुतधर आचार्य	13 वी शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
पंचविंशतिगत श्रावकाचार	मुनिपद्मनन्दि	14 वीं शती
सागारधर्माभूत	पं.आशाधर	13 वीं शती
चारित्रप्राभूतगत श्रावकाचार	तारण तरण स्वामि	वि.सं. 1645
यहाँ यह ज्ञातव्य है दिगम्बर परम्परा में अनेक श्रावकाचारों में भी इसका उल्लेख मिलता है।		
गुणभूषण श्रावकाचार	गुणभूषण	14 वीं शती
समाचारीसंग्रह	नरेश्वरसूरि	14 वीं शती

आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1363
प्रश्नोत्तरश्रावकाचार	आ. सकलकीर्ति	15 वीं शती
षडावश्यक बालावबोधवृत्ति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार	पं. गोविन्द	16 वीं शती
श्री पद्मकृत श्रावकाचार	श्री पद्मकवि	वि.सं. 1615
धर्मोपदेशपीयूषपर्वश्रावकाचार	मुनि ब्रह्मनेमिदत्त	16 वी शती
तारणतरणश्रावकाचार	तारण तरणस्वामि	वि.सं. 1645
समाचारीशतकम्	समय सुन्दरगणि	17 वीं शती
समाचारी प्रकरण	यशोविजयजी	17 वीं शती
ज्ञानानन्द श्रावकाचार	पं. रायमल्ल	17 वीं शती
धर्मसंग्रह	मानविजयगणि	1731
धर्मसंग्रह श्रावकाचार	पंडित मेधावी	वि.सं. 1795
दौलतराम श्रावकाचार	दौलतरामजी	वि.सं. 1795
भावसंग्रहगत श्रावकाचार	पं. वामदेव	वि.सं. 1718
किशनसिंह श्रावकाचार	किशनसिंह	19 वीं शती
उपासकाध्ययन	सोमदेवसूरि	11 वीं शती
भव्य धर्मोपदेशउपासकाध्ययन	जिनदेव	अज्ञात

11. साधु धर्म विधि पंचाशक —

यह पंचाशक जैन साधु के सामान्य आचार से सम्बन्धित है। जैन आचार्यों ने साधवाचार से सम्बन्धित विपुल साहित्य का निर्माण किया है। इसके कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
आचारांग	उपदेष्टा	ई.पू. 6 टी शती
सूत्रकृतांगसूत्र	भ. महावीर	ई.पू. 6 टी शती

उत्तराध्ययनसूत्र	भ. महावीर	ई.पू. 6 टी शती
दशवैकालिकसूत्र	शयंभवसूरि	ई.पू. 6 टी शती
बृहदकल्पसूत्र आदि छेदसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती
आचारांगनिर्युक्ति	आर्य भद्र	ई.पू. 2 री शती
प्रशमरति	आ. उमास्वाति	ई.पू. 3 री शती
रयणसारगत श्रावकाचार	आ. कुन्दकुन्द	ई. लगभग 5 वीं शती
पिण्डनिर्युक्ति	आर्यभद्र	ई. 2 री शती
ओघनिर्युक्ति	आर्य भद्र	ई. 2 री शती
मूलाचार	वट्टकेराचार्य	लगभग 5 वीं शती
बृहदकल्प—लघुभाष्य	संघदासगणि क्षमाश्रमण	लगभग 5 वीं शती
दशवैकालिकभाष्य	जिनभद्रगणि	लगभग 5 वीं शती
विशेषावश्यकभाष्य	जिनभद्रगणि	लगभग 5 वीं शती
भगवतीआराहणा	पाणीतलभोजी शिवार्य	लगभग 5 वीं शती
दशवैकालिकचूर्णि	जिनदासगणि महतर	7 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
यतिदिन कृत्य	आ. हरिभद्र	8 वीं शती
आराहणा पताका	वीरभद्राचार्य	10 वीं शती
प्रवचन सारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	वि.सं. 1216
सुबोध समाचारी	चन्द्रसूरि	13 वीं शती
समाचारी संग्रह	नरेश्वरसूरि	14 वीं शती
अणगार धर्मामृत	पं. आशाधर	14 वीं शती
यति समाचारी	भावदेवसूरि	वि.सं. 1412
षडावश्यकबालावबोधवृत्ति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
विशेषशतकम्	समयसुन्दर	16 वीं शती
साधुविधिप्रकाश प्रकरण	क्षमाकल्याण	16 वीं शती

समाचारीप्रकरण

यशोविजयजी

17 वीं शती

आवश्यकियविधिसंग्रह

सं. बुद्धिसागर

20 वीं शती

12. साधु समाचारी पंचाशक —

जैनधर्म के विधि विधानों में साधु समाचारी भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसका सम्बन्ध मुनि की जीवनचर्या से है। साधु समाचारी से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जिनकी सूची इस प्रकार है —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
आचारांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
सूत्रकृतांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
उत्तराध्ययनसूत्र	संकलन	ई.पू. 2—3 री शती
बृहत्कल्पनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
कल्पसूत्र	भद्रबाहुस्वामी	ई.पू. 3 री शती
ओघनिर्युक्ति	आर्यभद्र	ईसा की 2 री शती
मूलाचार	वट्टकेराचार्य	लगभग 5 वीं शती
बृहत्कल्पभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
धर्मबिन्दुप्रकरण	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
समाचारीसंग्रह	नरेश्वरसूरि	14 वीं शती
यतिसमाचारी	भावदेवसूरि	14 वीं शती
आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि. सं. 1463
विशेषावश्यकम्	आ. समयसुन्दर	16 वीं शती
साधुविधिप्रकाशप्रकरण	उपा. क्षमाकल्याण	लगभग 16 वीं शती
समाचारी प्रकरण (भाग 1—2)	महो. यशोविजय	17 वीं शती

प्रवचनसारोद्धार	आ. नेमिचन्द्र	वि.सं. 1216
समाचारी	तिलकाचार्य	लगभग 13 वीं शती
प्रशमरति	आ. उमास्वाति	13 वीं शती
समाचारी शतकम्	समयसुन्दरगणि	17 वीं शती
धर्मसंग्रह	मानविजयगणि	वि.सं. 1731
बृहत्कल्पसूत्र	आर्यभद्र	2 री शती
व्यवहारभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
प्रव्रज्याविधानकुलकम्	श्रुतधरआचार्य	13 वीं शती

13. पिण्ड विधान अर्थात् भिक्षा विधि पंचाशक –

साधु के लिए जीवन निर्वाह हेतु आहार लेने का विधान है, परन्तु आहार ग्रहण करते समय आहार की शुद्धता का ध्यान रखना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शुद्ध आहार की गवेषणा ही साधुता है, अतः आहार विधि का वास्तविक रूप से पालन करने के लिए जैन आचार्यों ने 42 दोषों से रहित आहार ग्रहण करना बताया है। आहार की शुद्धता से सम्बन्धित आचार्यों द्वारा अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की सूची यहां दी जा रही है –

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
आचारांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
सूत्रकृतांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
प्रश्नव्याकरणसूत्र	वर्तमान संस्करण परवर्ती है।	6 टी शती
दशवैकालिकसूत्र	आर्य शय्यंभव	ई.पू. 4 थी शती
व्यवहारसूत्र	आर्यभद्रबाहु	3 री शती
बृहदकल्पसूत्र	आर्यभद्रबाहु	3 री शती
पिण्डनिर्युक्ति	आर्यभद्र	लगभग 2 री शती
ओघनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती

मूलायार (मूलाचार)	वट्टकेराचार्य	लगभग 6 टी शती
बृहदकल्पभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
व्यवहारभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
भगवती-आराहणा	पणितलमोजीशिवाय	6 टी शती
निशीथचूर्णी	जिनदासगणि महत्तर	लगभग 7 वीं शती
महानिशीथसूत्र	उद्धारक - आ.हरिभद्र (प्र.)	8 वीं शती
दशवैकालिकचूर्णी	जिनदासगणि महत्तर	लगभग 7 वीं शती
साधुदैनिकृत्य	आ.हरिभद्र	8 वीं शती
पंचवस्तुक	हरिभद्र	8 वीं शती
पिण्डविशुद्धि प्रकरण	जिनवल्लभगणि	12 वीं शती
समाचारी	तिलकाचार्य	13 वीं शती
साधुविधिप्रकाश प्रकरण	उपा. क्षमाकल्याण	16 वीं शती
प्रवचन सारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	वि.सं. 1216
सद्रढ़जीयकप्पो (श्राद्धजीयकल्प)	धर्मघोषसूरि	वि.सं. 1357
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1365
यतिसमाचारी	भावदेवसूरि	वि.सं. 1492
आवश्यक्रीयविधिसंग्रह	स. बुद्धिसागर	20 वीं शती
श्रमण-आवश्यक सूत्र	संकलित	20 वीं शती

14. शीलांग विधि पंचाशक -

साधुचर्या से सम्बन्धित ही यह विधान भी है। इन शीलांगों के पालन के बिना साधु पूर्णतः साधु कहलाने योग्य नहीं है। इस शीलांगों का वर्णन अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में शास्त्रानुसार किया है। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है, किन्तु ज्ञातव्य है ये प्राचीन ग्रन्थ कुछ शीलांगों का ही विवेचन करते हैं -

कृति

कृतिकार

कृतिकाल

आचारांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
सूत्रकृतांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
दशवैकालिकसूत्र	आ. शय्यंभव	ई.पू. 4 थी शती
उत्तराध्ययनसूत्र	संकलन	ई.पू. 3 री शती
प्रश्नव्याकरणसूत्र	वर्तमानसंस्करण—अज्ञातकृत	
मूलाचार	वट्टकेराचार्य	6 टी शती
बृहत्कल्पभाष्य (प्रा)	संघदासगणि	6 टी शती
पंचवस्तुक (प्रा)	आ. हरिभद्र	8 वीं शती

15. आलोचना विधि पंचाशक —

जैन परम्परा में किसी भी प्रकार के व्रतों का अतिक्रमण हो जाये तो उसके लिये आलोचना का विधान है। आलोचना विधान से सम्बन्धित साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। जिसमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार से है—

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
व्यवहारसूत्र	आर्यभद्र	लगभग 5-6 टी शताब्दी
आवश्यकसूत्र	आगम	
निशीथसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती
व्यवहारनिर्युक्ति	आर्य भद्र	3 री शती
ओघनिर्युक्ति	आर्य भद्र	2 री शती
मूलाचार (मूलाचार)	वट्टकेराचार्य	लगभग 6 टी शती
भगवती—आराहणा (आराधना)	पाणीतलमोजी शिवार्य	6 टी शती
बृहदकल्पभाष्य	संघदासगणि	7 वीं शती
व्यवहारभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
जीतकल्पभाष्य	जिनभद्रगणि	लगभग 6 टी शती
महानिशीथसूत्र	उद्धारक आ. हरिभद्र (प्र.)	8 वीं शती

पंचवस्तुक	हरिभद्र	8 वीं शती
आराधनापताका	वीरभद्रचार्य	10 वीं शती
यतिसमाचारी	भावदेवसूरि	1412
आलोचना प्रायश्चित्त विधि	क्षेमकल्याणगणि	1801
यतिजीतकल्प	सोमप्रभसूरि	14 वीं शती
आराधनासार (पर्यान्ताराधना)	अज्ञातकृत	10 वीं शती
आत्मविशोधिकुलक	अज्ञातकृत	11 वीं शती
समाचारीसंग्रह	नरेश्वरसूरि	14 वीं शती
श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	देवेन्द्रसूरि	14 वीं शती
आलोचनाविधान	पृथ्वीचन्द्र सूरि	15 वीं शती
षडावश्यकबालावबोधिकृति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
आलोचनादान—टिप्पण	भुवनरत्न गणि	लगभग 16 वीं शती
आलोचनातपोदान—टिप्पण	अज्ञातकृत	लगभग 16 वीं शती
आलोचनारत्नाकर	विजगणि	लगभग 16 वीं शती
आलोचना	पद्मनन्दी	लगभग 16 वीं शती
आलोचना विधि	क्षमाकल्याणगणि	लगभग 16 वीं शती
श्राद्धजीतकल्प (सङ्गृहीयकप्पो)	धर्मघोषसूरि	वि.सं. 1357
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
प्रतिक्रमणगर्भहेतु	जयचन्द्रसूरि	वि.सं. 1506
समाचारी प्रकरण (भाग 1-2)	यशोविजयजी	17 वीं शती
साधुविधिप्रकाशप्रकरण	उपा. क्षमाकल्याण	17 वीं शती
प्रतिक्रमणसूत्र	संकलित	20 वीं शती
सयमीनोप्राण	मुनि यशोविजय	20 वीं शती
आवश्यकिय विधिसंग्रह	सं. बुद्धिसागर	20 वीं शती
प्रतिक्रमणविधि संग्रह	सं. कल्याणविजयगणि	20 वीं शती

श्रमण—आवश्यक सूत्र	संकलित	20 वीं शती
विधिसंग्रह	प्रमोदसागरसूरि	20 वीं शती
आवश्यक विधि संग्रह	सं. बुद्धिसागर	20 वीं शती

16. प्रायश्चित्त विधि पंचाशक —

चित्त शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अति आवश्यक है। प्रायश्चित्त विधि विधान के द्वारा साधक अपने आत्मा की शल्य चिकित्सा करता है। प्रायश्चित्त विधान से सम्बन्धित साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जिसकी सूची इस प्रकार से है—

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
निशीथसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. तीसरी शती
बृहद्कल्पसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. तीसरी शती
व्यवहारसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. तीसरी शती
जीतकल्पसूत्र	आर्य भद्रबाहु (प्रथम)	ई.पू. तीसरी शती
दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
निशीथनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
बृहत्कल्पनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
व्यवहारनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
निशीथभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
जीतकल्पभाष्य	जिनभद्रगणि	6 टी शती
बृहद्कल्पभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती
निशीथचूर्णि	जिनदासगणि महत्तर (प्र.)	7 वी शती
बृहत्कल्पचूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	लगभग 7 वीं शती
महानिशीथसूत्र	उद्धारक आ. हरिभद्र	8 वीं शती
प्रायश्चित्त—ग्रन्थ	महाकलंकदेव	8 वीं शती
जीतकल्पबृहत्चूर्णी	सिद्धसेनसूरि	लगभग 7 वीं शती

प्रायश्चित्त	आ. विद्यानन्दी	9 वीं शती
छेदशास्त्र	अज्ञातकृत	लगभग 10 वीं शती
प्रायश्चित्त—चूलिका	गुरुदास	12 वीं शती
व्यवहार—विवरण	अज्ञातकृत	12 वीं शती
प्रायश्चित्त—समाचारी	तिलकाचार्य	13 वीं शती
छेदपिण्डशास्त्र	इन्द्रनन्दि योगीन्द्र	14 वीं शती
जइ—जीय—कप्पो (यतिजीतकल्प)	सोमप्रभसूरि	14 वीं शती
सद्वृत्तजीयकप्पो (श्राद्धजीतकल्प)	धर्मघोषसूरि	वि.सं. 1357
विवेकविलास	श्री जिनदत्तसूरि	13 वीं शती
रत्नमालागत श्रावकाचार	आ. शिवकोटि (यह काल्पनिक मान्यता है।)	5 वीं शती
प्रायश्चित्त निरूपण	मुनि सोमसेन	वि.सं. 1660
प्रायश्चित्त	आ. अकलंक (द्वितीय)	वि.सं. 1678
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1363
आचार दिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
धर्मसंग्रह	मानविजयगणि	वि.सं. 1731

17. स्थित—अस्थित कल्प—विधि पंचाशक —

जैन परम्परा में दस कल्प माने गये हैं, उनमें कुछ स्थित (सार्वकालिक) और कुछ अस्थित कल्प हैं। स्थित—अस्थित कल्प विधान के द्वारा आचार संहिता का विशद वर्णन जैन आचार्यों द्वारा किया गया है।

स्थित—अस्थित कल्प की चर्चा कई ग्रन्थों में मिलती है, उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार से है —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
दशवैकालिक सूत्र	आ. शय्यंभव	ई.पू. चौथी शती
बृहत्कल्पसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती
व्यवहारसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती
जीतकल्प	आर्य भद्रबाहु (प्रथम)	ई.पू. 3 री शती
व्यवहारनिर्युक्ति	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 2 री शती
ओघनिर्युक्ति	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 2 री शती
दशाश्रुतनिर्युक्ति	आर्यभद्र	2 री शती
मूलायार (मूलाचार)	वट्टकेराचार्य	लगभग 6 टी शती
बृहत्कल्पभाष्य	संघदासगणि	लगभग 6 टी शती
व्यवहारभाष्य	संघदासगणि	लगभग 6 टी शती
बृहत्कल्पलघुभाष्य	संघदासगणि क्षमाश्रमण	6 टी शती
दशवैकालिक चूर्णी	जिनदासगणि महत्तर	7 वीं शती
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	वि.सं. 1216
अणगार धर्माभूत	पं. आशाधर	14 वीं शती
आचार विधि	अज्ञातकृत	वि.सं. 1352
आचार—दिनकर (सं)	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
आवश्यक विधि संग्रह	सं. बुद्धिसागर	20 वीं शती

18. भिक्षु—प्रतिमा कल्प—विधि पंचाशक —

भिक्षु—प्रतिमा कल्प विधि के माध्यम से अव्यवसायों की शुद्धि की जाती है। भिक्षु—प्रतिमा कल्प विधान पर श्वेताम्बर—दिगम्बर परम्परा में विपुल मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। जिनमें कुछ प्रमुख ग्रन्थों की सूची निम्न है —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
आचारांगसूत्र	उपदेष्टा भगवान महावीर	ई.पू. 6 टी शती
दशवैकालिकसूत्र	आ. शय्यंभव	ई.पू. 4 थी शती
दशाश्रुत स्कन्धसूत्र	आर्य भद्रबाहु	ई.पू. 3 री शती
बृहत्कल्पभाष्य	संघदासगणि	6 टी शती

दशवैकालिकचूर्णी	जिनदासगणि महत्तर	लग. 7 वीं शती
आत्मविशोधि कुलक	अज्ञातकृत	लग. 11 वीं शती
षडावश्यक बालावबोधकृति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
आचारदिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
समाचारी प्रकरण भाग (1-2)	यशोविजय	17 वीं शती
आवश्यक विधि संग्रह	सं. बुद्धिसागर	20 वीं शती

19. तप विधि पंचाशक —

जैन परम्परा में कर्म-निर्जरा या मोक्ष-प्राप्ति के हेतु के रूप में तप का उल्लेख मिलता है। तप अनेक प्रकार से किया जाता है। तप-विधि का वर्णन करने वाला विपुल साहित्य है, जो निम्न है —

<u>कृति</u>	<u>कृतिकार</u>	<u>कृतिकाल</u>
बृहत्कल्पसूत्र	आर्यभद्रबाहु	ई.पू. तीसरी शती
अंतकृतदशासूत्र	वर्तमानसंस्करण (परवर्ती है)	6 टी शती
मूलायार (मूलाचार)	वट्टकेराचार्य	लगभग 6 टी शती
भगवती-आराहणा	पाणतलमोजी शिवार्य	6 टी शती
पंचवस्तुक	हरिभद्रसूरि	8 वीं शती
महानिशीथसूत्र	उद्धारक आ. हरिभद्र	8 वीं शती
समाचारी	तिलकाचार्य	13 वीं शती
विधिमार्गप्रपा	जिनप्रभसूरि	वि.सं. 1463
आचार-दिनकर	वर्धमानसूरि	वि.सं. 1463
सुबोधासमाचारी	चन्द्रसूरि	13 वीं शती
श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	देवेन्द्रसूरि	14 वीं शती
यति-श्राद्धव्रतविधिसंग्रह	सं. रामचन्द्रसूरि	20 वीं शती
विधिसंग्रह	प्रमोदसागरसूरि	20 वीं शती

अणगार—धर्माभृत	पं. आशाधर प्रथम	14 वीं शती
यति—समाचारी	भावदेवसूरि	वि.सं. 1412
षडावश्यक बालावबोधवृत्ति	तरुणप्रभसूरि	15 वीं शती
उमास्वाति श्रावकाचार	परवर्ती कृति है।	16 वीं शती
कर्मदहन—पूजाविधि	रत्नानंद	17 वीं शती
साधुविधिप्रकाश प्रकरण	उपाक्षमाकल्याण	17 वीं शती
कर्मनिर्झरवृत्तपूजा	गुलाबचन्द	20 वीं शती
सज्जनजिनवन्दननिधि	शशिप्रभाश्री	20 वीं शती
तपसुधानिधि	हीरालाल दुगड	20 वीं शती
तपोरत्न महोविधि	भुवनविजय	20 वीं शती
नवपदाराधना विधि	प्रियदर्शनाश्रीसम्यग्दर्शनाश्री	20 वीं शती
वर्धमानतपविधि	कवीन्द्रसागरसूरि	20 वीं शती
व्रतविधि एवं पूजा	ज्ञानमती	20 वीं शती
ज्ञानपंचमी सुव्रतविधि	सज्जनश्री	20 वीं शती
श्रमण—आवश्यकसूत्र	संकलित	20 वीं शती

सप्तम अध्याय

उपसंहार

अध्याय—7 उपसंहार

जैन साहित्य में आचार्य हरिभद्र की रचनायें एक प्रमुख स्थान रखती हैं। परम्परा से यह कहा जाता है कि उन्होंने 1444 ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में उनके नाम से लगभग 80 ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन 80 ग्रन्थों में भी कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो याकिनीसुनुहरिभद्र की कृति है या किसी अन्य हरिभद्र की कृति है ? इस सम्बन्ध में विवाद है। फिर भी अष्टक, षोडशक, विंशिका और पंचाशक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके कर्तृत्व को लेकर कोई विवाद नहीं है, वे याकिनीसुनुहरिभद्र की ही कृतियाँ मानी गई हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों में सामान्यतया उनका उपनाम 'भवविरह' उपलब्ध होता है। ज्ञातव्य है कि याकिनीसुनुहरिभद्र अपनी कृतियों के अन्त में प्रायः 'भवविरह' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं और इसी कारण वे 'भवविरहसूरि' के नाम से भी जाने जाते हैं। आचार्य हरिभद्र का कर्तृत्व व्यापक और बहुआयामी है और विशेष रूप से योगसाधना और आचार के परिप्रेक्ष्य में ही लिखा गया है, वैसे आचार्य हरिभद्र की कृतियों में आगमिक व्याख्याओं एवं दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों को छोड़ दें, तो उनके अधिकांश ग्रन्थ आचार-प्रधान और उपदेश-प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने योग-साधना की दृष्टि से भी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। उनके योग सम्बन्धी ग्रन्थों में निम्न चार ग्रन्थ प्रमुख हैं :- 1. योगविंशिका, 2. योगशतक, 3. योगबिन्दु और 4. योगदृष्टिसमुच्चय

हरिभद्र के दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकांतजयपताका, अनेकांतवादप्रवेश, न्यायाप्रवेशटीका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इतना स्पष्ट है कि उनके ग्रन्थों में उपदेश प्रधान और आचार प्रधान ग्रन्थ अधिक प्रमुख रहे हैं।

आचार्य हरिभद्र के योग एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य पर तो कुछ शोधकार्य हुए हैं, किन्तु उनके उपदेश प्रधान और आचार प्रधान ग्रन्थों पर शोध कार्य अल्प ही हुआ है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, आचार्य हरिभद्र के पंचवस्तु नामक ग्रन्थ को छोड़कर उनके आचार प्रधान ग्रन्थों पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ।

आचार्य हरिभद्र के उपदेश और साधना प्रधान ग्रंथों में अष्टक, षोडशक और विंशिकाओ की अपेक्षा पंचाशकप्रकरण एक विशाल ग्रंथ है। इस ग्रंथ में 19 विषयों को लेकर हर एक विषय पर लगभग पचास-पचास प्राकृत गाथायें निबद्ध की गई हैं। आचार्य हरिभद्र के इस पंचाशकप्रकरण का हिन्दी अनुवाद भी पूर्व में उपलब्ध नहीं था, मात्र प्राकृत गाथायें और उन पर नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि की वृत्ति उपलब्ध होती थी, संयोग से अभी कुछ वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ डॉ. दीनानाथ शर्मा द्वारा अनुवादित एवं डॉ. सागरमल जैन द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी अनुवाद सहित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। जब मुझे डॉ. सागरमल जैन से यह ज्ञात हुआ कि पंचाशकप्रकरण पर अभी तक कोई भी शोध कार्य नहीं हुआ, तो मैंने यह निर्णय लिया कि पंचाशकप्रकरण पर शोध कार्य किया जावे। इस पंचाशक प्रकरण में मूलतः निम्न 19 विषयों की चर्चा है –

1. श्रावक धर्म विधि
2. जिन दीक्षा विधि
3. चैत्यवन्दन विधि
4. पूजा विधि
5. प्रत्याख्यान विधि
6. स्तवविधि
7. जिन भवन निर्माण विधि
8. जिन बिम्ब प्रतिष्ठा विधि
9. जिन यात्रा विधि
10. उपासक प्रतिमा विधि
11. साधु धर्म विधि
12. साधु समाचारी विधि
13. पिण्ड विधान विधि
14. शीलांगविधान विधि
15. आलोचना विधि

16. प्रायश्चित्त विधि
17. कल्प विधि
18. भिक्षु प्रतिमा कल्प विधि
19. तप विधि

इसकी विषयवस्तु को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित है।

इन 19 विषयों पर चिन्तन करने से यह ज्ञात होता है कि इसमें अनेक विषय गृहस्थ के आचार से सम्बन्धित हैं, तो कुछ विषय मुनि के आचार से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे हैं जो गृहस्थ और मुनि दोनों से सम्बन्धित हैं, यद्यपि जिनचैत्य निर्माण, जिनप्रतिमा प्रतिष्ठा, जिनपूजा, जिनयात्रा आदि—ऐसे विषय हैं, जो मुख्यतः तो गृहस्थ से सम्बन्धित हैं, किन्तु मुनियों का भी यह दायित्व माना गया है कि वे इनकी प्रेरणा दें। साथ ही साथ भाव-पूजा तो साधुओं का भी कर्तव्य है। मुख्यतः इन विषयों का सम्बन्ध जैन आचार एवं विधिविधानों से है और आचार एवं विधि विधान का दायित्व गृहस्थ और साधु दोनों का माना गया है और इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर यह शोधकार्य किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने इन 19 विषयों के आधार पर इस पंचाशक प्रकरण में श्रावक जीवन और मुनि जीवन के लगभग सभी पक्षों को समाहित करने का पुरुषार्थ किया है, किन्तु इसके अतिरिक्त चैतवन्दन, पूजाविधि, जिनभवननिर्माणविधि, जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि, जिनयात्राविधि आदि ऐसे विषय भी हैं जिनके सम्बन्ध में आगमों और आगमिक व्याख्याओं में भी विशेष चर्चा नहीं मिलती, इन विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा करने वाला पंचाशकप्रकरण एक प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र की यह भी विशेषता रही है, कि उन्होंने श्रावक जीवन और साधु जीवन से सम्बन्धी जिन विषयों की चर्चा की है उन पर वे कहीं-कहीं एक नवीन दृष्टिकोण से भी अपनी बात रखते हैं और उस सम्बन्ध में उठने वाली समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि आचार्य हरिभद्र जिस भी विषय को प्रस्तुत करते हैं वह केवल विवरणात्मक नहीं होता, उसके पीछे उनका गहन चिन्तन भी होता है, जो परम्परा

और परिस्थिति दोनों के साथ समन्वय करते हुए आगे बढ़ता है। यह स्पष्ट है कि आचार्य हरिभद्र का चिंतन मात्र रूढ़िवादी नहीं है। उन्होंने परम्परागत नियमों की भी तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर समीक्षात्मक विवेचना की है और इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गृहस्थ आचार एवं मुनि आचार के सम्बन्ध में भी आचार्य हरिभद्र ने विवरणात्मक विवेचन ही नहीं किया अपितु अनेक प्रसंगों में नवीन दृष्टि से सोचने का प्रयत्न भी किया है, तथा उन्हें अपने युग के साथ तथा अन्य परम्पराओं में प्रचलित विधि-विधानों के साथ प्रासंगिक बनाने का प्रयत्न भी किया है, चाहे पंचाशकप्रकरण में आगमिक आधारों पर गृहस्थ आचार और मुनि आचार का प्रतिपादन किया गया हो किन्तु उस सम्बन्ध में उठने वाले अनेक प्रश्नों को लेकर गंभीर चर्चाएँ भी की गई हैं, जैसे – जैन विधि-विधानों के द्रव्यपक्ष और भावपक्ष को लेकर जो उन्होंने गंभीर चर्चा की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाशकप्रकरण का शोधदृष्टि से किया गया यह अध्ययन गृहस्थ आचार और मुनि आचार के सम्बन्ध में न केवल परम्परागत विचारों को प्रस्तुत करेगा, अपितु उस सम्बन्ध में हरिभद्र का क्या सोच रहा है और उन्होंने किस प्रकार समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन किया है, इसे भी प्रस्तुत करता है। साथ ही इस अध्ययन में, मैंने यह बताने का भी प्रयत्न किया है कि परम्परागत विवेचनाओं में हरिभद्र किस सीमा तक एक नवीन दृष्टि को लेकर प्रस्तुत होते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने मूर्तिपूजा और जिनमन्दिर निर्माण में होने वाली द्रव्य हिंसा की समस्या को लेकर भी गंभीर चर्चा की है। द्रव्य मूर्तिपूजा में जो सूक्ष्म हिंसा के तत्त्व सन्निहित हैं वे कहां तक आगम सम्मत हैं एवं कहां तक करणीय और अकरणीय हैं, इसकी चर्चा आचार्य हरिभद्र विस्तार से करते हैं।

हरिभद्र उस संक्राति काल में हुए थे, जब जैन धर्म के तीनों ही सम्प्रदाय चैत्यवास के दलदल में फंसे हुए थे। श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवास का सबल विरोध करने वाले आचार्यों में हरिभद्र का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवतः ये पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने युग में मुनि आचार में आये शैथिल्य का खुले शब्दों में विरोध किया। इस बात का उन्होंने सम्बोधप्रकरण के कुगुर्वाभास में विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार जहां एक ओर हरिभद्र परम्परागत विचारों के प्रस्तोता हैं, वहीं दूसरी ओर वे मुनि आचार में आई

हुई शैथिल्य की प्रक्रिया के प्रबल विरोधी भी हैं। इस शोध में मैंने यह पाया कि जिनशासन में आचार्य हरिभद्र भी एक ऐसा व्यक्तित्व है जो आचार में शैथिल्य का तो विरोधी रहा है, किन्तु दूसरी ओर विचार में उदारता का समर्थक भी है, प्रस्तुत अध्ययन में आचार्य हरिभद्र की इस विशेषता को यथा प्रसंग रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

चूंकि आचार्य हरिभद्र एक योग साधक भी थे, अतः न केवल उन्होंने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों में अपितु पंचाशक प्रकरण में भी योग और ध्यान की गंभीर चर्चा की और इसी चर्चा में उन्होंने जैन धर्म में मान्य पांच मुद्राओं का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत अध्ययन में इसका समावेश भी तप के अन्तर्गत ही किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पंचाशक प्रकरण पर लिखा जाने वाला यह शोध प्रबन्ध न केवल जैन गृहस्थ आचार और मुनि आचार के पिष्टपेशन तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु जैन आचार और विधि-विधानों की अनेक समस्याओं का युगीन सन्दर्भ में निराकरण भी प्रस्तुत करता है। ये सभी विषय तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि कालान्तर में जैन आचार के व्यवहार पक्ष में कहाँ-कहाँ और किस रूप में परिवर्तन आया है, यद्यपि ये सभी विधि-विधान श्रावक एवं साधु के लिए करणीय माने गये हैं, किन्तु इसमें कुछ विधि विधान ऐसे भी हैं जो चाहे साधु के लिए द्रव्य रूप से करणीय नहीं माने गये हों किन्तु वे भी भाव रूप से तो साधु के लिये भी करणीय बताये गये हैं। ये सभी तथ्य प्रस्तुत अध्ययन के औचित्य को स्थापित करते हैं।

इस शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य जैन क्रियाकाण्ड के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र के दृष्टिकोण से विद्वानों और समाजजनों को अवगत कराना है यद्यपि आचार्य हरिभद्र मुख्यतः योगसाधना, आध्यात्मिक और दार्शनिक समस्याओं के सन्दर्भ में समन्वयात्मक दृष्टि के प्रस्तोता माने जाते हैं, किन्तु पंचाशकप्रकरण में उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने जैन क्रियाकाण्ड को युक्तिसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जैसे-मन्दिर निर्माण में भूमि कैसी और कहाँ हो, भूमि स्वामी और मन्दिर निर्माताओं का पारिश्रमिक आदि किस परिस्थिति में किस प्रकार से दिया जाये ? ताकि उनमें जिन शासन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो ? इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके व्यावहारिक

समस्याओं को उठाकर उनके समाधान का भी प्रयत्न किया है। विद्वत्वर्ग और समाज उनकी इस उदारदृष्टि से परिचित हो और आचार्य हरिभद्र की बौद्धिक क्षमता का सम्यक् आकलन करे, यही इस शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य रहा है।

सामान्यतया शोधकार्यों में परिकल्पना (Hypothesis) की योजना वैज्ञानिक शोधकार्यों में आवश्यक होती है, किन्तु प्रस्तुत शोध मुख्यतः ग्रन्थ आधारित है अतः इस शोधकार्य में शोध परिकल्पना इतनी आवश्यक प्रतीत नहीं होती थी, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में शोध परिकल्पना यही रही है कि आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण में जिन विषयों की विवेचना की है, उनका युक्तिपूर्वक और समकालीन सन्दर्भों में मूल्यांकन करके उनकी उपादेयता पर विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य प्रयोगात्मक न होकर ग्रन्थ आधारित है अतः इसमें तथ्यों का संकलन और विश्लेषण ही प्रमुख नहीं है। इस शोध की प्रविधि यही रही है कि प्रथमतया गवेषणीय इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का हरिभद्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कहाँ और कैसा स्थान रहा है ? हरिभद्र ने उसमें क्या जोड़ा है ? और परवर्ती साहित्य पर उसका क्या प्रभाव रहा है, इसकी ग्रन्थाधारित चर्चा और समीक्षा की गई है और समकालीन परिस्थितियों में उनकी क्या उपादेयता है, इसका सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन भी किया जाये।

प्रस्तुत अध्ययन को मैंने मुख्य रूप से सात अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रसंग में आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की भी चर्चा की गई है। कर्तृत्व के अन्तर्गत उनकी उपलब्ध रचनाओं की विषयवस्तु पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

इसके पश्चात् **दूसरे अध्याय** में हमने पंचाशक प्रकरण में उपलब्ध मोक्षमार्ग के चार अंगों की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र ने पंचाशकप्रकरण में सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत श्रावक के कर्तव्यों की चर्चा की गई है। इसमें चैत्यवंदन जिनभवननिर्माण, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, जिनस्तव आदि की भी चर्चा है।

सम्यग्ज्ञान की चर्चा पंचाशक में नहीं है अतः हरिभद्र के अन्य ग्रन्थों के आधार पर इसका संक्षेप में ही निर्देश किया गया है। सम्यक्चारित्र के सामान्य स्वरूप की चर्चा के बाद उसके दो भेदों का उल्लेख किया गया है, जिनकी विशेष चर्चा इस शोधप्रबन्ध के द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में क्रमशः की गई है। जहाँ तक सम्यक्तप का प्रश्न है, उस पर भी एक स्वतंत्र पंचम अध्याय की योजना की गई है। पुनः तृतीय अध्याय में श्रावक आचार के अन्तर्गत – (1) श्रावक धर्म-विधि, (2) उपासक प्रतिमाविधि, आदि की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों का भी उल्लेख किया गया है। इस चर्चा के प्रसंग में पंचाशकप्रकरण की टीका में अनेक प्रश्नों को उठाया गया है और उनका एक नवीन दृष्टि से समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि पंचाशक प्रकरण में हरिभद्र ने जो विवरण और व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, वे मात्र परम्परागत आचार को लेकर नहीं हैं, अपितु वे अपने युग में उठने वाली तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करती हैं और आज भी प्रासंगिक हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय मुनि आचार से सम्बन्धित है। इसमें एक ओर जहां जैन मुनि आचार से सम्बन्धित नियमों की चर्चा है, वहीं दूसरी ओर जिन दीक्षा विधि के प्रसंग में मुनि के द्वारा करणीय कुछ विधि-विधानों की भी चर्चा की गई है। हम यह देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने श्रावक-आचार और मुनि-आचार से सम्बन्धित विषयों में आचार के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त उन विधि-विधानों की भी तार्किक समीक्षा भी की है, जो जैन-आचार का ही एक महत्वपूर्ण पक्ष है। वस्तुतः हरिभद्र सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के मध्य एक समन्वय करते हुए अपनी विवेचना प्रस्तुत करते हैं। मुनि आचार के सम्बन्ध में पंचाशकप्रकरण में उपलब्ध निम्न विषयों की चर्चा की गई है –

(1) जिनदीक्षाविधि, (2) साधुधर्मविधि, (3) साधु-समाचारी, (4) विधि-विधान विधि, (5) शीलांग विधान विधि, (6) आलोचना विधि, (7) प्रायश्चित् विधि, और (8) भिक्षु प्रतिमा विधि।

इसके पश्चात् प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में आचार्य हरिभद्र द्वारा वर्णित तप सम्बन्धी विधि-विधानों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रमुख रूप से तप के आगमिक एवं परवर्तीकालीन विभिन्न प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि

इन तप सम्बन्धी विधि-विधानों में से अनेक विधि-विधान मुनिधर्म से और अनेक श्रावक धर्म से सम्बन्धित है, अतः हमने इनका एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में ही विवेचन करने का प्रयत्न किया है।

छठे अध्याय में जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित साहित्य का निरूपण किया है। इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा-दोनों के ग्रन्थों का समावेश किया गया है। इस शोधप्रबन्ध का अंतिम सप्तम अध्याय उपसंहार रूप है, इसमें जैनविधि विधानों की संक्षिप्त चर्चा के साथ उनका समीक्षात्मक मूल्यांकन भी है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न धर्मों में विधि-विधान

भारतीय संस्कृति के अधिकांश धार्मिक सम्प्रदायों में विधि विधानों का उल्लेख उपलब्ध होता है यह सम्भव है कि किसी परंपरा में फिर भी इन विधि विधानों की व्यवस्था कम एवं किसी परम्परा में इन विधि-विधानों की मात्रा अधिक हो सकती है। किन्तु प्रत्येक परंपरा में अपने-अपने वैचारिक एवं सांस्कृतिक चेतना के स्तर के अनुरूप विधि-विधानों की व्यवस्था होती ही है। आदिवासियों या वनवासियों की भी अपनी धार्मिक परंपरा तथा सामाजिक रीति रिवाज होते हैं।

मुस्लिम समाज की भी अपनी एक परंपरा है जैसे 5 बार नमाज पढ़ना, हज की यात्रा करना, काबा की परिक्रमा करना, हज की यात्रा के बाद अनीति आदि नहीं करना, एवं बलि आदि के धार्मिक विधानों का पालना अनिवार्य माना जाता है।

यहूदियों में सुन्नत करना, कोशर लेना, सिर पर टोपी धारण करना, शुक्रवार को सूर्यास्त के बाद किसी भी कार्य को नहीं करना। सीनेगोग में जाकर प्रार्थना करना, संध्या के समय दीपक प्रज्वलित करना आदि विधान हैं। ख्रिस्तियों में बच्चों को जब ख्रिस्ती धर्म की दीक्षा दी जाती है तब चर्च में विशेष प्रकार विधि-विधान किये जाते हैं।

बौद्ध धर्म में जब सामनेर एवं भिक्षु दीक्षा दी जाती हैं, तब उसके तथा पूजा आदि के एवं प्रायश्चित आदि के विधि-विधान प्रचलित है।

हिंदू परंपरा में यज्ञ-याग तथा षोडश संस्कारों की मान्यता है। ब्राह्मण आदि जनेऊ धारण करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दू धर्म भी विधि-विधान की पूर्ण उषेधा करके नहीं चलता है। उसमें विशेष प्रसंगों पर यज्ञ आदि करना, विशिष्ट शैली में वेद मंत्रों का उच्चारण करना, रामायण का पाठ करना, नवग्रह का अनुष्ठान करना, करवा-चौथ, उबछठ, नवरात्रि में उपवास करना, श्राद्ध करना, संध्या एवं भक्ति करना, वानप्रस्थ तथा सन्यास धर्म स्वीकार करना आदि अनेक प्रकार के धार्मिक विधान किये जाते हैं। इस प्रकार विविध धर्मों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि सभी धर्म परंपराओं में उपासना की कोई न कोई विधि प्रचलित रही है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं है।

जैन परंपरा में विविध विधि-विधान

जैन धर्म में भी विधि विधानों का यह विवरण जानने योग्य है। साधु एवं ग्रहस्थ वर्ग से संबंधित विधि-विधानों में गुरुवन्दन विधि, सामायिक विधि, देव-वन्दन विधि, प्रतिक्रमण विधि, चैत्यवन्दन विधि, प्रत्याख्यान विधि, पौषध-विधि, देशावकासिक-विधि, जिनपूजा-विधि, मुनि को आहार प्रदान करने की विधि आदि विधान प्रचलित हैं।

दिगम्बर परंपरा के तारण-पंथ एवं श्वेताम्बर परंपरा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ के अतिरिक्त शेष परंपराओं में जिनप्रतिमापूजन के विभिन्न विधि-विधान, श्रावक के षट् आवश्यकों एवं षट् कर्तव्यों सभी जैन परम्पराओं में माने गये हैं। श्वेताम्बर परंपरा में पूजा-अर्चना से सम्बन्धित विविध प्रकार के विधान प्रचलित हैं, जिनमें विशेष प्रकार से अष्टप्रकारीपूजा, स्नात्रपूजा, पंचकल्याणकपूजा, लघुशान्तिनात्रपूजा, वृहदशान्तिस्नात्रपूजा, सिद्धचक्रपूजा, नवपदपूजा, सत्रहभेदीरायपूजा, अष्टकर्मनिवारकपूजा, अष्टकर्मनिवारकपूजा, आरतीपूजा, अर्हत्पूजा, भक्ताम्बरमहापूजा, जहतिहुअण-महापूजन, पद्मावती-पार्श्वनाथ महापूजन, नवग्रहपूजन, उवसगगहरंमहापूजन, सरस्वतीदेवीमहापूजन आदि विशेष प्रचलित हैं।

दिगम्बरपरंपरा में प्रचलित पूजा-विधान में भी अभिषेकपूजा, नित्यपूजा, देवशास्त्रगुरुपूजा, जिनचैत्यपूजा, सिद्धचक्रपूजा आदि के विधान विशेष रूप से प्रचलित हैं। साथ ही उसमें अनेक प्रकार के मण्डल विधान भी होते हैं। नवग्रहपूजन, पाटलापूजन आदि भी दोनों में प्रचलित हैं। क्षेत्रपाल के रूप में भैरवपूजन एवं पद्मावतीपूजन भी दोनों ही परम्पराओं में प्रचलित हैं।

साधुओं से सम्बन्धित जो विधि-विधान कहे गये हैं उनमें से देववन्दनविधि, गुरुवन्दनविधि, चैत्यवन्दनविधि, प्रतिक्रमणविधि, सज्झायविधि, रात्रिसन्थाराविधि, उपधि एवं वस्त्रपात्र प्रतिलेखनविधि, आहारचर्याविधि, आलोचनाविधि, मांडलाविधि, आदि श्वेताम्बर परम्परा में विशेष रूप से प्रचलित हैं। दिगम्बरपरंपरा में इन विधानों में से प्रतिक्रमणविधि, आहारचर्याविधि, आलोचनविधि आदि ही विशेष रूप से प्रचलित हैं।

यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में विधि-विधानों का बाहुल्य है, इस अपेक्षा से यह सिद्ध होता है कि जैन धर्म अध्यात्मप्रधान और साधना प्ररक होते हुए भी उससे विधि-विधानों का स्थान रहा हुआ है।

अति प्राचीन स्तर के आगमों एवं आगमतुल्यग्रन्थों को छोड़ दें, तो भी लगभग ईस्वी पूर्व से ही जैन परम्परा में विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होती रही है इस सब में भी आचार्य हरिभद्रकृत पंचाशक प्रकरण का विशेष महत्व रहा हुआ है। उसमें उन्नीस पंचाशकों में उन्नीस प्रकार के विधि-विधानों की चर्चा हुई है।

विधि-विधानों की आवश्यकता क्यों ?

जैन परम्परा में विधि विधानों की आवश्यकता क्रिया या आचरण को सम्यक् स्वरूप प्रदान करने के लिए मानी गई है।

सम्यक् क्रिया व सम्यक् आचरण के अभाव में किसी भी विधि-विधान का महत्त्व नहीं है। सम्यक् आचरण से शून्य क्रिया विषतुल्य मानी जाती है। सम्यक् क्रिया ही फलदायी होती है। शास्त्रों में सकंठ है कि "ज्ञान क्रियाम्यां मोक्षः" अर्थात् ज्ञान और

क्रिया के योग से मोक्ष की उपलब्धि होती है केवल क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है और न मात्र ज्ञान, दोनों के सम्यक् संयोग से ही साधना के शिखर पर पहुँचा जा सकता है। जैन विधि-विधानों में ज्ञान और क्रिया का सम्यक् रूप में समन्वय देखा जाता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ ज्ञान और क्रिया द्वारा संचालित है जैसे शरीर के अवयवों के कार्यों से ज्ञात होता है कि आँख से देखो, पाँव से चलो, कान से सुनो, मुँह से बोलो। आँख ज्ञान रूप है तो पाँव क्रिया रूप है।

शास्त्रों में वर्णित है ज्ञान और क्रिया एक ही रथ के दो पहिये हैं यदि एक भी पहिया अस्त-व्यस्त हो गया हो तो रथ चलने योग्य नहीं रह जाता है। इसी तरह ज्ञान और क्रिया में एक भी नहीं है, तो आत्मा रूपी रथ मोक्ष मार्ग पर सम्यक् प्रकार से चल नहीं सकता है।

क्रिया रहित ज्ञान कोरा है, निष्फल है जिस प्रकार पथ का ज्ञाता गति या चलने की क्रिया किये बिना लक्ष्य बिन्दु पर नहीं पहुँच सकता है इसी तरह, शास्त्रों का ज्ञाता, सामायिक प्रतिक्रमण वंदन आदि क्रियाओं के अभाव में मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसी हेतु विधि-विधान रूप क्रिया की आवश्यकता है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में ज्ञान और क्रिया का महत्त्व प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि--

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः (1/1) अर्थात् ये तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग है, कोई भी अकेला मोक्ष मार्ग नहीं है। --तत्त्वार्थ सूत्र- उमास्वाति- 1/1

गणि समयसुन्दर जी कृत पंचमी के स्तवन की प्रथम ढाल में भी इसी यावार्थ को दर्शाया गया है-- किरिया सहित जो ज्ञान तो ही वह प्रधान आवश्यक नियुक्ति में भी यह कहा गया है कि आगमों का ज्ञाता होने पर भी क्रिया को आत्मसात न करने वाला कभी संसार से मुक्त नहीं हो सकता जिस प्रकार चतुर चालाक होने पर भी पतवार के अभाव में नौका से व्यक्ति को सागर से पार तो नहीं ले जा सकता, उसी प्रकार भवसागर से पार होने के लिए ज्ञान और क्रिया अर्थात् विधि-विधान आवश्यक है। आवश्यकनियुक्ति में

तो यहाँ तक कहा गया है कि मात्र ज्ञान होने से ही कार्य सिद्ध नहीं होता है, जैसे कोई तैराक तैरना तो जानता है पर तैरने की क्रिया न करें तो वह सागर से पार नहीं होगा अर्थात् डूब जावेगा। – आवश्यक निर्युक्ति-भद्रबाहु स्वामी 95-159

इसी तरह आगमों का ज्ञाता होते हुये भी धर्म का आचरण नहीं करे, तो वह संसार सागर में पार नहीं होगा, भवभ्रमण करता रहेगा।

जैसे, अंधा या पंगु व्यक्ति एकाकी हो तो वह अपने लक्ष्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार मात्र आगमों का ज्ञाता हो या मात्र क्रियाशील हो, उन्हें एक दूसरे के सहयोग के अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्यक् सहयोग आवश्यक है अर्थात् साधना में विधि-विधानों का स्थान है। विधि-विधान हमें यह बताते हैं कि सम्यक् क्रिया किस प्रकार से की जाना चाहिए।

विधि-विधानों के प्रयोजन

अनुष्ठान एवं धार्मिक आराधना का सम्यकत्व उसके विधि-विधान पूर्वक ही होता है।

विधि विधान की आवश्यकता किन कारणों से होती है ऐसा प्रश्न प्रायः सभी के मन में उभरता ही है ? इन विषय पर गहन मनन एवं चिन्तन करने पर निम्न बिन्दुओं ज्ञात होता है—

1. धार्मिक क्रियाओं के द्वारा सावद्य (सरोष) क्रियाएं कम होती हैं धीरे-धीरे आत्मा विशुद्धि की ओर बढ़ते-बढ़ते परमात्मा के स्वरूप की धारण करती है।
2. धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से समय का सदुपयोग होता है एवं आश्रव का निरोध होकर संवर होता है एवं पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।
3. धार्मिक विधि-विधानों से मानसिक अशान्ति, मानसिक विकार एवं मानसिक रोगों से भी मुक्ति मिलती है।

4. धार्मिक विधि-विधानों के द्वारा शरीर, मन एवं आत्मा निर्मल एवं प्रशान्त बनती है।
5. धार्मिक विधि-विधानों के द्वारा राग-द्वेष की गाँठ कमजोर होती है, वैर भाव के परिणामों का अन्त होता है मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों का आविर्भाव होता है।
6. प्रतिक्रमण के विधि-विधानों के माध्यम से आत्मा माया, छल आदि दुर्गुणों से रहित होती है। साथ ही विभाव से स्वभाव में आती है।

प्रतिक्रमण के विधान में विविध आसनों का व्यावहारिक प्रयोग शारीरिक रोगों को दूर करता है।

प्रतिक्रमण के विधि-विधान पूर्वकृत पापों की आलोचना और पुनः पापों को नहीं करने की प्रेरणा देते हैं।

विधि-विधानों के प्रकार

जैन दर्शन में विधि-विधानों के अनेक प्रकार हैं पर इन विधि-विधानों के विभाजन की अपेक्षा से मुख्यतः छः प्रकार से विधि विधान परिलक्षित होते हैं।

1. संस्कार संबंधी विधि-विधान
2. आवश्यकक्रिया सम्बन्धी विधि-विधान
3. शांतिक एवं पौष्टिक कर्म संबंधी विधि-विधान
4. प्रतिष्ठा संबंधी विधि-विधान
5. मांत्रिक साधना संबंधी विधि-विधान
6. योगोद्वहनादि संबंधी विधि-विधान

संस्कार संबंधी विधि-विधान-

मनुष्य मन को संस्कारित बनाने के लिये विविध संस्कार विधि पूर्वक करना आर्य व्यवहार है।

संस्कार-विधि में सोलह संख्या प्रसिद्ध है। इस प्रकार सोलह संस्कारों की विधियाँ हिन्दुओं में भी प्रसिद्ध है एवं प्रचलित है।

वर्धमानसूरि कृत आचारदिनकर में सोलह संस्कारों की विधियों का सुचारु रूप से वर्णन मिलता है। वैश्य वर्ण में ये विधि विधान अभी भी प्रचलित है। परन्तु जैनधर्म में ये संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान प्रायः लुप्त से है, फिर भी कुछ संस्कार प्रचलन में है, जैसे मुण्डन संस्कार, नामकरण संस्कार, कर्णविधि संस्कार आदि संस्कार लोक व्यवहार अनुसार आज भी प्रचलित है। इसके अतिरिक्त उपधान, योगोद्वहन, पाँच-अणुव्रत, बारह व्रतारोपण, मुनि-दीक्षा आदि के संस्कार भी वर्तमान में भी प्रचलित हैं।

आवश्यक क्रिया संबंधी विधि विधान

सामायिक, चैत्यवन्दन, देववन्दन, प्रतिक्रमण आदि की दैनिक क्रियाएँ आवश्यक सम्बन्धी विधि विधान कहलाती है।

शांतिक पौष्टिक कर्म संबंधी विधि-विधान

काल के प्रभाव से अनेक प्रकार के उपद्रव होते ही रहते हैं, विषम परिस्थितियों का निर्माण होता ही रहता है। ऐसा परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए अनेक प्रकार के शांति-कर्म के विधि-विधानों की आवश्यकता प्रतीत होती है। व्यक्ति इन विधि-विधानों के द्वारा शान्ति की पहल भी करता है, क्योंकि सभी चाहते हैं कि हमारे कार्य में भी विघ्न न आये और यदि आये तो विघ्न शान्त हो जाए और इच्छित फल की प्राप्ति हो आदि।

इसी प्रकार शान्ति के विधि-विधान अपने-अपने ढंग से सभी धर्मों व सभी वर्णों में प्रचलित है।

जैन धर्म में विघ्न निवारण हेतु शान्तिक-पौष्टिककर्म के लिये शान्तिस्नात्रपूजा, सिद्धचक्र-महापूजा, स्नात्रपूजा आदि के विधि-विधानों का प्रचलन है।

प्रतिष्ठा संबंधी विधि-विधान

प्रतिमा निर्माण से लेकर प्रतिमा-प्रतिष्ठा (स्थापना) तक में भी विविध विधि-विधान किये जाते हैं। जो प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी पुस्तकों में संकलित है। इन विधानों के अन्तर्गत मुख्य रूप से भूमि पूजन खनन मुहुर्त, शिलारोपण, अंजनशलाका, प्रतिष्ठा, ध्वजारोहण, द्वारोद्घाटन आदि विधि-विधान हैं।

मांत्रिक विधिविधान-

मांत्रो सम्बन्धी विधि-विधानों का क्षेत्र व्यापक है।

व्यक्ति से लेकर विश्व को वश में करने की साधना इन विधि-विधानों के अन्तर्गत आती है। इन विधि-विधानों के द्वारा व्यक्ति सफल भी हो सकता है व असफल भी।

सफल होने का रहस्य है दिशा, समय, स्थान, आसन, तप, व्रत आदि नियमों का यथावत् पालन करते हुए विधि को सम्पन्न करना।

योगोद्वहन विधि-विधान

दीक्षा, व्रतग्रहण, उपस्थापना, कालग्रहण, आगमपठन, पदस्थापना आदि के अनुष्ठान, योगोद्वहन के विधि के अन्तर्गत आते हैं।

इन विधि-विधानों को करने के लिये अनेक पुस्तकें या ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

दीक्षा, उपस्थापना, नन्दीरचना आदि के विधान इस प्रकार के विधान हैं जो आत्मशुद्धि के साथ-साथ जिनशासन की प्रभावना में चार चाँद लगाते हैं। आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य, प्रवर्तिनी, महत्तरा आदि पद स्थापना के विधि-विधान संघीय अनुशासन, आचार सम्बन्धी संविधान के पालन एवं संयमनिष्ठता आदि में उपयोगी है।

कुंभस्थापना, दीपकस्थापना आदि के विधि-विधान शुभ अनुष्ठानों को मंगलकारी बनाते हैं। उपधान, योगोद्वहन आदि ऐसे विधि-विधान हैं, जिनसे ज्ञान के आवरण का

अनावरण होता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति एवं परंपरा से सिद्धत्व की उपलब्धि होती है।

सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदन, ध्यान प्रत्याख्यान, पूजन आदि कषायों में उपशमन करने वाले, मन को शान्त करने वाले मोक्षगति की ओर ले जाने वाले, मन को शांत करनेवाले, कृतपापों को नाश करने वाले, विचारों को विशुद्ध करने वाले, साधना के उच्च शिखर पर पहुँचाने वाले हैं। अतः हरिभद्र पंचाशकप्रकरण में इन विधि-विधानों का सम्यक् रूप से परिपालन करने का निर्देश देते हैं।

जैन विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य

अब हम जैन विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य पर विचार करेंगे।

जैन परम्परा के अन्तर्गत श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परंपरा में इस विधा के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है।

श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस विधा के पंचवस्तुक, श्रावक-प्रज्ञप्ति (सावयपन्नति), श्रावकधर्माविधिप्रकरण, पंचाशकप्रकरण आदि ग्रन्थों की रचना की थी।

उन्होंने पंचवस्तुक ग्रंथ में दीक्षाविधि से लेकर संखलेखना विधि तक के पाँच द्वारों का सयुक्तिक एवं सहेतुक प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ संयमी-जीवन की शुद्धचर्या से सम्बन्धित है। इसमें उन्होंने पाँच प्रकार के विधानों की ही प्रमुख रूप से चर्चा की है यह कहना अनुचित और अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि आगमशास्त्रों पर व्याख्यापरक साहित्य ग्रन्थों की रचना के बाद विधि-विधानों का विस्तृत एवं प्रामाणिक उल्लेख सर्वप्रथम मेरी शोध में पंचाशकप्रकरण के रचियता आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में ही देखने को मिलता है। इन ग्रन्थों में आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ पंचवस्तुक का स्थान प्रथम है। आचार्य हरिभद्र कृत प्रस्तुत शोध के विषयक ग्रन्थ पंचाशकप्रकरण में श्रावकधर्मपंचाशक, दीक्षापंचाशक, वंदन-पंचाशक, पूजा-पंचाशक, प्रत्याख्यान-पंचाशक, जिनबिंब प्रतिष्ठा-पंचाशक, जिन यात्राविधान पंचाशक, श्रावकप्रतिमा पंचाशक, साधु-धर्म पंचाशक-साधुसामाचारी पंचाशक, पिण्ड विशुद्धि पंचाशक, शीलांग पंचाशक,

आलोचना—पंचाशक, प्रायश्चित—पंचाशक, दसकल्प पंचाशक, भिक्षुप्रतिमा पंचाशक, तप पंचाशक आदि में अपने अपने विषयों के विधि—विधानों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस पर खतरगच्छाचार्य नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि का विवरण भी उपलब्ध है, जो इन विधि—विधानों की विस्तृत विवेचना करता है। विधि—विधानों पर अनेक जैनाचार्यों ने अपने—अपने ग्रन्थों की रचनाएँ निर्मित की हैं। **निर्वाणकलिका** (प्रतिष्ठा—विधान) नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त धनेश्वरसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि द्वारा रचित **अनुष्ठानविधि** नामक एक ग्रन्थ है जिसमें सम्यकत्व—आरोपणविधि, व्रतारोपण—विधि, श्रावकप्रतिमावहन—विधि, उपधान विधि, मालारोपण विधि, तप विधि, आराधना विधि, प्रव्रज्या विधि, उपस्थापन विधि, केशलोच विधि, पदप्रदान विधि, ध्वजारोहण विधि, कलशारोहण विधि आदि 20 प्रकार के विधि विधानों का उल्लेख किया गया है।

तिलकाचार्य द्वारा रचित **सामाचारी** नामक ग्रन्थ भी इसी प्रकार के विधि विधानों का निर्देशन करता है।

जिनप्रभसूरि द्वारा रचित **विधिमार्गप्रपा** में भी इसी प्रकार के विधि विधानों का उल्लेख मिलता है।

वर्धमानसूरि कृत **आचारदिनकर** में 40 प्रकार के विधि—विधानों का उल्लेख प्राप्त होता है।

इसी प्रकार जैन विधि—विधानों से सम्बन्धित जिनवल्लभगणि कृत **पिण्डविशुद्धि प्रकरण** ग्रन्थ भी समुपलब्ध है। इस प्रकरण में विशेष रूप से श्रमण वर्ग की आहार चर्चा पर विवेचन है। इस प्रकार जैन—धर्म में विधि—विधानों के अनेकानेक ग्रन्थों की सूची उपलब्ध है। इसका विस्तृत विवेचन अलग से अध्याय 6 में किया गया है।

-----000-----

संदर्भ ग्रन्थ सूची

—संदर्भ ग्रन्थ सूची—

क्र	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	संस्करण
1	उवासगदसाओ	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	2037
2	उपासकदशांगसूत्र	घासीलालजी म.सा.	श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, करांची	सन् 1993
3	उत्तराध्ययनसूत्र	डॉ. राजेन्द्रमुनि	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	सन् 1996
4	उपासकदशांगसूत्र	जीवराज घेलाभाई दोशी	अहमदाबाद	
5	उपासकदशांगसूत्र	अमोलकऋषि	सिकन्दराबाद जैन संघ	सन् 1972
6	आगमसुताणि (सटीक)	मुनि दीपरत्नसागर	आगमश्रुत प्रकाशन	वि.सं. 2056
7	उपासकदशांगसूत्र	आत्मारामजी म.सा.	आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना	वि.सं. 2021
8	उवासगदसाओ	श्री अभयदेवटीकानुवाद भगवानदास, हर्षचन्द्र	जैानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत	सन् 1992
9	उपासकदशांगसूत्र	टीका आ. अभयदेव	राय धनपतसिंह बहादुर अजीमगंज	सन् 1933
10	अंगसुताणि	पुष्पभिक्षु	सूत्रागम प्रकाशन समिति गुड़गाँव	वि.सं. 2010
11	आचारांगसूत्र	शीलांगटीका धनपतसिंह	कलकत्ता	सन् 1936
12	आचारांगसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	
13	आवश्यकटीका	हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति बम्बई	सन् 1916
14	आवश्यकसूत्र	प. घासीलाल	जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट (सौराष्ट्र)	वि.सं. 2014
15	उत्तराध्ययनसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1984
16	सूत्रकृतांगसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991
17	भगवतीसूत्र	टीका आ. अभयदेव	आगमोदय समिति बम्बई	सन् 1921
18	दशवैकालिकसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1985
19	समवायांगसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991
20	प्रश्न व्याकरणसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1993

21	राजप्रश्नीयसूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991
22	ज्ञातधर्मकथांग	आ. महाप्रज्ञ जी	जैन विश्व भारती लाङ्गू	सन् 2003
23	ठागं	मुनि नथमल	जैन विश्व भारती लाङ्गू	वि.सं. 2033
24	त्रीणिछेदसूत्राणि	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1992
25	अनुयोगद्वार सूत्र	युवाचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1987
26	उत्तराध्ययन टीका	शान्त्याचार्य	श्री जिनशासन आराधना 7/3 भाई वाडोमुलेश्वर मुम्बई	वि.सं. 2046
27	कल्पसूत्र	लक्ष्मीवल्लभ टीका अनुवाद प्र. सज्जनश्री	खरतरगच्छाचार्य श्री जिनरंगसूरिजी म.पोशाल ट्रस्ट कोलकाता	वि.सं. 2054
28	विशेषाश्वयकभाष्य	आ. जिनभद्र गणि श्रमाश्रमण	भद्रंकर प्रकाशन	वि.सं. 2053
29	आवश्यकनिर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी	आगमोदय समिति बम्बई	सन् 1916
30	तत्त्वार्थसूत्र	आ. उमास्वाति, पं.सुखलाल जी संघवी	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1993
31	प्रवचनसारोद्धार	आ. नेमीचन्द्रसूरि अनुवाद साध्वी हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	वि.सं. 1999
32	चैत्यवन्दनकुलकवृत्ति	जिनकुशलसूरि अनुवाद प्र. सज्जनश्रीजी	जिनदत्तसूरि सेवा संघ, कलकत्ता	वि.सं. 2062
33	पंचलिंगीप्रकरणम्	श्री जिनेश्वरसूरि डॉ. हेमलता बोलिया, डॉ. डी. एस. बघा	श्री विमल सुदर्शनचन्द्र पारमार्थिक जैन ट्रस्ट, उदयपुर	सन् 2006
34	विधिमार्गप्रपा	रचित जिनप्रभसूरि अनुवाद साध्वी सौम्यगुणाश्री	श्री महावीरस्वामी जैन देरासर ट्रस्ट मुम्बई	वि.सं. 2062
35	आचार दिनकर	अनुवाद साध्वी मोक्षरत्नाश्री	प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर	सन् 2007
36	डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दनग्रन्थ	डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1998
37	सूत्रकृतांगसूत्र का दार्शनिक अध्ययन	साध्वी डॉ. नीलांजनाश्री	श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक ट्रस्ट, माण्डवला	वि.सं. 2005
38	जैनभक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि	डॉ. प्रेमसागर जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	सन् 1963
39	उपासकदशांग और श्रावकाचार (एक परिशीलन)	डॉ. सुभाष कोठारी सं. डॉ. सागरमल जैन	आगमअहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान (उदयपुर)	सन् 1988

40	श्रमणी—प्र. सज्जनश्रीजी म. अभिनन्दनग्रन्थ	शशिप्रभाश्री	जैन श्वे. खरतरगच्छ संघ, जयपुर	सन् 1989
41	उत्तराध्ययनसूत्र : एक दार्शनिक अनुशीलन	साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा	श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुना जैन मन्दिर ट्रस्ट, चेन्नई	सन् 2002
42	श्रमणसर्वस्व	प्र.सज्जनश्री	पुण्य सुवर्ण ज्ञानपीठ, जयपुर	वि.सं. 2027
43	आ. हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों में श्रावकाचार	शोधार्थी श्रीमती अपर्णा चाणोदिया	बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल	सन् 2002
44	श्रावक के बारह व्रत एवं चतुर्दश नियम	आर्या प्रियदर्शनाश्री	चातुर्मास प्रबन्ध समिति, कलकत्ता	सन् 1993
45	अथर्ववेद	श्रीराम शर्मा आचार्य	ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज हरिद्वार (उ.प्र.)	संवत् 2056
46	बीस स्मृतियाँ	श्रीराम शर्मा आचार्य	डॉ. चमनलाल गौतम संस्कृति ख्वाजा कुतुब बरेली	सन् 1994
47	वाल्मीकी रामायण	महर्षि वाल्मीकी प्रणीत (प्रथम भाग)	गोविन्दभवन कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर	संवत् 2057
48	देवचन्द्र चौबीसी	प्र.सज्जनश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर जैन श्वतोम्बर नाकोड़ा तीर्थ, मेवानगर	सन् 1989
49	अष्टकप्रकरण	हरिभद्र सूरि	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी	सन् 1997
50	षोडशकप्रकरण	हरिभद्र सूरि	दिव्यदर्शन प्रकाशन अहमदाबाद	वि.सं. 2042
51	विशिका	हरिभद्र सूरि	दिव्यदर्शन प्रकाशन अहमदाबाद	सन् 1911
52	पंचाशकप्रकरण	हरिभद्र सूरि अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा संपा. डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी	सन् 1997
53	योगदृष्टिसमुच्चय	आचार्य हरिभद्र सूरि विजय भुवनभानुसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट कुमारपाल बी.शाह 68, गुलालवाड़ी, मुम्बई	वि.सं. 2042
54	योगबिन्दु	हरिभद्रसूरि	जैन धर्मप्रचारक सभा, भावनगर (गुज.)	सन् 1911
55	हरिभद्र के योग चतुष्टय ग्रन्थ	हरिभद्रसूरि	पीपदिया बजार ब्यावर	
56	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्रसूरि - डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	सन् 1944
57	शास्त्रवार्ता समुच्चय	हरिभद्रसूरि	जैन धर्मप्रचारक सभा, भावनगर (गुज.)	सन् 1964

58	लोकतत्त्व निर्णय	हरिभद्रसूरि	राजनगर श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा	सन् 1939
59	सावय पण्णति	हरिभद्रसूरि, सं. पं. बालचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	सन् 1944
60	श्रावक धर्मविधि प्रकरण	म. विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 2001
61	हरिभद्र का समय निर्णय	ले.मुनि श्री जिनविजयजी सं. डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्याशोध संस्थान, वाराणसी	
62	समदर्शी आचार्य हरिभद्र	पंडित सुखलाल संघवी	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर	सन् 1963
63	हरिभद्र सूरि चरित्	हरिगोविन्ददास		
64	अष्ट पाहुड	आ. कुन्दकुन्द	भारतीय वर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद	सन् 1995
65	सागर धर्माभूत	पं. आशाधर	सरस जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर	वि.सं. 2482
66	चारित्रसार	चामुण्डाचार्य	दि. जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई	सन् 1977
67	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	अमृत चन्द्राचार्य टीका पं. मखनलाल शास्त्री	भारतीय वर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद	सन् 1995
68	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	स्वामी समंतभद्र	पं. सदासुख ग्रन्थमाला पुरानीमंडी अजमेर	सन् 1996
69	मूलाचारवृत्ति	आ. वट्टकेर	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	वि.सं. 2000
70	भगवती आराधना	(विजयाटीका शिवार्थ) स. शास्त्री	कैलाशचन्द्र जैन संस्कृति रक्षण संघ शोलापुर	वि.सं. 2035
71	श्रावकाचार	आ. अमितगति, सं.पं. हीरालालजी शास्त्री	श्रुतु भण्डार और ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन	
72	श्रावकाचार संग्रह भाग (1,2)	पं. हीरालालजी जी शास्त्री	जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था	सन् 1976
73	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिकेय	श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)	सन् 1964
74	उपासकाध्ययन	आ. सोमदेवसूरि, सं.कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी	वि.सं. 2021
75	संयुक्त निकाय	जगदीश कश्यप	महाबोधि सभा सारनाथ	सन् 1954
76	श्रावकाचार	आ. वसूनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	वि.सं. 2009
77	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद		सन् 1972

78	तत्त्वज्ञानप्रवेशिका भाग-3	प्र.सज्जनश्री	श्री ऋषभदेव मंदिर ट्रस्ट सदरबाजार रायपुर	सन् 2001
79	सज्जनभजन भारती	प्र.सज्जनश्री	श्री पुण्यसुवर्ण ज्ञानपीठ जयपुर	सन् 1982
80	नरेन्द्र प्रवचन निधि	ले. नरेन्द्रविजय 'नवल'	आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वे.पेढी ट्रस्ट मोहनखेड़ा तीर्थ	
81	जिनरत्नकोष भाग-1		ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना	सन् 1944
82	अध्यात्मप्रबोध	प्र.सज्जनश्री	पुण्य सुवर्ण ज्ञानपीठ, जयपुर	वि.सं. 2046
83	तीर्थकर श्रावकाचार विशेषांक	डॉ. नेमीचन्द्र जैन	हिराभैया प्रकाशन इन्दौर	सन् 1985
84	सम्यक्दर्शन से मोक्ष	साध्वी सम्यक्दर्शना सम्यकप्रभा	कुशलज्ञान सज्जन प्रकाशन जयपुर	
85	श्रावकाचार प्रश्नोत्तर	पं. हीरालाल जी शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर (महा.)	सन् 1976
86	आवश्यक पूजा संग्रह	आ. कवीन्द्रसागरजी	जैन साहित्य प्रकाशन समिति कलकत्ता	
87	नवपद आराधना विधि	प्रियदर्शना, सम्यक्दर्शना	चातुर्मास प्रबन्ध समिति, कलकत्ता	वि.सं. 2050
88	जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. सागरमल जैन	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान	सन् 1982
89	मेरुतुंग विचारश्रेणी	आ. मेरुतुंग		
90	आम्रधान राजेन्द्रकोश	श्रीमद् राजेन्द्रसूरि (भाग-5)	श्री जैन प्रभाकर यन्त्रालये रतलाम	वि.सं.1991
91	पंचप्रतिक्रमणसूत्र	उपा. मणिप्रभासागर जी म.	श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक ट्रस्ट, माण्डवला	
92	श्रावक जीवन	आ. भद्रगुप्तसूरि	विश्वकल्याण प्रकाशन मेहसाना	वि. 2046
93	श्रमणधर्म भाग-2	महो.मानविजयजी गणिवर	सन्मार्ग प्रकाशन अहमदाबाद	वि.सं. 2061
94	खरतरगच्छ का बृहत् इतिहास	म. विनयसागर	प्राकृत भारतीय अकादमी जयपुर	सन् 2004
95	द्वादश पर्व व्याख्यान	प्र.सज्जनश्री	जिनदत्तसूरि सेवा संघ, कलकत्ता	सन् 1991

